



COLLECTION OF VARIOUS
→ HINDUISM SCRIPTURES
→ HINDU COMICS
→ AYURVEDA
→ MAGZINES

FIND ALL AT [HTTPS://DSC.GG/DHARMA](https://dsc.gg/dharma)

Made with
By

Avinash/Shashi

Icreator of
hinduism
server!

“कल्याण”के ग्राहकों और प्रेमी पाठकोंसे नम्र निवेदन

१—‘कल्याण’के ५७वें वर्ष—(सन् १९८३ ई०) का विशेषाङ्क ‘चरित्र-निर्माणाङ्क’ पाठकोंकी सेवा-में प्रस्तुत है। इसमें ४३२ पृष्ठोंमें पाठ्यसामग्री और ८ पृष्ठोंमें सूची आदि हैं। कई बहुरंगे चित्र भी यथास्थान दिये गये हैं।

२—जिन ग्राहक महानुभावोंके मनीआर्डर आ गये हैं, उनको विशेषाङ्क फरवरीके अङ्कके साथ रजिस्ट्री-द्वारा भेजे जा रहे हैं। जिनके रूपये नहीं प्राप्त हुए हैं, उनको अङ्क बचनेपर ही ग्राहक-संख्याके क्रमानुसार वी० पी० द्वारा भेजा जा सकेगा। रजिस्ट्रीकी अपेक्षा वी० पी० द्वारा विशेषाङ्क भेजनेमें डाकखर्च अधिक लगता है, अतः ग्राहक महानुभावोंसे विनम्र अनुरोध है कि वी० पी० की प्रतीक्षा न करके कल्याणके हितमें वार्षिक मूल्य कृपया मनीआर्डर द्वारा ही भेजें। ‘कल्याण’का वार्षिक शुल्क २४.०० रुपये मात्र है, जो विशेषाङ्कका ही मूल्य है।

३—ग्राहक-संख्या या ‘पुराना ग्राहक’न लिखनेसे आपका नाम नये ग्राहकोंमें लिख जायगा, जिससे आपकी सेवामें ‘चरित्र-निर्माणाङ्क’ नयी ग्राहक-संख्याके क्रमसे पहुँचेगा और पुरानी ग्राहक-संख्याके क्रमसे इसकी वी० पी० भी जा सकती है। ऐसा भी हो सकता है कि उधरसे आप मनीआर्डरद्वारा रूपये भेजें और उनके यहाँ पहुँचनेके पहले ही इधरसे वी० पी० भी चली जाय। ऐसी स्थितिमें आपसे प्रार्थना है कि आप वी० पी० लौटायें नहीं, कृपया प्रयत्न करके किन्हीं अन्य सज्जनको नया ग्राहक बनाकर उन्हेंको वी० पी० से गये ‘कल्याण’के अङ्क दें दें और उनका नाम-पता—साफ लिखकर हमारे कार्यालयको भेजनेका अनुग्रह करें। आपके इस कृपापूर्ण सहयोगसे आपका ‘कल्याण’ व्यर्थ डाक-न्ययकी हानिसे बच जायगा और आप ‘कल्याण’के पावन प्रचारमें सहायक बनेंगे।

४—विशेषाङ्क—‘चरित्र-निर्माणाङ्क’ फरवरीवाले दूसरे अङ्कके साथ ग्राहकोंके पास रजिस्टर्ड-पोस्टसे भेजा जा रहा है। शीघ्रता और तत्परता रहनेपर भी सभी ग्राहकोंको इन्हें भेजनेमें लगभग ६-७ सप्ताह तो लग ही जाते हैं। ग्राहक-महानुभावोंकी सेवामें विशेषाङ्क ग्राहक-संख्याके क्रमानुसार ही भेजनेकी प्रक्रिया है, अतः कुछ ग्राहकोंको विलम्बसे ये दोनों अङ्क मिलेंगे। कृपालु ग्राहक परिस्थिति समझकर हमें क्षमा करेंगे।

५—आपके ‘विशेषाङ्क’के लिफाफे (या रैपर) पर आपकी जो ग्राहक-संख्या लिखी गयी है, उसे आप खुद सावधानीसे नोट कर लें। रजिस्ट्री या वी० पी०-नम्बर भी नोट कर लेना चाहिये, जिससे आवश्यकता होनेपर उसके उल्लेखसहित पत्र-व्यवहार किया जा सके। इस कार्यसे हमारे कार्यालयको सुविधा और कार्यवाहीमें शीघ्रता होती है।

६—‘कल्याण’ व्यवस्था-विभाग एवं गीताप्रेस-पुस्तक-विक्रय-विभागको अलग-अलग समझकर सम्बन्धित पत्र, पार्सल, पैकेट, रजिस्ट्री, मनीआर्डर, वीमा इत्यादि पृथक् पतोंपर भेजने चाहिये। पतेकी जगह केवल ‘गोरखपुर’ ही न लिखकर ‘पत्रालय-गीताप्रेस, गोरखपुर, पिन-२७३००५ (उ० प्र०)’ भी लिखना चाहिये।

७—‘कल्याण’-सम्पादन-विभागको भेजे जानेवाले पत्रादि ‘सम्पादक-कल्याण, पत्रालय—गीताप्रेस, गोरखपुर, पिन-२७३००५ (उ० प्र०)’ एवं ‘साधक-संघ’ तथा ‘नाम-जप-विभाग’को भेजे जानेवाले पत्रादिपर अभिप्रेत विभागका नाम लिखकर ‘द्वारा-कल्याण-कार्यालय, पत्रालय-गीताप्रेस, गोरखपुर—पिन २७३००५ (उ० प्र०)’ लिखना चाहिये। पता स्पष्ट और पूर्ण रहनेसे पत्रादि यथास्थान शीघ्र पहुँचते हैं और कार्यमें शीघ्रता होती है।

—व्यवस्थापक—कल्याण-कार्यालय, पत्रालय—गीताप्रेस, गोरखपुर—पिन २७३००५—(उ० प्र०)

श्रीगीता-रामायण-प्रचार-संघ

श्रीमद्भगवद्गीता और रामचरितमानस विश्व-साहित्यके अमूल्य ग्रन्थरन्त हैं। इनके पठन-पाठन एवं मननसे मनुष्य लोक-परलोक दोनोंमें अपना परम महाल कर सकता है। इनके स्वाच्छायमें वर्ण, आश्रम, जाति, अवस्था आदिकी कोई वादा नहीं है। आजके समयमें इन द्वित्र्य ग्रन्थोंके पाठ और प्रचारकी अत्यधिक आवश्यकता है; अतः धर्मप्राप्त जनताको इन कल्याणमय ग्रन्थोंमें प्रतिपादित सिद्धान्तों एवं विचारोंसे अधिकाधिक लाभ पहुँचानेके सद्गुदेश्यसे 'गीता-रामायण-प्रचार-संघ'की स्थापना की गयी है। इसके सदस्योंकी संख्या इस समय लगभग पैंतालीस हजार है। इसमें श्रीगीताके छा प्रकारके और श्रीरामचरितमानसके तीन प्रकारके सदस्य बनाये गये हैं। इसके अतिरिक्त उपासना-विभागके अन्तर्गत नित्य इष्टेदेवके नामका जप, ध्यान और मूर्तिकी पूजा अथवा मानसिक पूजा करनेवाले सदस्योंकी श्रेणी भी है। इन सभीको श्रीमद्भगवद्गीता एवं श्रीरामचरितमानसके नियमित अध्ययन एवं उपासनाकी सन्वेषणा दी जाती है। सदस्यताका कोई शुल्क नहीं है। इच्छुक सज्जन परिचय-पुस्तिका निःशुल्क मँगाकर पूरी जानकारी प्राप्त करनेकी कृपा करें एवं श्रीगीताजी और श्रीरामचरितमानसके प्रचार-यन्त्रमें सम्मिलित होकर अपने जीवनका कल्याण-पथ उज्ज्वल करें।

पत्र-व्यवहारका पता—मन्त्री, श्रीगीता-रामायण-प्रचार-संघ, पत्रालय—सर्वार्थम् (श्रूपिकेश), जनपद—पौड़ी गढ़वाल (उ० प्र०)

साधक-संघ

मानव-जीवनकी सर्वतोमुखी सफलता आत्मविकासपर ही अवलम्बित है। आत्मविकासके लिये जीवनमें सत्यता, सरलता, निष्कपटता, सदाचार, भगवत्परायणता इत्यादि दैवी गुणोंका संग्रह और असत्य, क्रोध, लोभ, मोह, द्वेष, हिंसा इत्यादि आसुरी लक्षणोंका त्याग हो। एकमात्र श्रेष्ठ उपाय है। मनुष्यमात्रको इस सत्यसे अवगत करनेके पावन उद्देश्यसे लगभग ३५ वर्ष पूर्व साधक-संघकी स्थापना की गयी। सदस्योंके लिये ग्रहण करनेके १२ और त्याग करनेके १६ नियम हैं। प्रत्येक सदस्यको एक 'साधक-दैनन्दिनी' एवं एक 'आवेदन-पत्र' भेजा जाता है, जिन्हें सदस्य बननेके इच्छुक भाई-बहनोंको मात्र ४५ पैसेके टाक-टिकट या मनीआर्डर अग्रिम भेजकर मँगवा लेना चाहिये। साधक उस दैनन्दिनीमें प्रतिदिन अपने नियम-पालनका विवरण लिखते हैं। विशेष जानकारीके लिये कृपया निःशुल्क नियमावली मँगाइये। पता—

संयोजक—साधक-संघ, द्वारा—'कल्याण-कार्यालय', पत्रालय—गीताप्रेस, जनपद—गोरखपुर—२७३००५ (उ० प्र०)

श्रीगीता-रामायणकी परीक्षाएँ

श्रीमद्भगवद्गीता एवं श्रीरामचरितमानस मङ्गलमय, द्वितीय जीवनग्रन्थ हैं। इनमें मानवमात्रको अपनी समस्याओंका समाधान मिल जाता है और जीवनमें अपूर्व सुख-शान्तिका अनुभव होता है। प्रायः सम्पूर्ण विश्वमें इन अमूल्य ग्रन्थोंका समादर है और करोड़ों मनुष्योंने इनके अनुवादोंको भी पढ़कर अवर्णनीय लाभ उठाया है। इन ग्रन्थोंके प्रचारके द्वारा लोकमानसको अधिकाधिक उजागर करनेकी हाइसे श्रीमद्भगवद्गीता और श्रीरामचरितमानसकी परीक्षाओंका प्रबन्ध किया गया है। दोनों ग्रन्थोंकी परीक्षाओंमें बैठेनेवाले लगभग पंद्रह हजार परीक्षार्थियोंके लिये ४०० (चार सौ) परीक्षा-केन्द्रोंकी व्यवस्था है। नियमावली मँगानेके लिये कृपया निम्नलिखित पतेपर कार्ड भेजें—

व्यवस्थापक—श्रीगीता-रामायण-परीक्षा-समिति, पत्रालय—सर्वार्थम् (श्रूपिकेश), जनपद—पौड़ी गढ़वाल (उ० प्र०)

‘चरित्र-निर्माणाङ्क’ की विषय-सूची

विषय	पृष्ठ-संख्या	विषय	पृष्ठ-संख्या
१—भव-व्याल-ग्रसितकी प्रार्थना [संकलित]	...	१ १७—मानवके चरित्रका उत्थान एवं पतन उसके मनपर आधृत है (अनन्तश्रीविभूषित जगद्गुरु श्रीनिम्नार्कचार्य श्री ‘श्रीजी’ श्रीराधासर्वेश्वर-शरणदेवाचार्यजी महाराज)	१५
२—संज्ञान-सूक्त १-२ [संकलित]	...	२ १८—मानवके लिये आचरणीय कर्तव्य (नित्यलीलालीन परमश्रद्धेय श्रीभाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार)	३२
३—चरित्रशील उत्तम पुरुष [संकलित]	...	३ १९—गीतामें चरित्र-निर्माण (भगवान्की समुखता) (परमश्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)	३५
४—शुभाशंसा (श्रीरवीन्द्रनाथ गुरु)	...	४ २०—चरित्र क्या है ? (पूज्यपाद श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी)	३९
५—बालकोंका पृष्ठ—देश-धर्म-मर्यादा-रक्षाकी प्रतिशा	...	५ २१—योगका तात्पर्य और चरित्र-निर्माण (गोरक्षपीठा-धीश्वर महन्त श्रीअवैद्यनाथजी महाराज)	४५
६—धर्म-पालनकी प्रतिशा	...	६ २२—श्रीसुमित्राम्बाका आदर्श चरित (श्रीलक्ष्मण-किलाधीश स्वामी श्रीसीतारामशरणजी महाराज)	४७
७—आचारहीनं न पुनर्नित वेदाः (दक्षिणाम्नाय श्रीशङ्कराधीश्वर जगद्गुरु शंकर-चार्य अनन्तश्रीविभूषित स्वामी श्रीअभिनव-विद्यातीर्थजी महाराजका प्रसाद)	...	७ २३—चरित्र-निर्माणकी आवश्यकता और उसके मूल तत्त्व (योगिराज अनन्तश्री देवरहवा वावाके उपदेश) (प्रेषक—श्रीरामकृष्णप्रसादजी एडवोफेट)	५४
८—संकल्पबल और चारित्र्य (धर्मसम्प्राट् अनन्त-श्रीविभूषित ब्रह्मलीन स्वामी श्रीकरपात्रीजी महाराजके अमृतोपदेश)	...	८ २४—श्रीरामचन्द्रके चरित्रमें संयमका योगदान (पूज्यपाद श्रीरामचन्द्रजी डोगरेजी महाराज)	५५
९—चरित्र—भगवत्प्राप्तिका प्रधान साधन (पूर्वाम्नाय गोवर्धन-पीठाधीश्वर जगद्गुरु शंकरचार्य, अनन्तश्रीविभूषित स्वामी श्रीनिरङ्गनदेवतीर्थजी महाराजके सदुपदेश)	...	९ २५—उपनिषदोंमें चरित्र-शिक्षा (अनन्तश्री यतिचक्र-चूडामणि काशी श्रीमतीठाधीश्वर जगद्गुरु-स्वामी श्रीरामानन्दचार्य श्रीशिवरामाचार्यजी महाराज)	५९
१०—सामाजिक जीवनमें सच्चारित्र्यकी अनिवार्यता (पश्चिमाम्नाय द्वारकाशारदापीठाधीश्वर जगद्गुरु शंकरचार्य अनन्तश्रीविभूषित स्वामी श्रीस्वरूपानन्दजी महाराज)	...	१० २६—चरित्र-वल और ब्रह्मचर्य ही भारतीयोंके चिरस्वातन्त्र्यके मूल उत्स हैं (डॉ० श्रीनीराज-कान्तजी चौधुरी देवशर्मा, विद्यार्थी, एम्० ए०, एल्-एल० बी०, पी-एच्० डी०)	६०
११—आहिक सदाचार (श्रीकाञ्जीकाम्बोटिपीठाधीश्वर जगद्गुरु शंकरचार्य अनन्तश्रीविभूषित स्वामी श्रीजयेन्द्रसरस्वतीजी महाराजके शुभाशीर्वाद)	...	११ २७—निर्मल चरित्रसे विना ओषधि रोगमुक्ति (वैद्य श्रीज्ञाननिधिजी अग्रवाल, आयुर्वेदाचार्य)	६४
१२—चरित्र (ऊर्ध्वाम्नाय श्रीकाशीसुमेरुपीठाधीश्वर अनन्तश्रीविभूषित जगद्गुरु शंकरचार्य स्वामी श्रीशंकरानन्दसरस्वतीजी महाराज)	...	१२ २८—चारित्रिक प्रेरणाके मूल स्रोत-वेद (श्रीजगन्नाथजी वेदालंकार)	६५
१३—चरित्र-निर्माणके सरल उपाय (ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजबद्यालजी गोवन्दका)	...	१३ २९—सामवेदकी चारित्र्य-संयोजना (डॉ० श्रीसियारामजी सक्सेना, ‘प्रवर’)	६९
१४—सच्चारित्र्य और नियम (अनन्तश्रीस्वामी अखण्डानन्दजी सरस्वती महाराज)	...	१४ ३०—वैदिक चारित्र्य एवं ऋग्वेदके प्रेरणा-मन्त्र (डॉ० श्रीत्रिभोवनदास दामोदरदास शेठ)	७५
१५—चरित्र-निर्माणमें वेदज्ञान—ब्रह्मचर्यका योगदान (महामहो० प० श्रीगिरिधरजी शमो चतुर्वेदी)	...	१५	
१६—आद्य चरित्रकाव्य रामायणमें चरित्र-निर्माणके प्रेरक प्रसङ्ग (श्रीमज्जगद्गुरु रामानुजाचार्य वेदान्तमार्तण स्वामी श्रीरामानायणाचार्यजी महाराज)	...	१६	
१७			

३१—आयुर्वेदमें चारित्रिक उपदेश (वैष्ण भीबाल- कृष्णजी गोस्वामी, आयुर्वेदचार्य (स्वर्णपदक- प्राप्त), आयुर्वेद-वृहस्पति)	... ७८	४६—चरित्रशीलकी विजय (महाभारत) ... १२९
३२—चारित्रिक सद्वत [संकलित]	... ८०	४७—जैन-आगमोंमें चरित्र-निर्माणके सूत्र (मुनि- श्रीसुमेरमलजी) ... १३०
३३—वेदोंमें चरित्र-निर्माणके उद्दोघक मन्त्र (याजिक समाट पं० श्रीविणीरामजी शर्मा, गौड़, वेदाचार्य) ८१		४८—चरित्रशील सुपुत्र [कविता] ... १३१
३४—चरित्र-निर्माणके मूल वैदिक स्रोत (श्री- दीनानाथजी सिद्धान्तालंकार) ... ८४		४९—चरित्रकी परिभाषा (श्रीपरिणानन्दजी वर्मा) १३२
३५—सामवेदीय व्राह्मण-अन्योंमें चरित्र-निरूपण (डॉ० श्रीओमप्रकाशजी पाण्डेय, एम० ए०, पी-एच० डी०, साहित्यरत्न) ... ८७		५०—चरित्र-लक्षण एवं परिभाषा (प्रो० डॉ० रेखतीरमणजी पाण्डेय, डी० फिल०) ... १३७
३६—आयुर्वेदशास्त्रमें चारित्रिक विज्ञा (श्रीहुसेन खाँ शेख, वी० ए०, वी० एड०) ... ९१		५१—चरित्र, आचार और धर्म (डॉ० श्रीगोपीनाथ- जी तिवारी) ... १३९
३७—आगमोंकी सज्जाचित्य-प्रेरणा (डॉ० श्रीसिया- रामजी सक्सेना 'प्रवर') ... ९३		५२—चरित्र-निर्माण (डॉ० श्रीमोतीलालजी गुप्त, एम० ए०, पी-एच० डी०, डी० लिट०) ... १४३
३८—वेदान्तकी दृष्टिमें चरित्र-निर्माण (परमश्रद्धेय स्वामी ज्योतिर्मयानन्दजी महाराज, मियामी- संयुक्तराज्य अमेरिका) अनुवादक—(श्री- सुधांशुशेखरराजी त्रिपाठी, एम० ए०, साहित्यरत्न) ९८		५३—चरित्र-निर्माण क्यों और कैसे ? (श्रीराजेन्द्र- विहारीलालजी) ... १४५
३९—वर्मशास्त्रों (मन्वादि स्मृतियों) में चारित्र्य- विधान (श्रीराजदेवजी दुवे, श्रोध-ठान्ह) ... १०२		५४—विभिन्न प्रसङ्गोंमें चारित्र्य (डॉ० श्रीलक्ष्मण- प्रसादजी नायक, एम० ए० (हिन्दी, राज- नीतिविज्ञान), राष्ट्रभाषा-रत्न, एच० टी० टी० सी, वी० एड०, पी-एच० डी०) ... १५३
४०—श्रीमद्भगवद्गीतामें चारित्र्योपदेश (डॉ० श्री- विद्यम्भरनाथजी द्विवेदी, एम० ए०, पी- एच० डी०, आचार्य) १०५		५५—चरित्रकी आदर्शभूत चरित्रायंता (पं० श्री- सदानन्दजी द्विवेदी, साहित्याचार्य, आयुर्वेद- चार्य, साहित्यरत्न, एम० ए०, डिप० इन० एड०) १५६
४१—आदिकाव्य रामायणमें चरित्र-निर्माणके प्रसङ्ग (श्रीकुवेरनाथजी शुक्ल) ... १०९		५६—चरित्र-शिक्षाकी दिशा ... १५९
४२—रामायणमें चरित्र-निर्माण (स्वामी श्रीओकारा- नन्दजी महाराज) ... ११२		५७—स्वाध्यायसे चरित्र-निर्माण (श्रीनागोराव वासरकरली एडवोकेट) ... १६०
४३—संस्कृत-वाच्चायमें चारित्र्य-विधान (पं० श्रीआद्याचरणजी ज्ञा) ... ११७		५८—चरित्र-निर्माणके चौबीस सूत्र (कुँवर श्रीकृष्ण- कुमारसिंहजी) ... १६६
४४—महाकवि कालिदासकी चारित्रिक उद्घावनाएँ (श्रीकमेश्वरराजी उपाध्याय) ... १२३		५९—राष्ट्रिय चरित्र (डॉ० श्रीवेदप्रकाशजी शास्त्री, एम० ए०, पी-एच० डी०, डी० लिट०, डी० एस०-सी०, साहित्यायुर्वेद-रत्न, विद्या- भास्कर, आयुर्वेदवृहस्पति) ... १६८
४५—जैनदृष्टिमें चारित्र (डॉ० श्रीखलनस्त्रिदेव, एम० ए०, (प्राकृत-जैनग्रन्थ, संस्कृत-हिन्दी), स्वर्णपदक-प्राप्त, पी-एच० डी०, साहित्य- आयुर्वेद-पुराण-जैन-दर्शन-ग्रन्थाचार्य, व्याकरण- तीर्थ, साहित्यरत्न, साहित्यालंकार) ... १२७		६०—राष्ट्रके प्रति हमारा चारित्रिक दायित्व ... १७६
		६१—चरित्र-निर्माणकी जाग्रत उपयोगिता एवं सामाजिक उपादेयता (निम्वार्कचार्य गोस्वामी श्रीलक्ष्मिकृष्णजी महाराज) ... १७७
		६२—शास्त्रों एवं मनीषियोंकी दृष्टिमें चरित्र-निर्माण- की महत्ता (डॉ० श्रीउमाकान्तजी 'कपिष्ठज', एम० ए०, पी-एच० डी०, काव्यरत्न) ... १८०
		६३—चरित्र-निर्माणकी उपयोगिता (श्रीस्वीन्द्रनाथ- जी, वी० ए०, एल०-एल० वी०) ... १८३

६४—आयुर्वेदमें चरित्र-निर्माणकी महत्ता एवं उपादेयता (वैद्यरत्न श्रीप्रश्नान्तराचार्यजी निलंगेकर) १८७	७९—कठोपनिषदमें नचिकैताका चरित्र (श्रीप्रश्नान्त- कुमारजी रस्तोगी, एम्० ए०)	... २३४
६५—वैदिक सदाचार (डॉ० श्रीनन्दकिशोरजी गौतम (उपाध्याय) 'निर्मल', एम्० ए०, पी-एच० डी०, सा० आयुर्वेदाचार्य)	... १८९	८०—श्वेतकेतुका चरित्र (उपनिषत्प्रोक्त चरित्रिय) (श्रीप्रश्नान्तकुमारजी रस्तोगी, एम्० ए०)	२२५
६६—वेदोंकी चरित्र-शिक्षाके सप्त सोपान (डॉ० श्रीसिंयारामजी सक्सेना 'प्रवर')	... १९२	८१—महाशाल महर्षि शौनकका वैदिक वाङ्गमयमें विनय एवं स्वाध्यायपूर्ण चारित्र्य (पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)	... २२६
६७—ब्रह्मसूत्रमें चारित्र्य-चर्चा (पद्मश्री डॉ० श्रीकृष्णदत्तजी भारद्वाज, शास्त्री, आचार्य, एम्० ए०, पी-एच० डी०)	... १९८	८२—चरित्र-निर्माणमें रामचरित्रिका योगदान (श्री-आर० वेंकटरत्नम्)	... २२८
६८—श्रीवैखानसकल्पसूत्रमें चरित्र-निर्माणके मूल सूत्र (श्रीचल्लपल्लि भास्कर रामकृष्ण- माचार्युलु, एम्० ए०, बी० एड०)	... २००	८३—श्रीरामजीके चरित्रसे शिक्षा (महामण्डलेश्वर स्वामी श्रीभजनानन्दजी सरस्वतीजी महाराज)	२२९
६९—रामचरितमानस और चरित्र-निर्माण (डॉ० श्रीरामचरणलालजी शर्मा, एम्० ए०, पी-एच० डी०)	... २०२	८४—रामचरितमानसमें सीताचरित्रिका आदर्ग (डॉ० श्रीशुकदेवरायजी, एम्० ए०, पी-एच० डी०)	२३१
७०—चरित्रकी महत्ता (डॉ० श्रीजयमन्तजी मिश्र)	... २०५	८५—ब्रातृसेवी लक्ष्मणजीका आदर्ग चरित्र (डॉ० श्रीदेवकीनन्दनजी श्रीवास्तव)	... २३५
७१—चरित्र-निर्माणका महत्व (मध्यगौडेश्वराचार्य डॉ० श्रीवराज्ञ गोस्वामी, एम्० डी० एच०, डी० एस-सी० ए०)	... २०७	८६—भरतका आदर्श एवं उत्प्रेरक चरित्र (श्री- मुकुटसिंहजी भद्रैरिया)	... २३८
७२—वृत्तं यत्नेन संरक्षेत् (आचार्य श्रीतारिणीश- जी ज्ञा)	... २०९	८७—भगवान् श्रीकृष्णके आदर्श चरित्रसे शिक्षा (श्रीरत्नलालजी गुप्त)	... २४३
७३—चरित्र-निर्माणकी समस्या (प्रो० रामजी उपाध्याय एम्० ए०, डी० लिट०)	... २१०	८८—श्रीहनुमानके चरित्रसे शिक्षा (डॉ० श्रीख्वर्ण- किरणजी एम्० ए०, पी-एच० डी०)	... २४६
७४—चरित्र-निर्माण-सिद्धान्त और विनियोग (प्रो० श्रीइन्द्रदेवजी उपाध्याय, एम्० ए०, हिन्दी-संस्कृत)	... २१४	८९—श्रीमद्भगवद्गीतामें आध्यात्मिक चारित्र्योपदेश (श्रीसोमचैतन्यजी श्रीवास्तव एम्० ए० (सहृत-हिन्दी), एम्० ओ० एल०)	... २४९
७५—मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे चरित्रिका निर्माण और विकास (डॉ० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०, पी-एच० डी०)	... २१६	९०—कालिदासके काव्योंमें चारित्रिक लोकादर्श (डॉ० विभा रानी दुवे)	... २५५
७६—महापुरुषोंके पत्रोंसे चरित्र-निर्माण (डॉ० श्रीकमल पुंजाणा, एम्० ए०, पी-एच० डी०)	... २१९	९१—प्राचीन भारतीय कलाका चारित्रिक दर्शन (प्रो० श्रीकृष्णदत्तजी वाजपेयी)	... २५९
७७—चरित्र-निर्माणमें सत्सङ्गका योगदान (डॉ० धनवतीजी मिश्र)	... २२१	९२—आँग्ल-साहित्यमें चरित्रिका महत्व (साहित्य- वारिधि डॉ० श्रीहरिमोहनलालजी श्रीवास्तव, एम्० ए०, एल० डी०, एल-एल० बी०)	... २६३
७८—वैदिक वाङ्गमयमें इन्द्रका चरित्र (श्रीप्रश्नान्त- कुमारजी रस्तोगी, एम्० ए०)	... २२२	९३—पांशुश्वास्य मनीषियोंकी दृष्टिमें चरित्र (डॉ० श्रीसुवनेश्वरप्रसादजी वर्मा, 'कमल', एम्० ए०, डी० लिट०)	... २६५
९४—चरित्र-निर्माणका विवरण			
९४—चरित्र-निर्माणका विवरण (डॉ० श्रीप्रश्नान्त- कुमारजी रस्तोगी, एम्० ए०)	... २२२	९४—चरित्रनिर्माणके तत्व (डॉ० श्रीरघ्नजनजी, एम्० ए०, पी-एच० डी०)	... २६८
९५—चरित्र-निर्माणका विवरण			
९५—चरित्र-निर्माणका विवरण (डॉ० श्रीप्रश्नान्त- कुमारजी रस्तोगी, एम्० ए०)	... २२२	९५—चरित्र-निर्माणके मूल तत्व (पाण्डेय श्रीशशम्भु- जी शर्मा, 'किरण')	... २७१

१६—चरित्रके मूल आवार (श्रीश्यामलालजीहकीम)	२७४	११२—चरित्र-निर्माण का आचार्यका दायित्व (श्रीनृसिंहजी तिवारी, एम्० ए० (अंग्रेजी, समाजगान्धी), दी० एड०)	... ३०९
१७—चरित्र-निर्माणमें वर्मकी भूमिका (डॉ० श्री- लां० च० अद्वैतवाल, एम्० ए०, पी-एच० डी०, साहित्यरत्न)	... २७७	११३—ठात्रोंमें चरित्र-निर्माणकी आवश्यकता (आचार्य रेखानन्दजी गौड़)	... ३१०
१८—चरित्र-निर्माणका मौलिक तत्त्व-चिन्तन (श्री- शिं० नां० गौड़)	... २८०	११४—राष्ट्रिय चरित्र-निर्माण—आजका जाग्रत् प्रश्न (श्रीविन्द्येश्वरीप्रसादजी मिश्र, 'विनय', एम्० ए०)	... ३१३
१९—धर्मराजका चरित्र-सम्बन्धी उपदेश (डॉ० श्रीद्विनारायणजी तिवारी, एम्० ए०, पी- एच० डी०, साहित्याचार्य)	... २८५	११५—श्रीकौसल्यामाताके चरित्रसे शिक्षा (श्रीजयरामदासजी 'दीन', रामायणी)	... ३१८
२००—नीति-अन्धोंका चरित्र-निर्माणकारी उद्दोघन (डॉ० श्रीमूर्यमणिजी विपाटी, एम्० ए०, साहित्याचार्य, पी-एच० डी०)	... २८७	११६—सत्यवादी युधिष्ठिर	... ३२२
२०१—चरित्र-निर्माणकी महत्ता (डॉ० श्रीविद्याघरजी पस्साना, एम्० ए०, एम्० ओ० एल्, पी- एच० डी०, शास्त्री, साहित्याचार्य)	... २९०	११७—चारित्रिक व्यवस्था (स्वामी श्रीगंकरानन्दजी सरस्वती)	... ३२४
२०२—प्रतिप्र चरित्रकी अभियक्षि [वित्त] (रचयिता—श्रीत्रयोद्यप्रसादजी पाण्डेय, निर्मल)	... २९१	११८—सत्यकाम जावाल	... ३२५
२०३—सनी मटालसा	... २९२	११९—चरित्र और चरित्रवाल (आचार्य श्रीसीतारामजी चतुर्वेदी, एम्० ए०)	... ३२६
२०४—मर्ती सावित्री	... २९४	१२०—महान् चरित्र-निर्माण समर्थ गुरु रामदास (डॉ० श्रीकेशवविष्णुजी मुले)	... ३३१
२०५—चरित्र-निर्माणमें व्रद्धाचर्यकी उपयोगिता (श्री- विनायकजी दुर्वे, एम्० कॉम०, एम्० ए०, साहित्यरत्न)	... २९७	१२१—प्राचीन भारतमें शिक्षासे चरित्र-निर्माण (डॉ० (कु०) कृष्णागुप्त, एम्० ए०, पी-एच० डी०)	३३२
२०६—शुभ चरित्रका शुभ और अशुभका अशुभ फल मिलता है (महाभारत)	... २९९	१२२—चरित्र-सम्बन्धी कुछ प्रेरक प्रसङ्ग (श्रीराम- प्रतापजी व्यास, व्याख्याता, एम्० ए०, एम्० एड०, साहित्यरत्न)	... ३३४
२०७—मनवगा गच्छिव ही उमसी सर्वोपरि मानवता है (प० श्रीगोलिन्ददासजी 'संत', धर्मजानी, पुराणतीर्थ)	... ३००	१२३—योधरा	... ३३६
२०८—पाश्चात्य भनीश्वियोंका चरित्र-चिन्तन (श्री- चंद्रलल्ली दक्षगल, एम्० ए० (संस्कृत- अंग्रेजी,) काव्यतीर्थ)	... ३०३	१२४—चरित्रकी विद्येष्टता (महाकवि श्रीवनमालीदासजी शास्त्री)	... ३३८
२०९—सनी अदर्श अमालीक्ष्मा [संकलित]	... ३०५	१२५—बगदूरु श्रीरामानन्दाचार्यकी सच्चारित्र्य-शिक्षा (श्रीअवधकियोदयासजी वैष्णव, प्रेमनिधि)	३३९
२१०—मन्द श्री चरित्र है (डॉ० श्रीसुर्यनन्दजी बाटु, एम्० ए०, पी-एच० डी० (हय), डी० एड०)	... ३०६	१२६—चरित्र-प्रवान भारतीय संस्कृति—संस्कृतभाषाके वर्णमें (डॉ० श्रीशश्विधरजी शर्मा, 'आचार्य', एम्० ए०, डी० लिट०)	... ३४१
२११—अन्तरिक् इक्षि दर्शन चरित्र-निर्माण (डॉ० भृगुसेन्द्रनन्दनजी मिथ, एम्० ए० (अंग्रेजी लगा समारग्याल), पी-एच० डी०)	... ३०७	१२७—शिक्षा और चरित्र-निर्माण (श्रीशिवकुमारली शास्त्री)	... ३४५
		१२८—सीतायादचरितं महत् (मुश्त्री मुनीता शास्त्री, एम्० ए०, शोवद्याका)	... ३४९
		१२९—अनमूलाका आदर्श चरित्र-शिक्षण	... ३५५
		१३०—भक्तग्रेष मुख	... ३५६
		१३१—सुदचि और मुनीतिके चरित्रसे शिक्षा (प० श्रीमद्भूषणजी उद्गवजी शास्त्री, साहित्यालङ्घार)	३५८

१३२—नीति, धर्म पवं चरित्र-निर्माण (ब्रह्मचारी श्रीशैलेशजी)	३६०	१४६—परोपकारभाणी अगस्त्य	... ३९८
१३३—उदारचरित्र चन्द्रहास	३६२	१४७—चरित्र-प्रकाश [कविता] (डॉ० श्रीश्यामविहारीजी मिश्र, एम० एस-सी०, पी-एच० डी०)	... ३९९
१३४—चरित्र-निर्माणका दर्शन (प्र० श्रीसिद्धेश्वर-प्रसादजी)	३६५	१४८—शरणागतवत्सल शिवि	... ४००
१३५—चरित्र (श्रीयुस्त्राजकिशोरजी गोस्वामी, भागवततीर्थ)	३६७	१४९—त्यागमूर्ति दधीचि	... ४०१
१३६—चरित्र-निर्माण-विधि (डॉ० श्रीरामदेवजी त्रिपाठी, एम० ए०, डी० लिट०, व्याकरण-साहित्याचार्य)	३७०	१५०—तपोमूर्ति राजा भगीरथ	... ४०२
१३७—शिवसंकल्प करे मन मेरा, शुभसंकल्प करे ! (श्रीकृष्णदत्तजी भट्ट)	३७५	१५१—गोभक्त दिलीप	... ४०३
१३८—मृगवेद-यजुर्वेद-अथर्ववेदके व्राह्मण-ग्रन्थोंमें चारित्रिक प्रसङ्ग (पं० श्रीशिवपूजनजी पाण्डेय, एम० ए० (ह्य), आचार्य)	३७७	१५२—दाता रघु	... ४०५
१३९—आयुर्वेदमें चारित्रिक शिक्षण (श्रीभास्करराव भागवत आयुर्वेदाचार्य, डी० अर्द० एम० एस०, आयुर्वेद-वाचस्पति)	३७९	१५३—सत्यवादी महाराज दशरथ	... ४०६
१४०—भविष्यपुराणमें चरित्र-निर्माण (डॉ० श्रीरामजी तिवरी, एम० ए०, पी-एच० डी०, धर्म-विशारद)	३८२	१५४—सुधनवा	... ४०७
१४१—भारतीय चारित्र्य (श्रीशिवरकुमारजी सेन, सम्पादक दू०) (अनु०-श्रीरामदे वजी ओझा)	३८४	१५५—संतका चरित्र-शिक्षण	... ४०८
१४२—भारतीय चरित्रका प्रकाशक रामचरितमानस (राणा श्रीअरुणकुमार सिंहजी)	३९०	१५६—कर्तव्यकी कसौटी (स्वामीश्रीसनातनदेवजी)	४०९
१४३—रामस्नेहियोंकी सच्चारित्र-शिथा (श्रीरामस्नेही-सम्प्रदायाचार्य श्रीपुरुषोत्तमदासजी शास्त्री)	१५७—भारतीय आचार-शिक्षाके परिप्रेक्ष्यमें वैदिक नारियाँ (डॉ० श्रीमहाप्रभुलालजी गोस्वामी, एम० ए०, पी-एच० डी०, न्यायवेदान्त-व्याकरण-साहित्याचार्य, मीमांसाशास्त्री)	... ४११	
१४४—चरित्र-निर्माण छोटी-छोटी वातोंसे भी होता है (श्रीगिरजाशंकरजी राय 'गिरिजेश')	३९४	१५८—चरित्र-निर्माणके प्रयोग (श्रीललितविहारीजी मिश्र)	... ४१५
१४५—भक्तराज प्रह्लाद	३९६	१५९—अन्तर्मार्जनमेव चरित्रम् (वीतराग महात्मा जगन्नाथस्वामीजी)	... ४१९
	-----		१६०—चरित्र ही सर्वस्व है (भोगवद्भन पीठाधीश्वर स्वामीश्रीकृष्णानन्द-सरस्वतीजी महाराज)	... ४२१
	-----		१६१—सच्चरित्रा (श्री१०८ वैष्णवपीठाधीश्वर श्रीविष्णुलेशजी महाराज)	... ४२४
	-----		१६२—सच्चरित्र राघवेन्द्र राम (श्रीकृष्णजी पन्त शास्त्री)	... ४२६
	-----		१६३—अमृतविन्दु	... ४२९
	-----		१६४—क्षमापार्थना और नम्र निवेदन	... ४३०
	-----		१६५—चरित्र भगवान्का प्रत्यक्ष स्वरूप [कविता] (डॉ० श्रीशिवदत्तजी शर्मा चतुर्वेदी)	... ४३२

चित्र-सूची

(बहुरंगे)

१—चरित्रके आदर्श	... (आवरणमुख्य-पृष्ठ)
२—चरित्र-पालक—भगवान् विष्णु	... १
३—चरित्रके आचार्य जगद्गुरु श्रीशंकरचार्य	... १०
४—चरित्रके महान् उपदेशक—महर्षि वेदव्यास	... २०९
५—आदर्श चरित्रशीला—श्रीसीता	... २३१
६—प्रातृचरित्रके अनुपम आदर्श	... २३८
७—चरित्रके आदिदेव—भगवदेव	... २६०

<—‘आचार्य देवो भवते व्यादर्श

(१) श्रीकृष्ण-सुदमा	(२) एकलव्य
(३) आरुणि (४) उपमन्यु	... ३१०
९—असुरवालकोंको सच्चारित्रका उपदेश देते हुए प्रह्लाद	... ३९६

(रेखा-चित्र)

१०—श्रीगणेश-परिवार	... प्रारम्भमें
११—विनयशीलता (गुरु वसिष्ठको प्रणाम करते हुए भीराम)	... प्रथमभावण-पृष्ठ



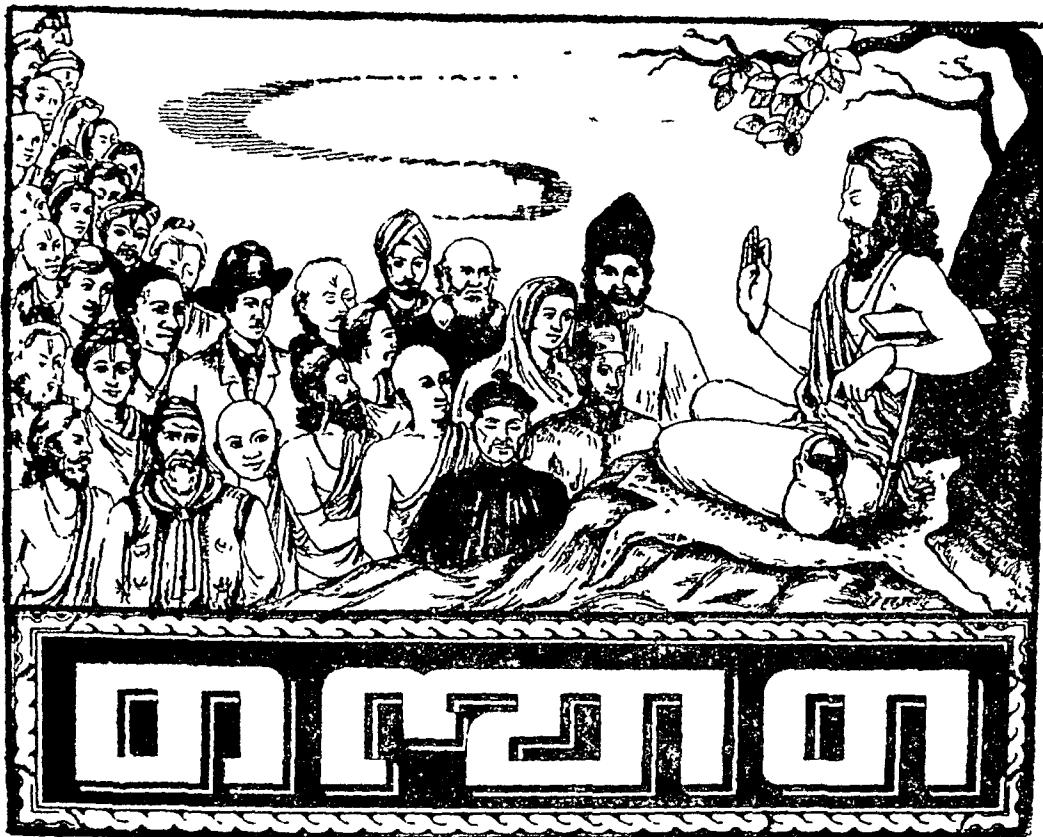
भीगणेश-परिवार

कल्याण



चारित्र्यपालक-भगवान् विष्णु

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावश्यते ॥



॥ १८ ॥

एतदेशप्रस्तुतस्य सकायादग्रजन्मनः ।
स्वं स्वं चरित्रं विक्षेपन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥ (मनु० २ । २०)

वर्ष ५७ } गोरखपुर, सौर माघ, श्रीकृष्ण-संवत् ५२०८, जनवरी १९८३ई० } संख्या १
} पूर्ण संख्या ६७४ }

भव-व्याल-ग्रसितकी प्रार्थना

हे हरि ! कवन द्वेष तोहि दीजै ।
जेहि उपाय सपनेहुँ दुरलभ गति, सोइ लिसि-वासर कीजै ॥ १ ॥
जानत अर्थ अनर्थ-रूप, तम्कूप परब यहि लागे ।
तदपि न तजत स्वान अज खर ल्याँ, फिरत विषय अनुरागे ॥ २ ॥
भूत-द्रोह कृत मोह-बस्य हित आपन मैं न विचारो ।
मद-मत्सर-अभिमान रथान-रिपु, इन महँ रहनि अपारो ॥ ३ ॥
वेद-पुरान सुनत समुक्षत रघुनाथ सकल जगव्यापी ।
वेधत नहि श्रीखंड वेनु इव, सारहीन मन पापी ॥ ४ ॥
मैं अपराध-सिद्धु करुनाकर ! जानत अंतरजामी ।
तुलसिदास भव-व्याल-ग्रसित तव सरन उरग-रिपु-गामी ॥ ५ ॥

(सांमनस्यके लिये)

सं समिद् गुवसे वृपश्चरने विश्वान्यर्थ आ ।
इलस्पदे समिध्यसे स नो वसुन्या भर ॥ १ ॥

अप्निदेव, अभिमतफलदाता ! तुम हृथर, तुम स्वामी,
वैश्वानर, तुम सब भृत्योंमें व्यापक अन्तर्यामी !
उत्तर-चेदीपर याज्ञिकजन करने तुम्हें प्रतीपित,
धन दो हमें, ज्ञान दो हमको, हैं तव शक्ति असीमित ॥ १ ॥

सं गच्छुध्यं सं वद्ध्यं सं वो मनांसि जानाम् ।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासने ॥ २ ॥

सब मिलकर तुम एक रहो, हे धर्म-निरत विद्वानो !
बात एक तुम बोलो, मनमे अर्थ एक तुम जानो ।
एकचित्त हो देव पुरातन ज्यों लेते निज भाग,
वैये ही तुम भी लो, करके निज विरोधका त्याग ॥ २ ॥

समानो मन्त्रः समितिः समानी
समानं मनः सद्व चित्तमेपाम् ।

संज्ञानसूक्त (२)

सहृदयं सांमनस्यमविद्वेपं कृणोमि वः ।
अन्योऽन्यमभिनवत चत्सं जानमिवान्या ॥ १ ॥

आप सबके मध्यमें विद्वेपको हटाकर मै सहृदयना-
संमनस्कताका प्रचार करता हूँ । जिस प्रकार गौ अपने
बछडेसे प्रेम करती है, उसी प्रकार आप सब एक
दूसरेसे प्रेम करें ॥ १ ॥

अनुब्रतः पितुः पुत्रो माना भवति संमना ।
जाका ज्येष्ठुमर्ती चाचं वदतु शान्तिवाम् ॥ २ ॥

पुत्र पिताके व्रतका पालन करनेवाला हो तथा
माताका आज्ञाकारी हो । पत्नी अपने धतिसे आन्ति-
युक्त मीढ़ी वाणी बोलनेवाली हो ॥ २ ॥

मा भ्राना भ्रानरं डिक्षन् मा स्वसारमुन स्वसा ।
सरस्वद्वचः सब्रता भूत्वा चाचं वदत भद्र्या ॥ ३ ॥

भाई-भाई आपसमें द्वेष न करे । वहिन-वहिनके
साथ ईर्ष्या न रखे । आप सब एकमत और समान
व्रतवाले बनकर मृदुवाणीका प्रयोग करें ॥ ३ ॥

संज्ञानसूक्त (१)

समानं मन्त्रसभि मन्त्रये वः
समानेन वो हृषिषा जुहोमि ॥ ३ ॥

मन्त्र पुक्षन्या हो इन सबका, हृषि प्रापि समान,
अन्त-करण समान सभीकं, सम विचार, सम ज्ञान ।
तुम सबके द्वित में अभिमन्त्रन भरता मन्त्र समान,
सम हविष्यसे लिये तुम्हारं करता आहुति-दान ॥ ३ ॥

समानी व आकृतिः
समाना हृष्यानि वः ।

समानमस्तु वो मनो
यथा वः सुसहासनि ॥ ४ ॥

तुम सबकी चेष्टा समान हों, निश्चय एक नमान,
हृदय तुम्हारे पुक्ष-नुल्य हों, हो न विषमना-मान ।
एक-भद्रा ही हों तुम सबके अन्त-करण उदाम,
हो सुन्दर सहचाय तुम्हारा, ज्यों समता नाकार ॥

(ऋग्वेद १०, ११६से)

येन देवा न वियन्ति नो च विद्विष्टते मिथः ।
तत्कृष्णो व्रद्धा वो गृहे संद्वानं पुरुषेभ्यः ॥ ४ ॥

जिस प्रेमसे देवगण एक दूसरेसे पृथक् नहीं होते
और न आपसमें द्वेष करते हैं, उसी ज्ञानको तुम्हारे
परिवारमें स्थापित करता हूँ । सब पुरुषोंमें परस्पर मेल
हो ॥ ४ ॥

ज्यायस्वन्ताश्चित्तिनो मा वि यौषु
संराधयन्तः सञ्चुराश्चरन्तः ।

अन्योऽन्यस्मै वल्यु वदन्तो यात
समग्रास्थ सधीचीनान् ॥ ५ ॥

श्रेष्ठता प्राप करते हुए सब लोग हृदयसे एक साथ
मिलकर रहो, कभी विलग न होओ । एक-दूसरेको
प्रसन्न रखकर एक साथ मिलकर (राष्ट्रके) भारी
बोझेको गांच ले चलो । परस्पर मृदु सम्भापण करते
हुए चलो और अपने अनुरक्त जनसे सदा मिले हुए
रहो ॥ ५ ॥

समानी प्रपा सह वो इन्द्रभागः
समाने योक्त्रे सह वो युनजिम ।
सम्यज्ञोऽग्नि सपर्यतारा
नाभिमिवाभृता ॥ ६ ॥

अन्न और जलकी सामग्री समान हो । एक ही (विधि-) वन्धनसे सबको युक्त करता हूँ । साथ मिलकर अग्निकी परिचर्या करो, जिस प्रकार रथकी नाभिके चारों ओर अरे लगे रहते हैं ॥ ६ ॥

सधीचीनान् चः समनसः कृष्णम्ये-
कद्गुणीन् संवननेन सहदः ।

देवा इवेदमृतं रक्षमाणः
सायंप्रातः सुसमितिर्वै अस्तु ॥ ७ ॥

समान (मति-) गतिवाले आप सबको सममनस्क बनाता हूँ, जिससे आप पारस्परिक प्रेमसे समान (सद्-) भावोंके साथ एक (चरित्रवान्) अग्रणीका अनुसरण करे । देवतागण जिस प्रकार समान चित्तसे अमृतकी रक्षा करते हैं, उसी प्रकार सायं और प्रातः आप सबकी (देश-धर्मके प्रति) उत्तम समिति हो ॥ ७ ॥
(वर्षवेदकी पैप्पलाद शाखा ५, ११ से)

चरित्रशालि उत्तम पुरुष

कामः क्रोधश्च लोभश्च मोहो मद्यमदाद्यः ।
माया मात्सर्ययैश्चुन्यमयिवेको विचारणा ॥
अन्धकारो यद्वच्छाच च चापल्यं लोलता नृप ।
अन्यायासोऽप्यनायासः प्रमादो द्रोहसाहस्रम् ॥
आलस्यं दीर्घसूत्रत्वं परदारोपसेवनम् ।
अत्याहारो निराहारः शोकश्चौर्यं नृपोत्तम ॥
एतात् दोपान् गृहे नित्यं वर्जयन् यदि वर्तते ।
स नरो मण्डनं भूमेदेशस्य नगरस्य च ॥
श्रीमान् विद्वान् कुलीनोऽसौ स एव पुरुषोत्तमः ।
सर्वतोर्धीभिषेकश्च नित्यं तस्य प्रजायते ॥

(स्कन्दपुराण, प्रभासलण्ड)

काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद्यपान, मट आदि, कपट-

छल, डाह, चुगलखोरी, अविवेक, विचारशून्यता, तमोगुण, स्वेच्छाचार, चपलता, लोलृपता, (भौगोके लिये) अत्यधिक प्रयास, अकर्मण्यता, प्रमाद (कर्तव्य-कर्म न करना और अकर्तव्य करना), दूसरोंके साथ होह करनेमें आगे रहना, आलस्य, दीर्घसूत्रता, परखीसे अनुचित सम्बन्ध, बहुत अधिक खाना, कुछ भी न खाना, शोक, चोरी—इन दोषोंसे बचा रहकर जो अपना जीवन विताता है, वह मानव पृथ्वी, देश तथा नगरका चारिष्य-भूपृण है । वही श्रीमान्, विद्वान्, कुलीन और मनुष्योंमें सर्वोत्तम है । उसे नित्य ही सम्पूर्ण तीर्थोंमें सान करनेका फल मिलता है ।

शुभमाहात्म्यम्

चरित्रनिर्माणसमाह्याङ्कः

कल्याणदोऽस्तु च जयं तनोतु ।
भवन्तु लोका भुवि वृत्तवन्तः
प्रसीदतु श्रीभगवान् मुकुन्दः ॥

('कल्याण'का) चरित्र-निर्माण-संज्ञक (इस वर्षका) विशेषाङ्क (देश-समाजके लिये) कल्याणकारी हो (तथा अपने उद्देश्यकी सिद्धिसे) सबको विजय प्रदान करे । पृथिवी-मण्डलके सभी लोग चरित्रशाली हों एवं श्रीभगवान् मुकुन्द प्रसन्न हों । —श्रीरवीन्द्रनाथ गुरु

बालकोंके पृष्ठ—

आजके बालक कलके चरित्रशील राष्ट्रनिर्माता कैसे बनेंगे ? निभान्धित आदर्श आचरणोंसे—

देश-धर्म-मर्यादा-रक्षाकी प्रतिज्ञा

हम उस देशमें उत्पन्न हुए हैं—जिस देशमें मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् रामने अवतार लिया, जिस देशमें लीलापुरुषोत्तम भगवान् कृष्णने अवतार लिया ।

हम उस देशमें उत्पन्न हुए हैं—जिस देशमें महर्षि वाल्मीकिने रामायणका गान किया, जिस देशमें महर्षि वेदव्यासने महाभारतका निर्माण किया ।



हम उस देशमें उत्पन्न हुए हैं—जिस देशमें युधिष्ठिर-जैसे धर्मात्मा हुए, जिस देशमें दधीचि-जैसे



दानी हुए, जिस देशमें हरिश्चन्द्र-जैसे सत्यवादी हुए ।



हम उस देशमें उत्पन्न हुए हैं—जिस देशमें राणा प्रताप-जैसे प्रणवीर हुए, जिस देशमें छत्रपति शिवाजी-जैसे धीरवीर हुए, जिस देशमें गुरु गोविन्दसिंह-जैसे कर्मवीर हुए ।

हम उस देशमें उत्पन्न हुए हैं—जिस देशमें लोकमान्य तिलक-जैसे कर्मयोगी हुए, जिस देशमें महामना मालवीयजी-जैसे निष्ठावान् हुए, जिस देशमें महात्मा गान्धी-जैसे सत्य-अहिंसाके पुजारी हुए ।



इमारा देश—भोस और अर्जुन-जैसे वीरोंका देश है ;

सावित्री और अनमूल्या-जैसी पतिव्रताओंका देश है;



गोस्वामी तुलसीदास और धूरदास-जैसे भक्तोंका देश है।

हमारा देश—गौरवशाली है; वैभवशाली है; उन्नतिशाली है; गङ्गा और गायत्रीका देश है।

हम ऐसा काम नहीं करेंगे—जो हमारे देशकी संस्कृति, प्रतिष्ठा और मर्यादाके अनुकूल न हो, जो हमारे देशके सम्मानके अनुकूल न हो, जो धर्म और सच्चारित्र्यके अनुकूल न हो।

हम देशके गौरवकी रक्षा करेंगे। हम देशके सम्मानकी रक्षा करेंगे। हम संस्कृतिकी रक्षा करेंगे।

हम देश-धर्म-मर्यादा एवं संस्कृतिकी लाज, रखेंगे। हम आदर्श शुचिशील चरित्रवान् बनेंगे।

हम महापुरुष बनकर देश-धर्मका कल्याण करेंगे।

धर्म-पालनकी प्रतिज्ञा

भगवान् धर्मकी रक्षाके लिये अवतार लेते हैं।

सत्पुरुष धर्मकी रक्षा करते हैं। अच्छे लोग धर्मका पालन करते हैं।

जो धर्मकी रक्षा करता है, धर्म उसकी रक्षा करता है।

जो धर्मका पालन करता है, धर्म उसका पालन करता है।

जो धर्मकी मर्यादापर चलता है, उसकी मर्यादा बची रहती है।

राजा शिवि धर्मात्मा थे। राजा रन्तिदेव धर्मात्मा थे।

राजा युधिष्ठिर धर्मात्मा थे। धर्मात्माओंका नाम अमर हुआ।

धर्मात्माओंको भगवान्‌का धाम मिला। धर्मात्माओंका संसार सम्मान करता है।

धर्मके पालनसे सुख मिलता है। धर्मके पालनसे शान्ति मिलती है।

धर्मके पालनसे यश बढ़ता है। धर्मके पालनसे कल्याण होता है।

हम धर्मका पालन करेंगे। हम धर्मकी मर्यादापर चलेंगे।

हम धर्मानुकूल व्यवहार करेंगे। हम आदर्श धर्मनिष्ठ बनेंगे।

हम धर्मको सर्वस्व समझेंगे।

आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः

(दक्षिणाम्नाय श्रीशङ्करे शारदापीठाधीश्वर जगद्गुरु शंकराचार्य अनन्तश्रीविभूषित म्यामी
अभिनव-विद्यातीर्थजी महाराजा प्रयाट)

वसिष्ठधर्मसूत्रका कथन है कि साहोपाङ्गस्याधीत पवित्र चारों वेद भी 'यद्यप्यर्थीताः सह पङ्गभिरङ्गः' सदाचाराखाय गानवको पवित्र नहीं कर सकते— 'आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः'। वेदोर्कावैसे अपार महिमा है। याज्ञवल्क्यादि स्मृतियोंमें तथा अन्यान्य धर्मशास्त्रोंमें वडे-वडे पापोंके प्रायश्चित्तके लिये वेदपरायणका विवान है। पर वसिष्ठके इस वचनके अनुसार यह ज्ञात होता है कि सदाचारविहीन पुरुषको वेदाव्ययन या धर्मकार्य भी पवित्र नहीं कर सकते। अतः सदाचारकी महिमा सर्वातिशायी है। हम लोग धर्म एवं सदाचारके बलपर ही ऐहिक और पारलौकिक सुख पाते हैं।

अब यह विचार करना है कि यह सदाचार है क्या? वेद, पुराण, धर्मशास्त्रोक्त धर्म तथा शिष्ट पुरुषोंका आचरण ही सदाचार है। पर हम शिष्ट पुरुषों या उनके आचरणको सदा नहीं देख सकते। ऐसी हालतमें सदाचारको कैसे समझें? इसका समाधान यह है कि अनादिकालसे प्रवृत्त वेद और धर्मशास्त्रोंके अनुशीलनसे हम इसे समझ सकते हैं। तैत्तिरीयोपनिषदमें सदाचारका सुन्दर ढंगसे निरूपण हुआ है। वह किसी भी देश और कालके लिये आवश्यक है। आचार्य अव्ययन पूरा होनेके बाद अपने शिष्योंको उपदेश देते हैं। उसका संक्षिप्त स्वरूप इस प्रकार है— 'सच वोलो। धर्मका आचरण करो। स्वाव्यायको कभी मत छोडो। मानाको देवना समझो। पिता-को देवता समझो। आचार्यको देवता समझो। अतिथियों-का सत्कार करो।' इन स्पष्ट वचनोंसे प्रतिपाद्य आचार सदाचार है। यहाँ वेदों, शास्त्रों और संतोंके आचरण तथा जीवनसे उसे समझना चाहिये। वेदोंके अनुसार चरित्रसे मुख्यतया वैदिक अनुष्ठान ही गृहीत है। इसके अनिरिक्त

श्रुतिमूलक धर्मशास्त्रोंमें भी चरित्रके अनुसारका विस्तारसे निरूपण हुआ है। मनुमहागाय कहते हैं— लोप्यमर्दी तृणच्छंद्री नवाखादी च यो नरः। स विनाशं वजत्याशु सूचकोऽशुचिरेव च ॥

(मनु० ६।००)

अर्थात्— 'मिट्टीके ढेलेका मलना, निनकेको तोड़ना, नाखूनको मुँहमें रखके दाँतोंसे काटना, चुगलखोरी करना और अशुचि रहना ठीक नहीं। इन कार्योंको करनेवाला अत्रेय प्राप्त करता है।' भगवान्ने मनुष्यको हाथ-पाँव आदि पाँच कर्मन्द्रियाँ और नाक-कान आदि पाँच ज्ञानन्द्रियाँ दी हैं। हम तभी बुद्धिमान् होंगे, जब इन सबको अपने वशमें रखकर धर्मकार्य करें। परंतु होता यह है कि इनको अपने स्वभावके अनुसार छोड़कर हम मनमानी कर लेने हैं। पर यह सदाचार नहीं असदाचार है, इसमे इहलोक और परलोक दोनों विगड़ते हैं। हम ऐसे अनाचारोंसे बचें तो कल्याण प्राप्त कर सकेंगे। वैदिक चरित्रोंमें मुख्यतया ७ पाकयज्ञसंस्था, ७ हर्विर्यजसंस्था एवं ७ सोमसंस्थाएँ आती हैं। इनके अनुष्ठानसे पुण्यपूर्वक अद्भुत प्रगति होती है। सामान्य चरित्र भी असंख्य हैं। इनसे सांसारिक पवित्र जीवनके साय-साय पुण्य भी प्राप्त होता है। सन्पुरुषोंके सम्पर्क और धर्मग्रन्थोंसे इन्हें सीखा जा सकता है। जीवनमें सदाचार आये विना सीखी हुई विद्या और किये हुए अनुष्ठान भी विफल हो जाते हैं, या पूरा कल नहीं दे पाते। विष्णुसहस्रनामकी कलशूनिमें एक लोक आता है—

सर्वागमानामाचारः प्रथमं परिकल्पयते ।
आचारप्रभवो धर्मः धर्मस्य प्रभुरच्युतः ॥

(महाभारत अनुशासन १४९)

अर्थात्—‘सभी धर्मशास्त्रोंमें आचार ही अप्य माना जाता है। आचारसे पुण्यका उदय होता है। उस पुण्यके खामी श्रीभगवान् अच्युत है।’ मानो भगवान् हमारे पुण्यों के फल-प्रदाता है। पुण्य तो सदाचारसे प्राप्त होता है। इसलिये सभी शास्त्रोंमें आचारका प्राप्तान्य (श्रेष्ठत्व)

है। सदाचारी पुरुषको संसारके लोग आदर देने और उसका गोरव बढ़ाते हैं। भगवान् भी उसपर कृपा करके मङ्गल प्रदान करते हैं। अतः सभी लोगोंको सदाचारी सञ्चरित्र बनकर जीवनको सार्थक बनाना चाहिये। आचारसे हीन होना पापी बनना है।

संकल्पवल और चारित्र्य

(धर्मसप्तांश् अनन्तश्रीविभूषित ब्रह्मलीन स्वामी श्रीकरपानीजी महाराजके अमृतोपदेश)

शास्त्र कहते हैं—‘क्रतुमयोऽयं पुरुषः’—पुरुष क्रतुमय है—‘स यत्क्रतुर्भवनि तत्कर्म कुरुते, यत्कर्म कुरुते तदभिसम्पद्यते।’ अतएव ‘वह जैसा संकल्प करने लगता है, वैसा ही आचरण करता है और जैसा आचरण करता है, फिर वैसा ही बन जाता है।’ जिन वातोंका प्राणी बार-बार विचार करता है, धीरे-धीरे वैसी ही इच्छा हो जाती है। उसकी फिर इच्छानुसारी वार्ता, आचरण, कर्म और कर्मनुसारिणी गति होती है। अतः सप्त है कि अच्छे आचरण एवं चारित्र्यके लिये अच्छे विचारोंको लाना चाहिये। बुरे कर्मोंको त्यागनेके पहले बुरे विचारोंको त्यागना चाहिये। जो बुरे विचारोंका त्याग नहीं करता, वह कोटि-कोटि प्रयत्नोंसे भी बुरे कर्मोंसे छुटकारा नहीं पा सकता। कर्मका आधार विचार है।

कितने ही व्यक्ति दुराचार, दुर्विचारजन्य दुर्व्यसन आदिको छोड़ना चाहते हैं। मध्यपाठी, वेश्यागमी व्यसनके कारण दुःखी होता है। वह व्यसनको छोड़ना चाहता है, उपाय भी दूँढ़ता है, महात्माओंके पास रोता भी है, छोड़नेकी प्रतिज्ञा भी कर लेता है, परंतु जो सावधानीसे मध्यपान, वेश्यागमन आदि दुराचारोंके व्रावर चिन्तन और मननका परित्याग करता है, उनका स्मरण ही नहीं होने देता, विचार आते ही उसे विचारात्तरोंसे काट देता है, वह तो छुटकारा पा जाता है, परंतु जो बुरे विचारोंको न छोड़कर उनका रस लेना रहता है, वह कभी बुरे कर्मोंमें छुटकारा नहीं पा सकता; वह बार-बार भानप्रतिष्ठ

होकर रोता है। वह विचारोंके समय असावधान रहता है। विचारसे क्या होता है? बुरा कर्म न कर्नुगा, उसीके त्यागकी मैने प्रतिज्ञा की है, इस तरह अपनेको धोखा देकर विचारके रसका अनुभव करता हुआ वह कभी व्यसनसे आत्मत्राण नहीं कर पाता। इसीलिये पुरुषको चाहिये कि वह किसी तरह बुरे विचारोंको हटाये, उन्हें अपने पास कभी फटकाने ही न दे।

जिस समय बुरे विचार आने लगे, उस समय वह अन्य-मनस्क होनेका प्रयत्न करे। भगवद्गीतामें, मन्त्र-जपसे, श्रवणसे, सत्सङ्गसे बुरे विचारोंकी धाराको तोड़ देना चाहिये। भले ही उपन्यास, नाटकों, समाचार-पत्रोंको पढ़ना पड़े, परंतु बुरे विचारोंकी धारा अवश्य तोड़नी चाहिये और उत्तरोत्तर ऐयोविचारक आश्रय लेना चाहिये। इसी तरह अच्छे कर्मोंके लिये पहले अच्छे विचारोंको लाना चाहिये। इसीलिये अच्छे शास्त्रोंका अभ्यास, अच्छे पुरुषोंका सङ्ग करने और पवित्र वातावरणमें रहनेसे अच्छे विचार बनते हैं, बुरे विचार और बुरे कर्म छूट जाते हैं। अतः ऐयस्कामीको सदा वेदान्तादिके सञ्चिन्तनमें ही लगे रहना चाहिये। कहा भी गया है—

आशुप्तेरामृतेः कालं नयेद् वेदान्तचिन्तनया ।

द्वयज्ञावसरं किञ्चित् कामाद्विभ्यो मनामपि ॥

वैसे मनका सहसा संकल्प-विकल्पमें रहित होना अनभव है पा प्रयास मनोनिप्रदका चलना रहना चाहिये। जैसे भाद्रपदमें भिन्धु, जनद्रु, शश आदि नदियोंका तेज तेजका उनके उद्ग रथानमें

ओटकर उन्हें सुखा देना असम्भव है, परतु सामान्य अस्तुओंमें उनसे नहर आदिको निकालकर जलप्रयोगको मोड़ा तो जाता ही है। इसी प्रकार बुरे विचारोंको रोककर, सात्त्विक विचारोंकी धाराओंको चलाकर, सात्त्विक वृत्तियोंसे तामस वृत्तियोंको काटकर सदा-चरणपूर्वक शनैः-शनैः अन्तरङ्ग-सूक्ष्म-सात्त्विक वृत्तियोंसे स्थूल-बहिरङ्ग-सात्त्विक वृत्तियोंको भी काटकर निर्वृत्तिकता सम्पादन की जा सकती है।

शास्त्रोंमें वालकोंके विचारोंको सँभालनेका बड़ा ध्यान रखा गया है। लियों और बाल्कोंके निर्मल कोमल पवित्र अन्तःकरणोंमें पहलेसे ही जो बाले अक्षित हो जाती हैं, वे ही उनका चरित्र-निर्माण करती हैं। चित्त या अन्तःकरण यदि अद्वृत लाक्षा-(लाख-)के समान कठोर होता है तो उसमें किसी भी आचरण या उपदेशका प्रभाव नहीं पड़ता और जब वह द्वृत लाक्षाके समान कोमल रहता है तो लाक्षापर मुहरके अक्षरोंके समान निर्मल कोमल उस पवित्र अन्तःकरणपर उत्तम आचरणों और उपदेशोंसे प्रभाव पड़ जाता है। पहलेसे ही बुरे सङ्गों और प्रथ्योंसे बालकोंके हृदयमें कूड़ा-करकटका भरा जाना अत्यन्त हानिकारक है। इसीलिये अच्छे पुरुषोंका सङ्ग तथा सच्छालोंके अभ्यासमें ही उन्हें लगाना अच्छा है—

यादशौः संनिविशने यादशांश्चोपसेवने ।
यादगिच्छेच्च भवितुं तादग् भवति पूरुपः ॥

जैसे लोगोंका सहवास होता है और जैसे लोगोंका सेवन होता है, जैसा होनेकी उक्त वाञ्छा होती है, प्राणी वैसा ही हो जाता है।

श्रद्धेय प्राणीके प्रति श्रद्धालुका अन्तःकरण, प्राण, देह आदि ज्ञुक जाने हैं, अतएव श्रद्धेयके उपदेशों और आचरणोंका प्रभाव श्रद्धालुओंके अन्तःकरणमें पड़ता है। यथापि सात्त्विकी श्रद्धा उत्तम व्यक्तियोंमें ही हुआ करती है, तथापि तामसी, राजसी श्रद्धा कहीं भी उत्पन्न हो सकती है। बुरे लोगोंके सहवाससे बुरी इच्छा, बुरे कर्म वन पड़ते हैं, जिनसे प्राणीका पतन हो जाता है, परंतु अच्छे सङ्गों, अच्छी इच्छाओं, अच्छे कर्मोंसे प्राणी सम्राट्, स्वराट्, विराट्, अनन्त, धन-धान्य-सम्पन्न इन्द्र, महेन्द्र, ब्रह्मा आदि तक वन सकता है। अच्छे सङ्ग, अच्छी इच्छा और शाक्षोक्त उत्तम साधनोंका सहारा लेकर प्राणी मनचाही वस्तुको प्राप्त कर सकता है। एक जन्म या अनेक जन्मोंमें प्राणी अवश्य ही अपने अर्भायुको प्राप्त कर सकता है, अगर वीचसे लौट न पडे। अन्यान्य वस्तुओंके समान ही सद्विचारोंके भी आदान-प्रदानसे श्रेष्ठ चरित्रका निर्माण किया जा सकता है और इससे साध्य—मोक्ष तककी प्राप्ति भी सम्भव है।

चरित्र—भगवत्प्राप्तिका प्रधान साधन

(पूर्वाम्नाय गोवर्धन-पीठाबीक्ष्वर, जगद्गुरु अकराचार्य, अनन्तश्रीविभूषित म्बासी भीनिरुद्रवतीर्थजी महाराजके सदुपदेश)

अनन्तकोटि-ब्रह्माण्डनायक परात्पर पूर्णतम पुरुषोत्तम अखण्ड सच्चिदानन्दघन परमवृत्ति कृपाप्राप्तिके विना प्राणीका कल्याण कदापि सम्भव नहीं। परम निःश्रेयसका एकमात्र आधार उन्हीं अशरणशरण, अकारणकरुणावहणालय, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वाधिक्षान भगवान्की कृपा है; इस लोकमें भी सर्वविधि सर्वज्ञीण समुन्नतिका रक्षमात्र साधन

भगवत्कृपा ही है। उसके बिना सुखोंके सभी साधन सर्वथा व्यर्थ सिद्ध होते हैं। इतना ही नहीं, उलटे वे घोर दुःखके कारण वन जाते हैं। अतः भगवान्की कृपाप्राप्तिपूर्वक उनका सांनिध्य प्राणिमात्रके लिये धावशयक है। तदर्थं, सद्वर्माचरण—चरित्रानुष्ठान सर्मोत्तम कार्य है। विष्णुपुराणमें कहा गया है—

वर्णाश्रमाचारवत्ता पुरुषेण परः पुमान् ।
विष्णुराराध्यते पन्था नान्यस्तत्तोपकारकः ॥
(विष्णुपु० ३ । ८ । ९)

शास्त्र उनकी आज्ञा हैं । लोकमें भी यदि हम किसीका कृपा-प्रसाद चाहे तो उसका सीधा-सा साधन उसका आज्ञापालन है । कठोर-से-कठोर हृदयवाले पुरुष भी निरतर अपनी आज्ञाका गलन करनेवाले व्यक्तिपर कृपा-दृष्टि बनाये रखते देखे जाते हैं । फिर अत्यन्त कोमल स्वभाववाले प्रभुका तो कहना ही क्या !

भगवान्‌की कोमलता लोकोत्तर है । समस्त ससारकी ऐश्वर्य-माधुर्याधिष्ठात्री जगज्जननी भगवती पराम्बा महालक्ष्मी अपने कमलसे भी कोमल हाथोंसे भगवान्‌के श्रीचरणरविन्दोंका संवाहन करनेकी इच्छासे जब उनका स्पर्श करनेके लिये अग्रसर होती हैं, तब मन-ही-मन सकुचाती हैं कि कहीं मेरे इन कठोर हाथोंसे श्रीचरणारविन्दोंको कष्ट न हो जाय ।

यद्यपि लौकिक मनुष्योंकी तरह भगवान् प्रत्यक्ष होकर आज्ञा नहीं देते, फिर भगवान्‌की आज्ञाका पालन कैसे किया जाय ? तथापि विश्वजनीन, सर्वहितकारी, सर्वजनसुखकारी सनातन-धर्मकी यह एक अद्भुत विशेषता है कि उसमें स्वयं भगवान् अपने श्रीमुखसे ही अपनी आज्ञाका स्पष्ट निर्देश करते हैं । अनादि अपौरुषेय विश्वकल्याणकारक वेदवाक्य और धर्म-शास्त्र ही भगवान्‌की आज्ञाएँ हैं । उनका पालन करना ही उन प्रभुकी आज्ञाका पालन और उनका उल्लङ्घन करना ही भगवान्‌की आज्ञाका उल्लङ्घन करना है । लौकिक व्यक्ति भी अपने सामीकी आज्ञाकी उपेक्षा करनेपर जैसे सांसारिक सुखोंसे बच्चित रहता है, ठीक वैसे ही श्रीभगवदाज्ञास्वरूप वेद-शास्त्र-(धर्मशास्त्र-स्मृतियो-) के विधानका उल्लङ्घन करनेवाला व्यक्ति भी इह दोक्ष और परओक्षमें कभी किसी प्रकारकी भी सुख-शान्ति-

प्राप्ति नहीं कर सकता । जो वेद-शास्त्रकी आज्ञाका उल्लङ्घन करता है, वह न तो भगवद्गत्त कहलानेका अधिकारी है और न उसे वैष्णव ही कहा जा सकता है । स्वयं श्रीभगवान्‌के वचन हैं—

श्रुतिस्मृती ममैवाऽमो यस्ते उल्लङ्घ्य वर्तते ।
आज्ञोच्छेदी मम द्वोही मद्भक्तोऽपि न वैष्णवः ॥
(वाधूलस्मृति १८९)

‘वेद-शास्त्रप्रतिपादित वर्णाश्रमधर्मका उल्लङ्घन करनेवाला व्यक्ति मेरी आज्ञाका पालन नहीं करता, इसलिये वह मेरा भक्त नहीं, अपितु मेरा द्वोही है; फिर उसे वैष्णव कहलानेका अधिकार कहाँसे मिल सकता है !’

सच्चारित्यद्वारा श्रीभगवत्कृपा प्राप्त करनेका भी यही एकमात्र उपाय है कि अपने-अपने व और आश्रमके अनुसार यथाशक्ति, यथासम्भव स्वर्धमानुष्ठान किया जाय तथा उसके फलकी इच्छाका परित्याग कर अपने किये हुए सत्कर्म, सद्धर्मको भगवान्‌के श्रीचरण-रविन्दोंमें अर्पण कर देना चाहिये । शास्त्रनिपिद्ध कर्ममें अपने मनको कभी प्रवृत्त न होने देना ही भगवद्-भक्तिका सर्वश्रेष्ठ स्वरूप है । अन्यथा भगवान् प्रसन्न नहीं होते—

स्वधर्मकर्मविमुखा रामकृष्णेति राविणः ।
ते हरेडेविष्णो मूढा धर्मार्थं जन्म यद्वरेः ॥

भगवान् कहते हैं—‘यदि मुझे प्रसन्न करना चाहते हो तो अपने-अपने वर्णाश्रमोचित कर्तव्य-कर्मका अनुष्ठान करो तथा विना फलकी इच्छा रखे उन कर्मोंको मेरे चरणोंमें अर्पित कर दो । इसके अतिरिक्त कोई दूसरा उपाय मुझे सतुष्ट करनेका नहीं है ।’ स्पष्ट है कि सच्चारित्यसे भगवान्‌के सतुष्ट होनेपर ही उनकी कृपा प्राप्त होगी तथा भगवत्कृपा-प्राप्तिसे ही सर्वनिव दृग्खोकी आत्मनिक निवृत्ति और शाश्वत सुख-शान्तिकी प्राप्ति दोगी ।

सामाजिक जीवनमें सच्चारित्यकी अनिवार्यता

(—पश्चिमाञ्चाय द्वागकाशारदापीठाधीश्वर जगद्गुरु शकराचार्य अनन्तश्रीविग्रहित
मामी श्रीमरुपानन्दजी महाराज)

वेदोमे चारित्य-निर्माणके लिये कर्म, उपासना और ज्ञान—इन तीनों साधनोंका प्रतिपादन हुआ है। मनुष्य-का चारित्य पूर्णरूपसे निष्ठालक्ष्म तभी होता है जब उसके अन्तःकरणमें रहनेवाले मल, विक्षेप एवं आवरण—ये तीन दोष मिट जाते हैं। निष्काम कर्मयोगसे मल, उपासनासे विक्षेप एवं ज्ञानसे आवरण-दोष दूर होता है। भाष्यकार भगवान् श्रीशंकराचार्यने ज्ञानको ही मोक्षका माधात् साधन माना है। उन्होंने ज्ञानको फलपूर्यवसायी सिद्ध करनेके लिये पूर्व मीमांसकोंके बहुत-से विचारोंका परीक्षण एवं ग्रन्थन कर अपने पक्षकी स्थापना की है।

पूर्वमीमांसाका आधार-सूत्र है:—

आम्नायस्य क्रियार्थन्वादानर्थक्यमतदर्थानाम् ।

‘वेदके क्रियार्थक होनेके कारण उसमें पाये जानेवाले सिद्धपदार्थ-वोधक वाक्य निर्धक या क्रियाविधिकी प्रशासा या निन्दा करनेवाले अर्थवादमात्र हैं।’ शब्दवोध भी क्रियार्थक वचनोंसे ही होता है। प्रयोजक वृद्धने प्रयोज्य वृद्धने कहा,—‘आम्नाय’ तब वाल्क प्रयोज्यवृद्धकी गौको ले जानेकी क्रिया देखकर ‘भास्म’ और ‘आनय’ इन दो पदोंका अर्थ जानता है। इसी प्रक्रियासे ‘गं वधान, अश्वमानय’ इत्यादि वाक्योंमें क्रियाप्रक क पदोंके सहकारसे ही सिद्धप्रक पदोंका अर्थ जाना जाता है। इसी तरह ‘स्वर्गकामो यजेत्’ इत्यादि वेदवचनोंका तात्पर्य भी क्रियाप्रकतासे ही अवगत होता है। इस प्रकार—

‘फलवदर्थावचोधकत्वं वेदत्वम्’ का सिद्धान्त स्थापित होता है।

भगवान् शकराचार्यने ‘ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः’ इस सिद्धान्तको मानने हृए भी कर्म और उपासनाकी उपादेयताको स्थीकार किया है। पर—

‘व्यवहारे भाष्टनयः।’ व्यवहारकी सिद्धिके लिये कुमारिल भट्टने जिन प्रमाणोंको माना उनको शकरने भी माना है। (सनातन-धर्मके इतिहासमें वेदके कर्मकाण्ड-भागका उद्धार कुमारिल भट्टने और ज्ञानकाण्ड-भागका उद्धार भगवान् शंकरने किया ।)

‘अथातो ब्रह्मजिग्नासा’—इस ब्रह्मसूत्रका भाष्य लिखते हृषि शंकरने ‘अथ’ शब्दका अर्थ साधनचतुष्टय-सम्पन्न—ऐसा किया है। नित्यानित्य वस्तुविवेक, इहासुत्रफलभौगविराग तथा शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा और समाधान—ये छः साधनसम्पत्ति और मुमुक्षुत्व—इन चारोंको ब्रह्म विचारके पूर्व अनिवार्य माना है। ये साधन उसीके अन्तःकरणमें उत्पन्न होते हैं जो निष्काम कर्मनुष्ठान करता है—

**रव्यवर्णाश्मधर्मेण तपसा हरितोपणात् ।
साधनं प्रभवेत् पुंसां वैराग्यादिचतुष्टयम् ॥**
(अपरोक्षानुभूति ३)

अपने वर्ण एव आश्रमके लिये विहित कर्मरूप धर्मका तपस्याके भावसे अनुष्ठान करके श्रीहरिको संतुष्ट-प्रसन्न करनेवाले मनुष्यके अन्तःकरणमें ही वैराग्यादि चार साधन प्रकट होते हैं।

परंतु आजकल बहुत-से लोग कर्मकी उपेक्षा करके उपासना और ज्ञानकी राधनामें प्रवृत्त होना चाहते हैं; जबकि यह नियम है कि क्रियामे शुद्धि नहीं है तो भाव और विचारकी शुद्धि इक नहीं सकती। उदाहरण-के लिये मान् लीजिये कि आपकी किसीसे मित्रता है, पर आप मित्रके परोक्षमें उसका अहित करते हैं या उसके अनिष्टकी वात सोचते हैं तो खाभाविक रूपसे आपकी मित्रताकी भावना समाप्त हो जायगी। आजके भारतीय जीवनमें विचारों और भावोंकी उच्चताकी चर्चा

कल्याण



चारित्र्यके आचार्य—जगद्गुरु ह श्रीशंकराचार्य

मात्र होती है। हग उच्च कोटिके भावराज्यका चिन्तन करते हैं, यहॉलक कि कभी-कभी हम ब्रह्मविचार करने भी बैठ जाते हैं; किंतु चारित्रिक धरातलके निम्न रहनेके कारण यह सब मात्र कल्पनाकी उडान बनकर रह जाता है। इसलिये कठोपनिषद्‌मे कहा है—

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनमाप्नुयान् ॥

‘दुश्चरित्रिसे विरत न होनेवाला, मन और इन्द्रियों-को सम्में न रखनेवाला, चित्तकी स्थिताका अन्यास न करनेवाला एवं विक्षिप्त मनवाला मनुष्य केवल बुद्धिवल्से आत्माको प्राप्त नहीं कर सकता।’

इसलिये यह आवश्यक है कि हमारा चरित्र उज्ज्वल हो। जीवनमें दैवी सम्पत्तिके लक्षण आवें। जो सिद्धोंका स्वभाव होता है, वही साधकोंकी साधना बन जाता है। अतः हम गीतामें स्थितप्रब्रह्मके लक्षण पढ़ें। गुणातीत और भगवत्प्रियके लक्षण पढ़ें। दैवी सम्पत्तिके लक्षण पढ़ें। रामायणमें श्रीरामचरित्र पढ़ते समय उनके गुणोपर दृष्टिपात करे। श्रीरामचरितमानसमें जो संतोके लक्षण वताये गये हैं, उनको ढंखें और उन्हे अपना आदर्श बनाये। दर्पणको आदर्श कहने हैं। जैसे मनुष्य दर्पणके सामने घडे होकर स्वयंको सजाता-सँवरता है, वैमे ही इन गुणोंको समुद्र रखकर हमें अपने चरित्रको परिष्कृत करना चाहिये। आन्म-समीक्षा करके दंखना चाहिये कि हम कहॉतक इन सद्गुणोंको अपने अन्तःकरणमें ला सके हैं—

प्रत्यहं प्रत्यदेष्टेन तरश्चरितमात्मनः।
किनु मे पशुभिस्तुल्यं किं वा सत्पुरौरिति ॥

‘मनुष्य प्रतिदिन अपने चरित्रकी परीक्षा करे कि वह मुझमें पशुओंके तुल्य कितना है और कितना मपुरुषोंके तुल्य है।’

हमारे उज्ज्वल चरित्रिसे न केवल हमारा लाभ, किंतु समाज, राष्ट्र और विश्वका भी उससे अभ्युदय होगा। हमारा पवित्र जीवन, उज्ज्वल चरित्र हमारे समाजका घटक होनेके नाते समाजका ही होगा—जैसे वृक्ष-वृक्षसे बन बनता है। यदि एक वृक्ष विकसित, पल्ल्यवित, फलित होता है तो वह वनश्रीकी ही अभि-वृद्धि करता है। इसी प्रकार समाजका एक-एक वृक्ष-चरित्रवान् होकर पूरे समाजको चरित्रवान् बनान्में योग दे सकता है। यदि उनसे प्रेरणा पाकर दूसरोंने भी अनुसरण करना प्रारम्भ किया तो वह पूरे समाजका कायापलट कर सकता है।

आजकल लोग शङ्का करते हैं कि ‘वर्तमान सामाजिक परिस्थितिमें सच्चरित रहना, धर्मका पालन करना क्या सम्भव है? इस समय वातावरण ही ऐसा है कि मनुष्यको न चाहते हुए भी अर्थमें मार्गपर चलना पड़ता है।’ किंतु यदि हमारी समझमें यह बात आती है कि यह अर्थमें मार्ग व्यक्तिके और समाजके कल्याणका नहीं है तो हमें दूसरोंका ओर न देखकर स्वयं ही साहस करके सत्यके मार्गपर अपने बढ़ना चाहिये और उसमें आनेवाली कठिनाइयोंका सामना करना चाहिये। कठिनाइयों आयेगी, किंतु यदि हमने अपने सत्यपथको न छोड़ा तो वे सब समाप्त हो जायेंगी। कठाचार, भ्रष्टाचार, अनैतिकताको समाप्त किये विना न तो लौकिक अभ्युदय हो सकता है न पारमार्थिक कल्याण। यद्यपि धर्मका उद्देश्य तो महान् है, किंतु भी आजकी समस्याओंका हल अगर हो सकता है, चारित्रिक उद्द्यान हो सकता है, नैतिकता वह सकती है तो धार्मिक भावनाओंसे ही वह सकती है। अतः धार्मिक भावनाओंके सदाचारकी प्रथमिक आवश्यकता है। चरित्र-साधनका यहां प्रथम संपादन है।

आहिक सदाचार

(श्रीकाश्मीकामकोटिपीठाधीश्वर जगद्गुरुर्गंगाचार्य अनन्तश्रीविभूषित स्वामी
भीजयेन्द्रसरखतीजी महाराजका शुभाशीर्वाद)

भगवान् आदि शंकराचार्यने—‘जन्मनां जरजन्म-
दुर्लभमतो पुंस्त्वं ततो विप्रता, तस्माद्वैदिकधर्ममार्ग-
परता विडत्त्वमस्तात् परम्।’ (विवेकचूडा० १)
—इत्यादिमें मनुष्य-जन्मको अत्यन्त दुर्लभ बतलाया है।
पापकर्म करनेसे हीन योनि मिलती है। पुण्यसे देवलोक
या मनुष्य-जन्म मिलता है। मनुष्यजन्ममें पाप-पुण्य दोनों
होते हैं। पापके कारण कष्ट और चिन्ता होती है और
पुण्यसे भगवद्-भक्ति, प्रसन्नता तथा सद्भावना मिलती है।

मनुष्य-जन्म साधनसम्पन्न है। मनुष्य-जन्ममें अनेक
बाधाएँ भी हैं। पर उसे भक्ति, धर्माचरणादि करनेका
अवसर प्राप्त रहता है। अन्य प्राणियोंको यह सुलभ
नहीं है। अन्य प्राणियोंमें बुद्धिकम और विद्याभ्यास भी
नहीं रहता। अन्य जीव मनुष्यकी ही तरह खाते हैं,
सोते हैं, परतु मनुष्यकी तरह धर्मका ज्ञान उन्हें
नहीं होता। उनको जो कष्ट होता है उससे बचनेका
उपाय सोचनेकी विवेकशक्ति भी उनमें नहीं है।
मनुष्य विवेकशील है और वह लोक-परलोक आदिके
सम्बन्धमें सोच-विचार सकता है। उसे इतना उत्तम शरीर
भगवान् ने इसीलिये दिया है कि अच्छे काम करके
अपना जीवन सुख-शान्तिमय बना सके। इसी जन्ममें
अपने प्रयत्नोंसे दुःखकी समाप्ति की जा सकती है और
मनुष्य जन्म-मरणके चक्रसे मुक्ति भी पा सकता है। पर
यह तभी सम्भव है, जब वह भगवद्-भजन करे। भगवान् की
अनन्यभावसे उपासना करनेवाले कभी जन्म-मरणके
बन्धनमें नहीं पड़ते। इसके विपरीत यदि हम अच्छा
कार्य नहीं करते तो कुछ उल्टा-पुल्टा नीच काम करनेसे

नीचे गिर सकते हैं; क्योंकि—‘न हि कश्चित्क्षणमणि जातु
तिष्ठत्यकर्मकृत्।’ (गीता ३।५)

भगवान् ने मनुष्यको भले-बुरे—दोनों संयोग दिये
हैं। पाप-पुण्य, अच्छा-बुरा साध-साध दिये हैं।
मनुष्यको विवेकसे पाप-कर्म छोड़कर अच्छे और धार्मिक
काम करने चाहिये—‘मन हंस गुन गद्विं पथ परिद्धरि
यारि विकार’।

भगवद्-भक्ति, भगवद्गुणगान, सत्प्रवृत्ति, धर्माचरण,
—ये कभी स्व-पर-कष्टके कारण नहीं बनते। जो
कार्य रागसुक्त इन्द्रियोंद्वारा होते हैं, वे कष्टदायक होते
हैं। आचरणकी शुद्धि मनुष्यको ऊँचा उठाती है।
भगवान् ने यह मनुष्य-जन्म इसलिये दिया है कि वह
भगवद्-भक्ति, सत्प्रवृत्ति, स्वधर्म-आचरण करता है।
सभी प्राणियों, मनुष्यों और देशकी सेवा-सहायता
करे। इसे सार्थक बनानेके लिये भगवान् को नमस्कार
कर सदा अच्छे काम करने चाहिये। जीवनमें होनेवाले
दुःखोंको कम करने तथा उनका समूल नाश
करनेके लिये प्रातःकाल उठते ही इस प्रकार स्मरण
करना चाहिये—

कराये वसते लक्ष्मोः करमध्ये सरस्वती ।
करमूले तु गौरी स्यात् प्रभाते करदर्शनम् ॥
ससुद्रवसने देवि पर्वतस्त्वमण्डले ।
विष्णुपत्नि नमस्तुभ्यं पादस्पदा क्षमस्व मे ॥
गुरुव्रद्धा गुरुर्विष्णुः गुरुर्देवो महेश्वरः ।
गुरुः साक्षात् परं व्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥

* आहिकों तथा आचारप्रवीप आदिमें—‘करमूले स्थितो ब्रह्मा’, ‘कर्गपूष्ठे च गोविन्द’, तथा किरोमि
करदर्शनम् । पेसा भी मिलता है।

इसके बाद स्नान करते समय निम्न श्लोक पढ़े—

वक्तुण्डमहाकाय कलपान्तद्वहनोपम !
भैरवाय नमस्तुभ्यं ह्यनुज्ञां दातुर्महसि ॥
गङ्गे च यसुने चैव गोदावरि सरस्वति ।
नर्मदे सिन्धु कावेरि जलेऽस्मिन् सन्निधि कुरु ॥

भोजन करनेसे पहले—

अन्नपूर्णं सदापूर्णं शंकरप्राणवल्लभे ।
ज्ञानवैराग्यसिद्धधर्थं भिक्षां देहि च पार्वति ॥

—ऐसा कहे और रात्रिमें शयनसे पूर्व यह श्लोक पढ़े—

अच्युतं केशवं विष्णुं हरिं सोमं जनार्दनम् ।
हंसं नारायणं कृष्णं जपेत् दुःखन्दशान्तये ॥

प्रतिदिन पूजा-पाठादिमें स्तोत्रादिका प्रायण करते समय निम्न श्लोक पढ़े—

शुभ्लाम्बरधरं विष्णुं शशिवर्णं चतुर्मुजम् ।
प्रसन्नवदनं ध्यायेत्सर्वविघ्नोपशान्तये ॥
अगजाननपद्मार्कं गजाननमहर्निशम् ।
अनेकदन्तं भवतानामेकदन्तसुपास्महे ॥

गजाननं भूतगणादिसेवितं
कपित्यजम्बुफलसारभक्षितम् ।
उमासुतं शोकविनाशकारणं
नमामि विघ्नेश्वरपादपङ्गजम् ॥
ब्रह्मासुरारिमुरार्चितलिङ्गं
निर्मलभासितशोभितलिङ्गम् ।
जन्मदुःखविनाशकलिङ्गं
तत्प्रणमामि सदाशिवलिङ्गम् ॥
करचरणकृतं वा कर्मवाष्कायजं वा
श्रवणनयनजं वा मानसं वापराधम् ।
विहितमविहितं वा सर्वमेतत्क्षमस्व
शिव शिव करुणाद्ये श्रीमहादेव शंभो ॥

प्रतिदिन इसी प्रकार स्नान-संध्या, नित्यकर्म-धर्म सम्पन्नकर संध्या-समय भी स्नानसध्यादि कर भोजनके बाद भी देवस्मरण करते हुए शयन करना चाहिये । चात्रियको उन्नत करने-वाले ये आहिक सदाचार अवश्य पालनीय हैं ।

चरित्र

(--ऊर्ध्वाभाय श्रीकाशीसुमेश्वरीठाधीश्वर अनन्तश्रीविभूषित जगद्गुरुणंकराचार्य खामी श्रीशक्तरानन्दसरस्वतीजी महाराज)

वर्तमानमें समस्त विश्व चारित्रदौर्बल्य-व्याधिसे पीडित है । भारतवर्ष भी इस रोगके जबडेके आभ्यन्तरमें उत्तरोत्तर ग्रस्त होता जा रहा है । आये दिन समाचार-पत्रोके पन्ने घटित वीभत्स दुर्घटनाओंके समाचारोंसे ओत-प्रोत रहते हैं ।

तत्कोपकारके—‘निष्ठा च शीलं चारित्रं शास्त्रं चरितं तथा’—इस वचनके आधारपर शील, चरित्र, चारित्र और चरित—ये सब शब्द समानार्थकहैं । अमरकोशके—‘शुचौ च चरिते शीलम्’—(१।७।२६) इस वचनके आधारपर सुखभावही शील या चरित्र शब्द-व्याख्या है, ‘एकं सुखभावस्य’ (रामश्रीयी ट्रीका) । इस प्रकार चरित्र शब्दका अर्थ सुखभाव या समीचीन कर्म किया

जाना उचित है । स्वभावमें सुष्टुत्य शास्त्रानुसारित्व है । अतः शास्त्रानुकूल कर्म या व्यवहार चरित्र है । तदनुसार स्वभावमें, व्यवहारमें समीचीनता क्रमशः वृद्धिगत होती रहती है । अतएव भगवान् कृष्णने गीतामें—‘तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ’ (१६ । २४)—इस उक्तिके द्वारा कर्तव्य-कर्मका शास्त्रके द्वारा ही नियन्त्रण निर्धार्य बतलाया है । अतः शास्त्रके अनुकूल कायिक, वाचिक एवं मानस क्रिया-कलाप चरित्र हैं ।

व्यक्तियोंसे समाज तथा समाजसे देश—राष्ट्रका निर्माण होता है । उन्नतिशील समाज तथा राष्ट्रके लिये व्यक्तियोंका चरित्रशील होना आवश्यक है । प्राचीन

भारतमें व्यक्तिके चरित्रका सम्मान था, धनका नहीं; अतएव भारतवर्षमें भगवान् गम तथा भगवती सीताका सदाचार त्रिकालावाधित सत्यकी मानि मान्य है—स्वर्ण-मर्या लङ्घके स्थामी गवणका नहीं।

अस्तु ! हम ‘कन्याण’के महत्त्वपूर्ण इस अङ्गकी सफलता चाहते हैं तथा भगवान् विश्वनाथसे कामना करते हैं कि भारतराष्ट्र चरित्रपगवण होकर विश्वमें अपना अप्रतिम स्थान पुनः बनाये।

चरित्र-निर्माणके सख्त उपाय

(—ब्रह्मलीन परमश्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोवन्दका)

चरित्र-निर्माणके लिये वहुत-से साधक भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, सदाचार आदि साधनोंको करना चाहते हैं; किंतु उनसे साधन मर्यादानि वन नहीं पाना। इसपर उन्हें गहराईसे विचार करना चाहिये कि साधन क्यों नहीं वन पाना। विचार करनेपर यही प्रतीत होता है कि अन्तः-करणमें राग-हृष्प, अहता-ममता और कामना आदि अनेक दोष भरे हुए हैं, जिनके कारण अन्तःकरण अपवित्र हो रहा है, जिससे साधनमें वाधा हो रही है। अतः अन्तः-करणको शुद्ध करनेके लिये निष्कामभावसे शौचाचार, सदाचार, जप, तप, सात्त्विक भोजन और सत्य व्यवहार आदिकी वहुत आवश्यकता है; क्योंकि ये आत्मकन्याणमें परम सहायक हैं।

आजकल लोग शौचाचार, सदाचार सात्त्विक भोजन और सत्य व्यवहारकी अवहेलना करने लगे हैं। यह उनके लिये धोर पतनकारक है। स्वाल करना चाहिये कि इनके पाठ्यनमें न तो अधिक पैसोंका खर्च है, न अधिक परिश्रम है, न अधिक समय ही लगता है पर इनसे लाभ अन्यत महान् है। इसलिये मनुष्यको इनके पाठ्यनके लिये विशेषरूपसे प्रयत्न करना चाहिये।

(१) विधिपूर्वक मिट्टी और जलके द्वारा शौच-स्नानादि से गरीबको पवित्र रखना तथा वस्त्र और स्थान आदिको स्वच्छ रखना चाहिये।

(२) निय प्रातःकाल बड़ोंके चरणोंमें निष्काम भावसे आदरपूर्वक नमस्कार करना चाहिये।

(३) निय निष्कामभावसे वलियैश्वर्देव करके ही भोजन करना चाहिये। वलियैश्वर्देवमें पञ्चमहायज्ञ आशिकरूपमें आ जाते हैं। अग्निमें जो पाँच आहृतियाँ ढो जाती हैं, वह (होम) ‘दंवयज्ञ’ है। पितरोंके लिये जो अन्न दिया जाता है, वह ‘पितृयज्ञ’ है। मनुष्यादिके लिये जो अन्न दिया जाना है, वह ‘मनुष्ययज्ञ’ है। ऋग्वियोंके वचन मानकर वेदमन्त्रोंका जो उच्चारण किया जाता है, वह ‘ऋग्यज्ञ’ है तथा सम्पूर्ण भूतप्राणियोंको जो अन्न दिया जाता है, वह ‘भूतयज्ञ’ है। वलियैश्वरेवका अर्थ ही है सारे विश्वको अन्न देकर फिर सत्य भोजन करना। इससे बड़ा भारी लाभ है।

(४) अपने अविकारके अनुसार संध्योपासन और गायत्री-जप करना वहुत ही उत्तम है। इतना न बने तो कम-से-कम श्रीमूर्यभगवान्को अर्थ दिये बिना तो मनुष्यको भोजन ही नहीं करना चाहिये। भगवान् मूर्यको अर्थ शुद्ध भी दे सकता है। सभीके लिये मूर्यार्थिका पौराणिक मन्त्र यह है—

एहि सूर्य सहस्रांशो तेजोराशे जगत्पते ।
अनुकम्पय मां भक्त्या गुहाणार्थ्यं नमोऽस्तु ते ॥

(५) अपना खान-पान सब प्रकारसे शुद्ध और सात्त्विक रखना चाहिये। वर्तमान समयमें लोगोंका खान-पान भ्रष्ट हो जानेसे उनका पतन हो गया और हो रहा है। वहुत-से लोग होटलोंमें भोजन और मदिरा, मांस, अंडा आदि अपवित्र धृणित अखाद्य वस्तुओंको खाने

छो है। यह महान् पाप है। इससे अन्तःकरण दूषित होता है और अपवित्रताकी वृद्धि होकर आत्माका पतन हो जाता है। अतः इनका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये। अडा, मास, मदिराकी तो बात ही क्या, मनुष्यको लहसुन-प्याज भी नहीं खाना चाहिये। राजसी और तामसी भोजनका सर्वथा त्याग करना चाहिये। राजसी भोजनका वर्णन गीतामें यो बताया गया है—

कटव्यम्ललघणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविद्विनः ।
आहारा राजसस्येष्टु दुःखशोकामयप्रदाः ॥
(गीता १७ । ९)

‘कडवे, खट्टे, लघणयुक्त, बहुत गरम, तीखे, रुखे, दाहकारक और दुःख, चिन्ता तथा रोगोंको उत्पन्न करनेवाले आहार अर्थात् भोजन करनेके पदार्थ राजस पुरुषको प्रिय होते हैं।’ तामसी भोजनका लक्षण यह है—

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत् ।
उच्छिष्टप्रमणि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥
(गीता १७ । १०)

‘जो भोजन अवपका, रसरहित, दुर्गन्धयुक्त, वासी और उच्छिष्ट है तथा जो अपवित्र भी है वह भोजन तामस पुरुषको प्रिय होता है।’ अतः इनका कर्त्तव्य त्याग कर देना चाहिये।

(६) खेल-तमाशा देखना, जुआ खेलना, हँसी-मजाक करना, अश्लील कामोत्तेजक पुस्तकें पढ़ना और कलब-थियेटर, वायस्कोप-सिनेमा आदिमें स्वयं जाना तथा निर्लज्ज हो अपनी स्त्रीको साथ ले जाना—ये महान् हानिकर हैं। इनसे मनुष्यका पतन हो जाता है। अतः इनका भी सर्वथा त्याग कर देना चाहिये।

(७) अन्यायपूर्वक धनोपार्जन करनेसे भी अन्तःकरण दूषित होता है, इसलिये झूठ, कपट, चोरी-वेईमानी, छल-विश्वासधात आदिको छोड़कर सचाईके साथ न्यायपूर्वक धनार्जन करना चाहिये।

(८) आमदनीसे अधिक खर्च करना भी मनुष्यके पतनमें हेतु होता है। अधिक खर्च करनेवाला मनुष्य धनका दास हो जाता है और फिर वह झूठ, कपट, चोरी-वेईमानी, छल-विश्वासधातसे धन कमाने लगता है। किंतु जो खर्च कम लगता है, साड़गीसे रहता है, उसको धनका दास नहीं बनना पड़ता। जब वह धनको महत्त्व नहीं देता, तब वह पाप क्यों करेगा ?

(९) वर्तमान समयमें लोगोंको अन्नके बिना महान् कष्ट हो रहा है। अन्नके भाव वहुत अधिक हो जानेके कारण लोगोंको अपना जीवन-निर्वाह करनेमें बड़ी कठिनाई हो गयी है। अतः इस समय लोगोंके हितके लिये तन, मन और धनसे अपनी शक्तिके अनुसार अन्नके द्वारा उनकी सेवा करना सबसे उत्तम वर्म है। श्रीतुलसीदासजी भी कहते हैं—

परहित सरिस धर्म नहिं भाई । पर पीड़ा मम नहिं अधमाई ॥
(राठौच० मा० ७ । ४० । १)

(१०) बैश्यका परोपकार-बुद्धिसे क्रय-विक्रयरूप व्यापार करना कर्तव्य है। गीतामें भगवान् ने बताया है—

कृपिगौरक्यवाणिज्यं वैश्यकर्मं स्वभावजम् ।
परिचर्यात्मकं कर्मं शद्वस्यापि स्वभावजम् ॥
(१८ । ४४)

‘खेती, गोपालन और क्रय-विक्रयरूप सत्य व्यवहार—ये बैश्यके स्वाभाविक कर्म हैं तथा सब वर्गोंकी सेवा करना शूद्रका भी स्वाभाविक कर्म है।’

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते तर ।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दनि तच्छृणु ॥
(गीता १८ । ४५)

‘अपने-अपने स्वाभाविक कर्ममें न परतासे लगा हुआ मनुष्य भगवत्प्राप्तिरूप परम सिद्धिको प्राप्त हो जाता है। अपने स्वाभाविक कर्ममें लगा हुआ मनुष्य जिस प्रकारसे कर्म करके परम सिद्धिको प्राप्त होता है, उस विधिको तु छुन !’

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन भर्यमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यन्तर्य सिद्धिं विन्दनि मानवः ॥
(गीता १८ । १६)

‘जिस परमेश्वरमे सम्पूर्ण प्राणियोंकी उपत्ति है वै है और जिससे यह समस्त जगत आत है, उस परमेश्वर-की अपने स्वाभाविक कर्माद्वारा पूजा करके मनुष्य परम सिद्धिको प्राप्त हो जाता है।’ तुलाधार वैश्यका केवल व्यापूर्वक सत्य व्यापारसे ही कल्याण हो गया था ।
(देखिये महाभास्त शान्तिपर्व अ० २६१ से २६४) ।

अतः वर्तमान अन्नस्वरूपके समय यदि अनाज वरीदकर विना मुनाफाके ही कर्तव्यवृद्धिसे सबमें भगवद्वाय करके लोगोंको कम-से-कम दाममें निष्काम-भावसे अन्न दिया जाय तो वह बहुत ही अंग्रह है ।

(११) संसारके पदार्थोंको, धन-सम्पत्तिको और विषयभोगोंको क्षणभूत, नाशवान् और दुःखरूप मानकर मनको उनसे हटाना चाहिये । उन्हींमें रचे-पचे नहीं रहना चाहिये । गीतामें भगवान् कहते हैं—

ये हि संस्पर्शजा भोग दुःखयोनय एव ते ।

आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते वृथः ॥

(५ । २२)

‘जो ये इन्द्रिय तथा विषयोंके संयोगसे उत्पन्न होनेवाले सब भोग हैं, वे यद्यपि विषयी पुरुषोंको सुखरूप भासते हैं तो भी दुःखके ही हेतु हैं और आदि-अन्तवाले अर्थात् अनित्य हैं । इसलिये हे अर्जुन ! वृद्धिमान् विवेकी पुरुष उनमें नहीं रमता ।’

इसलिये वैराग्यपूर्वक ससारके ऐश-आराम और विषय-भोगोंका व्याग करके सत्य व्यवहार, सत्यमाप्ण, दूसरोंकी सेवा और ब्रह्मचर्यका पालन आदि सदाचारका निष्कामभावसे सेवन करना चाहिये । इससे अन्तःकरण बहुत शीघ्र शूद्ध होता है ।

(१२) काम-क्रोध, लोभ-गोह, मद-मत्सर आदि दुर्गुण और धूठ-कपट, चोरी-अभिचार, अमक्ष्यभक्षण

आदि दुराचार अन्तःकरणको अधिकाधिक अपवित्र और दूषित बनानेवाले हैं । अतः इन सबका तो अवश्य व्याग कर देना चाहिये ।

(१३) दुर्गुण-दुराचारकी अपेक्षा दूसरोंकी निन्दा करना-सुनना, दूसरोंके दोषोंको देखना और मनसे उन दोषोंका चिन्तन करना भी महान् हानिकारक है । इससे पाँच दोष होते हैं—

(क) दूसरोंके दोषोंको यदि कोई कानसे सुनें, वाणीसे कहे, नेत्रोंसे दंखे और मनसे मनन करे तो उस पापरूपी मलसे ये कान, वाणी, नेत्र और मन—सभी दूषित हो जाते हैं और उन दोषोंके संस्कार चित्तपर अद्वित हो जाते हैं, जो भविष्यमें उससे भी वैसे ही पाप करानेमें सहायक हो जाते हैं ।

(ख) दूसरोंकी निन्दा करने-सुननेसे उनकी आत्माको दुःख पहुँचता है, उसका भी पाप लगता है ।

(ग) दूसरेका दोष देखनेसे उसके प्रति वृणावृद्धि हो जाती है, यह भी पाप है, जो अन्तःकरणको विशेष दूषित करनेवाला है ।

(घ) दूसरेका दोष देखनेसे अपनेमें अच्छेपनका अभिमान बढ़ता है, यह भी महान् पतनकारक है ।

(ङ) पापीके पापकी चर्चा करनेसे उस पापीके पापका अंश उस चर्चा करनेवाले व्यक्तिको भोगना पड़ता है । अतः आत्माका उद्वार चाहनेवाले मनुष्यको इन सबसे भी बहुत दूर रहना चाहिये ।

उपर्युक्त सभी साधन निष्काम भावसे करनेपर मनुष्यका परम कल्याण करनेवाले हैं और यदि भगवद्दर्पण या भगवद्ग्रंथवृद्धिसे किये जायें तब तो कहना ही क्या है । फिर तो बहुत ही शीघ्र कल्याण हो जाना है । अर्पणके सम्बन्धमें भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनसे कहाया है—

यत्परोऽपि यदृश्नासि यज्ञुद्देष्यं धर्मसि यत् ।
यत्तपत्यति कौत्सेयं सत्कुरुष्व मर्त्यपाप् ॥
(गीता ९ । २७)

‘अर्जुन ! तू जो कर्म करता है, जो खाता है,
जो हवन करता है, जो दान देता है और जो तप
करता है वह सब मुझे अर्पित कर ।’

शुभाशुभफलैरेवं मोक्षसे कर्मवन्धनः ।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो प्रामुणेष्यसि ॥
(गीता ९ । २८)

‘इस प्रकार जिसमें समस्त कर्म मुझ भगवान्‌के
अर्पित होते हैं—ऐसे संन्यासयोगसे युक्त चित्तवाला
तू शुभाशुभ फलरूप कर्मवन्धनसे मुक्त हो जायगा
और उससे मुक्त होकर मुश्को ही प्राप्त होगा ।’

इसी प्रकार भगवदर्थ कर्मके सम्बन्धमें भगवान्‌ने
कहा है—

द्यस्यासेऽप्यसमर्थैऽसि यत्कर्मपदमो भव ।
मदर्थमपि कर्मणि दुर्बद्ध लिङ्गिमवास्त्वसि ॥
(गीता १२ । १०)

‘थादि तू उपर्युक्त योगके अभ्यासमें भी असर्व द्वै
तो केवल मेरे किये कर्म करनेके ही परायण हो जा ।
इस प्रकार मेरे निमित्त कर्मोंको करता हुआ भी मेरी
प्राप्तिरूप सिद्धिको ही प्राप्त होगा ।’ इस प्रकार भगवदर्पण
या भगवदर्थ-बुद्धिसे साधन करना चाहिये ।

संसारमें मुख्यरूपसे दो ही बातें सार हैं— (१)
अपनेपर किसी धटना, परिस्थिति आदिका प्राप्त होना और
(२) खयं कोई भी कर्म करना । इनमेंसे (१)
जो कुछ भी अनुदृश्य या प्रतिकूल छुख-दुःख, लाभ-
हानि, जय-पराजय आदि आकर प्राप्त हो, उसे कर्म-
योगके अनुसार अपने पूर्वकृत कर्गोंके फलरूप प्रारब्ध-
का भोग मानकर हर्षके साथ निष्कामभावसे स्वीकार करे ।
ज्ञानयोगके अनुसार उसे खप्नवत् मिथ्या मानकर
निर्विकार रहे और भक्तियोगके अनुसार उसे भगवान्‌का
विधान या भगवान्‌की लीला या भगवान्‌का भेजा

हुआ पुरस्कार मानकर पहल प्रसन्न रहे । (२)
जो नया कर्म करना है, उसे सिद्धिअसिद्धिमें समझाव
रहते हुए आसक्ति और फलकी इष्टाका सर्वथा त्याग
करके शाखविधिके अनुसार निष्कामभावसे करे—यह
कर्मयोगका साधन है और सञ्चिदानन्दधन परमात्माके
खरूपमें एकीभावसे नित्य स्थित रहते हुए ही सम्पूर्ण
गुण ही गुणमें बरत रहे हैं, ऐसा समझकर मन,
इन्द्रिय और शरीरके द्वारा होनेवाले सम्पूर्ण कर्मोंमें
कर्तापिनके अभिमानसे रहित होकर उन शाखविहित कर्मोंको
करे—यह ज्ञानयोगका धन है । इसी प्रकार सब कुछ
भगवान्‌का समझकर श्रद्धा-भक्तिरूपक मन, वाणी और
शरीरसे सब प्रकार भगवान्‌के शरण होकर उनके
खरूपका निरन्तर चिन्तन करते हुए उनकी प्रसन्नताके
लिये उनकी आज्ञाके अनुसार उनकी सेवाके रूपमें
समस्त- शाखविहित कर्मोंको करे—यह भक्तियोगका
साधन है ।

मनुष्य कर्मफलभोगमें सर्वथा परतन्त्र है, किंतु
कर्म करनेमें परतन्त्र होते हुए सतन्त्र भी है । इसलिये
किये जानेवाले कर्मोंको बहुत सावधानीके साथ करना
चाहिये । भगवान्‌ने अर्जुनसे कहा है—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गेऽस्त्वकर्मणि ॥
(गीता २ । ४७)

‘अर्जुन ! तेरा कर्म करनेमें ही अधिकार है, उसके
फलोंमें कभी नहीं । इसलिये तू कर्मके फलका हेतु मत
हो तथा तेरी कर्म न करनेमें भी आसक्ति न हो ।’
निष्कर्ष यह कि जो कुछ आकर प्राप्त हो, उसमें
हर समय परम प्रसन्न रहे और किये जानेवाले कर्तव्य-
कर्मको बहुत सावधानीसे न्यायरूपक निष्कामभावसे
करे तो शीत्रातिशीत्र भगवत्प्राप्ति हो सकती है, किंतु
जो अपने शाखविहित कर्तव्यकर्मका त्याग करके
मनमाना आचरण करता है, उसे कहीं भी सुख नहीं ।

यः शास्त्रविधिमुत्सूच्य वर्तते कामकारतः ।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परं गतिम् ॥
(गीता १६ । २३)

‘जो पुरुष शास्त्रविधिको त्यागकर अपनी इच्छासे मनमाना आचरण करता है, वह न सिद्धिको प्राप्त होता है, न परमगतिको और न सुखको ही ।’

इसलिये मनुष्यको सावधान होकर अपने शास्त्रविहित कर्तव्यकर्मका निष्कामभावसे आचरण करना चाहिये ।

ऊपर जो ज्ञानयोग, भक्तियोग, कर्मयोग आदि बहुत-से उपाय बताये गये हैं, उन सभीको गीतादि शास्त्रोंमें सरल, सुगम और सर्वोत्तम बताया गया है तथापि वर्तमान कलियुगमें भक्तियोगकी बहुत प्रशंसा की गयी है और उसे अत्यन्त सुगम बताया गया है । श्रीवेदव्यासजीने कहा है—

यत्कृते दक्षभिर्वै स्वेतायां हायनेन तथ ।
द्वापरे तच्च मासेन ह्यहोरात्रेण तत्कलौ ॥
तपसो व्रह्मचर्यस्य जपादेश्च फलं द्विजाः ।
प्राप्नोति पुरुपस्तेन कलिः साध्विति भावितम् ॥
ध्यायन् कृते यजन् यज्ञस्वेतायां द्वापरेऽर्चयन् ।
यदाप्नोति तदाप्नोति कलौ संकीर्त्य केशवम् ॥
(विष्णुपुराण ६ । २ । १५-१७)

‘हे द्विजगण ! जो फल सत्ययुगमें दस वर्ष तपस्या, व्रह्मचर्य और जप आदि करनेसे मिलता है, उसे मनुष्यत्रेतामें एक वर्ष, द्वापरमें एक मास और कलियुगमें केवल एक दिन-रात साधन करनेसे प्राप्त कर लेता है । इसी कारण मैंने कलियुगको श्रेष्ठ कहा है । जो फल सत्ययुगमें ध्यानसे, त्रेतामें यज्ञोंके अनुष्टानसे और द्वापरमें देवपूजासे प्राप्त होता है, वही कलियुगमें केशवके नाम-गुणोंका कीर्तन करनेसे मिल जाता है ।’ महामुनि पराशरजी भी कहते हैं—

अत्यन्तदुष्टस्य कलेरयमेको महान् गुणः ।
कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तवन्धः परं व्रजेत् ॥
(विष्णुपुराण ६ । २ । ३९)

‘इस अत्यन्त दुष्ट कलियुगमें यही एक महान् गुण है कि इस युगमें केवल भगवान् श्रीकृष्णके नाम-गुणका संकीर्तन करनेसे ही मनुष्य संसार-वन्धनसे मुक्त हुआ परमपदको प्राप्त कर लेता है ।’ इससे मिलता-जुलता श्लोक श्रीमद्भागवतमें भी आता है—

कलेदीर्घनिधे राजननस्ति ह्येको महान् गुणः ।
कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तसङ्गः परं व्रजेत् ॥
(१२ । ३ । ५१)

‘परीक्षित् ! यह कलियुग दोषोंका खजाना है, परंतु इसमें एक बहुत बड़ा गुण है । वह गुण यही है कि कलियुगमें भगवान् श्रीकृष्णका संकीर्तन करनेमात्रसे ही सारी आसक्तियाँ छूट जाती हैं और परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है ।’

श्रीतुलसीदासजीने भी कहा है—

कलियुग सम जुग आन नहिं जाँ नर कर विस्वास ।
गाढ़ राम गुन गन विमल भव तर विनहिं प्रयास ॥
(रा० च० मा० उत्तर० १०३)

कलियुग केवल नाम अधारा । सुमिरि सुमिरि भव उत्तरहु पारा ॥

इस प्रकार शास्त्रोंमें कलियुगमें भगवान्‌की भक्तिकी बड़ी भारी महिमा बतायी गयी है ।

इन सब बातोंपर ध्यान देकर हमलोगोंको कठिनद्व हो तत्परतासे साधन करना चाहिये । समय बीता जा रहा है; मनुष्यको शीत्र सचेत हो जाना चाहिये । नहीं तो, समय शनैः-शनैः बीत जायगा और मृत्यु अचानक आ प्राप्त होगी तो फिर पहलेके अभ्यासके बिना उस समय कुछ भी साधन नहीं बन सकेगा और पश्चात्ताप करना पड़ेगा, पर पश्चात्ताप करनेसे कोई लाभ न होगा । इसलिये हजार काम छोड़कर उस कामको पहले करना चाहिये, जिसके लिये यह मनुष्य-शरीर मिला है । यह मनुष्य-शरीर आत्माके उद्धारके लिये ही मिला है । इसको जो मनुष्य विषय-भोगोंमें विता देगा उसे धोर पश्चात्ताप करना पड़ेगा । श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

सो परत्र दुख पावइ सिर धुनि पछिताइ ।
कालहि कर्महि ईस्वरहि मिथ्या दोष लगाइ ॥

एहि तन कर फल विषय न भाई । स्वर्गउ स्वर्व अंत दुखदाई ॥
नर ततु पाइ विषये मन देही । पलटि सुधा ते सठ विष लेही ॥
ताहि कबहुँ भल कहाइ न कोई । गुंजा ग्रहाइ परस मनि खोई ॥

जो न तरै भवसागर नर समाज अस पाइ ।

सो कृत निंदक मंदमति आत्माहन गति जाइ ॥

(रा० च० मा० उत्तर० ४३, ४३ । १-२, ४४)

इसलिये मनुष्य-शरीर पाकर विषयमोगोमें मन न लगाकर उसे भगवान्‌में ही लगाना चाहिये । यह सबसे बढ़कर सार बात है । इसमें न पैसा खर्च होना है, न परिश्रम है और न समय ही लगता है । हरेक

मनुष्य इसे कर सकता है एवं यह निश्चय ही कल्याण करनेवाला है । वह बात है—हर समय भगवान्‌को स्मरण रखना । भगवान्‌ने गीतामें बताया है—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्य नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥

(८ । १४)

‘आर्जुन ! जो पुरुष मुझमें अनन्यचित्त होकर सदा ही निरन्तर मुझ पुरुपोत्तमको स्मरण करता है, उस निष्ठ-निरन्तर मुझमें युक्त हुए योगीके लिये मैं सुलभ हूँ अर्थात् उसे सहज ही प्राप्त हो जाता हूँ ।’

इस प्रकार चरित्र-निर्माताको चाहिये कि निर्दिष्ट विधिसे साधना कर जीवनको सार्थक बनावे ।



सच्चारित्र्य और नियम

(लेखक—अनन्तश्री स्वामी अखण्डानन्दजी सरस्वती महाराज)

भगवान् श्रीकृष्णका उपदेश है—‘मामनुस्मर युद्ध च’—‘मेरा अनुस्मरण करो और युद्ध करते चलो ।’ सर्वसामान्यके लिये लक्षणासे यहाँ युद्धका तात्पर्य है—कर्म करना; अर्थात् भगवान्‌का स्मरण करते चलो और अपने कर्तव्यका पालन करते चलो । भगवान् तो हमारा स्मरण करते ही हैं । उनकी दृष्टिमें सारी सृष्टि है । उनके एक रोमकूप अनन्त ब्रह्माण्ड हैं । हम सब उनकी आँखोंके सामने हैं । हम उनको नहीं देख पाते, वे हमको देखते हैं । उनको हम अपनी गोदमें नहीं वैठा पाते, वे हमको हमेशा अपनी गोदमें ही रखते हैं । उन्हींकी सौंसमें हम साँस लेते हैं । उन्हींकी नींदमें सोते हैं । उन्हींके जागनेसे जागते हैं । परमात्माके साथ हमारा अविच्छिन्न सम्बन्ध है । इसे परमात्मा भी चाहे तो तोड़ नहीं सकते । अपने स्वरूप-को कोई तोड़कर कैसे अलग कर सकता है ? परंतु परमात्माके साथ इतना धनिष्ठ सम्बन्ध होनेपर भी इस जीवनमें दुःख कहाँसे आता है ? वस, अनुस्मरण न होनेसे ।

श्रीकृष्णका जीवन और परिस्थिति—आप श्रीकृष्णके जीवनको देखे । कम-से-कम यह समझे कि सबके जीवनमें चढ़ाव-उतार आता है । सबके जीवनमें सुख-दुःख आता है । सबके जीवनमें अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियाँ आती हैं । अपने हृदयको भगवत्स्मरणमें युक्त रखा जाय, वस सब परिस्थितियाँ ठीक हो जानी हैं ।

रक्षत रक्षत कोशं कोशानामपि कोशं हृदयम् ।
यस्मिन् सुरक्षिते कोशे सर्वं खलु रक्षितं भवति ॥

‘यदि हृदय सुरक्षित रहेगा तो देश-कालकी विषम परिस्थितियाँ, वस्तुएँ दुखी न कर सकेगी, कोई दुःखी नहीं कर सकेगा ।’

लोग श्रीकृष्णके जीवनका केवल एक पक्ष ही देखते हैं; यथा—जब वे बालक थे, तब माखन-चोरी करते थे, गोपियोंसे छेड़-छाड़ करते थे, मालोंसे खेलते थे । पर इस बातपर भी दृष्टि जानी चाहिये कि वे एक ऐसे माँ-बापसे पैदा हुए थे, जो जेलखानेमें हथकड़ी और बैड़ीमें जकड़े हुए थे । जन्मते ही पराये घरमें जाकर पलना

एहा । ऐसे, एक दोर श्रीकृष्णके जन्मकी परिस्थिति, छूटरी और वर्मराजकी स्वापना और द्वारकाका दैभय । यह उन्हीं कृष्णके जीवनमें है, जो जेलखानेमें पैदा हुए थे और जिनके माँ-बापने जा करके जन्मके बाद उन्हें एक बालेके घरमें पहुँचा दिया था । कहाँ-से-कहाँ पहुँच सकता है जीवन—इसपर ध्यान दें । छठीके पहले ही जहर पीना पड़ा, पूतना आ गयी । तीसरे महीनेमें बैलगाड़ी गिर गयी । चौथे वर्षमें पेड़ गिर पड़े । सातवें वर्षमें इन्द्रका कोप हुआ, वज हूँवने लग गया । अपने मानाङ्को अपने हाथोंसे भारता पड़ा । ये सब अच्छी बातें तो नहीं हैं, पर श्रीकृष्णके जीवनमें ये सब आयीं । शत्रुने मथुरापर सत्रह बार चढ़ाई की । थठारहवीं बार मृक्षुस छोड़कर नंगे पाँव भागना पड़ा—मथुरासे दूनगढ़तक । एक पीताम्बर उनके शरीरपर था और सातुरोंके धार्मक्रममें जाकर रहे, वहाँ प्रसाद पाते थे और सत्सङ्ग करते । व कोई सामग्री नहीं, व पाँवसे जूँता था, व दिशपर टेपी दी, व उनके पास छाता था । वहाँसे उत्तरफ़र गये द्वारका । आपका ज्ञान इवर थाला है । द्वारकामें उनके खास सद्गुरजीके बरमें द्वाका पड़ा और वे मारे गये । श्रीकृष्णको चोरी लगी कि उन्होंने खयं स्यमन्तकम् यि चुरा ली है । यहाँतक कि बलरामजीके मनमें भी शङ्का हो गयी कि श्रीकृष्णने जान-बूझकर मणिको एमदें छिपा लिया है । यह बात मागवतमें है—

किंतु मामग्रजः सम्युक्तं प्रत्येति मर्जिं प्रति ।

श्रीकृष्ण पछताते हैं कि ‘हाय ! मैं क्या करूँ, मेरे बड़े भाई इस मणिके बारेमें मेरे ऊपर विश्वास नहीं करते ।’ मैं उनको कैसे विश्वास दिलाऊँ ? शम्वरासुर श्रीकृष्णके पुत्र प्रद्युम्नको अपहृत करके ले गया । अग्निरुद्रका अपहरण हो गया । द्वारकामें कृष्ट पड़ गयी । नहामारतमें एक पक्षमें श्रीकृष्ण थे और दूसरे पक्षमें सेना चली गयी थी । आप सोचते हैं कि श्रीकृष्ण

तजे धानल्दयै रहने होंगे । इसी-कमी ऐसी एट पड़ती छृतदर्मी, दिग्गज, सायकि, उद्धव और बलराममें कि गीताके ‘अशोभ्यान्से मा शुचः’ तक उपदेश देनेकाले साठाथ श्रीकृष्ण खयं विनित थे जाते । इतना ही नहीं, उनके सब ऐटे तो द्या, इमको तो अवतक एक भी न दीक्षा, जो उनकी बात मानता हो । श्रीकृष्ण और बलराम तो सापुओंपर विश्वास करते थे, परंतु ऐटे उनकी परीक्षा लेते थे । खाने-पीनेमें भी श्रीकृष्णकी बात कोई न मानते थे । पीढ़ी-दर-पीढ़ी बदलती गयी । यह सब होते रहनेपर भी श्रीकृष्णके दृढ़कक्षा जो प्रसाद था, मुखकी प्रसन्नता थी, याणीका माहूर्य था, उनके बदनमण्डलपर जो मुस्कान थी, उनकी थाँखोंमें जो प्रेम था, वह कमी छन्दे जीवनसे दूर न हुआ । मृत्यु भी क्या बहिरा हुई ? क्या ज्ञान छगाकर हुई ? नहीं, एक बहुलिखेने वाय माझ और धूंसार ह्येष देखा पड़ा, क्ले गये अपने धामले ।

इस बाब इमण्डोंगेके लिये किसी भी दैसी जिक्का देती है कि उल श्रीकृष्णके जीवनमें यी ऐसी परिस्थितियाँ आती हैं तो इमण्डोंगेके जीवनमें यदि ज्ञोहैं छोटी-मोटी ऐसी परिस्थिति क्षा जाय तो उससे बदरानेका क्या काम ? अपने हृदयका आनन्द बनाये रखें और परिस्थितियोंका सामना करें ।

गीता श्रीकृष्णके जीवनकी पोधी है, यह उनके अनुमवकी डापरी है । यह बताती है कि कुछ व्यक्तियोंके कारण हम अपना कर्तव्य न छोड़ दें, कुछ परिस्थितियोंके कारण हम अपना कर्तव्य न छोड़ दें, किसीके दबावमें आकर अपना कर्तव्य-पालन न छोड़ दें ।

एक पुराणमें वर्णन आता है कि श्रीकृष्णका जाम्बवतीसे विवाह हुआ था । पर उसके बचा ही नहीं होता था । दस वर्षतक बचा न हुआ, तब श्रीकृष्णने सूर्य भगवान्की आराधना की । सूर्यदेवताकी कृपासे साम्बका

जन्म हुआ। महाभारतके खिलभाग हरिवंशपर्व, भविष्यपर्व ७३से९० तकके अध्यायोंमें कथा आती है कि रुक्मणीको बुत्र नहीं हो रहा था। कृष्णने शिवकी आराधना की, तब प्रशुम्नका जन्म हुआ। तात्पर्य यह कि जीवनकी परिस्थितियोंको देखकर हताश न होना चाहिये, निराश भी नहीं होना चाहिये। श्रीरामचन्द्रजीके जीवनको जब हम देखते हैं तो पता लगता है कि कहाँ तो बाजे वज रहे हैं—राज्याभिषेकके लिये, कौसल्याजी हवन कर रही है, सीताजी मङ्गल मना रही है और आदेश हो गया कि पेड़की छाल पहनो तथा नंगे पॉव चौदह वर्षोंके लिये बनमें चले जाओ। परंतु श्रीरामचन्द्रपर उसका क्या प्रभाव पड़ा? क्या वे निराश हो गये? क्या उदास हो गये? क्या उनके जीवनमें उच्चति-प्रगति नहीं हुई?

निर्भय हो, आगे बढ़ो—

शारभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचैः

प्रारभ्य विघ्ननिहता विरमन्ति मध्याः।

विज्ञैः पुनःपुनरपि प्रतिहन्यमानाः

प्रारभ्य चोत्तमजना न परित्यजन्ति ॥

‘तुच्छ लोग भयसे कार्यारम्भ ही नहीं करते। वे सोचते हैं—“यह काम करेंगे तो वे बिगड़ जायेंगे, वह काम करेंगे तो ये छूट जायेंगे।’ मध्यम लोग काम मुझ तो कर देते हैं, पर विज्ञ थाते ही कामको छोड़ देते हैं। पर उच्चम कोटिके लोग बार-बार विज्ञ आने-पर भी कार्य नहीं छोड़ते, क्षणने भगीरथ-भयलसे लखे पूरा ही बरते हैं।’ इतः भगवान् गृह्णान् कहा है—“तुच्छस्य भर एवः यर्द—क्लीवत्ततो दीर्घ पौरुषका भक्षण लो। इह प्रश्नार द्युम्ळः, भगवन् मी सुपलता प्राप्त करनी चाहिये। अपलैग तो बड़े-बड़े लोगोंके इतिहास पढ़ते होंगे। हमने भी कई सेठोंके विषयमें सुना है कि जब बूजस्थानसे वे निकले तो उनके पास मात्र पाँच

रुपये, एक शोला तथा एक लोटा-डोरी थी; पर बुद्धि और पौरुषसे वे बहुत सम्पन्न हो गये। हमारे एक रिटायर्ड मित्र वर्मीमें रहते हैं, वे भारतीय विद्या-भवनमें प्राध्यापक थे। वचपनमें उनके घरमें पढ़नेके लिये रोशनीतकका प्रबन्ध न था। वे म्युनिसिपैलिटीकी रोशनीमें रातको पढ़ा करते और महाभारतकी चौपाईयाँ बनाया करते। बनारसमें भार्गव प्रेसवाले उनको खानेके लिये दो रुपया रोज देते थे और महाभारतकी चौपाई ले लेते थे। उन्होंने उन्हीं दो-दो रुपयोंसे एम्० ८० तक पास कर लिया। फिर गोरखपुर गीतायेसमें आकर कुछ दिन काम करनेके बाद भारतीय विद्याभवनमें अध्यापक हो गये थे। बादमें रेडियो आदिपर गाने लगे और अब उनके लड़के विदेशोंमें बहुत अच्छे ढंगसे काम करते हैं। अतः निराश नहीं होना चाहिये।

अब काशीके कुछ पण्डितोंकी बात देखें। पण्डित शिवकुमार शास्त्री इस शताब्दीके वहाँके सर्वश्रेष्ठ प्रतिष्ठित विद्वानोंमेंसे रहे। संस्कृतका ऐसा दिग्गज विद्वान् भारतवर्षमें नहीं हुआ तो दूसरे देशोंमें तो कल्पना भी क्या हो सकती है। वे बहुत दिनोंतक अपने चाचाके पास एक गाँवमें रहकर भैंस चराते रहे। बादमें ‘क’ ‘ख’ सीखनेके लिये उन्होंने कहींसे एक किताब प्राप्त कर ली। एक दिन वे उससे यह ‘क’ है, यह ‘ख’ है, यह ‘ग’—सीख रहे थे कि उनकी भैंस दूसरेके खेतमें छछी गयी। उसने लाकर उनके चाचाको उटाहना दी थीं और जब चाचाने उन्हें किताब पढ़ते देखा तो वह जोरसे एक न-पत उनके गाँवमें भारा लौ लकड़ा कि ‘त्तु पाणिनि-पात्राङ्गिति’ बनना चाहता है वा भैंस चराता है। उस समय वे चूप लगा गये। परंतु इसमें जट-भर जटान्होंने कहा कि ‘चाचाजी। अब मैं जा रहा हूँ और मैं पाणिनि-पात्राङ्गिति बनकर ही घर लौटूँगा। यदि पाणिनि-पात्राङ्गिति न हुआ तो घर न लौटूँगा।’ अब वे चाचाजी आ गये और बैठक व्याकरणमें ही नहीं

सभी दर्शनों, सभी वेद-वेदाङ्गोंमें अपने समयके अद्वितीय विद्वान् बन गये । आजकलके व्याकरणके पण्डित उन्हें धार्णनि-पतञ्जलिसे कम नहीं मानते । बनारसमें ही उनका विवाह हुआ । बनारसमें ही उनके चार-पाँच पक्के मकान बने । उनके बंशवरको बहुत प्रतिष्ठा मिली ।

कौन-सा साधन, कौन-सा उपकरण उनके पास था ? उनके चित्तमें केवल एक दृढ़ निश्चय था । ऐसा दृढ़ संकल्प, ऐसा दृढ़ निश्चय कि उसके विरुद्ध जो कुछ था, सो सब लाग दिया और पूरे मनोयोगसे जो अपना अभीष्ट था उसमें अपनी शक्ति लगा दी ।

ऐसे ही हमारे सामने एक बंगालके पण्डित थे; हाराणचन्द्र शास्त्री । वे अपने पिता-माताकी मृत्यु हो जानेपर मामाके घर रहते और ठीक भोजनतक नहीं पाते थे । उनका एक आठ वरसका छोटा भाई था । एक दिन दोनों चुपचाप चलकर अपने पिताजीके एक जज मित्रके घर चले गये । जजने उन लोगोंको खिलाया-

खिलाया, आदरसे रखा । परंतु पण्डितोंकी जब सभा हुई तो उसमें दूसरे पण्डितोंको तो पाँच-पाँच रुपया दिया और उनको दो रुपया दिये । इसपर उन्होंने कहा—‘सबको पाँच-पाँच रुपये देते हो तो हमको भी पाँच रुपये दे दो ।’ उन्हें कहा गया—‘जब तुम पढ़-लिख लोगे तब तुमको भी पाँच रुपये मिलेंगे । फिर दोनों भाई रातको चुपकेसे जज साहबके यहाँसे निकल पड़े । भूखे-प्यासे चले जा रहे थे । एक मुसलमानने उनको देखा, उनपर दया आ गयी । उन्हें वह अपने घर ले गया । कुम्हारके घरसे मटका और अहीरके यहाँसे दूध मँगाकर गोशालामें खीर बनवायी और उन्हे खिलाया । वहाँसे भागकर वे शिवकुमार शास्त्रीजीके घर काशीमें पहुँचे और अव्ययन किया । उनको भी सन् वयालीसमें त्रिदिश सरकारने सम्मानित करके महामहोपाध्यक्षी सर्वोच्च उपाधिसे विभूषित किया । वे वडे विद्वान् थे । उनकी स्तरना ‘कालतत्त्वदर्शिनी’ संस्कृत भाषामें अद्भुत पुस्तक है ।

(क्रमशः)

चरित्र-निर्माणमें वेदज्ञान-ब्रह्मचर्यका योगदान

(—महामहोपाध्याय पं० श्रीगिरिधरजी शर्मा, चतुर्वेदी)

आदि सत्ययुगमें सम्पूर्ण ऋषिमण्डली स्वायम्भुव मनुसे धर्म-श्रवण करने गयी । मनुकी आज्ञासे उनके शिष्य भगुने सब प्रकारके धर्म सुनाये । उस समय ऋषिमण्डलीने एक प्रश्न अकालमृत्युके कारणके सम्बन्धमें भी किया । भगुनीने उसका उत्तर देते हुए कहा था—

अनभ्यासेन वेदानामाचारस्य च वर्जनात् ।
आलस्यादन्नदोपाच्च मृत्युर्विग्राजित्वांस्ति ॥
(मनुस्मृति ५ । ४)

यहाँ अकालमृत्युके चार कारण बताये गये हैं—
(१) वेदोङ्गा धन्यास न करना, (२) आचारका परियाग, (३) आलस्य और (४) क्षम्भन्दोग ।

जब हम विचारते हैं कि ये कारण आजकल हममें, हमारे समाजमें कहाँतक फैले हुए हैं और फिर अपनी दशाकी ओर देखते हैं तो हृदय काँप उठता है । जिस आपत्तिका कारण हूँड़ निकालनेके लिये हम इधर-उधर भटक रहे हैं, जिसकी खोजके लिये हैरान हैं, उसका निर्णय तो हमारे पूर्वजोंने सहस्रों वर्ष पहले कर रखा था । करुणावश उसे हमें बताया भी था । अब हम उसे न देखें, उसकी हुँड़ परवाह न करें, उधरते खाँख ही बंद कर लें तो दोष किसके सिरपर मझा जायगा ।

इतिहासों, पुराणोंसे यह स्पष्ट होता है कि बुगादिमे अकालमृत्यु नहीं होती थी। यहाँ सभी समृद्धिशाली, विद्वान्, इष्ट-पुष्ट थे। वे न केवल सुखी थे, किंतु अपने सुखके सामने इत्त-भवनकी सम्पदाओंको तुच्छ समझते थे। देवता भी इनके शक्ति-पराक्रमको देखकर भारतमें जन्म लेनेके लिये तरसते थे। पर आज इन बातोपर विश्वास नहीं होता। आज किस देशमें, किस नगरमें, किस ग्राममें, किस घरमें अकाल-मृत्यु-पिशाचींने अपना पंजा जमा नहीं रखा है? कितने पिता आज पुत्रोंके धियोगमें तड़प रहे हैं। कितनी बालविधवाओंका कस्तुरकन्दन भारतके आकाश-को फाड़ रहा है। प्लेग, हैजा आदि कैसे-कैसे दुष्ट रोग भारतको अपना घर बना रहे हैं और भारतवासियोंको अपनी करनीका फल दे रहे हैं। जो आज जीते हैं, वे मरेसे बढ़कर हैं। पैदा होते ही रोग शरीरके साथ लग जाता है, बल और बुद्धिका कहीं पता भी नहीं। भारतके नवयुवकोंके आज मुखकमलको देखिये—क्यों इनपर यह अकालमें ही तुपार पड़ गया।

मनुस्मृतिमें अकालमृत्युके जो चार कारण बताये हैं, उनमें पहला है—‘वेदका अभ्यास न करना जिसमें—‘भूतं भवद् भविष्यत्त्वं सर्वं वेदात् प्रसिद्ध्यति।’ ‘भूत, भविष्य, वर्तमान—सब कुछ वेदोंसे ही जाना जाता है। ऋषि-मुनियोंका कानून था—

योऽनधीत्य द्विजो वेदसन्यन्त्र कुरुते श्रमम्।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाग्नु गच्छति सान्वयः॥

‘जो द्विज अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य वेद न पढ़कर अन्य बातोंमें श्रम करता है, वह वंशसहित जीता शूद्र-कोटिमें गणना-योग्य हो जाता है।’ यहाँ आज कितने वेदज्ञ ब्राह्मण हैं? अङ्गोंसहित वेदोंको पढ़ना और समझना ब्राह्मणका सहज धर्म था—‘ब्राह्मणेन निष्पारणो धर्मः पद्मजो वेदोऽध्ययो ष्ठेष्यश्च।’ लाज वेदोंके पढ़नेकी चर्चा भाते ही पेटकी बात थागे

आ पड़ती है। ‘वेद-ज्ञान पढ़ेंगे तो खायेगे क्या?’ आज पेटकी ज्ञाना इतनी बढ़ गयी है कि उसे ही बुझानेमें सारा जीवन समाप्त हो जाता है, किंतु फिर भी वह बढ़ती ही जाती है। ‘ब्राह्मणोंमें कथा है कि भरद्वाज ऋषि वाल्य, यौवन, जरा तीनों अवस्थाओंमें वेद ही पढ़ते रहे और जब इन्द्रने उनसे पूछा कि ‘आपको चौथी अवस्था और मिले तो आप क्या करेगे?’ उसपर भी उन्होंने यहीं उत्तर दिया कि ‘ब्रह्मचर्यपूर्वक वेदाभ्यास करते ही उसे भी विता दूँगा। पौचर्वी और मिलेगी तो वह भी वेद पढ़नेमें ही जायगी।’ किंतु आज अवस्थाकी तो कौन कहे, कुछ वर्ष भी, कुछ मास भी, कुछ दिन भी ब्राह्मण-नामधारियोंके भी वेद पढ़नेमें खर्च नहीं होते। सौभाग्यवश लोग वेद पढ़ते भी हैं, पर वे—

स्थाणुर्यं भारहारः किलाभू-
दधीत्य वेदं यो न विज्ञानात्पर्यम्।
(निरुक्त २१)

‘यह केवल बोझ ढोनेवाले गर्दभके समान है, जो वेद पढ़कर उसका अर्थ नहीं जानता। साझे सार्थ वेद पढ़कर उसके द्वारा अलौकिक विद्याओंको जाननेवाला आज भारतमें कौन है?

वेद ज्ञानका दावा आज जगत्में बहुत बढ़ गया है कि ‘वेदमें यह नहीं, वह नहीं’ इत्यादि; किंतु जब पूछा जाय—‘वावूसाहव! आपने किसमें कितने कालतक वेद पढ़ा है?’ तो उत्तर यही होगा कि ‘उर्द्धा या अंग्रेजीमें उसका तर्जुमा देखा है।’ जिस सखर वेदको पढ़नेके लिये दर्शनोंके आचार्य, मुनि और ऋषि वीसों वर्ष ब्रह्मचर्य रखते थे, फिर भी यावज्जीवन उसके अर्थ-ज्ञानका निरन्तर यत्न ही करते रहते थे, उसका ज्ञान हम अनुवादोंके आवारणपर प्राप्त करना चाहते हैं, इससे अधिक और शोककी बात क्या होगी? इससे अधिक क्या अधःपात होगा?

निरुक्तकार यास्क मुनि कहते हैं—‘गतेषु प्रत्यक्ष-सूक्ष्माद्वैरताप्लो माम्—

विना तपके मन्त्रोंका यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकता। यह तप जाने कहाँ चला गया। वेदोंमें है क्या, जिसके लिये हम ही नहीं, सारी सृष्टि उनकी गौरव-गाथा गाया करती है। किन्तु वेद-ज्ञानकी जो दुर्दशा भारतमें हुई है, उसका विचार करनेसे आँखोंके आगे अनधकार छा जाता है। जब वेद-ज्ञान ही न रहा तो धर्मज्ञान कहाँसे हो और आचारका पालन क्यों न सूखे वृक्षके फलके समान हो जाय। जब आचार जानेगे, तब न आचारका पालन करेगे। आचार जाननेका साधन वेद-शास्त्र जब छोड़ दिया तो आचार-पालन कहाँसे हो? और जब आचार-पालन ही नहीं तो चरित्र कहाँसे बने?

हमारे पूर्वजोने अनेकों वर्ष जंगलोंमें भटककर राज्य-तकका सुख छोड़कर जो सम्पत्ति प्राप्त की थी और परम करुणावश जो उपदेशके रूपमें दी थी, उस सम्पत्तिको, उस रनराशिको हमने बन्दरका कौच समझ लिया है। मूर्ख जौहरीके लड़केके समान कूड़े-करकटुमें उन अमृत्यु रत्नोंको फेक रहे हैं। हम तनिक भी विचार-दृष्टिसे काम लें तो ज्ञात होगा कि हमारे आचारोंमें कितना तत्त्व भरा हुआ है। सैकड़ों वर्षोंकी खोजसे वैज्ञानिक जिन वातोंको जान पाया है, उन्हे आचारके रूपमें हमारे घरोंकी अनपढ़ ख्रियाँ भी जानती रही हैं। आज हम अपने आचारोपर हँसा करते हैं, किंतु उन्हीं वातोंको जब विदेशी वैज्ञानिकोंके मुखसे सुनते हैं तो सिर झुकाकर मान लेते हैं। अपने पूर्वजोकी वातोंपर विश्वास नहीं, किंतु विदेशियोंकी वातोपर पूर्ण विश्वास है—इतना अधःपात किस जातिका होगा। मानो आस्मिन् धन निःशेष हो गया। हमारे घरोंमें गोवरका चौका लगानेकी पुरानी रीति है, किंतु नवशिरिति बाबू रुज्जन भला इसे कब पसंद करते? इससे धृणा करते, हँसते थे। किंतु आज वैज्ञानिकोंकी राग हुई कि गोवरपर कीटाणु आदि बाहरी दोषोंका संक्रमण नहीं हो सकता, तो अब वहूत-से डाक्टरोंके भी घरमें गोवरका चौका लगने लगा। वैष्णव हिंदू सदासे

अपने घरोंमें तुलसी रखते आये हैं, भला बाबुओंके बैंगलेमें इस वेचारीको कहाँ स्थान मिलता; किंतु अंग्रेज डाक्टरोंने अनुभव करके बता दिया कि मलेसियाका उपाय इससे अच्छा कोई नहीं, तो अब तुलसीके भी उच्च ग्रह आये। जगह-जगह इसका प्रचार होने लगा। तात्पर्य यह कि हम केवल दूसरोंकी दृष्टिसे देखते हैं। पाथरात्य शिक्षासे हम सर्वथा दृष्टवादी हो गये हैं, अटष्ठ-धर्म-अधर्मपर हमारा विश्वास जाना ही नहीं। डाक्टरोंके कहनेसे यह दृढ़ विश्वास है कि प्लेका असर समीप रहनेवालोपर हो जाता है, अतः प्लेके रोगीसे यहाँतक डरते हैं कि पुत्र पिताके पास नहीं जाता, पुरुष स्त्रीके पास नहीं जाते। किंतु तामसी, नीच व्यक्ति व पापियोंकी संगतिसे तमोगुण, व पापका भी असर होता है—इस अृपिवाक्यको नहीं मानते। अदृष्टवादको जाने दीजिये, जिनका फल प्रत्यक्ष है, उन आचारोंको भी कौन मानता है? प्रातःकाल उठनेके लाभोंको कौन नहीं जानता? किंतु कितने सज्जन ब्राह्म-मुहूर्तमें उठते हैं? शौच-विधि, दन्तवाधन, नित्य-स्नान आदिका फल तो प्रत्यक्ष है, फिर भी कितने नवशिरिति इन्हें निभाते हैं? वस 'आचारस्य च वर्जनात्' यह भलुस्मृतिका कहा हुआ दूसरा अकाल मृत्युका कारण भी यहाँ पूरा उपस्थित है, इसमें कोई संदेह नहीं।

तीसरे हेतु आलस्यके विषयमें कुछ कहना ही व्यर्थ है। आलस्यका तो भारतमें साम्राज्य है। काम कुछ न करेगे, किंतु कहेगे यही कि फुरसत नहीं। दिनभर व्यर्थ जिता देनेवालोंकी हमारे यहाँ कमी नहीं। इसे जो निशेष जानना चाहें, विदेशीय सज्जनोंकी कार्यपरदाका अनेसे सुकानला कर देय है।

अब रहा चौथा हेतु अनन्दोप। इसके विषयमें कुछ न पूछिये। जिस जातिके पूर्वजोंने मध्य, मांसके मेवनको महापाप माना था, उस जातिमें आज होटलोंमें

बड़े आनन्दसे अंडे और ब्राण्डी उड़ती है। बुद्धि यह हो गयी है कि खाने-पीनेका धर्मसे सम्बन्ध ही क्या? धर्मको इन सज्जनोंने दुनियासे बाहरकी वस्तु मान रखा है—जिसका आचार-व्यवहारसे कोई सम्बन्ध नहीं। शास्त्रने निर्णय किया था—‘अन्नमयं हि सौम्य मन’ जो हम भोजन करते हैं, उसके तीन भाग होते हैं। स्थूल भाग मलस्तुपमें निकल जाता है, मध्यभाग रस, रुधिर, मांस, मेदा, अस्थि, मज्जा, शुक्र—इन सात धातुओंको क्रमसे बनाता है और जो अत्यन्त सूक्ष्म सार भाग होता है उसका मन बनता है। पुरुष जैसा अन्न खायेगा, वैसा ही उसका मन होगा। सात्त्विक अन्नसे सात्त्विक मन बनेगा तो ईश्वर-भक्ति, परोपकार, दान, दया आदिके विचार होंगे। तामस अन्न खानेसे तामस मन बनेगा तो परद्रोह, कुचाल, छल, हिंसा आदिके विचार होंगे। इसी आधारपर शास्त्रने भोजनमें बड़ा विवेक रखा। शुद्ध अन्न हो, शुद्ध कमाईका हो, शुद्ध-पूर्वक बनाया जाय, वह भोजन करना। पर आज न अचका विचार, न कमाईका। भक्ष्याभक्ष्यका विवेक वैज्ञानिक बुद्धिमें ही नहीं समाता। चरित्र क्यों न गिरे, अकाल मृत्यु क्यों न हो?

अब जब चारों कारण अकाल मृत्युको हमारे यहाँ उपस्थित करते हैं, तो मानना चाहिये कि इन्हीं कारणोंसे दूर्दशा हो रही है और यदि हम अपना शुभ चाहे तो इन्हीं कारणोंको दूर करें।

शास्त्रोंने ब्राह्मणके लिये चार आश्रयोंके पाठ्यनका उपदेश दिया है—सबसे प्रथम ब्रह्मचर्य, फिर गार्हस्थ्य, फिर वानप्रस्थ और अन्तमें संन्यास। पहली सीढ़ी ब्रह्मचर्यश्रव्यक्ते चिगड़ जानेसे सभी जाग्रप अस्त-व्यस्त हो गये। गायण-का ८ वर्षका बालक, क्षत्रियका ११ वर्षका धूर वैश्यका १२ वर्षका उपनयन-सत्कार होकर आचार्यमें घर जाकर निवास किया करता था। ‘उपनयन’ शब्दका अर्थ ही यह है कि आचार्य उसे अपने समीप ले जाता था। उपनयन द्विज-पात्रका आवश्यक कर्म है।

सुन्दर प्रथा थी, कैसा उच्च आदर्श था कि कोई द्विज-बालक अपनी पूर्ववस्थामें घर रह ही न सके, आचार्योंके घर जाकर पहले विद्या पढ़े तब गृहस्थाश्रममें प्रवेश करे।

आचार्यगृहमें वेदका ‘चरण’ अर्थात् अध्ययन करना होता था। उसे ही कहते थे ‘ब्रह्मचर्य’। साङ्गवेदके अध्ययनके साथ-साथ उससे आचारोंके पालनका पूरा अभ्यास कराया जाता था। दण्ड-कमण्डल लिये, मेखला बौंधे, कौपीन लगाये, साधारण वेपसे रहना होता था। यह आवश्यक न था कि स्कूलमें जाकर भर्ती होते ही कोट, पतलून, कमीज, नेकटाई और बूटका अनावश्यक खर्च पिताके सिरपर पढ़े। भोजन भी भिक्षानका करना होता था—जिससे शौक पैदा न हो, जैसा मिले, वैसा साधारण भोजनका अभ्यास हो। मान-अपमानके सहनेकी शक्ति पैदा हो और सबसे बढ़कर यह बुद्धि हो कि ऐसे देशका अच्छा खा रहा हूँ, देशका मुश्किल त्रुट्टि हो रहा है, अपनी विद्याद्वारा देशकी सेवा कर यह त्रुट्टि मुझे चुकाना है। आचार्यमें पिता-बुद्धि होती थी, सहपाठियोंमें भ्रातृभाव होता था, श्रीमात्रको माता कहनेकी आदत होती थी। जरा इस सोचें कि क्या वह आदर्श था। क्यों न उस रीतिसे शिक्षा पाकर जगत्में भ्रातृभाव उत्पन्न हो? वे आँखें जो सबको मातृ-दृष्टिसे देख चुकी हैं, फिर किसीपर क्यों बुरी तरह पड़ेंगी? वहाँ आचारोंकी न केवल वाचिक शिक्षा होती थी, किंतु प्रातःकाल ग्राह्य मुहूर्तमें उठनेसे लेकर शयनपर्यात्के सभी सदाचार गुलझी निरीक्षकतामें पालन करने होते थे। सन्ध्या, हवन आदि आचारोंका पाठ्य, परिश्रमगे दानोंका अव्ययन, निष्ठा लाना, गुरुके धरका सभ जारी करना—दूसरे अत्यरिक्त काल्य रुद्रोगर आज्ञायतों स्थान ही नहीं! अबका परिषुर्ण विचार वहाँ धरना दूता था। भक्षका पूर्ण विवेक था। ऐसी स्थितिमें पूर्वोक्त चारों दोपोमेंमें एक भी दोष नहीं उत्पन्न होने पाता था। जब वेद-विद्या समाप्त कर चुके, तब आचार्यको दक्षिणा देकर उनकी आङ्ग तेज्जर दूगा-

વર્તન હોતા થા; સમાવર્તન અર્થાત् ઘર લૌટના। વિના વિદ્યા સમાપ્ત કિયે કોઈ ઘર નહીં લોટ સકતા, વિવાહકા નામ ભી નહીં લે સકતા। સમાવર્તનને પીછે વિવાહ કર ધર્મસે ગૃહસ્થાશ્રમકા પાલન કરતા હુआ, અવસ્થાનુસાર વાનપ્રસ્થ ઔર સંન્યાસકા અવિકારી હોતા થા।

અબ આપ આજકી દ્રશ્યપર વિચાર કીનિયાં। જિસ શિક્ષાકી આજ ભારતમાં પ્રવાનતા હૈ, ઉસમાં ન અપની ભાપાકા સ્થાન હૈ, ન અપના વેપ રહતા હૈ, ન અપને ભાવ હૈ। સંસારમનું શિક્ષિત મનુષ્ય ઇસ વાતપર એકમત હૈ કે અપની ભાપાદ્વારા દી હૃદ્દ શિક્ષા હી શિક્ષાકા સંચા ફલ દે સકતી હૈ। જેસે વાલકને શરીર-પોપળને લિયે માતાકા દૂધ હી પ્રાકૃતિક આહાર હૈ, અન્ય આહાર વિકૃતિ હી ઉત્પન્ન કરતે હૈ, એસે હી માનસ ભાવોને પોપળને લિયે માતૃમાપાકા વિજ્ઞાનરૂપી દુંગથી પ્રાકૃતિક સામગ્રી હૈ। અન્ય ભાપાદ્વારા દી હૃદ્દ શિક્ષા-ભાવોને પોપળને સ્થાનમાં ઉન્હેં વિકૃત હી કરતી હૈ। ઇસીસે તો સવ દેશોને નેતા અપને વાલકોની શિક્ષાકા પ્રવન્ધ અપની ભાપામાં હી કરતે હૈનું। કિંતુ હમારી શિક્ષા હી નિરાલી હૈ। યહું ઉચ્ચ શિક્ષિત કહાનેવાલે ભી, અપની શિક્ષાકી ઢીંગોને આગે સંસારકી બુદ્ધિકો તુલ્લ સમજાનેવાલે ભી, અપની માતૃમાપામાં અપના નામતક લિખના નહીં ચાહતે, અપને ધર્મગ્રન્થ વેદકી ભાપાકી વાત હી કોન કહે, દેવ-આર્ણા સંસ્કૃતકો ભી એક તરફ રહિયે, જવ ઉન્હેં અપની સમ્યતાકા યા અપને ધર્મકા જ્ઞાન હી નહીં, તો ઉનપર ઉન્હેં શ્રદ્ધા કેસે હોયી? અપને ધર્મ આદિકી વાત જાનનેકે લિયે જો કુઠ વે પઢતે હૈ, ઉસકા ભી ઉન્હેં માર્મિક જ્ઞાન નહીં હોતા। વિદેશીય ભાપાદ્વારા પ્રાપ્ત કી ગયી શિક્ષા અન્તઃકરણપર નહીં જમતી। પ્રયક્ષ હી દેખિયે, લાખોં છાત્ર કાલેજોમાં પઢતે હૈનું, કિંતુ ઉનમાંને કિન્તુને યથાર્થ વૈજ્ઞાનિક બનતે હૈનું, કિન્તુને રાજનીતિકે વિદ્યાનું હોતે હૈનું, કિન્તુને અર્થશાસ્ત્રપારંગત હોતે હૈનું, શિક્ષાનોનો ઉન્નત કલ્યાણી હસ્તીનિર્મિતી પાત્રી હૈનું। એની

માપામાં જવ શિક્ષા હો, તવ હી સચ્ચા વિષય-જ્ઞાન હો સકતા હૈ, યહ નિર્વિચાર સિદ્ધાન્ત હૈ।

કહુંતુક કહા જાય, જવતક ઉસમાં આચાર-શિક્ષાકી પ્રવાનતા ન રહેગી, જવતક શિક્ષિત ઔર સદાચારી યે દોનોં શબ્દ સમાનાર્થક ન બના દિયે જાયેંગે, જવતક શિક્ષાકે સાથ વ્યાયામકા સમુચ્ચિત પ્રવન્ધ કર નવયુવકોનો વલિષ્ઠ ન બનાયા જાયગા, તવતક દંડોન્તિકા નામ હી નામ રહેગા। યથાર્થ ઉત્ત્રતિ ઇન વાતોને હી હો, સકની હૈનું। યે સવ વાતો અવયવીન્દ્રિય હૈનું—પુરાને આદર્શને બ્રહ્મચર્યાશ્રમકી રખાપર। ઇનકે પાનુનમે હી ચરિત્રનિર્માણ-કા પાવન કાર્ય હો સકતા હૈ।

યહ હૈ બ્રહ્મચર્યકા આદર્શ। ચિન્ન્ય હૈ કે હમને આજ ઉસ બ્રહ્મચર્યાશ્રમકી પરિપાટીકો નાટકકા રૂપ દે દિયા હૈ। જેસે રામલીલાવાલે ભગવાનું રામચન્દ્રકે વર્ણને ચરિત્રોનો કુઠ દિનોમાં કરકે દિવ્યાયા કરતે હૈનું એસે હી હમારે ઘરોમાં યહ બ્રહ્મચર્યકી લીલા ઘંટોમાં હી સમાપ્ત હો જાતી હૈ। ઉસી સમય એક વેદીપર ઉપનયન ઔર દૂસરી વેદીપર સમાર્થન હો જાતા હૈ। વેદકા આરમ્ભ ઔર ઉસકી સમાપ્તિ સાથ-હી-સાથ હોતી હૈ, લડુકા પઢને કાશી, કલ્યાણ ચલને લગતા હૈ તો વિવાહ-કા લાલચ દેકર રોક દિયા જાતા હૈ। બ્રહ્મચર્યકા નાગ કર વાલ-વિવાહકી કુપ્રથાકો હમને સ્થાન દિયા, અબ વલ ઔર બુદ્ધિ કહુંસે હો? વીર્ય હી શરીરકા વલ હૈ, ઔર ઉસસે હી આગે મન-બુદ્ધિકી પુણિ હોતી હૈ। ઇસકી રખાપર જવ પ્રાચીનોંકા ધ્યાન થા, વિના પરિપા હુએ ખીકી ઇચ્છાતક મનમાં ન આને દેતે થે ઔર ગૃહસ્થાશ્રમમાં ભી સન્તાનોલપત્તિકે લિયે શાસ્ત્રોક્ત વિધિસે ક્રતુ-કાલમાં ખી-પ્રસંગ્યકે અતિરિક્ત વીર્યકી પૂર્ણ રક્ષા કરતે થે—તમી વહ વલ ઔર બુદ્ધિ ભારતમાં થી। આજ વહ સવ કુઠ સ્વન્ન-સા પ્રતીત હોતા હૈનું। ઉનકી ક્ષમાપુણી સુનકર ખાલ્ય-સમુદ્રમે હૂબ જાના પણતા હૈ, ગઠ ઉન્હેં ધૂસાય કાઢ આબ્દો હૈનું। મીઠ્ય જાલાદ

ब्रह्मचारी थे, जिन्हे आज सनातन-धर्मवल्लभी पितामह कहते हैं। वृद्धावस्थामें जिनके बलके सामने वडे-वडे तरुण वीर, भीमार्जुन-जैसे धनुर्धर हवास भूल जाते थे; जगन्निधन्ता श्रीकृष्णने भी जिनके आगे अपनी प्रतिज्ञा तोड़ दी, किंतु भीष्मकी, उनको शश-ग्रहण करनेकी प्रतिज्ञा न टूट सकी। टूटे कैसे? भीष्मका नियम भी कैसा ढढ था—

परित्यजेयं बैलोक्यं राज्यं देवेषु वा पुनः।
यद्याप्यधिकमेताभ्यां न तु सत्यं कदाचन ॥
त्यजेच्च पृथिवीगन्धमापश्च रसमात्मनः ।
ज्योतिस्तथा त्यजेद्वृपं वायुः स्पर्शगुणं त्यजेत् ॥
प्रभां समुत्सृजेदेको धूमकेतुस्तथोष्णताम् ।
त्यजेच्छव्यं तथाकाशं सोमः शीतांशुतां त्यजेत् ॥
विक्रमं वृत्रहा जहाद्वर्मं जह्याच्च धर्मराट् ।
न त्वहं सत्यमुत्कृष्टुं व्यवसेयं कथंचन ॥

‘मैं तीनों लोकोंको छोड़ सकता हूँ, देवताओंका राज्य या इससे भी बड़ी कोई वस्तु हो तो उसे भी छोड़ सकता हूँ, किंतु सत्यको कदापि नहीं छोड़ सकता। चाहे पृथिवी गन्ध छोड़ देवे, जल अपना रस छोड़ देवे, प्रकाश चाहे रूप छोड़ दे, हवाका स्पर्श चाहे पृथक् हो जाय, सूर्य चाहे कान्ति छोड़ दे, अग्नि गर्भ छोड़

दे, आकाशमें चाहे शब्द न रहे, चन्द्रमा भी किएंसे शीतलता निकल जाय, इन्द्र चाहे पराक्रम छोड़ देवे, धर्मराज चाहे धर्म छोड़ देवे—किंतु मैं कभी सत्य छोड़नेका संकल्प भी नहीं कर सकता।’ यह यी ब्रह्मचारीकी सत्यनिष्ठा, जिससे परमेश्वर भी हार मानते थे। रोम-रोममें वाण चुभे रहनेपर भी, अनन्त रुधिरकी धारा शरीरसे गिरती रहनेपर भी जिनने धर्मका रहस्य सुनाया था। आज हम उनकी बातोंका क्या विश्वास करेगे, जिनने ब्रह्मचर्यकी कभी कदर ही न जानी। इसका विस्तार करनेकी आवश्यकता नहीं। सभी बुद्धिमान् ब्रह्मचर्यके लाभोंको जानते व मानते हैं, किंतु आत्मिक दुर्वलताके कारण अनुष्ठान नहीं करते।

सनातनधर्मके मान्य सूति, पुराण सब ही ब्रह्मचर्य-की महिमा गा रहे हैं। भगवान् शंकराचार्यकी ब्रह्मचर्य-की कथा प्रसिद्ध है। इस गिरि दशामें भी—अविद्याका साम्राज्य होनेपर भी—बहुत-से सनातनधर्मी पण्डितोंके धरोमें ब्रह्मचर्याश्रम हुआ करते थे और उनसे देशको लाभ होता था। किंतु आज भीपण-कालने वह भी न रहने दिया। फलतः चरित्रका स्तर गिर गया है। यदि हमें चरित्रको उठाना है, राष्ट्रमें चरित्रवल लाना है तो हमें ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करना होगा।

आद्य चरित्रकाव्य रामायणमें चरित्र-निर्माणके प्रेरक प्रसङ्ग

(—श्रीमज्जगद्गुरु रामानुजाचार्य वेदान्तमार्तण्ड स्वामी श्रीरामनारायणाचार्यजी महाराज)

सप्तद्विषया वसुमतीके अन्तर्गत धर्मप्राण भारतवर्षमें ही भगवान् नारायण एवं शिवादि देवताओंके अवतार होते हैं। मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामने चार भाइयोंके रूपमें अवतीर्ण होकर वेद-प्रतिपादित समस्त धार्मिक नियमों एवं सदाचारोंका अनुष्ठान किया। मानव-जातिके सर्वाङ्गीण अन्युदय तथा ज्ञिःश्रेयसके लिये सामान्य-विशेष रूप धर्मोंको जीवनमें डारा। वेदवेष परमात्मा- द्वारा स्फर्यात्मपूर्वोचत श्रीरामके रूपमें उदाहित होगे।

उनके गुणगानके लिये श्रीवाल्मीकिके द्वारा साक्षात् वेद श्रीरामायणके रूपमें प्रादुर्भूत हुए। यही महाकाव्य सब कवियोंका प्रेरणास्रोत रहा है। देवर्पि नारदसे धीरोदात्त-नायक श्रीराममें सोलह गुणोंका समन्वय मुक्तकर महर्षि प्रसन्न हो जाते हैं। उन गुणोंमें—‘चारित्रेण च को युक्तः’ इत्यादिके अनुसार ‘सदाचारसम्बन्ध होना’ एक विशेष गुण है। सदाचार—सम्भिताके लाभारपर ही इन्द्रजीवोंपर प्रभावित पार्श्वोंसे पर्याप्त होता है। इसकी

इस महाकाव्यगे प्रसुम्ब गायोंके समस्त चरित्र शास्त्रीय मर्यादामें आधृत आदर्श अत्यन्त समादरणीय एवं अनुकरणीय हैं।

देशके सभी समागत समन्तों, राजाओं तथा भगवती सारी प्रजाओं और वसिष्ठ, वामदेव आदि गुरुजनों एवं बुमन्त आदि सचिवोंके समक्ष सर्वरामानिसे दूसरे दिन ही आनेवाले पुण्य नक्षत्रमें श्रीरामको युवराज-पदपर अभिप्रित्त कर देनेका प्रस्ताव पारित होता है। महाराज दशरथ उन्हे बुलाकर “वस्त्वामहमभिपंक्ष्यामि” —मैं कल तुम्हें राज्यपदपर अभिप्रित्त करदूँगा। कहते हैं। तब वे गुरु वसिष्ठको उनके भवनपर भेजते हैं। वसिष्ठजी उन्हें सीतासहित नियमपालन एवं उपवास करनेका आदेश देते हैं। पर इधर रात्रिमें कोप-भवनके अंदर कैकेयीको सशापथ वरदान देनेके कारण राजा स्वयं किंकर्त्तव्यविमृद्ध हो जाते हैं। ग्रातःकाळ बुलानेपर मर्यादापुरुषोत्तम श्रीराम आकर उन्हें प्रणाम करते हैं। पिताजीको उठास एवं खिल देख माता कैकेयीसे उसका कारण पूछते हैं। कैकेयीद्वारा “यदि राजाकी कहीं हुई वात सुनकर पालन कर सको तो मैं तुमसे स्पष्ट बता दूँगी, वे स्वयं तुमसे उन अप्रिय बातोंको नहीं कहेंगे”—यह सुनकर वे कहते हैं—“अहो विकार हैं, आपको ऐसा नहीं करना चाहिये; देवि। मैं राजाके आदेशसे थागे भी कूद सकता हूँ, तीक्ष्ण विषका गी भक्षण कर सकता हूँ तथा साधुमेरे भी हृदय सकता हूँ।” महाराज भेरे पूज्य

पिता और द्वितीयी हैं। मैं उनकी आज्ञामे सब उड़ भर सकता हूँ, अतः देवि। तुम गजाके मनकी बात युक्त मुनाओ। मैं प्रतिज्ञा करता हूँ, उसे पूर्ण करनेगा, राम दो तरहकी बात नहीं करता।” श्रीरामको इन प्रतिज्ञाते आजके युवकर्वायोंप्रेरणा लेकर नितानी धर्मीष्ठ-सिद्धिके लिये रामकी तरह अपने ग्राणोंकी वार्जी न सही, यथाशक्ति ग्रहा-भावना तो नगार्नी ही चाहिये।

राजाने देवामुर-संप्रागमें कैकेयीको दो के दिये थे। तदनुसार कैकेयीने भरतका गन्धाभिन्नका एवं गमके लिये १४ वर्षोंतक दण्डकारण्यपालकी इच्छा उनके साथ रखी। श्रीरामने इसे सुनकर कहा—“मुझे एक ही दुःख है कि भरतके अभिन्नकदी वात महाराजने मुझसे न कही। मैं अपने भाई भरतके लिये राज्यको, सीता एवं प्रिय प्राणोंसहित सारी सम्पत्तिको भी प्रसन्नतापूर्वक लाये ही दे सकता हूँ। आज ही ननिद्वालसे भरतको बुलानेके लिये दूत भेजे जायँ। मैं अभी दण्डकारण्य जा रहा हूँ। इसपर कैकेयी कहने लगी—राम। जबतक तुम इस व्योप्यासे बनको नहीं चले जाते, तबतक तुम्हारे गिता खान और भोजन कुछ न करेगे।” कैकेयीके इस अप्रिय एवं कठोर वचनको सुनकर भी श्रीरामके मनमें कोई झ़लेश न हुआ। वे बोले—“देवि। मैं धन-(राज्य)-का ज्ञोमी कष्टालकर संसारमें नहीं रहना चाहता। मुझे ज्ञानियों-की ही भौति इह धर्ममें पूर्ण लाभवाल् समझो।” वे सीता एवं ऋषिग्रन्ती साथ के र जाजी एवं मालातोंही

१-यदि द्वार्गिण गः। त्वं तज्ज दिवस्यते। दतोऽप्तमध्याग्नामे भ देवर्त्यं एव एवति ॥

(शा० रा० २ । १८ । ३३)

२-अग्नो यज्ञ नामसे देवि नद्यं गायीदं भवः। अर्थं दि गननाद् गः। पर्वतमयि पात्ते ॥
भवेत्यं तिं तीवं पदेष्यति ताणे ॥

तद् युदि वनम देवि राजो गदभिज्ञद्विनाम्। करिष्य गतिगामे न रामो द्विनाभिमानो ॥

(ना० रा० २ । १८ । २८-३०)

३-नार्यर्थपरो देवि। लोकमावस्तुमुलदे। विद्वि गामृतभिस्तुल्यं विमल धर्मास्तिम् ॥

(शा० रा० २ । १९ । २०)

प्रलभ फरके धनको निकल पड़ते हैं। धनियोंसे तथा छिपे जिन कैकेयीको वरदान देनेकी धनपति शुटिपर महाराज दशरथ दुःख-संतास हो पश्चात्ताप करते हैं। वे श्रीरामसे कहते हैं—‘वत्स ! मैं कैकेयीको दिये गये वरोंके कारण किंकर्तव्यविषय हो गया हूँ। तुम मुझे कारगारमें डाक्कर आज ही अयोध्याका राजा बन जाओ।’ इन बातोंको सुनकर भी सीता-बहुमणसहित श्रीराम बनको प्रसिद्ध होते हैं। बिचारणीय बात यह है कि महाराज दशरथ उनके बनगमनका निषेध कर रहे हैं। परंतु अपने पिता महाराज दशरथको धर्म-संकटमें देखकर विमाताके प्रति चरम निष्ठा रख वे बनवासको चढ़ देते हैं। इस प्रकार सुन्दर युवावस्थामें दारुण क्लेशका सामना करनेके लिये श्रीरामका प्रसिद्ध हो जाना बन्धुबक्षसमाजके लिये यह शिक्षा प्रदान करता है कि अपने सुख-सौम्य और्द्ध्वं आदिपर ही ज्ञान नहीं देना चाहिये, अपितु अवसर पड़नेपर अपने याता-पिताके लिये सब कुछका परिवाग कर देना चाहिये।

पिताके दिवंगत हो जानेपर अन्त्येष्टि क्रियाके सूर्य अधिकारी होनेपर भी श्रीरामकी दृढ़ प्रतिज्ञासे परिचित होनेके कारण उन्हें चित्रकूटसे न बुलाया गया। दस दिनोंतक व्यतीत होनेवाली दूरीवाले ननिहालसे भरतको ही बुलाया गया तथा उन्हींके द्वारा पितृकर्म कराया गया। मन्त्रियोंके सामने उस समय भरतजीके अतिरिक्त राजपदपर आसीन करने योग्य कोई दूसरा विकल्प न था। फिर भी भरत आदर्श भारतप्रेम और परम्परागत धार्मिक कुल-मर्यादाकी सुरक्षा-हेतु राजकीय वैभवके साथ बनमें जाकर वहीं श्रीरामको राजपदपर अभिषिक्तकर लौटा जानेके

लिये गुरुजनों, सचिवों एवं प्रमुख नागरिकों-सहित चित्रकूटके

१—अहं राष्ट्रं कैकेय्या वरदानेन मोहितः। अयो-न्यायं त्वमेवात्र भव राजा निश्चय माम् ॥

(वा० रा० २ । ३४ । २६)

२—धन्यस्त्वं न त्वया तुत्यं पश्यामि जगतीतले। अयत्नादागतं राज्यं वस्त्वं त्यक्तुमिहेच्छसि ॥

(वा० रा० अयो० ८५ । १२)

लिये ग्रस्थान करते हैं। बीचमें श्रीरामका अभिन्न लिङ्ग निषादराज मनमें यह सोचकर कि श्रीरामसे युद्ध करके उन्हें समाप्तकर निष्कण्ठक राज्यकी इच्छासे तो कहीं भरत बन नहीं जा रहे हैं, मार्ग रोकता है। किंतु उनके समर्पकमें आनेपर जब उसे पता लगता है कि ये तो श्रीरामको राजा बनाने-हेतु उनकी अनुनय-विनय कर उन्हें लौटानेके लिये जा रहे हैं, तब भरतजीकी श्रीरामके प्रति अनुकरणीय भ्रातुभक्तिसे प्रभावित होकर वह कह उठता है—‘भरतजी ! आप धन्य हैं, आप-जैसा छोटा भाई मुझे भूमण्डलके साधन्त इतिहासमें कहीं भी नहीं दिखता। जिस चक्रवर्ती साम्राज्यके लिये बड़े-बड़े लोग जीवनभर संघर्ष करते हैं, ऐसे अनायास-प्राप्त महनीय साम्राज्यका आप त्याग कर रहे हैं।’

भरतकी अपार सेनाको देखकर भरद्वाज-जैसे तपोधन महर्षिको भी यह शङ्का हो जाती है कि सम्भवतः हुर्मुखिनासे ही भरत बनमें रामकी ओर जा रहे हैं, परंतु जब भरतजीद्वारा उनके हृदयका परिचय प्राप्त कर लेते हैं तो ये अत्यन्त प्रसन्न होते हैं तथा भरतजीका आतिथ्य आधिदैविक शक्तियोद्घारा करते हैं।

वहाँसे जब वे सैनिकों, परिजनों एवं गुरुजनोंके साथ दुःखसे संतास होकर चित्रकूटकी ओर चलते हैं तो अपने साथ चलनेवाले दुःखसन्तास लोगोंको सान्त्वना प्रदान करते हुए कहते हैं कि आपलोग चिन्ता न करें—

यावत्त चरणौ भ्रातुः पार्थिवव्यञ्जनान्वितौ ।
शिरसा प्रश्नहीन्याभि न मे शान्तिर्भविष्यति ॥

(वा० रा० अयो० ९८ । ९)

जबतक मैं ज्येष्ठ भ्राता राघवेन्द्र श्रीरामके राजकीय चिह्नचिह्नित चरणोंको अपने सिरपर नहीं धारण कर

छँगा, तबतक मुझे शान्ति न मिलेगी। जबतक पिता-पितामहके राज्यपर उसके वास्तविक अधिकारी श्रीराम प्रतिष्ठित होकर अभियेकके जलसे आर्द्ध न हो जायेंगे, तबतक मेरे मनको शान्ति नहीं।' इस प्रकार उन्हें राजा बनानेके उद्देश्यसे जब भरतजी चित्रकूट पहुँचते हैं, तब वसिष्ठ आदि गुरुजनों, मन्त्रियों और प्रजाजनोंके बाच अनुनय-विनय करते हुए श्रीरामसे राजा बनने परं अयोध्या लौट चलनेके लिये उनकी शरणागति करने हुए कहते हैं—'इन मन्त्रियोंके साथ मैं आपका छोड़ भाई शिष्य एवं क्रीत साधारण प्रणामपूर्वक याचना करता हूँ—'खुकुलकी मर्यादा एवं धर्मके अनुसार बड़ा भाई ही राज्यका अधिकारी होता है। आप मेरी माँग पूरी करें।' पर उनके तर्कों श्रीरामने खीकार महीं किया और कहा—'पिताजीने मुझे बनवास दिया है, मुझे उनकी आज्ञाका पालन करना है। तुम्हें भी उनकी आज्ञा माननी चाहिये। अतः चौदह वर्षोंतक तुम राज्यकार्य करो। मैं उसके बाद ही अयोध्या लौट सकूँगा। सत्यप्रतिज्ञ श्रीरामकी यह बात सुनकर जब किसी भी स्थितिमें उन्होंने श्रीरामको अयोध्या लौटते हुए न देखा, तब सर्णभूषित चरणपादुकाको श्रीरामजीके समन्व श्रीभरतजीने रख दिया तथा कहा—'आप इनपर अपने चरणोंको गम्भीर दें; इन्हे ही राज्यका अधिकार दें। ये ही सम्पूर्ण जगत्‌के योग-श्रेमका भार बहन करेंगी।' श्रीरामने वैसा ही कर दिया। श्रीभरतजीने पादुकाको प्रणामकर श्रीरामसे कहा—'मैं चौदह वर्षोंतक जटा-वल्कल धारणकर फल-मूलपर ही जीवन अतीत करता हुआ आपकी प्रतीक्षामें नगरके बाहर ही रहूँगा।' श्रीरामचन्द्रजीने भी 'अच्छा' ऐसा कहकर स्वीकृति दे दी। भरतजी प्रसन्न होकर चरणपादुकाको सिंपर रख प्रसन्नतापूर्वक शत्रुघ्नसहित रथपर बैठ गये तथा वसिष्ठ वामदेवादिको आगे कर अयोध्याकी ओर चल दिये।

अयोध्या लौटते समय भरतजी भरद्वाज महर्षिके आश्रमपर पहुँचते हैं। भरद्वाजजी जब उन्हें मस्तकपर

चण्डपादना भाग किये देकरते हैं तो उनकी भ्रान्तभक्ति परं गुलमर्यादाकी निष्ठाकी नोचकर दृढ़ते हैं—'नुभारे पिता गदाराज दशाय मर्मा प्रकारसे उत्तरण हो गये, जिनको तुम्हारे समान धर्मग्रन्थी एवं गूर्जिमान धर्मस्वरूप पुत्र हैं।' इस प्रकार भरद्वाज महर्षिसे प्रशंसित हो चरणपादुकाको ले जाकर राजसिंहामनपर प्रतिष्ठित कर वे स्वयं भागोंसे बहुत दूर रहकर सचिवकी भाँति चौदह वर्षोंतक राज्यका मंचालन करते हैं। भरतके इस द्योकोन्नर आनन्दप्रेम, आदर्श चरित्रको आजका भौतिक-वादी मनुष्य यदि अपनी दुकिका विषय एवं अपने आचरणका लक्ष्य बना ले तो केवल ही रहे गृहकलहको कही अन न मिले।

बहुतसे भक्त भगवत्सौन्दर्योपासक, बहुतसे श्रीविग्रहके उपासक, बहुतसे गुणके उपासक होते हैं, परंतु भरतजी भगवान् श्रीरामकी चरणपादुके उपासक थे, जिससे उनकी दूरदर्शिनाका प्रमाण मिलता है। चरणपादुकाका राज्य इक्ष्वाकुकुल-परम्पराका एक आदर्शभूत निरुपदृत राज्य था। कोई भी नरेश इस दृष्टिसे भी उन दिनों आक्रमण नहीं कर सकता था कि शत्रुकी खड़ाऊंसे जाकर कौन टकराये? श्रीरामसे सम्बन्धित चरणपादुकाकी सेवा करनेके कारण ही उन्हें विशेषतर धर्म-पालकके स्वप्नमें स्वीकार किया जाता है।

लक्ष्मणको विशेष धर्मका उपासक इसलिये कहा गया कि पिता के जीवित रहते हुए श्रीरामको परन्तु भगवान् अनन्य अनुरागी बन उन्हींको अपना सर्वविव वन्धु समझकर उनकी उपासनामें अपने सम्पूर्ण जीवनको समर्पित कर दिया। गङ्गा पार करनेके बाद श्रीरामने लक्ष्मणजीको माताके सुरक्षाहेतु लौट जानेका विशेष आग्रह किया, जिसे सुनकर लक्ष्मणजीने उत्तर दिया—'ज्ञात होता है आप ऊपरी मनसे अयोध्या लौट जानेके लिये कहते हैं। हृदयसे जिस दिन आप

मेरा और सीताजीका परित्याग कर देंगे, उस दिन हमलोग जल्से बिलग हुई मीनके समान मुहूर्तमात्र भी जीवित न रह सकेंगे ।' लक्ष्मणके इन भावोंको माँ सुमित्रा समशती थीं, इसीलिये उहोंने बनवासके लिये जाते समय लक्ष्मणसे कहा था—'तात ! तुम्हारी सृष्टि बनवासके लिये ही हुई है; क्योंकि रामके अनन्य अनुरागी होनेके कारण उनसे अलग होकर तुम नहीं रह सकते । जब राम बन जा रहे हैं, ऐसी स्थितिमें तुम भी उनके साथ अवश्य जाओ और ध्यान रखना कि श्रीरामके बनमे चलते समय उनके गमन-सौन्दर्यपर ही कहाँ ध्यान न चला जाय अन्यथा आगे-पीछे चलकर कण्ठकाकीर्ण मार्गमें उनकी सेवा नहीं कर सकोगे ।' लक्ष्मणकी इस अनन्य प्रीतिके कारण ही श्रीराम कभी अपनेसे अलग नहीं करते थे । लक्ष्मणजीके बिना पुरुषोत्तम श्रीराम न तो निद्रा ही लेते थे और न ही मधुर-मिथान सेवन करते थे । खेल-कूदमें भी लक्ष्मण विपक्षीदलमें नहीं रहते थे । कहीं भी जाते समय वे उनका अनुगमन किया करते थे ।

विशेषतमधर्मका पालन करनेवाले वे भगवद्गत्त होते हैं, जो भगवान्‌के भक्तोंकी परिचर्यमि ही अपना, सर्वस्व समर्पित कर देते हैं । भरतजीके ननिहाल जाते समय शत्रुघ्नजी उनके साथ होते हैं । १२ वर्षों तक उनके साथ ही रहते हैं तथा साथ ही लौटते भी हैं । वे उनसे कभी भी वियुक्त नहीं रहना चाहते । भक्तिकी दो धाराएँ हैं—१—भगवत्-चरणारविन्दोंमें अनुराग तथा २—भगवत्-चरणारविन्दोंमें अनुराग । भक्तिखरूपा सुमित्रा माँ दो पुत्रोंको उत्पन्न कर एको तो भगवान्‌के चरणों तथा दूसरेको

(शत्रुघ्नको) भगवद्गत्त भरतके चरणोंमें अर्पित कर अपनेको धन्य एवं भाग्यशालिनी मानती हैं ।

मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामकी अनपायिनी पली सीताजीने, जैसा श्रीरामका अनुगमन किया, अन्यत्र कहीं किसीके प्रसङ्गमें ऐसा दृष्टान्त देखनेको नहीं मिलता । लङ्काकी अशोकवाटिकामें १० महीनोतक निवास करनेपर भी सुवर्णमयी लङ्का, नन्दनवनोपम सुषमा तथा भयङ्कर राक्षसियोंकी विकराल वासनाओंसे भी विचलित न होकर अपने सतीत्वपर ही अचल-प्रतिष्ठ रहीं । श्रीरामके द्वारा प्रेपित हनुमान्‌से संवाद एवं अशोकवाटिका-विर्घंसके पश्चात् लङ्कादहनके प्रसङ्गमें एक राक्षसीके द्वारा जब संवाद पहुँचानेवाले लाल मुखवाले बन्दर-(हनुमान्-) की पूँछमें आग लगा दिये जानेका समाचार प्राप्त करती हैं तब सीताजी अपने अमोघ चारित्रिक वलका परिचय देते हुए कहती हैं—

यद्यस्ति पतिशुश्रूपा यद्यस्ति चरितं तपः ।
यदि वा त्वेकपत्नीत्वं शीतलो भव हनूमतः ॥
(वा० रा० सु० ५३ । २७)

'अग्निदेव ! यदि मैंने पतिश्री सेवा की है और यदि मुझमें कुछ भी तपस्या तथा पातित्रियका बल है तो तुम हनुमान्‌के लिये शीतल हो जाओ ।' उनके ऐसा कहते ही हनुमान्‌की पुच्छकी आग वर्फके समान ठण्डी हो गयी ।

सीताजीके इस आदर्श पातित्रियसे आधुनिक नारियोंको शिक्षाप्रहण करनी चाहिये । आज भी मन, वाणी, शरीरसे नारियों पतिकी सेवा करें तो वह सतीत्वकी शक्ति प्राप्त करने तथा अग्निको शीतल करने, सूर्यके रथको रोक देनेके चमत्कार उनके समक्ष

१—न च सीता त्वया हीना न चाहमपि राघव । मुहूर्तमपि जीवावो जलान्मत्स्याविवोदृतौ ॥

(वा० रा० अयो० ५३ । ३)

२—सृष्टस्त्वं बनवासाय स्वनुरक्तः सुदृजने । रामे प्रभादं मा कार्पीः पुत्र भ्रातरि गच्छति ॥

(वा० रा० अयो० ४० । ५)

द्वाय जौहकर दासकी तरह एक पंजिमें रहे हो सकते हैं।

द्वितीय कारण इसके भवते अन्यती सीताका परित्याग कर मर्मिणी-शवस्थायें ही धार्मिकिके आश्रमपर धार्मिकारी लदमणद्वारा जब शेष दिया उस समय सीताजीने कहा—'छमण ! धार्म ही में तुम्हारे समक्ष गङ्गाजीमें कूदकर प्राणोंका परित्याग कर देती, परंतु मैं इसलिये ऐसा नहीं कर रही हूँ

कि मेरे नष्ट होनेपर रामका धंश सदैदेके लिये नष्ट हो जायगा ।'

इस अतिथी धार्मिकी लालियोंको शिक्षा नेती चाहिये कि किसी क्रियम परिस्थितिके कारण यदि पल्लीका परित्याग भी उने कर देता है तो पल्लीको चाहिये कि उस समय इ पतिके गौतम, उसके बंश एवं सास-समुरालकी कुलमर्यादाओंकी रक्षा करे तथा समाजके समक्ष एक आदर्श नारीके रूपमें उपस्थित हो।

मानवके चरित्रका उत्थान एवं पतन उसके मनपर आधृत है

(—अनन्तश्रीविभूषित जगदगुरु श्रीनिमार्काचार्य भी भीजी, भीराघासवेशवरदारणदेवाचार्यजी महाराज)

अनन्तकृपाकोश भगवान् श्रीसर्वेश्वरके छृप्रप्रसाद एवं जीवके बहुजन्मार्जित पुण्योंके फलस्त्रूप उसे देवदुर्लभ मानवशरीर उपलब्ध होता है। ऐसे दुष्कर मानवशरीरमें यदि सच्चारित्रियका दर्शन न हो तो यह मानवताका वास्तविक रूप नहीं है। उज्ज्वल-चारित्र ही मानवताका धोतक है। इसीसे उसके यथार्थ रूपका छान जाना जा सकता है। केवल उदर-पोषणादि कार्य उसके 'इदमित्यम्' लक्ष्य नहीं है। यह सब तो समस्त प्राणि-प्राणमें भी विद्यमान है।

देवर्षिवर्य श्रीनारदजीने अपने 'नारदभक्ति-सूत्र'में 'लोकोऽपि तावदेव जिलु भोजनादिव्यापार-स्वाशरीरधारणावधिः'—इस सूत्रके उत्तरार्द्धवचनसे भोजनादि व्यापारको जबतक प्राकृतिक शरीर है, तावन्निखिल प्राणियोंके जीवननिर्वाहका एक साधन बताया है; क्योंकि इसके बिना जीवनका स्थिरत्व नहीं होता। परंतु भोजनादि व्यापारको जीवनका मूल लक्ष्य नहीं माना जा सकता। जीवनका प्रमुख उद्देश्य है—अपने सत्त्वरूपमें प्रतिष्ठित रहकर विवेकपूर्वक वेदादिशास्त्रानुमोदित धर्मका अनुपालन और यही सच्चारित्रियका भी वास्तविक रूप है—वह 'धर्मं चर', 'सत्यं वद', 'नानृतम्'; 'स्वाध्यायान्मा प्रमदः', 'मातृदेवो भव', 'पितृदेवो भव', 'आचार्य-

देवो भव',—'मातृमान्-पितृमान्—आचार्यवान् पुरुषो वेष्ट' इत्यादि औपनिषद्-वचनोंसे स्पष्ट ही है। 'ईशावास्योपनिषद्'के इस प्रथम मन्त्रसे कितना मुन्द्रतम उद्घोषन मिल रहा है कि—

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किं च जगत्यां जगत् ।
तेन त्वचेन शुच्यज्ञाया या शूद्धः कस्यस्त्वद्वन्नम् ॥

विविध विवित्र संख्यान-सम्पर्क चेतनाचेतनात्मक इस अनन्त जगतमें जो भी कुछ सम्प्र दृष्टिगत हो रहा है, वह उन्हीं निखिलजगदभिन्ननिमित्तोपादानकारण, क्षराक्षरातीत, जगलन्मादिदेतु, सर्वद्रष्टा, सर्वनियामक, सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापक भगवान् सर्वेश्वरसे ही ओत-प्रोत है। अतः इन अनन्तकृपासिन्दु अकारणकरण-वरुणाल्य श्रीप्रसुसे प्रदत्त वस्तुका ही सेवन करें। इतर जनोंके धनादि पदार्थोंकी लिप्सा न करें। विष्णुपुराणकी यमगीतामें भी उपर्युक्त प्रकथनका वडा सुन्दर निवेश है—

हरति परधनं निहन्ति अन्तुच
वदति तथानृतनिष्ठुराणि यश्च ।
अनुभजनितदुर्मदस्य पुंसः
कलुपमतेहृदि तस्य नास्त्वयनन्तः ॥
न सहति परस्मदं विनिन्दां
कलुपमतिः कुरुते सतामसाधुः ।
न यजति न ददाति यश्च सन्तं
मनसि न तस्य जनाद्वैऽधमस्य ॥

‘जो दूसरोंका धन इमणा पारता है, पड़-पढ़ी आदि श्रीदैवी हिंसा करता है तथा छसल्य-भाषण और कठोर वचन घोलता है, ऐसे अझूभकर्मजनित दुर्मदान्व पापमति पुरुषके हृदयमें अनन्तद्वरूप भगवान् श्रीसर्वशर निवास नहीं करते। जो असाधु पापदुष्टि दूसरोंकी सम्पत्ति खुराता या लूट-खोट बरता है एवं पुण्यस्त्रोक साङ्ग पुलांकी निन्दा बरता है, न तो यज्ञादि उत्तम कर्म करता है तथा न किसी प्रकारका दान ही करता है, ऐसे अद्यम पुरुषके मनमें जनादन भगवान् श्रीराधामावत कभी निवास नहीं करते।’

उस प्रकार शब्दोंके लगायित वचन सच्चारित्र या वर्मकी ओर अप्रसर होनेका उपदेश करते हैं। धर्मविमुख उत्तमकर्तव्यपराण्युद्ध भानव कथमपि सुख-शान्तिकी अनुद्धृति नहीं कर सकता। धर्म-सेवनसे ही उसके जीवनमें सच्चारित्रका उद्धरण हो सकता है। धर्माभिरुचि एवं पञ्चन् दर्पिद्धंवलित जीवन तभी सम्भव है, जब भानवका मन इस ओर प्रपृत्त हो। मनुष्यका मन बड़ा चञ्चल है। इसीके जारण वह वन्धन एवं मोक्षको प्राप्त होता है—
 ‘मन एव मनुष्याणां कारणं वन्ध्यमोक्षयोः।। अभ्यास-वैराग्यसे इसका निरोध होता है (योगदर्शन २। ५, गीता ६। ३५)। श्रीमद्भागवतमें भी ‘मनःपृतं समाचरेत्’का आदेश है। श्रीमद्भागवतमें ही जगन्नियता भगवान् इग्नूक्ष्य-दर्शक श्रीगोविन्दने उद्गवको उपदेश करते हुए धनगिकापुरीके द्विजके द्वारा—जिसने जागतिक पीड़ाओंसे सहम होकर वैराग्य धारण किया था, अनुभूतिपूर्ण मनोरूप निदेशक विचार व्यक्त कराये हैं, वे सदा हृदयमें अवधार्य हैं। इनमेंसे कुछ इस प्रकार हैं—

गेरे मुख-दुःखके हेतु न तो ये मनुष्य और न देवता ही तथा न यह शरीर एवं न ये प्रह, कर्म, कालादिक ही हैं। वेद-वचन और सन्तवचन मनको ही प्रसुख कारण मानते हैं और इस सारे संसार-चक्रको मन ही प्रेरित करता है। यथार्थमें यह मन प्रवल पराकर्मी है।

च० नि० अ० ३—

इसीले विषय एवं सुन्नन्के कारण गुणों तथा तत्सम्बन्धी शृणियोंको उत्पत्ति की है और उन शृणियोंके लक्ष्यम दी सास्त्रिक, राजस, लामस वा दि विविध प्रकारके कर्म हैं—

‘मतः परं कारणमामनन्ति
 लंसारचक्रं परिपत्तयेद् यत् ॥
 मनो धुणान् वै सृजते वलीय-
 स्तत्तद्व कर्माणि विलक्षणानि ।
 (श्रीमद्भा० ११। २३। ४३-४४)

उन कर्मोंके क्रमानुसार ही प्राणीकी नानारूपसे गतियाँ होती रहती हैं—समग्र चेष्टाए मन ही किया करता है। सर्वदा उसके सङ्ग रहनेपर भी ज्ञानशक्ति-प्रसुख यह आत्मा निष्क्रिय ही है। जब वह मनके अनुकूल होकर विषय-भोक्ता बन जाता है, तब वह कर्मोंके साथ तीव्रासक्ति होनेसे उनसे बँध जाता है। दान, स्वर्धमपालन, नियम, यम, वेदाध्ययन, सत्कर्म तथा ब्रह्मचर्यादि उत्तम व्रतोंका सर्वान्तिम फल यही है कि मन तन्मय होकर श्रीहरिमें प्रवृत्त हो जाय। ऐसा समाहित मन ही उच्चतम योगका परिणाम है। जिसका मन सर्वदा शान्त और समाहित है, उसे दानजनित सम्पूर्ण सत्कर्मोंका फल मिल गया। इसलिये अब उसे कुछ प्राप्त करना शेष नहीं है। और, जिसका मन वास्थिर है अथवा आलस्यपूर्ण है, उसे इन दानादिक श्रेष्ठ कर्मोंसे अद्यावधि कुछ भी लाभ न मिला। समस्त इन्द्रियाँ मनके वशीभूत हैं। किंतु मन किसी भी इन्द्रियके वशमें नहीं है। वस्तुतः यह मन बड़ा ही प्रबल एवं अतिभयकर देव है। इसको वशमें करनेवाला इन्द्रियसमूहका परम विजेता ही वास्तवमें देव-देव है—

दानं स्वर्धमां नियमो यमश्च
 श्रुतं च कर्माणि च सद्ब्रनानि ।
 सर्वे मनोनिग्रहलक्षणान्ताः
 परो हि योगो मनसः समाधिः ॥
 मनोवशोऽन्ये श्वभवन् स देवा
 मनश्च नान्यस्य वशं समेति ।

भीमो हि देवः सहसः सहीयान्
युज्ज्याद् वदो तं स हि देवदेवः ॥
(श्रीमद्भा० ११ । २३ । ४६, ४८)

वस्तुतः मानवके चरित्रनिर्माणमें प्रमुखतया मूल है—
उसका मन । यदि उसका यह मन शाखाव्यवस्थानुकूल
व्यवस्थित है, नियन्त्रित है, धर्मरूप है, तो फिर उसके
चरित्रमें किसी भी ग्रकारका विकार नहीं आ सकता ।
परं च कथंचित् उसका चश्चल मन विविध विकारपुञ्ज-
जन्य अविचारणंशावान् समाकान्त है तो फिर सामाविक
है कि उसका चरित्र भी अपावन, अनाचरणीय
विकृत और अनि निन्दनीय बन जाता है । इसीलिये इन
समप्र दृष्टियोंने चरित्र-निर्माणमें मन ही नितान्तरूपसे
प्रमुख आधार है । तभी तो श्रीमद्भगवद्गीतामें श्रीप्रभुने
अर्दुनको—‘मनमना भव मद्भक्तः’, ‘मन्यावेद्य भनो ये
मां नित्ययुक्ता उपासते’, ‘मन्येव मन धार्थस्थ्य,
इत्यादि वचनोंसे मन-विषयक उपदेश किया ।

अनन्तश्रीविभूषित जगद्गुरु श्रीसुदर्शनचक्रावतार
श्रीमन्निष्ठार्क भगवान्‌ने अपने ‘ब्रह्मसूत्र’के वेदान्त-
पारिज्ञान-सौरण्य’ भाष्यमें एवं आपहीके पट्ट शिष्य
श्रीनिवासाचार्यजीने वेदान्तकौस्तुभ भाष्यके आनुमानाधि-
करण प्रवर्णणमें अठोपनिषद्के (१ । ३-३-९)
मनोविषयक अपनिपद मन्त्र उद्भूत किये हैं; वे
मननीय हैं—

आन्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु ।
सुक्षिं तु भारयि विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥
रश्मियाणि हयानागुर्विगयांस्तेषु गोचरान् ।
भान्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याद्मर्मनीरिणः ॥
यस्तु विद्वान्यान् भवति समनस्कः सदा शुचिः ।
स तु न व्यद्मान्मोति यस्माद् भूयो न जायते ॥
विद्वान्सारधिर्यैस्तु मनः प्रग्रह्यान्मरः ।
मोऽध्यनः पारमान्मोति न द्विष्णोः परमं पदम् ॥

मर्मी शाङ्केन सर्वकारण-कारण उस मनको ही निष्ठित
किया है । प्रथममें भी अनुभवदृष्टिसे दृस्यष्ट है कि

सर्वदा-सर्वत्र क्षेत्रमें मन ही सर्वेन्द्रियोंका एकमात्र
आधार है । ‘अव्यात्मरामायण’के उत्तरकाण्डमें शरणागत-
क्षल भगवान् श्रीराम लक्ष्मणजीको उपदेश करते हैं—

विविक्त धासीन उपारतेन्द्रियो
विनिर्जितात्मा विमलान्तराशयः ।
विभावयेदेकमनन्यसाध्यो
विज्ञानदृष्टकेवल आत्मसंस्थितः ॥
(अध्या० रा० उ० का० स० ५, श्ल० ० ४६)

परमात्मविन्तनपरायण मुमुक्षु साधकका कर्तव्य
है कि वह एकान्तस्थलमें इन्द्रियोंको विषय-रहित कर
अन्तःकरणको अधीन कर आत्मामें स्थित हुआ
इतर साधना-रहित विशुद्ध चित्तसे केवल ज्ञानदृष्टिके द्वारा
एकमात्र परमात्माकी ही भावना करे । ‘अव्यात्मरामायण’के
अरण्यकाण्डमें भी कवन्वने गम्यवरूप धारण करनेके
बाद विनयावनत हो भगवान् श्रीरामचन्द्रकी स्तुति करते
हुए मनको श्रीप्रभुके स्वरूपचिन्तनमें अप्रसर करनेपर
ही इन्द्रित किया है—

यदस्मिन् स्थूलरूपे ते मनः संधार्यते नरैः ।
अनायासेन मुक्तिः स्यादतोऽन्यन्तहि किञ्चन ॥
(अध्या० रा० अ० का० स० ९, श्ल० ० ४६)

‘यदि मानव आपके मङ्गलमय अनुग्रह-विग्रहरूपमें
अपने मनको प्रवृत्त कर दे तो वह विना प्रयासके मोक्षको
प्राप्त हो जाता है । अतः हे राम ! आपके इस नयना-
भिराम मनोहर मङ्गलमय रूपरूपके अतिरिक्त और कोई
भी पदार्थ नहीं है ।’ श्रीरामचरितमानस’में भगवान्
श्रीराम अपने प्रिय सखा श्रीसुप्रीवजीको उपदेश कर
रहे हैं—

निर्मल गत जन सो मोहि पावा । मोहि कपट छल छिद्र न भावा ॥

श्रीमानसमें ही अन्यत्र जीवके मनमें रहनेवाली ममता
आदिकी आलोचना है—

ममता तग्न तमी अधिकारी । राग द्वेष उल्क सुसकारी ॥
तव लगि बापति जीव मन माही । जब कलि प्रसु प्रताप रवि नाही ॥
(श्रीराम अ० मा० ५ । ४६)

श्रीनिम्बार्कपीठाधीश्वर जगदुरु श्रीमत्परशुरामदेवा-
चार्यजी महाराजने अपने 'पारशुराम-सागर'में मनोविषयक
श्रेष्ठ उपदेश दिया है—

मनहीं चब्बल मन चपल, मन राजा मन रक ।
परसा मन हरि सौं मिळे, तौ हरि मिळे निमंक ॥

इसी प्रकार श्रीगोविन्दशरणदेवाचार्यजी महाराजने
भी अपनी सरस वाणीमें मनको सावधान किया है—

मनुर्वाँ हरि हरि हरि भजन भला ।
धूम धाम मैं द्यौम गमायौ यह जग-धन्धा जला ॥
सुत बन्धु सब स्वारथ पागे तूँ द्यौं जाय रला ।
गोविन्दसरत्न चित्त चेत सचेत द्यौं दुख लेत ढला ॥
(श्रीगोविन्दशरणदेवाचार्यवाणी-पृ० २८ प० १००)

रसिक भक्तशिरोमणि किशनगढ़के महाराज
श्रीनागरीदासजीने अपनी बृहद् 'वाणी'में मनकी स्थितिका
बड़ा भावमाझी चित्रण किया है । वे कहते हैं—

पाप सपीट जनम गयो ।

चित्त तै थकि विद्वाम न कीनो अधिक-अधिक दुःख भयो ॥
द्यौं-द्यौं तन यह जीरन है हीं मन है नयो-नयो ।
नागरीदास बसो बृन्दावन नित सुख रहे छयो ॥

(भीनागरीदास वाणी-पृ० २११ प० ५७)

तात्पर्य यह कि सर्वविभूतपरे इस विषयासक्त चतुर्भुवनका पूर्ण निग्रह किया जाय । निगृहीत मन मानवके चरित्र-निर्माणमें सहायक होगा । आजके युगमें मानवके निर्मल चरित्रका जो अभाव हो रहा है, इसके मूलमें कारण मनकी उच्छ्वासलता ही है । यदि मन व्यवस्थित एवं सुनियन्त्रित है तो उच्छ्वास चरित्रका निर्माण स्वाभाविक है । अतः शास्त्रोके चित्तन-मनन परं महापुरुषोंके सत्सङ्गमें हक्कर स्थिर-बुद्धिसे मनको पवित्रतापूर्वक सर्वेश्वर श्रीराधामावत प्रभुके पदाभ्योजमकरन्त पानेके लिये अप्रसर करें । खतः ही हमारा चरित्र पवित्र होकर आदर्शरूप बन जायगा । यही सर्वात्मना आचरणीय है ।

मानवके लिये आवरणीय कर्तव्य

(—नित्यलीलालीन परमश्रद्धेय श्रीभाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार)

परब्रह्म पर, व्या सबमें निर्दोष तथा समभावसे सदा
स्थित है । परतु व्यवहार-मंसारमें भेद अनिवार्य है ।
विशाल हाथीका आकार बहुत बड़ा है और नन्हीं-सीं
चीटीका बहुत ही छोटा । हाथी और गायका आहार है—
घास-पात, अन्न; मछली आटिका जल और श्वापदोका
मास आदि । हाथीके आहारका परिमाण भी विशाल
है और क्षुद्र चीटीका आहार अत्यन्त अल्प । हाथीपर
राजा-महाराजा मवार होकर गौरव-लाभ करें, गायपर
सवारी करनेमें पापकी भीति रहे और कहीं कुत्तेकी सवारी
करनेको कह दिया जाय तो घोर अपमानका बोध हो—
और कुत्तेकी सवारी सम्भव भी नहीं । गायका दूध भी
सदाचारी लोगोंको अत्यन्त प्रिय और पुष्टिकर, पर कुतियाका
दूध किसीको प्रिय नहीं । गो-दूधके बदलेमें किसीको

कुतियाका दूध पीनेकी वात कहकर देखा जाय, उसको
कितना अप्रिय लगेगा : हाथीकी बड़ी कीमत, चीटी
वेचारीकी कोई कीमत नहीं, कहीं आ जाय तो निकाल-
कर दूर रेंकनेका सहज प्रयत्न । विद्या-विनय-सम्पन्न
आद्यता सनातन शास्त्रानुसार सबका पूज्य और चाण्डालमें
पूज्यताका अभाव । त्रावणमें सहज सात्त्विक भाव तथा
चाण्डालमें सहज तामसिक भाव । इनके आकार-प्रकार,
आचार-विचार, आहार, उपयोग, मूल्य, सम्मान, उपकारिता
आदिमें पर्याप्त अन्तर है । इन्हें कभी कहीं मिटाया हीं
नहीं जा सकता । पर आत्मभावसे ये सब सर्वत्र समान
हैं । जो आत्मा हाथीमें, वही चीटीमें, वही त्रावणमें, वही
चाण्डालमें, वही गौमें और वही कुत्तेमें भी वर्तमान है ।

देश-जाति या व्यक्तिविशेषमें आचार-व्यवहारका
भेद होता है । इन भेदोंको कभी भी मिटाया नहीं

जा सकता। सबके शरीरका गठन एक-सा नहीं, सबका रूप भी एक-सा नहीं, सबका स्वभाव, सबकी वृद्धि, सबमें प्रज्ञाका प्रकाश तमान नहीं। सबकी प्रतिभा एक-सी नहीं, सबमें भाषणपटुला एक-सी नहीं, सबकी रुचि एक-सी नहीं और सबकी पाञ्चन-शक्ति भी एक-सी नहीं है। ऐसी दशामें सब वातोंमें सर्वत्र सम व्यवहार-की सम्भावना निरापगलपन है। सृष्टिकी उत्पत्ति ही तब होती है, जब प्रकृतिके गुणोंमें विपरीता था जाती है और जवतक सृष्टि है, तबतक विपरीताका रहना सर्वथा अनिवार्य है। प्रकृति, स्वभाव, व्यवहार आदिकी इस अनिवार्य विपरीतामें भी जो समता देखता है, व्यवहार-भेद होनेपर भी जिसके मनमें राग-द्रेष्य या मोह-वृणाका अभाव है, देश, जाति, व्यक्ति, योनि आदि तमाम भेदोंको जो एक ही शरीरके विभिन्न अङ्गों तथा अवयवोंके भेदोंकी भाँति मानकर सबके मुख्यमें हुखी तथा सबके दुःखमें दुखी होकर यथायोग्य तथा यथासाम्य अपने—निजके दुःख-निवारणकी भाँति ही दूसरोंका दुःख-निवारण तथा अपने—निजके मुख-सम्पादनकी भाँति ही दूसरोंका मुख-सम्पादन करता है—वही यथार्थ मानव है।

मानव-नामधारी ग्राणी जब अनेक नाम-ख्योंमें अभिव्यक्त प्राणियोंको एक आत्मभावसे न देखकर पृथक्-पृथक् देखता है, तब अपने और पराये मुख-दुःख-को भी पृथक्-पृथक् मानता है। इससे वह अपने दुःख-निवारण तथा अपने मुख-सम्पादनके लिये सचेष्ठ और सक्रिय होता है और वह व्यष्टि-मुखसंचयकी इच्छा तथा प्रयत्न दूसरोंके मुखहरण और वेर दुःखोत्पादनका कारण बनता है। जितना-जितना मानवका 'ख' संकुचित होता है, उतना-उतना ही उसका स्वार्थ संकुचित होता है तथा जितना-जितना 'ख' विस्तृत होता जाता है, उतना-उतना ही स्वार्थ भी महान् होता जाता है। मंकुचित स्वार्थ एक स्थलपर एकत्र पढ़े जलकी भाँति मड़ जाता है। उसमें दुःखही कीड़े पड़े

जाते हैं और विस्तृत स्वार्थ प्रवाहित जलधारकी भाँति पवित्र, कीटाणुरहित, नीरोग होकर नदको व्यास्त्यनुग्रह प्रदान करता है। जब यह नद 'ख' इनके दूसरे होकर प्राणिमात्रमें फैल जाता है, तब उसे रईस एकात्मयके दर्शन होते हैं। तब व्यवहारिति ने भेद रहने द्वारा भी उसके सुप्रल स्वरूप व्यवहारिति के क्रियम व्यवस्थोंका समान इन रहने द्वारा स्वरूप समान मुखी करतेवाले शरीरधारीकी भाँति प्राणिमात्रके क्रिये हितकर तथा मुखोंपादक द्वारा जाने हैं। अद्वित विश्व-शासाण्डका मुख और इति द्वी उसका मुख और हित वन जाता है। संसारमें जो भय, मंदेव, उपद्रव, अशान्ति, दृःख, क्लेश आदिका उद्भव तथा विलाप रहता है, इसमें प्रधान कारण इस 'ख' का—इस दंगेव ही है। एक शरीर और नामसे जकड़ा हुआ 'दृःखोंसे' क्रिये भयानक भय और दुःखोंकी दृष्टि करता रहता है और वह दुःख-सम्परा संकुचित 'ख'के साथ द्वारा काव्यतक चलती रहती है। मानव-शरीर ही इसीक्रिये दिया नया है कि वह सब प्राणियोंको अरनी आत्मामें सुमझे और अपनी आत्माको सब प्राणियोंमें ढेने तथा इस एकात्म-शानके साथ 'आत्मोपम्य' व्यवहार कर मुख-शान्ति देता तथा प्राप्त करता हुआ अन्तमें भगवान् द्वारा प्राप्त हो जाय। इस प्रकार जगत् के ल्यु-विद्याल समस्त प्राणियोंमें आत्मानुभूति वर सबको मुख पहुँचानेका प्रयत्न करनेवाल सच्चित्र मानव 'ज्ञानी' मानव है। उसकी मानवता यथार्थ तथा धन्य है।

उसकी एक दूसरी मुन्द्र अनुभूति है, उस अनुभूतिमें हम सभी प्राणियोंमें अपने परम इष्टदेव, उपर परमारब्द श्रीभगवान् के दर्शन करते हैं तथा इस दृष्टिसे प्राणिमात्रको सदा-सर्वदा परम पूज्य, परम सम्मान्य, परम आदरणीय तथा नित्य सेवनीय मानते हैं। ऐसा चर्मित्र-निष्ठ अपनेको अनन्य मेवक और प्राणिमात्राओं अपने स्वामी श्रीभगवान् का व्यवहार ममदार सदा सबके

नमस्कार, पूजन तथा सेवामें लगा रहता है। सबके सामने सदा न रहकर अयन्त विनय-विनम्रताका व्यवहार करता है, सबका सम्मान-सत्कार करता है और अपने सब दुल्हको भगवान्‌की सम्पत्ति मानवर सर्वस्वके द्वारा उनकी सेवा करता रहता है। इस सेवा-स्वीकारको वह उनकी कृपा मानता है। सेवा-दुद्धि ग्रदान करने, मेवामें निमित्त बनाने तथा सेवा स्वीकार करनेमें भगवान्‌की कृपाको ही काण समझकर वह सदा-सर्वदा कृतज्ञ हृदयसे श्रीभगवान्‌का स्मरण-चिन्तन करता रहता है। उसके पवित्र तथा मधुर अन्तःकरणमें सदा निर्मल समर्पणकी पवित्र मधुर सुधा-धारा बहती रहती है। वह केवल चेतन प्राणीमें ही अपने भगवान्‌को नहीं देखता, जड़ प्राणियोमें भी वह अपने भगवान्‌के नित्य दर्शन करके प्रणाम, पूजन तथा समर्पण आदिके द्वारा उनकी सेवा करता रहता है। ऐसा मानव 'भक्त मानव' है। इसकी मानवता सर्वथा आदर्श तथा नहान् है।

व्यवहारमें भेद न रखना मूर्खता या पशुता है। व्यवहारमें भेद रखे बिना जगत्का चक्र चल ही नहीं सकता। माता और पत्नी दोनों खी-जाति हैं। दोनोंके अङ्ग-अवयव एक-से हैं, परंतु मनुष्य दोनोंमें भेद मानेगा ही। वरं इस भेदका मनपर विलक्षण प्रभाव होता है। माताको देखकर मनमें कुछ और ही भाव जाते हैं और पत्नीको देखकर कुछ और ही। आत्माके नाते परस्पर भेद समझना और किसीसे धृणा करना 'आहुर भाव' है और क्षमान है। किसी भी प्राणीपर क्रोध करना 'राक्षसपन' है।

मानवको सब कार्य यथाधिकार यथाविधि सुचारू-रूपसे करने चाहिये। कार्यमें कहीं त्रुटि न हो, जो कार्य जहाँ जैसा करना विचेय हो, वैसा ही सम्यक् प्रकारसे करना चाहिये, परंतु उन्ना चाहिये धासक्ति न रखकर जगन्मङ्गलके लिये, अथवा भगवान्‌की प्रसन्नता

या प्रीतिके लिये। कर्म साङ्घोपाङ्ग हो, परंतु कहीं ममता-आसक्ति न रहे। जैसे अभिनेता नाटकमें नाय्यमञ्चपर अपने स्वैंगके अनुसार चिधिवत् अभिनय करता है। जहाँ जिस रसकी अभिव्यक्ति आवश्यक है, वहाँ वह उसीकी अवतारणा करता है। रोनेकी जगह रोता है, हँसनेकी जगह हँसता है। दर्शक-समुदाय उसके सफल अभिनयसे प्रभावित होकर रोने-हँसने लगता है, परंतु वह रोता-हँसता हुआ भी वस्तुतः न रोता है, न हँसता है। वह तो केवल अभिनय करता है और उस अभिनयके द्वारा नाटकके स्थामीको प्रसन्न करता है। नाय्यमञ्चपर वह किसीका स्थामी बनता है, किसीकी पत्नी बनता है, किसीका नौकर बनता है, किसीका मालिक बनता है, किसीका पुत्र बनता है, किसीका पिता बनता है और ठीक उसीके अनुरूप सम्बोधन करता है, व्यवहार-बर्ताव करता है। वहमल्य राजपोशाक तथा आभूषणादि पहनकर राजाका अभिनय करता है और फटा-चिथड़ा लपेटकर फकीरका। परंतु वह जानता है कि मैं न तो यहाँके किसी सम्बन्धसे किसीके साथ सम्बन्धित हूँ, न पोशाक-गहने ही मेरे हैं तथा न मैं राजा या फकीर ही हूँ। इसी प्रकार मानव अपने कर्मक्षेत्रमें नाटकके अभिनेताका भौति कहीं भी ममता-आसक्ति किये बिना अपने कर्तव्यकर्मका सुचारू-रूपसे पालन करता रहे और उसमें लक्ष्य हो—'भगवान्‌की प्रसन्नता'। इस प्रकार जीवन वितानेवाला मानव न तो कभी अशान्तिमें पड़ता है और न दुःख भोगता है, न उसे चिन्ताप्रस्त रहना पड़ता है, न उसके द्वारा अपना या किसी भी दूसरेका कभी अहित ही होता है एवं न उसे कर्मवन्धन ही मिलता है। उसके द्वारा स्वाभाविक ही जगत्-मङ्गलदायक कार्य होते रहते हैं। जैसे अमृतसे किसीकी मृत्यु नहीं होती, वैसे ही उसके कर्मसे किसी भी प्राणीका अहित नहीं होता। उसका संसारमें जन्म लेना और रहना केवल लोक-कल्याणके लिये ही

होता है, परतु वह अभिमानपूर्वक लोक-कल्याणके लिये प्रवृत्त नहीं होता। उसका स्वरूप ही होता है—
लोक-कल्याण। जैसे सूर्योदयता प्रकाश देनेके लिये उदय नहीं होते, उनका स्वरूप ही प्रकाशमय है, अतः उनके उदय होते ही अपने-आप प्रकाशका सर्वत्र विस्तार हो जाता है, वैसे ही उस लोक-कल्याणरूप मानवके द्वारा सहज ही महान् लोक-कल्याण होता रहता है।

भगवान् समस्त प्राणियोंमें सदा वर्तमान है। सबकी पूजा, सबको सुख पहुँचाना भगवान्‌की ही पूजा है। जो ऋण भगवान्‌की पूजा करना चाहते हैं और सर्वप्राणियोंमें सदा स्थित परमान्माकी मोहवश उपेक्षा करते हैं, उनसे द्वेष करते हैं, उनके द्वारा वडे विधि-विवान तथा प्रचुर सामग्रियोंसे की हड्डि पूजासे वस्तुतः भगवान् प्रसन्न नहीं होते। जो मानव समस्त प्राणियोंमें आत्मरूपसे वर्तमान भगवान्‌का द्वेष करता है, वह वास्तवमें भगवान्‌से ही द्वेष करता है। इसलिये वही मानव बुद्धिमान् तथा अपना हित करनेवाला है, जो समस्त प्राणियोंके हित तथा सुखका आचरण करके भगवान्‌की पूजा करता है। पूजाके लिये अपना कर्म ही प्रधान है, पाप भगवत्-पूजाका होना चाहिये। यही स्वर्कर्मके द्वारा भगवान्‌का पूजन है। पाप वही है, जिससे परिणाममें अपना तथा दूसरोंका अहित हो। पुण्य वह है, जिससे परिणाममें अपना तथा दूसरोंका हित हो। पाप-पुण्यकी इस परिभाषाके अनुसार यह निश्चय करना चाहिये कि जिससे दूसरोंका अहित होता होगा, उससे कभी अपना हित होगा ही नहीं और जिससे दूसरोंका हित होता है, उससे अपना हित निश्चय ही होगा। अतएव सदा-सर्वदा परहितमें ही अपना यथार्थ हित प्रमझकर उसीमें प्रवृत्त रहना चाहिये।

मबसे श्रेष्ठ मानव वह है, जो परार्थको ही अपना यथार्थ मानकर अपनी हानि करके भी दूसरोंको लाभ

पहुँचाता है। उससे नीचा वह है, जो अपनी हानि न करके दूसरेका लाभ करता है। तीसरा वह है, जो अपना लाभ ही तो दूसरेका लाभ करता है, केवल दूसरेंका आभपर यान नहीं देता। चौथा वह है, जो केवल अपना लाभ ही देखता है, दूसरेके वावत कुछ नहीं सोचता। पांचवाँ वह है, जो अपने लाभके लिये दूसरेकी हानि करतेमें नहीं हिचकता। छठा वह है, जो अपना लाभ न होनेपर भी दूसरेको तुकसान पहुँचाना चाहता है आप सातवाँ वह है, जो अपनी हानि करके भी दूसरेकी हानि करता है। यह सबसे निकृष्ट मानव है। ऐसे मानवोंकी सख्त्या जब वहने लगती है, तब सब और दानवता छा जाती है। मानव मानवका शत्रु हो जाता है तथा एक-दूसरेसे लड़कर सभी विनाशके मुखमें जाने लगते हैं।

मानवके पालनके लिये भगवान् दंवर्णिन नारदने तीस आचरणीय धर्म बतलाये हैं—सत्य, दया, तपस्या, शोच, तितिक्षा, उचित-अनुचितका विचार, मनका सयम, इन्द्रियोंका संयम, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, त्याग, स्वाध्याय, सरलता, संतोष, समदर्शिता, महापुरुषोंकी सेवा, वीरे-धीरे सांसारिक भोगोंसे निवृत्ति, मौन, आत्मचिन्तन, प्राणियोंमें अन आदिका उचित विभाजन, सब जीवोंमें अपने आत्मा या इष्टदेवकी भावना, संतोंके परम आश्रय भगवान्‌के नाम-गुण-जीवा आदिका श्रवण, कीर्तन, स्मरण, उनकी सेवा, पूजा, नमस्कार उनके प्रति दास्य, सख्त्य और आत्मसमर्पण। ये तीस प्रकारके आचरण मानवमात्रके लिये परम धर्म हैं, इनके पालनसे सर्वात्मा भगवान् संतुष्ट होते हैं—

नृणामयं परो धर्मः सर्वेषां समुदाहृतः।
त्रिशल्लक्षणवान् राजन् सर्वात्मा येन तुष्यति ॥
(श्रीमद्भा० ७ । ११ । १२)

वस्तुतः इनके आचरणके प्रयत्नकी सफलतामें ही मनुष्य-जीवनकी कृतार्थता है।

गीतामें चरित्र-निर्माण

(भगवान्की सम्मुखता)

(लेखक—परम श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

मनुष्यशरीर केवल परमात्माकी प्राप्तिके लिये ही मिला है। इसलिये एक परमात्मप्राप्तिका निश्चय हो जाय तो मनुष्य परमात्माके सम्मुख हो जाता है। परमात्माके सम्मुख होनेसे उसमें सद्गुण-सदाचार स्थितः आने लगते हैं, जिससे उसके चरित्रिका ठीक निर्माण होने लगता है। परंतु जब मनुष्य परमात्मप्राप्तिको भूलकर सांसारिक पदार्थोंका सग्रह करने और भोग भोगनेमें लग जाता है, तब उसका चरित्र गिर जाता है। जिसका चरित्र नीचे गिर जाता है, वह मनुष्य कहलानेके योग्य भी नहीं रहता।

भगवद्गीताका पूरा उपदेश चरित्र-निर्माणके लिये ही है। अर्जुनका भाव पहले युद्धका ही था, इसलिये उन्होंने भगवान्‌को निमन्नित किया और युद्धक्षेत्रमें युद्ध करनेके लिये तैयार भी हो गये। परन्तु भगवान्‌का विचार अर्जुनका उद्धार करनेका था। अर्जुनने कहा कि दोनों सेनाओंके बीचमें रथको खड़ा कीजिये; मैं देखूँ कि मेरे साथ दो हाथ करनेवाला कौन है? भगवान्‌ने वैसे ही दोनों सेनाओंके बीच रथको खड़ा करके कहा कि इन कुरुविशियोंको देख (१। २१-२५)। कुरुविशियोंको देखनेकी बात सुननेसे अर्जुनको शरीरकी प्रधानतावाला अपना कुटुम्ब याद आ गया। ये सब मर जायेंगे—इस विचारसे वे घबरा गये और अपने कर्तव्यसे विमुख होकर बोले कि मैं युद्ध नहीं करूँगा। कर्तव्यसे विमुख होना ही चरित्र-निर्माणमें बाधक होता है। भगवान्‌ने कहा—अरे! क्या करता है तू? युद्ध करना तो तेरा कर्तव्य है। इस लिये मोह और कायरताको त्यागकर युद्धके लिये खड़ा हो जा (२। २-३)।

मनुष्यको कर्तव्य पथपर प्रवृत्त करनेके लिये ही भगवद्गीताका आदिर्भाव हुआ है। अपने कर्तव्यका

ठीक-ठीक पालन करनेसे ही चरित्रिका निर्माण होता है और कर्तव्यसे ब्युत होनेसे ही चरित्रिका नाश होता है। भगवान् न त्वेवाहं जातु नास्म्…… (२। १२)—यहाँसे उपदेश आरम्भ करते हैं और पहले देह और देही, विनाशी और अविनाशीका विवेचन करते हैं। तात्पर्य यह है कि विनाशी वस्तुकी ओर ध्यान न देकर अविनाशीकी ओर ध्यान दिया जाय। ऐसा होनेसे ही चरित्र-निर्माण होता है।

एक मार्मिक बात है कि अविनाशीका लक्ष्य होनेसे विनाशी वस्तुएँ स्थितः आयेंगी। उनके लिये दुःख नहीं पाना पड़ेगा। परंतु विनाशीका लक्ष्य होनेसे अविनाशी तत्त्वकी प्राप्ति नहीं होगी, और विनाशी वस्तुओंके लिये भी चिन्ता करनी पड़ेगी एवं परिश्रम उठाना होगा। आगे चलकर भगवान्‌ने कहा कि यदि स्वर्धमको देखें तो भी क्षत्रियके लिये धर्मयुक्त युद्ध करनेमें ही लाभ है (२। ३१)। तात्पर्य है कि अपने कर्तव्यका पालन करनेसे ही मनुष्यकी उन्नति होती है और अकर्तव्यकी ओर जानेसे ही पतन होता है। कर्तव्य-पालनमें कामना, ममता और आसक्तिका त्याग मुद्द्य है। इनके त्यागका यह अभिप्राय है कि जड़का उद्देश्य नहीं रखना है। शरीर आदि वस्तुएँ पहले हमारी नहीं थीं, पीछे हमारी नहीं रहेंगी और अब भी प्रतिक्षण हमसे वियुक्त हो रही हैं। ऐसी जागृति रहेगी तो जड़का उद्देश्य नहीं रहेगा और स्थितः इन्द्रियोंका, अन्तःकरणका संयम होगा। संयममें ही चरित्र-निर्माण होता है। असंयमसे प्रवृत्तियों उच्छृङ्खल हो जाती हैं एवं उनसे चरित्र गिर जाता है।

तीसरे अव्यायके आरम्भमें अर्जुन पूछते हैं कि मुझको वोर कर्ममें क्यों लगते हैं? भगवान् बताते हैं—‘ऊपरसे

ओर कर्म दीखनेपर भी ज्ञाय, ममता, अद्वंता, कामनाका त्याग करके कर्तव्य क्रिया जाय तो वह धोरणा नहीं रहता, केवल क्रिया ही रहती है। क्रिया तो वर्ग और आश्रमबे, अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकारकी होती है, पर जो धोरणा, तीक्ष्णपना, मन्दिनता, पतन करनेवाली वात होती है, वह कामनाके कारण होती है। कामना खण्ड करके पारमार्थिक मूल्य पढ़ें, दूसरोंको सुनायें तो (लक्ष्य पैसा आदिकी दृच्छा रहनेसे) आसुरी-सम्पत्तिसे, पापोंसे बच नहीं सकते; क्योंकि कामनासे ही सब पाप होते हैं (३। ३७)। कहने-सुननेपर भी सञ्चरिता नहीं आ गकर्ता। परंतु परमात्माका लक्ष्य हो तो लौकिक कर्तव्य-कर्म करते हुए भी खतः सञ्चरिता आ जाती है। इस्त्रिये तासरे अव्यायमें भगवान्‌ने कामनाका त्याग कर कर्तव्य-कर्म करनेपर बहुत जोर दिया है। ऐसे ही चौथे अव्यायमें बताया कि जब अपनी कामना नहीं रहती, दृष्ट्याभिमान नहीं रहता, तो सब कर्म अकर्म हो जाते हैं अर्थात् कर्मोंको करते हुए भी मनुष्य वैधता नहीं; क्योंकि उसका उद्देश्य परमात्माकी ओर बढ़नेका है, अपमर होनेका है। पौच्छे अव्यायमें भी अपने कर्तव्यका उत्पन्न करनेकी वात बतायी—

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति तैषिङ्गीम् ।

अयुक्तः कामकारण फलं सक्तो निवृत्यते ॥

(५। १२)

जो युक्त (योगी) होता है, वह कर्मफलका त्याग करके नैषिङ्गी, सदा रहनेवाली शान्तिको प्राप्त होता है और जो अयुक्त होता है, अर्थात् जिसके मन-इन्द्रियों वशमें नहीं होते, वह कामनाके कारण फलमें आसक्त होकर बैध जाता है। फल (पदार्थ) तो उत्पन्न और नष्ट होनेवाला है, पर उसमें जो कामना है, वही बन्धनका कारण है। कामनासे चरित्र गिरता है। चरित्र गिरनेसे अशान्ति पैदा हो जाती है और चरित्र-निर्माणसे शान्ति मिलती है। मनमें दुर्भाव उत्पन्न

होने ही अशान्ति हो जाती है और सद्गुण उन्हें ही शान्ति होने लगती है।

यदि व्यान ने तो यह प्रथेक मनुष्यका अनुभव है कि जितना-जितना वह भाशवान्‌की कामनाका त्याग करता है, उतनी-उतनी शान्ति, आनन्द, साना, सद्गुण उसमें आने रहते हैं और जितना-जितना नाशवान् वस्तुओंकी कामना करता है, उतनी-उतनी अशान्ति, निपमता, दुःख, सन्नाप, जलन, दृग्युग आते रहते हैं।

छठे अव्यायमें भी परमात्मामें तत्परतामें लगातेकी वात कही है। वह परमात्मा सब जगह परिषूर्ण है। उस परमात्माको जो सब प्राणियोंमें देखता है और सब प्राणियोंको परमात्माके अन्तर्गत देखता है, उसमें परमात्मा अदृश्य नहीं होते और वह परमात्मासे धड़त्वा होता—

यो मां पद्मनिः सर्वज्ञ सर्वदा च मयि पद्मर्याति ।
तत्पादं न प्रणश्यामि स च मे न प्रगद्यते ॥

(६। ३०)

जो मनुष्य दूसरोंके दुःख-सुखों अपने शरीरके दुःख-सुखके समान समझता है, वह परमयोगी होता है—

आत्मौपद्येन सर्वज्ञ सर्वं पद्मनि योऽर्जुन ।
सुन्त्रं प्रा यदि वा दुःखं रा देनी परमो मत ॥

(६। ३२)

किसीको भी दुःख न पहुँचे—ऐसा जिसका हृदय है, वह परमात्मतत्त्वको प्राप्त हो जाता है। सबका दुःख दूर कैसे हो ? सभी सुखों कैसे हो जायें !—ऐसे भाववालेका चरित्र सबसे ऊँचा होता है। आगे मनको वशमें करनेकी वात आग्री तो अभ्यास और वैराग्यको बताया (६। ३५), अर्थात् वहां भी भगवान्‌की ओर लगते और संसारसे हटनेकी वात कही। परलोकमें गतिके विषयमें भी यही वात है। जो परमात्माकी ओर चलता है, उसका साधन ब्रीचमें ही दृष्ट जाय और वह मर जाय तो उसका भी उहार ही होता है, दृग्नि नहीं होती (६। ४०)। अज्ञागक्षणी याए उत्तेजलेका

काम अधूरा रहनेपर भी उसको लाभ ही होता है। जो भगवान्‌में ही मन और दुद्धिको लगा देता है, वह योगियोमें श्रेष्ठ योगी माना गया है (६।४७)। भगवान्‌की ओर लगना ही श्रेष्ठता है।

जो भक्ति नहीं करते, उनको भगवान् दुष्कृती बताते हैं (७।१५) और जो भक्ति करते हैं, उनको सुकृती बताते हैं (७।१६)। तात्पर्य यह कि परमात्माकी तरफ चलनेवाले सुकृता और संसारकी ओर चलनेवाले दुष्कृती हैं। आगे बताया कि जिनके कर्म पवित्र है, जिनका चरित्र विद्या है, वे दृढ़त्रत होकर भगवान्‌का भजन करते हैं (७।२८)।

भगवान्‌की ओर चलनेमें स्मृतिकी बात मुख्य है। आठवें अव्यायके आरम्भमें अर्जुनके प्रश्न करनेपर भगवान्‌ने कहा कि जो अन्त समयमें मेरा स्मरण करते हुए जाता है, वह मुझको प्राप्त होता है—इसमें सदेह नहीं (८।५); कारण कि मनुष्य जिस-जिस भावको स्मरण करते हुए शरीरका त्याग करता है, उस-उसको ही प्राप्त होता है (८।६)। इसलिये भगवान् कहते हैं कि तू सब समयमें मेरा स्मरण कर—‘स्वर्वेषु कालेषु माप्यनुस्तर’ (८।७)। फिर भगवान्‌ने विशेष बात बतायी कि जो निरन्तर मेरा स्मरण करता है, उसके लिये मैं मुलभ हूँ—

असन्यचेताः सततं यो मां स्मरनि नित्यज्ञाः ।
तस्याद्यं खुलभः पर्य नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥
(८।१४)

भगवान्‌का स्मरण करना दैवी-सम्पत्तिका, सञ्चरित्राका वास्तविक मूल है। स्मरण करनेका तात्पर्य है—भगवान्‌के साथ अपना जो वास्तविक सम्बन्ध है, उसको स्मरण करना कि मेरा तो भगवान्‌के साथ ही सम्बन्ध है, संसारके साथ सम्बन्ध नहीं है। संसारके साथ सम्बन्ध केवल माना हुआ है, इसलिये यह सम्बन्ध टिकता नहीं। प्रत्यक्ष देखते हैं कि इस ब्रह्ममें जो

सम्बन्धी हैं, वे पहले ब्रह्ममें नहीं थे और आगेके ब्रह्ममें भी नहीं रहेगे। अभी ब्रात्यावस्थामें भी जो दशा थी, वह अभी नहीं रही और जो अभी है, वह आगे नहीं रहेगी। इस प्रकार भसार ने निरन्तर बढ़ते हैं, पर परमात्मा वे ही है और ‘मे’ भी वही हूँ। इसलिये परमात्माके साथ मेरा सम्बन्ध नित्य है। इस बातकी याद रहना ही स्मृति है। चिन्तन तो ससारका भी हो सकता है, पर स्मृति भगवान्‌की ही होती है। ऐसी स्मृति रहनेसे सञ्चरिता खत आती रहती है।

जो केवल भगवान्‌की ओर चलता है, वह सबसे शेष हो जाता है। वेद, यज्ञ, तप, दान, नीर्य, व्रत आदिसे जो लाभ होता है, उससे अविक लाभ भगवान्‌का उद्देश्य रखकर भगवान्‌की ओर चलनेवालेको होना है (८।२८)। इसलिये भगवान्‌की तरफ चलनेको सब विद्याओंका राजा, सब गोपनीयोंका राजा, अति पवित्र, अति उत्तम, प्रत्यक्ष फलवाला, धर्मयुक्त, करनेमें बड़ा सुगम और अविनाशी बताया गया है (९।२)। भगवान् अपने-आपको इतना सुगम बताने हैं कि ‘जो भक्तिपूर्वक पत्र, पुष्प, फल, जल आदि मेरे अर्पण कर देता है, उसका मैं भोजन कर लेता हूँ’ (९।२६)। ‘इसलिये नलना-फिरना, खाना-पीना, सोना-जगना आदि सब कुछ मेरे अर्पण कर दे तो सब पुण्यों और पापोंसे मुक्त होकर मुझको प्राप्त हो जायगा’ (९।२७-२८)।

मनुष्य दुराचारी है या सदाचारी है—इसकी कोई चिन्ता नहीं। विशेष ब्रात है कि वह भगवान्‌में लग जाय। भगवान्‌में लगलेपर उसका दुराचार टिक ही नहीं सकता। ‘वह बहुत शीघ्र धर्मात्मा हो जाता है और निरन्तर रहनेवाली शाश्वती शोन्तिको प्राप्त हो जाता है’ (०।३०-३१)। ‘दुराचारी, पापयोनि

(पशु आदि), खी, वैश्य, शूद्र, क्षत्रिय, ब्राह्मण आदि किसी जाति, वर्ण, आश्रम, दंश आदिका कोई क्यों न हो, भगवान्‌में लग जाय तो उसको भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती हे' (९। ३२-३३) । जितनी जातियाँ, वर्ण आदि हैं, उनमें वाहरसे तो प्रकृतिकी भिन्नता है, पर भीतरसे सब परमात्माके अंश हैं । इसलिये ससारके व्यवहारमें तो अपने वर्ण आदिके अनुसार चलनेकी मुख्यता है, पर पारमार्थिक मार्गमें वर्ण आदिकी मुख्यता नहीं है; क्योंकि परमार्थरूपसे (परमात्माका अन्त होनेसे) सबका स्वरूप शुद्ध है और सबका परमात्मापर समानरूपसे अविकार है । भगवान् कहते हैं कि 'मुझमें मनवाला हो, मेरा ही भक्त वन, मेरा ही पूजन कर, मेरेको ही नमस्कार कर' (९। ३४) । तात्पर्य है कि केवल मेरी तरफ लग जा ।

दसवें अध्यायमें अर्जुनके द्वारा प्रार्थना करनेपर भगवान्‌ने अपनी विभूतियों और योगशक्तिका वर्णन किया । उसमें सार बात यह कही कि 'मैं सब संसारमें व्यापक हूँ । जहाँ-जहाँ तुम्हें विशेषता दीखे, वहाँ-वहाँ मेरे तेजके अंशकी ही अभिव्यक्ति जान' (१०। ४१) । विशेषता तो मेरे कारणसे ही है । तात्पर्य है कि जहाँ जो कुछ विशेषता, अविकाता, विलक्षणता दीखे, वहाँ भी भगवान्‌की ही तरफ वृत्ति जानी चाहिये । फिर कहते हैं कि 'तुझे बहुत जाननेसे क्या, मैं सम्पूर्ण ससारको एक अंशसे व्याप करके स्थित हूँ' (१०। ४२) । ऐसी बात सुनकर अर्जुनने, जिसके एक अंशमें सब संसार है, वह विश्वरूप देखना चाहा । उसे देखनेके लिये भगवान्‌ने अर्जुनको दिव्य चक्षु दिये ।* विश्वरूप

देखकर अर्जुन चकरा गये, भयभीत हो गये, मोहित हो गये । तब भगवान्‌ने कहा कि यह तेरी मूर्खता है । मैं तो वही हूँ । फिर तू भयभीत क्यों होता है ?

वारहवं अध्यायमें अर्जुनने पूछा कि 'जो ज्ञानमार्गसे चलते हैं और जो भक्तिमार्गसे चलते हैं, उन दोनोंमें कौन श्रेष्ठ है ?' भगवान्‌ने भक्तिमार्गसे चलनेवालोको श्रेष्ठ बताया (१२। २) । ज्ञानमार्गमें तो स्वयं (अपने बलपर) चलते हैं, पर भक्तिमार्गमें भगवान्‌के आश्रित हो जाते हैं । ज्ञानमार्गमें तो दैवी-सम्पत्तिके गुणोका, विवेक-वैराग्य आदिका उपार्जन करना पड़ता है, पर भक्तिमार्गमें प्रभुके चरणोकी शरण होनेपर दैवी-सम्पत्तिके सद्गुण-सदाचार स्वतः-स्वाभाविक आते हैं । ऐसे शरणागत भक्तोका भगवान् बहुत जल्दी उद्धार करते हैं (१२। ७) । इस बास्ते भगवान् कहते हैं कि 'तू अपने मन-बुद्धि मुश्किलों ही दे दे, मेरे ही परायण हो जा !' ऐसे भगवत्परायण पुरुषके लिये भगवान् कहते हैं कि वह मुझे बहुत प्यारा है । ऐसे तो संसारके सम्पूर्ण जीव भगवान्‌को प्यारे हैं, पर जो भगवान्‌के शरण हो जाते हैं, वे भगवान्‌को बहुत प्यारे होते हैं । केवल भगवत्परायण होनेसे सद्गुण-सदाचार विना कोई प्रयत्न किये आप-से-आप आ जाते हैं ।

तेरहवें अध्यायमें भगवान् जब ज्ञानका वर्णन करते हैं तो उसमें अमानित्व आदि सद्गुणोका वर्णन करते हुए अव्यभिचारिणी भक्तिकी बात कहते हैं—'मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी ।' (१३। १०) । चौदहवें अध्यायमें भी भक्तिकी बात कहते हैं कि 'जो भक्तियोगके द्वारा मुश्किलों भजता है, वह तीनों

* भगवान्‌ने अर्जुनको विश्वरूप दिव्यदृष्टिसे अपने शरीरफे एक अंशमें दिखाया है, जानदृष्टिसे समझाया नहीं है । इस विषयमें भगवान्, अर्जुन और संजय—तीनोंके बचन प्रमाण हैं; जैसे-भगवान् कहते हैं—'इहैकस्यं जगत्कृत्स्नं पश्याद् चचराचरम् । मम देहे गुडाकेग । ' (११। ७); अर्जुन कहते हैं—'पश्यामि देवांस्तव देव देहे' (११। १५), और संजय कहते हैं—'तत्रैकस्यं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकघाँ । अपश्यद् देवदेवस्य शरीरे । ' (११। १३) ।

गुणोंको अतिक्रमण कर जाता है' (१४ । २६) । गुणोंके सङ्गसे ही आसुरी सम्पत्ति आती है, जिससे ऊँच-नीच योनियोंमें जन्म होता है । * भगवान्‌की ओर चलनेसे उन गुणोंका अतिक्रमण हो जाता है ।

पद्महबें अध्यायमें भगवान्‌ने अपना विशेष प्रभाव बताया और कहा कि 'क्षर (नाशवान्) और अक्षर (अविनाशी जीव) — इन दोनोंसे उत्तम पुरुष मैं हूँ' (१५ । १६—१८) । जो मुझको पुरुषोत्तम जानता है, वह सर्वविद् है अर्थात् सब कुछ जाननेवाला है और सर्वभावसे मेरा ही भजन करता है । जो भगवान्‌का भजन करते हैं, उनमें दैवी-सम्पत्ति खाभाविक प्रकट होती है । इस वास्ते सोलहबें अध्यायमें भगवान्‌ने दैवी-सम्पत्तिका वर्णन किया । परंतु 'जो भगवान्‌से विमुख होकर अपने ही शरीरको पुष्ट करना, भोगोंको भोगना और संप्रह करना चाहते हैं, उनमें आसुरी सम्पत्ति आती है ।' उस आसुरी सम्पत्तिका भगवान्‌ने सोलहबें अध्यायमें बहुत विस्तारसे वर्णन किया । 'दैवी सम्पत्तिसे मुक्ति होती है' (१६ । ५) । आसुरी सम्पत्तिसे बन्धन होता है (१६ । ५), चौरासी लाख योनियोंकी प्राप्ति होती है (१६ । १९), और नरकोंकी प्राप्ति होती है (१६ । २०) ।

सत्रहबें अध्यायमें सात्त्विक, राजस और तामस—तीन प्रकारके भावोंका वर्णन किया । इसमें भी देखें तो ससारसे विमुख और परमात्माके समुख होनेवालोंमें ही सात्त्विक भाव होते हैं । वे राजस और तामस भावोंसे ऊँचा उठ जाते हैं । 'परमात्माके लिये किये हुए यज्ञ, तप, दान आदि कर्म सात्त्विक और मुक्ति देनेवाले हो जाते हैं' (१७ । २५) । परंतु ससारके लिये अर्थात् मान, बड़ाई, सुख, आराम आदिके लिये तथा प्रमाद

और मूढ़तापूर्वक किये हुए यज्ञ, तप, दान आदि कर्म राजसी-तामसी हो जाते हैं ।

अठारहबें अध्यायमें भगवान्‌ने सन्यास (सात्त्विक्योग) और त्याग-(कर्मयोग-) का विस्तारसे वर्णन किया । अन्तमें भगवान्‌ने यह निर्णय दिया कि सब धर्मोंका आश्रय छोड़कर केवल एक मेरी शरणमें आ जा—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं वज ।

अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥

(१८ । ६६)

ससारके जितने काम हैं, जितनी सिद्धियाँ हैं, जितनी उन्नति है, वे सब-की-सब इस एक ही बात-(शरणागति-) में आ जायेंगी । भगवान् कहते हैं कि जितने पाप हैं, दुर्गुण-दुराचार हैं, उनसे मैं मुक्त कर दूँगा । तू चिन्ता मत कर । मेरी कृपासे दैवी-सम्पत्ति आप-से-आप आ जायगी ।

जैसे बालक माँकी गोदीमें रहता है तो उसका खाभाविक ही पालन-पोषण हो जाता है, ऐसे ही एक प्रभुका आश्रय ले लिया जाय तो सब-के-सब सदृण-सदाचार बिना जाने ही आ जायेंगे । आपसे-आप ही चरित्र-निर्माण हो जायगा । चरित्र-निर्माणकी कुजी भगवत्-शरणागति है ।

इस तरह गीताभरमें देखा जाय तो एक ही बात है—परमात्माकी तरफ चलना अर्थात् परमात्माके सम्मुख होना । परमात्माकी ओर चलनेका उद्देश्य ही चरित्र-निर्माणमें हेतु है और ससारकी ओर चलनेका उद्देश्य ही चरित्र गिरनेमें हेतु है । सासारिक भोग और संग्रहकी इच्छासे ही सब दुर्गुण-दुराचार आते हैं । सबसे अधिक पतन करनेवाली वस्तु है—रूपयोका महत्त्व और आश्रय । इससे मनुष्यका चरित्र गिर जाता है । चरित्र

* दैवी और आसुरी सम्पत्तिके विस्तृत विवेचनके लिये गीताप्रेससे प्रकाशित 'गीताकी सम्पत्ति और अद्दा' नामक पुस्तक देखनी चाहिये ।

गिरनेमे उसकी मनुष्योंमें निन्दा होता है, अपमान होता है। चरित्रहीन मनुष्य पशुओं तथा नारकीय जीवोंसे भी नीचा है; वर्गेभिन्न पशु और नारकीय जीव तो पहले किये हृषि, प्राप-क्षमोंका फल भेगकर मनुष्यताका तरफ आहे है, परं चरित्रहीन मनुष्य पापोंमें लगकर पशुना तथा तरकोदी तरफ जा रहा है! ऐसे मनुष्यका संग भी अन्त करनेवाला है। इर्मानिये यहा है कि—

“मम भर्ता शब्द नहर, धर काना। हुट सग गनि देहु शिथाना ॥

(मनस ३। ५५.)

अन अपना चरित्र मुवानेके लिये भगवान्के सम्मुख तो जायेगि मैं भगवान्का हूँ, भगवान् मेरे हैं। मैं संसारका नहीं हूँ, संसार मेरा नहीं है।

परनु मनुष्यमे भूल यह होती है कि जो अपने नहीं हैं, उन सांसारिक वस्तुओंको तो अपना मान लेना है और जो वास्तवमें अपने हैं, उन भगवान्को अपना नहीं पाना। वास्तवमें देखा जाय तो सद्गुणयोग करनेके लिये ही सांसारिक वस्तुएँ अपनी हैं और अपने-आपको नहींके लिये ही भगवान् हैं; कारण कि वस्तुएँ संसारकी हैं, इर्मानिये उन्हें संसारकी येवामें अर्पित करना है और मनुष्य सब भगवान्का है, इसलिये स्वयंको भगवान्के अर्पित करना है। न तो सांसारसे कुछ लेना है लेट न भगवान्से ही कुछ लेना है। अगर लेना ही है तो केवल भगवान्को ही लेना है।

सांसारिक वस्तुओंकी कामनासे संसारके साथ सम्बन्ध उड़ता है। कामना ममनासे उत्पन्न होती है पर्यावर शरीर, श्वी, पुत्र, धन आदिको अपना माननेसे कामना उत्पन्न होती है। अब विचार करें कि जिन शरीर, श्वी, पुत्र, धन आदिको अपना मानते हैं,

उनपर अनना खतन्त्र अधिकार है क्या? उनको जितने दिन चाहें, उतने दिन रख सकते हैं क्या? खुद उनके साथ सदा रह सकते हैं क्या? अगर कहा जाय कि नहीं, तो फिर उनमें अपनापन छोड़नेमें क्या कठिनता है? उनमें भूलसे माना हुआ अपनापन छोड़नेमें कामना नहीं उत्पन्न होगी। कामना उत्पन्न न होनेसे भगवान्में स्वतः अपनापन होगा; क्योंकि वे उन्हें हैं और नित्यप्राप्त हैं। भगवान्में अपनापन होनेसे मन आचरण और भाव स्वतं ही शुद्ध हो जायेंगे।

शरीर, श्वी, पुत्र, धन, मकान आदि पदार्थ सह हैं या असह हैं—यदि तो विकल्प हो सकता है, पर उनके साथ हमारा सम्बन्ध असह है—इसमें सदेहकी सम्भावना ही नहीं है। असहको असह जान लेनेपर असह-सम्बन्धका त्याग हुगमता-पूर्वक हो जाता है, और भगवान्की सम्मुखता होनेपर भगवान्का नित्य सम्बन्ध स्वतः जाप्रत् हो जाता है। फिर मनुष्यमें सद्विकृता स्वतः आ जाती है और वह चरित्र-निर्माणका आचार्य धन जाता है अर्थात् उसका चरित्र दूसरोंके लिये आदर्श हो जाता है—

यद्यदाच्चरति अष्टलचदेवतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तद्भुवर्तते ॥ (३।२१)

अंष्ट पुरुष जो-जो आचरण करता है, दूसरे लोग भी (उसके आचरणोंको आदर्श मानते हुए) वैसा-वैसा ही आचरण करने लगते हैं; और वह जो प्रमाण करता है, समस्त मनुष्य-समुदाय उसीके अनुसार वर्ताव, करने लग जाता है।

इस चरित्र-निर्माणमें किञ्चिन्मात्र भी परतन्त्रता नहीं है। इसमें सब-के-सब स्वतन्त्र हैं।

चरित्र क्या है ?

(लेखक—पूज्यपाद श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी)

चरित्र शब्द शील-स्वभावका वाचक है। इसके पूर्व सद् विशेषण लगानेसे 'सचरित्र' बनता है। साधारणतया 'चरित्र' भी रादाचारका ही वाचक है। सत्पुरुषों-जैसे आचार-विचार खनेवालेशों सदाचारी कहते हैं। मनुष्यकी कुलीनता उसके चरित्रसे अभिव्यक्ति होती है। कुलीनता चरित्रकी जननी है। व्यक्तिकी कुलीनता उसके नित्यके जीवनसे प्रकट होती है। मनुष्योंके आन्तरिक भावोंसे, कमोंसे तथा वाणीसे उसके चरित्रकी पहचान होती है। वाल्मीकिजीने नारदजीसे जो प्रश्न किया—

चारित्रेण च को युक्तः सर्वभूतेषु को हितः ।
विद्वान् कः कः समर्थश्च कश्चकप्रियदर्शनः ॥^१

उसके उत्तरमें बताये समस्त गुण चरित्रके— सदाचारके अन्तर्गत आ जाते हैं। यद्यपि 'चारित्रेण च को युक्तः' उनका एक अलग प्रश्न भी था। चरित्र ऐसा व्यापक शब्द है, जिसमें धर्म, सदाचार एवं सभी सद्गुणोंका समावेश हो जाता है। हृदयके भाव छः वातोंसे परिलक्षित होते हैं—वचन, बुद्धि, स्वभाव, चरित्र, आचार तथा व्यवहारसे^२। इस प्रकार हम देखते हैं—चरित्र शब्द कहीं केवल सदाचारके अर्थमें प्रयुक्त होता

है, कहीं कर्म करनेकी शैलीके अर्थमें, कहीं धर्मके अर्थमें और कहीं स्वभावके अर्थमें। जहाँ वर्गाश्रमवर्गका वर्णन आता है, वहाँ इसे भी 'स्वभावज' कहा है। जैसे—शम, दम, तप, शौच, शान्त, सरलता, ज्ञान, जिज्ञासा और लालित्य—ये ब्राह्मणके स्वभाविक गुण हैं। शौर्य, तेज, भूति, दक्षता, युद्धसे न भागना, दान, ईश्वरभाव—ये क्षत्रियके स्वभावज गुण हैं। कुलि, गोरक्षा, व्यापार—ये वैश्यके स्वभावज गुण हैं और परिचर्या अर्थात् तीनों वर्णोंकी सेवा करते रहना—वह शूद्रोंका स्वभावज गुण है।^३ स्वभावजका तात्पर्य यह है कि, जन्मसे ही उनके चरित्रमें ये सहज स्वभाविक गुण रहते हैं।

बालक (सत्यकाम) जावाल गुरुकुलमें पढ़ने गया। गुरुने पूछा—तुम्हारा गोत्र क्या है ? बालकने कहा—मैंने अपनी मातासे गोत्र पूछा था। उसने कहा—मैं सदा सेवाकार्यमें निरत रहती थी, अतः तुम्हारे पितासे मैं गोत्र नहीं पूछ सकी। आचार्यने कहा—गिनश्य यही तुम ब्राह्मण हो। ब्राह्मणके अनिरिक्त इतनी सत्य बात दूसरा कोई कह नहीं सकता। तुम जवालके पुत्र हो, अतः तुम्हारा नाम सत्यकाम जावाल हुआ।

१—महर्षिने नारदजीसे पूछा था—'इस समय संसारमें गुणवान्, वीर्यवान्, धर्मग, कृतज, सत्यवक्ता, हृष्टप्रतिक्ष, चरित्रवान्, सर्वभूतहितरत, विद्वान्, समर्थ, प्रियदर्शन, आत्मवान्, जितक्रोध, कान्तिमान्, अनसूक, उग्राजमें किसीसे भी न डरनेवाला कौन है ?'

२—(क) वचनेषु च बुद्धौ च स्वभावे च चरित्रतः। आचारे व्यवहारे च शायने दृष्टव्य दृष्टाम् ॥

(उज्ज्वलनीलमणि)

(ख) आकारेरिङ्गितेर्गत्या चेष्टया भाषणेन च। नेत्रवक्त्रविकारैक्ष गृह्णतेऽन्तर्गत सन् ॥

(गच्छपुण० १ । १०९ । ५२, शिवपुरा० शतक ३९ । १९, विष्णुपर्मो० २ । १५ । ३७, वेताल्य० १ । ८, मनु० ८ । २६६, पञ्चतन्त्र० १ । ४५ वादि)

३—शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च। ज्ञान विजानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥

शौर्यं तेजो धृतिर्दक्षिणं युद्धे चाप्यपलायनम्। दानमीश्वरभावश्च ज्ञात्रं कर्म स्वभावजम् ॥

कृपिगोरक्षयवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्। परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥

(श्रीमद्भगवद्गीता १८ । १२-४४)

इन दिनों सञ्चरिता प्रायः नष्ट हो गयी है; नहीं तो पहले लोग वचनोंसे-ख्यावसे, आचार-विचारसे पता लगा लेते थे, ये किस ख्यावके किस वर्णके हैं।

बहुत पहलेकी बात है; कुम्भका मेला लगा था। चार साधु पृथक्-पुरुषक् बैठे तपस्या कर रहे थे। कुछ मित्रोंकी मण्डली आयी। वे कहने लगे—ये साधु किस-किस वर्णके हैं, पूजना चाहिये। एकने कहा—‘देखो भाई! साधुसे जाति नहीं पूजनी चाहिये। बुटी दवा और मुड़े, बाबाजीकी जातिका पता नहीं लगता।’ दूसरेने कहा—‘बाणीसे, ख्यावसे, आचार-विचारसे मनोगत भाव प्रकट हो जाते हैं (पूर्वोक्त मनु० ८। २६)।’ चलो इनसे बात-चीत करें; पता लग जायगा। यह निश्चय करके वे पहले साधुके पास गये और दण्ड-प्रणाम करके बोले—‘महाराज! कुछ उपदेश कीजिये।’ साधु बात्रा बोले—

राम नाम कड़ू, गोपाल नाम बी।
हरिको नाम मिथी घोर घोर बी॥

यह सुनकर वे लोग वहाँसे चल दिये और बोले— निश्चय ही ये ब्रात्यग हैं, क्योंकि ‘ब्रात्यणो मधुरप्रियः। अब लोगोंने दूसरे साधुके पास जाकर उपदेश करनेकी प्रार्थना की। साधुने कहा—

राम नाम की खड़ग बनाकर, कृष्ण कटारा बाँध लिया। दूरी नाम की ढाल बनाकर, यमका कन्दा काट दिया॥

मित्र-मण्डली उठ आयी। बोले—‘निश्चय ही ये क्षत्रिय हैं; क्योंकि ‘जल शूर बाल्यण रण शूर क्षत्रिय।’ अब तीसरे साधुके पास जाकर लोगोंने उपदेशकी प्रार्थना की। साधुने कहा—

यह जग मबही हाट है, मोढ़ी श्रीभगवान्।
जैसे जाके कर्म हैं, तौकि देह सामान॥

मित्र-मण्डली उठ आयी। बोले—‘ये महात्मा वैश्य कुलावनससे दीखते हैं; क्योंकि तोलना-जोखना वैश्यका ख्याविक कर्म है।’ अब सब मिलकर चौथे साधुके पास जाकर उपदेश करनेकी प्रार्थना करने लगे। साधुने कहा—

राम झरोखे बेटिके, सबकी मुजरा केयँ।
जैसी जाकी चाकरी, तैमो ताकू देयँ॥

मित्र मण्डलीने उठकर निर्णय किया कि ये कोई शूद्र कुलोत्पन्न साधु हैं; क्योंकि नौकरी-चाकरी तो उसका मूल्य लेनेके लिये ही की जाती है। तात्पर्य यह है कि यह सब जन्मजात ख्यावज-चात्रिका फल हैं। एक तो चरित्र ख्याविक होता है, दूसरा सत्सङ्गसे, साधु-पुरुषोंकी सेवासे निर्माण किया जाता है। ख्याविक जन्मजात गुण-दोषोंका वृट्ठना तो अत्यन्त ही कठिन है। किंतु सत्संगतिद्वारा चरित्र सुधारा जा सकता है।

चरित्र दो प्रकारका होता है। एक तो अनुभवात्मक दूसरा लीलात्मक। साधारणतया चरित मानव कृतियोंका होता है। लीला अवतारी पुरुषोंके चरितको कहते हैं। भगवान् श्रीरामचन्द्रजी यद्यपि अवतार हैं, फिर भी वे मर्यादा-पुरुषोत्तम हैं। उन्होंने अवतार होकर भी मानवोचित चरित्र किये। श्रीकृष्णने भी मानवोचित चरित किये, किंतु उन्होंने अवतारोचित लीलायें भी की। जैसे गोवर्धन धारण लीला, रासलीला आदि। इन लीलाओंको अवतारी पुरुष ही कर सकते हैं। मनुष्योंको इनका अनुकरण नहीं करना चाहिये। हाँ, वे जो उपदेश करें मानवोचित चरित्र करें उनको हमें करना चाहिये। इसीलिये भागवतकार कहते हैं—ईश्वरोंके-अवतारियोंके वचन-उपदेश तो सत्य हैं, पर उनके सभी आचरण अनुकरणीय नहीं हैं। उनके जो आचरण हों, शुद्ध

चरित्रयुक्त हों वे ही अनुसरणीय हैं। इसलिये बुद्धिमान् पुरुषको उनके युक्त वचनोका ही आचरण करना चाहिये । चरित्र-निर्माण साधु-सङ्कासे, भगवत्कथा श्रवणसे, भगवन्नाम सकीर्तनसे, अपने वर्गाश्रमधर्मके पालनसे तथा भगवद्-भक्तिसे होता है। संसारमें जो होना चाहिये।

चरित्रधान् हैं, सदाचारी हैं, वे ही धन्य हैं। उन्होंने मानवजीवनका फल पाया है। जो चरित्रसे हीन हैं, स्वेष्ठाचारी हैं वे तो सूकर-कूकरादिके सद्गत हैं। अतः मुमुक्षु पुरुषको चरित्र-निर्माणके लिये प्रयत्नशीघ्र



योगका तात्पर्य और चरित्र-निर्माण

(लेखक—गोरक्षणीटाधीश्वर महन्त श्रीअवेन्नाथजी महाराज)

योगके सामान्य धरातलपर उसकी साधनाके पड़ङ्ग, अष्टाङ्ग, पञ्चदशाङ्ग आदि भेद निर्दिष्ट हैं। पर ये सभी स्तर मानव-जीवन और मानवके चरित्र-निर्माणके लिये अचल आधार हैं। इनमें यम-नियमके संयमपूर्वक सेवनसे चरित्र उदात्त, पवित्र और प्रसादयुक्त होकर श्रेयकी प्राप्तिमें महनीय भूमिकाकी स्थापना करता है। योगरूप प्रधान विद्युतशक्तिकेन्द्र, अलखनिरंजन परमात्माके सत्-स्वरूपसे, निरंजनसे जीवनकी कल्याणमयी मङ्गलज्योति प्रवाहित होती रहती है और योगसाधनाएँ तथा यम-नियमादि योगके विभिन्न अङ्ग-उपाङ्ग सभी उस केन्द्रीय शक्ति-गृहसे युक्त होकर मानवको कल्मप्रहित पुण्य जीवनयापन तथा आत्मदर्शन और परमात्म-साक्षात्कारकी प्रेरणा देते रहते हैं। चरित्र-निर्माणकी दिशामें यही योगका परम तात्पर्य अथवा श्रेयस्कर कार्य है। महायोगी गोरखनाथजीने एक सदीमें चरित्र-निर्माणका सम्पूर्ण रहस्य योगसाधकके लिये भर दिया है। उनका यह अमृतवचन सम्पूर्ण मानवताके लिये पवित्र चरित्रकी प्रेरणा देता है। यह गोरखनाथी सदीकी है जो इस प्रकार है—

हसिबा खेलिबा रहिबा रंग। काम क्रोध न करिया संग।
हसिबा खेलिबा गाइबा गीत। दिव करि राखि आपना चीत॥

योगीको सदैव आन्मसंयम करना चाहिये। योगका आवार ही नहीं, स्वरूप भी चित्तवृत्तिका निरोध है। संसारमें जन्म लेनेवाले प्राणीके लिये यह उचित है कि वह आनन्दपूर्वक समस्त द्रुःखोंका भोग करता हुआ भी उनमें अनासक्त रहे। इससे उसकी आत्मखरूपमें स्थिति निरन्तर बनी रहती है। उसे काम और क्रोधसे दूर रहना चाहिये; क्योंकि काम और क्रोधसे ही प्राणी अविद्या-अन्धकार और ममत्वके बन्धनसे आसक्त होनेपर आत्मविस्मरणका शिकार हो जाता है। जीवनको व्यर्थ नहीं जाने देना चाहिये। मनुष्यका यह कर्तव्य है कि वह जीवनकी सत्यतासे, कर्तव्य-पालनसे, विमुख न हो, अनासक्त भावसे जीवनके समस्त ऐश्वर्य-वैभवका भोग करता हुआ भी आत्मसंयममें रहे और मनपर नियन्त्रण रखें। यही गीताकी भाषामें—‘योगः कर्मसु कौशलम्’ कार्य वन्धनमें वच निकलनेका मार्ग और युक्ताहारविहार मय निर्द्वन्द्व सतुलित स्थितिरूप ‘समन्वयोऽहं’ है। यह समत्वयोग ही चरित्र-निर्माणका केन्द्रीय प्रकाशगृह है। इससे सद्गत अथवा आसक्तिका अपने-आप त्याग हो जाता है और जीवनमें निर्मलताका अमृत प्रवाहित होता है। यही योगस्य कार्यसम्पादन है, जिससे चरित्रनिर्माणमें सहायता छुलभ होती है। भगवान् कृष्णका कथन है—

५—ईश्वराणा वचः सत्य तथैवाचरित व्यचित् । तेषा यत् वक्त्रोऽयुक्तं बुद्धिमाल्यात् समाचरेत् ॥

(भीमद्वा० १० । ३३ । ४२)

योगस्थः कुरु वर्मणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय ।
सिद्धव्यसिद्धव्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥

× × ×

तस्माद् योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ॥
(गीता २ । ४८, ५०)

मनुष्य-जीवनकी साध्येकता यही है कि उसका उचित सन्तुपयोग हो, वह व्यर्थ और लिखल न चला जाय । जन्मसे लेकर मरण-पर्यन्त समरत संस्कारोंके द्वारा नाम्न छागने आने जीवनमें प्रस्तुत करते हुए धनासरज होने वाला परमात्माके ध्यान और स्वरूप-चिन्तनमें तथ्यर रहे । नाय-पथके सिद्धान्त-मार्गमें योगमावनागत पवित्र चरित्र-निर्माणका यही धनुष्ट फट है कि मनुष्य परमात्मपद—परमात्मस्वरूपमें प्रतिशिल द्वा जाय । इसारे भत्तमें पवित्र चरित्रके द्वारा नाय-स्वरूप धन्यवादित्वात्मकी प्राप्ति ही बक्ष्य है ।

नायद्योगमें चरित्र-निर्माणकी दिशमें अहिंसा, सत्य, धर्मत्व, अद्वार्द्य, दया, धृति, क्षमा, आज्ञाद, भित्ताहार और शौचस्वरूप दस यमोंका निर्देश है तथा इन यमोंके संयमनकी दिशमें साधक अथवा मनुष्यमात्रके लिये नप, संतोष, आस्तिक्य, ठान, ईश्वरपूजन, सिद्धान्त-वाक्यश्रवण, ही, मति, जप और हवन दस नियम आवश्यक हैं । नायद्योगके अप्रतिम साधनाग्रन्थ हठयोग-प्रदीपिकामें यम-नियमकी चरित्र-निर्माणके लिये स्थापना की गयी है—

अहिंसा सत्यमस्तेयं धृत्यचर्यं अस्मा धृतिः ।
श्चर्यार्जयं भित्ताहारः तौञ्जं चैव यमा दश ॥
नपः संतोषं आस्तिक्यं द्वानमीश्वरपूजनम् ।
स्यद्वान्तावाक्यश्रवणं हीयनी च जपो छुनम् ।
नियमा दश सम्प्रोक्ता योगशान्द्विज्ञारहैः ॥

(हठयोगप्रदीपिका १ । १७-१८)

ये दस यम-नियम योगके शेष हैं उपास्तोके पोषक हैं । आसनसिद्ध योगी अथवा साधक अथवा मनुष्य शीत-उष्णा, क्षुणिपासा और आलस्य-तन्द्रा आदि दृढ़ोपर

विजय पा लेता है । इवास-प्रश्वासकी गतियोंका विच्छेद ही प्रागायाम है । इसके द्वारा मनको स्थिर करनेकी शक्ति प्राप्त होती है और शरीरमें चंतन्यका प्रवाह अनवरत होता रहता है । सतर्कतापूर्वक मन और इन्द्रियोंको वाहा-विपर्योंके संरपर्शसे दूर रखकर आन्तभावमें उन्हें प्रशुष्ट रखना ही प्रत्याहार है । धारणा, ध्यान और स्मारकों धनेश्वरिव व्याय-आन्तर गिर्योंमें प्रशुष्ट करके निर्भिज प्रश्वासका लिंगियां कंठ उपलक्षियों प्रति की जाती हैं । किसी निश्चित वरतुपर ध्यानको केन्द्रित करनेकी प्रक्रियायों ‘धारणा’ कहते हैं । जब इन्हीं प्रकारको उच्छृङ्खल प्रवृत्तियोंसे मुक्त हो जाता है, तब धारणा ध्यानकी लिंगियों परिवर्तित हो जाती है । आनन्दी प्रगाढ़ स्थिति ही समाधि है । निःसंदेह योगके इस साधना-मार्गमें चरित्र-निर्माणकी प्रक्रियाकी नमूदः सिद्धि होती है ।

इसारे पुण्यश्लोक भारत-देशके मर्मांशियों, महर्षियों और विद्वानों तथा महायोगियोंने सारे विश्वके मानवोंको वेदविहित वर्णश्रमसम्मत आचार-विचारको जीवनमें उतारकर सार्वभौम श्रेयकी प्राप्तिकी सम्प्रेरणा प्रदान की है । गोरक्षमहायोगी गोरखनाथने अपने अनुभव-सिद्ध ‘सिद्धसिद्धान्तपद्धति’ नामक योगशास्त्रमें कहा है—
सदाचारनत्त्वे ग्राहणस्तिष्ठन्ति, शौर्यं क्षत्रिया,
व्यवस्थाये वै इयाः, सेवाभावे शूद्राण्य ।

(सिद्धसिद्धान्तपद्धति ३ । ६)

इसका आशय यह है कि सदाचार, शौर्य, व्यवस्थाय और सेवाभाव ही समप्र मानवके लिये सधर्म हैं जिनके द्वारा जीवनकी उन्नति होती है, चरित्रका निर्माण और विकास होता है । ब्राह्मणसे शूद्र अनुकूलमें किसी वर्णकी हीनता या विशेष प्रतिप्राका धोनन नहीं है, यह एक मानवीय क्रम है, जिसमें जो मनुष्य सदाचारी है, जो शौर्यमें लगता है, जो व्यवसायकर गण्डकी समृद्धि वृद्धाता है और अपनी मेशाके द्वारा मामाजिक श्रेयका

प्रतिपादन करता है, वही चरित्रवान् है। वही संस्कृत और शिष्ट है। मनुष्यमात्रमें वर्गीय अथवा जातीय भेदभावकी स्थापना तो निर्यक है, सार्थकता यह है कि सभी मनुष्य एक-दूसरेके आत्मसम्बन्धी है और सभीके हृदयमें परमात्मा और उसकी ज्योति प्रकाशित है। वास्तवमें यही कर्मयोग है, जिसमें सत्यकी पूर्ण प्रतिष्ठा है। कर्मयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग सब एक दूसरेसे सम्बद्ध हैं और इनमें सत्य-प्राप्तिकी प्रतिष्ठा है। महायोगी गोरखनाथजीने कहा है—

सत्यमेकमतं नित्यमनन्तं चाक्षमं ध्वनम्।
ज्ञात्वा यस्तु वदेद्वारः सत्यवादी स कथ्यते ॥
(सिंडसिद्धान्तपद्धति ६ । ६०)

जीवनके चरित्रमें सत्य ही अमृत है। इस सत्यसे ही चरित्र-निर्माणका तात्पर्य सम्पादित होता है।

यदिदं कि च तत्सत्यमित्याचक्षते ।
(तैतिरीयोपनिषद् २ । ६ । १)

• सत्य सर्वाश्रय है, परमात्मा अक्षय और सनातन है; यही चरित्र-निर्माणका सर्वोपरि शक्तिकेन्द्र है, जिससे जीवात्मा अमृतत्वमें प्रतिष्ठित होता है। सत्यप्राप्ति ही चरित्रकी गरिमा है।

श्रीसुमित्राम्बाका आदर्श चरित

(श्रीलक्ष्मण-किलाधीश स्वामी श्रीसीतारामशरणजी महाराज)

श्रीसुमित्राम्बा चक्रवर्ती महाराज श्रीदशरथकी द्वितीय राजमहिषी तथा शेषावतार श्रीलक्ष्मणकुमारकी वन्दनीया महामहिमामयी करुणामयी माता थीं। इनके अनुपम त्याग, तप एवं सेवाकी पवित्र सुरभिसे श्रीराम-कथा सुरभित हो रही है। जननी सुमित्राजीने ही भगवान् श्रीरामके दक्षिण वाहु एवं वहि: प्राणस्वरूप श्रीलक्ष्मणकुमारको प्रकट कर अपने मातृवक्तो सफल किया—

रामस्य दक्षिणो वाहुः वहि:प्राण इवापरः ॥
(वाल्मी० रामा०)

कहा भी है—

मुग्रधती शुद्धती जग सोई। रुषुपति भगवू जासु चुलु होई॥

श्रीमद्भागवतमें पायसवितरण-प्रसङ्गसे इनकी कथा शारभ होती है। श्रीवाल्मीकिरामायणमें, त्यष्ट है, कि अब महाराज दशरथने पुश्टेष्टि-यज्ञ किया, तथा दृश धज्ञकुण्डसे एक विशालकाय प्रक्षतामय पुरुष प्रकट हुआ। श्रीजापतिकी आज्ञासे सगागत प्राजापल्य पुरुषने देवनिर्मित पायस प्रदान किया तथा उसे यथायोग्य पत्नियोको प्रदान करनेको कहा। महाराजने देवान्से परिषूर्ण खण्णपात्रको

अपने सिरपर धारण किया तथा अन्तःपुरमें जाकर अपनी पत्नियोको वह पायस प्रदान किया। राजा दशरथने उस पायसका आधा भाग महारानी कौसल्याको दिया। पुनः अवशिष्ट आधे भागके उन्होने दो भाग किये। इनमेंसे एक भाग उन्होने महारानी सुमित्राको प्रदान किया तथा पुनः उस भागमेंसे एक भाग महारानी कैकेयीको दिया और अवशिष्ट अष्टमांश कुछ सोच-विचारकर चक्रवर्ती नरेशने पुनः सुमित्राजीको ही दे दिया—

कौसल्यायै नरपतिः पायसार्धं ददौ तथा ।
अर्धादर्धं ददौ चापि सुमित्रायै नराधिपः ॥
कैकेय्यै चावशिष्टार्धं ददौ पुनर्यकारणात् ।
प्रदद्यौ चावशिष्टार्धं पायसस्यासृतोपमम् ॥
अद्भुतिस्य द्विमित्रायै पुनरेव महामतिः ।
एवं तात्त्वं ददौ राज्ञ भार्याणां पायसं पृथक् ॥
(वा० रा० ६ । १६ । २७-२८)

श्रीरामचरितमानसको धायसवितरण-प्रसङ्गे वाल्मीकिरामायणसे कुछ पृथक् है। गोखामीजीने लिखा है कि महाराजने पायसका अर्वनामं श्रीकौसल्याजीको दिया। पुनः उन्होने अधैको दो भाग किये, जिसमेंसे प्रक्ष

क० दि० अ० ५—

श्रीकैकेयीजीको दिया, जो बचा उसके पुनः दो भाग हुए। श्रीकौसल्या एवं कैकेयीजीके हाथोंमें वह एक-एक भाग रखकर प्रसन्नमनसे वे दो भाग श्रीसुमित्राजीको दिये। वाल्मीकिरामायणके अनुसार श्रीकौसल्याजीके पश्चात् जो पायसका भाग श्रीसुमित्राम्बाको दिया गया, उससे श्रीलक्ष्मणकुमार प्रकट हुए, इसलिये वे श्रीरामानुगामी रामानुज कहलाये तथा श्रीकैकेयी महारानीके पश्चात् जो पायसका भाग प्रदान किया गया, उससे श्रीशत्रुघ्नकुमार प्रकट हुए। अतः वे भरतानुजके नामसे विद्यात् हुए। ‘अनुचिन्त्य सुमित्रायै’—इस पड़क्तिका यही अर्थ है कि श्रीलक्ष्मणकुमार रामानुज श्रीशत्रुघ्नकुमार भरतानुज होंगे, ऐसा सोचकर ही उन्होंने तदनुरूप पायसका वितरण किया था। सभी महारानियोंने पायसको प्राप्तकर स्वयंको सम्मानित अनुभव किया—‘सम्मानं मैनिरे सर्वाः।’ इससे स्पष्ट है कि पायसके विभाजन एवं विभाजित वितरणमें किसी रानीको कोई आपत्ति न हुई।

यहाँ श्रीमद्वाल्मीकिरामायणके सुप्रसिद्ध व्याख्याता श्रीगोविन्दराजका मत इस प्रकार है—‘श्रीराम-लक्ष्मण-भरत-शत्रुघ्नके श्रीविग्रह पायसके परिणाम थे। मानवोचित शुक्लशोणितके परिणाम नहीं; क्योंकि पायस प्राशन—(भक्षण-)के पश्चात् ही महारानियोंने गर्भधारण किये। महर्पिके स्पष्ट वचन हैं—‘गर्भान् प्रतिपेदिरेतदा।’ भगवान्-की मूर्ति प्राकृत नहीं होती। उनके श्रीविग्रह पञ्चभूतके विकार नहीं होते। पायस भी भगवान्-का षड्गुण-सम्पन्न श्रीविग्रह ही था। उसकी (गर्भकी) वृद्धि (पोषणादि) अन्न-जलादिसे नहीं हुई, किंतु भगवान्-के अपने सत्यसंकल्पके अनुसार ही हुई—

‘रामादिमूर्तयश्च पायसपरिणामाः, न तु शुक्लशोणितपरिणामाः, तत्प्राशनानन्तरं गर्भधारण-वचनात्, न तस्य प्राकृता मूर्तिः। न भूतसङ्गसंस्थानो देहोऽस्य परमात्मन इत्यादिस्मरणात्। पायसं च

भगवतः षड्गुण्यविग्रह पव तद्वृद्धिश्च
नान्नपानादिकृता, किंतु इच्छाकृतेत्यादिकं
सर्वमवधेयम्।’ (-भूषणटीका)

अथ लक्ष्मणशत्रुघ्नौ सुमित्राजनयत् सुतौ।
सर्वाश्वकुशलौ वीरौ विष्णोर्वर्धसमन्वितौ॥
(वा० ३०)

श्रीसुमित्राम्बाने श्रीलक्ष्मण एवं श्रीशत्रुघ्न इन दो पुत्रोंको प्रकट किया। ये दोनों अन्न-विद्याओंमें कुशल, धीर, वीर तथा साक्षात् भगवान् विष्णुके अर्धभागसे सम्पन्न थे। यहाँ अर्ध शब्द अंशमात्रका वाचक है। भूषणकारके अनुसार लक्ष्मण-शत्रुघ्न दोनों भ्राता क्रमशः पायसके चतुर्थ भाग एवं अष्टम भागसे प्रकट हुए। महर्पिं वाल्मीकि कहते हैं—श्रीरामभद्रको श्रीकौसल्याम्बाने लोककल्याणके लिये प्रकट किया—‘कौसल्या लोकभर्तारं सुपुत्रे यं मनस्त्विनीः।’ किंतु श्रीलक्ष्मणकुमारको माता सुमित्रानं केवल श्रीराम-सेवाके लिये ही प्रकट किया था—‘सृप्रस्त्वं वनवासाय।’

(वा० ३१)

चक्रवर्ती नरेश महाराज दशरथकी द्वितीय राजमहिपी होनेपर भी श्रीसुमित्राम्बा श्रीरामराज्याभियेकका समाचार सुनकर अपने करकमलोंसे मणिमय सुन्दर चौक पूर्णेका कार्य करती हैं, जो दासदासियोंद्वारा भी सम्पन्न हो सकता था। इससे स्पष्ट है कि इन्हें राजमहिपी होनेका किंचित् भी गर्व न था। निरमिमानिताकी मूर्ति श्रीमाता सुमित्राने—

‘चौके चारु सुमित्रा पूर्णि। मनिमय विभिन्न भौति अति रूर्णि॥

जिस प्रकार श्रीअववके राजकाजमें श्रीलक्ष्मणकुमारकी प्रधानता थी, उसी प्रकार राजमहलके अस्थलतकी व्यवस्था श्रीसुमित्राम्बाके अधीन थी। तभी तो जब श्रीरामभद्र राजमहलमें पधारते हैं तब श्रीसुमित्राम्बाका अवेषण करते हैं। गीतावलीमें श्रीकौसल्याम्बा कहती है—‘आज श्रीराम हँसकर यह नहीं पूछते कि श्रीसुमित्राम्बा कहाँ हैं।’

बूझी हौं न विहँसि मेरे रघुवर 'कहाँ री ! सुमित्रा माता ?' ।
(गीतावली २ । ५१)

इससे अन्तःपुरमें श्रीसुमित्राम्बाकी प्रधानता सूचित होती है । सेवकोंपर श्रीलक्ष्मणकुमारका वर्चस्व था । अतएव माता श्रीकैकेयी मंथरासे कहती है कि ऐसा प्रतीत होता है कि लक्ष्मणकुमारने तुम्हे दण्ड दिया है— हँसि कह रानि गाल बड़े तोरे । दीन्ह लखन सिख अस मन मोरे ॥

श्रीसुमित्राम्बाके त्यागमय आदर्श चरित्रकी पराकाण्ठाका दर्शन तब होता है, जब उन्होने—‘लालन जोग लखन लघु लोने—लाडिले कुमार श्रीलक्ष्मणकुमारको प्रभुके साथ वन जानेकी सहर्प आज्ञा दी । प्रभुने श्रीलक्ष्मण-कुमारसे कहा कि वनगमनके लिये मातासे आज्ञा लेकर शीघ्र आओ । श्रीलक्ष्मणकुमार माताके चरणोंमें प्रणाम कर समस्त वृत्तान्त सुना देते हैं—

जाइ जननि पग नायउ माथा । मन रघुनंदन जानकि साथा ॥
पूँछ मातु मलिन मन देखी । लखन कही सब कथा बिसेखी ॥

श्रीसुमित्राम्बाने धैर्य धारण कर मधुर वाणीसे श्रीलक्ष्मणकुमारको जो उपदेश दिया है, वह मननीय है । माता कहती हैं—

तात तुम्हारि मातु बैदेही । पिता राम सब भोति सनेही ॥ अवध तहाँ जहूं राम निवासू । तहँइ दिवस जहूं भानु प्रकासू ॥

महर्षि वाल्मीकिने भी श्रीसुमित्राम्बाका यह उपदेश समादरके साथ लिखा है—

रामं दशरथं विद्धि मां विद्धि जनकात्मजाम् ।
अयोध्यामर्द्धां विद्धि गच्छ तात यथासुखम् ॥
(वाल्मी० रामा० २ । ३३)

वे श्रीलक्ष्मणकुमारका ही नहीं, अपना भी सौभाय समझती हैं कि उनका पुत्र श्रीरामकी निष्काम सेवामें दत्तचित है—

भूरि भाग भाजन भयहु मोहि समेत बलि जाँ ।
जौ तुम्हरे मन छोड़ि छल कीन्ह राम पद डाँ ॥

श्रीसुमित्राम्बाका यह उपदेश कि—

पुत्रवती जुबती जग सोई । रघुपति भगत जासु सुतु होई ॥ नतरु बाँझ भलि चाटि विभानी । राम विमुख सुत तें हित जानी ॥ तुम्हरेहिं भाग राम बन जाही । दूसर वेतु तात कथु नाहीं ॥ सकल सुकृत कर बड़े फल पट्टू । राम सीय पद सहज सनेहू॥

—नारीमात्रके लिये प्रेरणादायक है । वास्तवमें भक्त पुत्र प्राप्तकर ही माता धन्य होती है । महापुरुषोंने रामवनगमनके अनेक कारण प्रस्तुत किये हैं, जिनमें साधुपरित्राण मुख्य है तथा असुरविनाश गौण है । इन दो कारणोंके अतिरिक्त श्रीनिपादराज, श्रीशवरीजी, श्रीसुग्रीव, विभीषणादि भक्तोंपर प्रभुकी कृपा तथा ऋषि-मुनियोंके आश्रममें जा-जाकर सुख प्रदान करना भी है—

सकल सुनिन्ह के आश्रमन्ह जाइ जाइ सुख दीन्ह ।

किंतु माता सुमित्राको इन कारणोंसे पृथक् कारण दिखायी दे रहा है, अतः वे कहती है—‘तुम्हारे कारणसे ही प्रभु वनमें जा रहे हैं, दूसरा कोई हेतु नहीं है ।’ जब श्रीअवधमें प्रभु रहते थे, तब उनकी सेवामें अनेक भक्त एवं सेवकगण तत्पर रहते थे, अतः सम्पूर्ण सेवा श्रीलक्ष्मणकुमारको कैसे प्राप्त हो सकती थी ? वाल्मीकिरामायणमें श्रीदशरथजी कहते हैं—‘जिनके भोजनके समय कुण्डलधारी रसोइयागण ‘मैं पहले बनाऊँगा, मैं पहले’, इस प्रकार परस्परमें विवाद करते थे—

यस्य चाहारसमये स्थाः कुण्डलधारिणः ।

अहंपूर्वाः पचन्ति स्त्र प्रसन्नाः पानभोजनम् ॥

(वा० रा० २ । १२ । ९६)

—पर वनमें तुम्हें यह अवसर प्राप्त हो गया ।

पूर्वाचार्योंने श्रीसुमित्राम्बाको आचार्यके रूपमें भी स्मरण किया है । यथापि श्रीलक्ष्मणका प्रभुपादारविद्में सहज स्नेह या किंतु आचार्य-स्वरूपा श्रीसुमित्राम्बाके उपदेशद्वारा उनकी प्रभु-प्रदीपति और दृढ़ की गंगी । यह वैदिक परम्पराका प्रामाणिक उदाहरण है । श्रुति कहती है—‘आचार्यधान् पुरुषो वेद ।’ ‘प्राप्य वरान् निवोधत’ आचार्योंके समीप जाकर ही तस्वज्ञान

प्राप्त करना चाहिये। 'तद्विद्वि प्रणिपानेन' से गीता भी इसी वातका प्रतिपादन करती है। आचार्यका उपदेश जो श्रीलक्ष्मणकुमारको प्राप्त हुआ है, वह अत्यन्त ही मनन करने योग्य है। माता कहती है—

रागु रोयु इरिया मदु भोदू । जनि सपनेहुँ इन्ह के चम होदू ॥
सकल प्रकार विकार विहार्दू । भन क्रम वचन करेहु सेवकार्दू ॥

यहाँ श्रीसुमित्राम्बाका उपदेश ध्यान देने योग्य है। वे कहती है—राग-रोप, ईर्ष्या, मठ, मोह आदि विकारोंके वशमें स्वप्नमें भी नहीं होना चाहिये। जाग्रत्-अवस्थाकी तो वात ही क्या है? जिस प्रकार श्रीसीतारामजीको वनमें सुख हो, वही सेवा तुम करना। यह माताका श्रीलक्ष्मणकुमारके लिये उपदेश है। साथ ही माता, पिता, परिवार तथा अवधके आनन्दकी स्मृति भी प्रभुको न आये, ऐसी सेवाका भी वे उपदेश दे रही हैं—

उपदेसु यहु जेहिं तात तुम्हरे राम सिय सुख पावहीं ।
पितु मातु प्रिय परिवार पुर सुख सुरति चन विसरावहीं ॥
तुलसी प्रभुहि सिख देह आयसु दीन्ह पुनि आमिष दर्द ।
रति होउ अविरल अमल सिय रघुवीर पद नित नहीं ॥

माताने श्रीलक्ष्मणकुमारको वन जानेकी आज्ञा तथा प्रभुकी सेवा करनेकी शिक्षा दी एवं श्रीसीतारामजी-के श्रीचरणोंमें नित्य-नवीन प्रीति हो, ऐसा आशीर्वाद भी दिया। श्रीमद्वाल्मीकिरामायणमें श्रीसुमित्राम्बानं वनगमनके समय श्रीलक्ष्मणकुमारको प्रणाम करते देखकर उनका मस्तक सूँघा एवं कहा—‘तुम अपने परम छुहूदू श्रीराघवेन्द्रके परम अनुरागी हो। विधाताने तुम्हारी सृष्टि वनवासके लिये ही की है अथवा मैंने तुमको सनाधासके लिये ही प्रकट किया है। अपने अपेक्षा धाता-की कशमें विद्वरण करते समय उनकी संषर्णी प्रकाश झरने करोगा—’

‘बृष्टस्त्वं वनवासाय स्वनुरेकः लुहंजारे ।
शये भगाद्य या कार्यः पुत्र भ्रातरि गच्छति ॥

(वाल्मी० ८०)

‘भ्रातरि गच्छति’का तात्पर्य है कि श्रीजनकलनिर्दिनी-के साथ जब प्रभु वनधी शोभाका अवलोकन करने हुए चलेंगे, तब उनके गमनवत्तिका संगमर्थमें आगृष्ट होकर उनकी रक्षामें असावधान नहीं होना। प्रभु नकटमें ही अथवा समृद्धिमें, वे ही एकमात्र तुम्हारी गति हैं। संनामें सत्पुरुषोंका यही वर्ष है कि नदा अमने उपर्युक्त भ्राताकी आज्ञाके अर्थान रहे। इस कुलका मनातन धर्म यही है—दान देना, यज्ञमें दीपित देना और युद्धमें शरीर-परित्याग करना। श्रीलक्ष्मणकुमारने ऐसा कलकर सुमित्राम्बानं ‘पुत्र! जाओ-जाओ’ इस प्रकार वारंवार उन्हें श्रीव्रत जानेकी प्रेरणा दी। अन्तमें श्रीसुमित्रजीके अहूत त्यागवा प्राक्त्रय उस समय होता है, जब श्रीहनुमान् त्रीके द्वारा श्रीलक्ष्मणकुमारी का समाचार प्राप्त होता है। गीतावलीमें गोक्षामीजीने इस प्रसङ्गका वर्णन करते हुए करुणाकी धारा प्रवाहित कर डाली है—

‘सुनि रन धायल लपन परे हैं ।

स्वामिकाज मंप्राम सुभट्ठों लोहे ललकारि लरे हैं ॥
सुवन-न्यांक, मंतोय सुमित्रहि, रघुपति-भगति चरे हैं ।
छिन छिन गात सुखात, छिनहि छिन हुल्लकत हात हरे हैं ॥
कपिसों कहति सुभाय, अंगके अंगर अंगु भरे हैं ।
रघुनंदन विनु बंधु कुअवसर, जद्यपि बनु दुसरे हैं ॥
‘तात! जाहु कपि सैंग,’ रघुसूदन उठि कर जोरि सरे हैं ।
प्रसुदित पुलकि पैत पूरे जनु विधिस सुवर ढरे हैं ॥
अंद-न्युजगति लखि पवनज-भरतादि गलानि गरे हैं ।
तुलसी सब सुझाइ भातु तेहि समय सचेत करे हैं ॥

(गीतावली ६। १३)

उत्र श्रीलक्ष्मणकुमारके दुद्धमें धायल द्वेनेका समाचार धूनकर भाता द्विभावा धपने सानी श्रीरामके कार्यमें छुभट मैवनादसे दुद्धमें ललकारकर धाण एवं शक्किले दृढ़नेयले धायल पुत्रके लिये शोकाभिभूत हो रठी; किंतु साथ ही इस वातसे वे संतुष्ट भी हो जाती हैं कि मेरा पुत्र श्रीरघुनाथजीकी भक्तिको अद्वीकार किये हुए

है। उनका शरीर पुत्रशोकसे क्षण-क्षणमें सूखता है और फिर वह वाव श्रीरामकी भक्तिमें हुआ है, यह विचारकर क्षण-क्षणमें उल्लसित होता है तथा उनके शरीरके सम्पूर्ण अङ्ग हरेभरे हो जाते हैं। श्रीसुमित्राम्बाके नेत्र अश्रुजलसे पूरित हैं। वे स्वभावसे ही श्रीहनुमान्‌जीसे कहती हैं कि रघुकुलके आनन्दवर्धन श्रीराम इस कुञ्जवसरमें बिना भाईके हो गये हैं। पुनः मनमें सोचती हैं कि मेरे पास एक धन (सम्पत्ति) रूप दूसरे पुत्र श्रीशत्रुघ्न भी हैं (अतः श्रीराम भ्रातारहित कैसे हुए ?) ऐसा सोचकर समीपमें बैठे हुए शत्रुघ्नकुमारसे कहती हैं—‘तात ! तुम वानरराज श्रीहनुमान्‌जीके साथ जाओ। यह सुनकर श्रीशत्रुघ्नजी हाथ जोड़कर खड़े हो गये। वे शरीरसे पुलकित होकर ऐसे प्रसन्न हैं, मानो विधाताके किये हुए संयोगसे (उनके) पासे पूरे दौँवपर सुन्दर ढारसे ढेरहैं अर्थात् पूरे-पूरे दौँव पड़ गये हैं। माता सुमित्रा और छोटे भाई श्रीशत्रुघ्नकी यह दशा देखकर श्रीपवनकुमार और श्रीभरत आदि ग्लनिमें गले जाते हैं। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि उस समय माता श्रीसुमित्राजीको सभीने समझाकर सचेत किया। ऐसा था श्रीसुमित्राम्बाका धैर्य एवं अगाध श्रीरामभक्ति।

चारों भ्राताओंके सुन्दर सलोने नन्हें शिशुरूपको देखकर श्रीसुमित्राम्बा प्रेमसे पुलकित हो जाती थीं तथा सब शिशुओंको हृदयसे लगाकर कहतीं कि तुम चारों मैया कव अपने पैरोंसे चलोगे—

परानि कव चलिहौ चारौ मैया ?

प्रेम-पुलकि, उर लाइ सुवन सब, कहति सुमित्रा मैया ॥

(गीतावली १ । ९)

वात्सल्य-प्रेमसे ओतप्रोत जैसा माता सुमित्राका कोमल हृदय था वैसा ही उनका लोकोत्तर वैद्वत्य भी था। उनकी प्रखर एवं प्रतिभासम्भन्न बुद्धिका दर्शन श्रीराम-वनगमनके पश्चात् होता है। वाल्मीकिरामायणमें महर्षि

वाल्मीकिने स्पष्ट किया कि जब महारानी कौसल्या प्रसुके वियोगमें पुत्रशोकसे विहळ हो विलाप करने लगीं, तब धर्मपरायणा देवी सुमित्राने धर्मयुक्त वचनोद्घारा महारानी कौसल्याको आश्चासन दिया—

विलपन्ती तथा तां तु कौसल्यां प्रमदोत्तमाम् ।

इयं धर्मे स्थिता धर्म्ये सुमित्रा वाऽस्यमवर्वीत् ॥

(वाल्मी० रा० २ । ४२)

श्रीसुमित्राम्बा बोलीं—श्रीराम धर्ममें स्थित हैं, पिताको सत्यवादी बनानेके लिये ही वे बनमें गये हैं। निष्पाप लक्षण भी समस्त प्राणियोंके प्रति दयावान् हैं तथा श्रीरामके प्रति सदा उत्तम व्यवहार करते हैं, अतः लक्षणकुमारके लिये भी यह लाभप्रद अवसर है। विदेहनन्दिनी सीता भी उचित विचारका आश्रय लेकर तुम्हारे धर्मात्मा पुत्रका अनुसरण कर रही हैं। श्रीरामकी भगवत्ता प्रकट करते हुए देवी सुमित्राने पुनः कहा—‘श्रीरामके पवित्र और उत्तम माहात्म्यको जानकर निश्चय ही सूर्य उन्हे अपनी किरणोद्घारा संतप्त नहीं करेंगे। सुखद मङ्गलमय वायु उनकी सेवा करेगी। रात्रिमें शीतल चन्द्रमा सोये हुए श्रीरामका अपने किरणरूपी करोंसे आलिङ्गन और सर्पा कर उन्हें आहाद प्रदान करेंगे, रघुनन्दन श्रीराम अतुल बलशाली हैं। देवि ! श्रीराम सूर्यके भी सूर्य (प्रकाशक) और अग्निके भी अग्नि, प्रसुके प्रसु, लक्ष्मीके लक्ष्मी एवं क्षमाके भी क्षमा हैं। वे देवताओंके भी देवता, भूतोंके भी उत्तम भूत हैं। वे बनमें रहें या नगरमें, उनके लिये कौन-से चराचर प्राणी क्षेशावह हो सकते हैं’—

सूर्यस्यापि भवेत् सूर्यो ह्यग्नेरसिनः प्रभोः प्रसुः ।

श्रियाः श्रीश्च भवेद्द्यया कोत्याः कीर्तिः क्षमाक्षमा ॥

दैवतं देवतानां च भूतानां भूतसत्त्वमः ।

तस्य के ह्यगुणा देवि बने वाप्यथवा पुरे ॥

(वाल्मीकिरामा० २ । ४६)

जिन अपराजित नित्यविजयी वीरके पीछे-पीछे सीताके रूपमें साक्षात् लक्ष्मी हो गयी हैं, उनके लिये विश्वमें या दुर्लभ हो सकता है—‘सीतेवानुगता लक्ष्मीस्तस्य किं नाम दुर्लभम्।’ तुम शीत्र ही बनवासकी अवधि पूर्ण होनेपर यहाँ आये हुए अपने सुन्दर पुत्रको देखोगी, अतः शोक और मोहका परिणाम कर दो—‘जहि शोकं च मोहं च देवि सत्यं ब्रवीमि ते’। शोक शरीरमें ही विर्लान हो गया—जैसे शरद् ऋतुका योंड जलवाया बादल शीत्र ही छिन्न-मिन्न हो जाता है।

परम विद्युषी तत्त्वज्ञा श्रीसुमित्राजी स्वयं भी अमृत्यु-रहित स्नेहमर्या गजरानी हैं। अपनी सपनी महारानी कौसल्याके प्रति उनका भगिनी-न्दृश्य स्नेह है, इसलिये कवितावर्द्धमें वे श्रीकौसल्याजीके प्रति ‘जीजी’ शब्दका प्रयोगकर उन्हें आश्वस्त करती हैं—

झीजै कहा, जीजी जू ! सुमित्रा परि पायै कहै,
चुलसी महावै लिघि मोहं सहियतु है.....
(कविता०)

इस प्रकार अयोध्यानरेशकी द्वितीय राजमहिपी श्रीसुमित्राजी अनेक उत्तम गुणोंसे समलूप हैं। उनका उदात्त आदर्श चरित्र आज भी अव्यात्म-जगत् एवं व्यवहारमें नारीमात्रके लिये अनुकरणीय है। अतः इस आवृत्तिक परिवेशमें मणित लियोंको भी सुमित्राम्बाका धैर्य, त्याग, स्नेह एवं तपोमय जीवन युग-युगानन्तक पथ-ग्रदर्शन करता हुआ अपने आभासय प्रकाशपुञ्जस्य गुणसमूहोंसे आलोकित करता रहेगा—ऐसा हमारा इड विश्वास है।

सुमित्रि सुमित्रा नाम जग, जे तिय लेहिं सुनेम।
सुवन लज्जन रिपुद्रवन से, पावहि पति पद् प्रेम॥
(रामान्नाप्रधन ३।२)

चरित्र-निर्माणकी आवश्यकता और उसके मूल तत्व

(योगिराज अनन्तश्री देवरहवा दावाके उपदेश)

वर्तमान समयमें समाजकी दशा देखते हुए यह कहना पड़ता है कि मनुष्यमें मानवताके गुण न रहकर दानवताके दूर्युग बढ़ते जा रहे हैं। सज्जनोंकी संख्या बढ़ती जा रही है और धर्मकी कर्मोंके कारण दुर्जनोंकी संख्याकी बढ़ि हो रही है।

किसी भी शहर या गाँवको छीजिये और वहाँके निवासियोंकी गगना गुणोंके अनुसार करवाइये तो आपको यही मानना पड़ेगा कि धर्मकी जगह अर्थम्, सज्जनकी जगह दुर्जन अविक मात्रामें हैं। हर जगह उनके अमानुषिक कर्म हो रहे हैं।

आये दिन धर्मके नामपर द्वान्ति-व्यवस्था विगड़ जाती है। उसका एकमात्र कारण होता है कि लोगोंके अंदर मध्यी धर्म-भावना न है। उनके अंदर अहिंसादि सच्चे धर्मका प्रभाव नहीं होता है। राष्ट्रिय

सांस्कृतिक चेतना एवं वात्सविक धार्मिक भावना भी उनमें नहीं रहती है। इससे राष्ट्र-चरित्र गिरता जा रहा है। इससे देशकी व्यवस्थामें भारी गड़वड़ी आती जा रही है। यह बात चिन्तनीय है।

हमें जहाँ अपने सभी कर्मोंमि धर्मको अपने आगे रखना चाहिये वहाँ हमलोगोंने उसे पीछे कर दिया है। धर्मका कोई भी विचार हम नहीं रखते। शाक्खकारोंने कहा है कि यदि हमारे सभी कार्य धर्मसे सम्बद्ध हों तो वे ही सदाचार हो जाते हैं और यदि हमारे कार्य धर्मसे विस्तृत हों तो वे सभी दुगचार या कदाचार हो जाने हैं। यही क्यों? यहाँतक कहा गया है कि धर्मसे हीन मनुष्य पशुके समान हैं—‘धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः।’ धर्म ही मानवका विशिष्ट गुण है।

धर्मके पालन न करनेसे महान् हानि होती है और धर्मके पालन करनेसे रक्षा होती है। अतएव हमें धर्मको किसी प्रकार छोड़ना न चाहिये; अन्यथा विनाशका भय है।

इस प्रकार सदाचार ही चरित्र-निर्माण है।—‘आचाररहीनं न पुनर्न्ति वेदाः’—आचारहीन व्यक्तिको वेद भी शुद्ध नहीं कर सकते। अतएव सदाचारकी विशेष महत्ता हमारे शास्त्रकारोने बतलायी है। अपने शास्त्रोने महान् व्यक्तियोके आचरण देखकर चलनेका उपदेश दिया है।

धर्मका भव्य भवन धर्मकी आधार-शिलापर टिका हुआ है। मन, वाणी और कर्ममें जो-जो दिव्य कर्म हैं या होते हैं, उन्हींसे धर्मका कार्य पूरा होता है। ईश्वरीय नियमोंका पालन, सदाचारके नियमोंका अनुष्ठान, सामाजिक शुभ व्यवहार—ये सब दिव्य कर्म हैं, जिनसे धर्म ऊपर उठता है और इसी कार्यको सरल और सुलभ करनेके लिये शास्त्रकारोने मार्ग बतलाये हैं, जिन्हें मनुष्यमात्रको आचरित करना चाहिये और अपने-अपने चरित्रमें उन्हे उतारकर अपने जीवनको सुखी-समृद्ध बनाना चाहिये।

चरित्र-निर्माणकी इच्छावाले व्यक्तिको कष्टमें धैर्य, व्यवहारमें क्षमा चाहिये। मनको विषयोकी तरफ जानेसे रोकना चाहिये, अस्तेय माने अन्यायसे किसीका धन हड्डपना नहीं चाहिये, मिट्टी और जलसे अपना शरीर शुद्ध करना चाहिये। विषयोंकी तरफ जानेसे नेत्रोंको रोकना चाहिये। शास्त्रका ज्ञान, यथार्थ कहना और सत्य बोलना तथा क्रोध न करना चाहिये। ये ही दस लक्षण धर्मके बतलाये गये हैं, जो परस्पर व्यवहारमें सदाचारके मूल सोपान हैं। ऐसा जो आचरण करता है, वही विद्वान् है। उसकी जो भी प्रशंसा की जाय, वह थोड़ी है। सभी शास्त्र और पुराणोंका यही विधान है। इसीसे व्यष्टि एवं समष्टिकी उन्नति होगी।

सारांश यह है कि जिसका आचरण श्रेष्ठ होता है, वही श्रेष्ठ पुरुष गिना जाता है। गीतामें स्वयं भगवान् कृष्णने कहा है कि उसीके अनुसार लोक भी चलता है—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनु वर्तते ॥

अतएव श्रेष्ठ बनो और अपने आचरणको दूसरोंके लिये प्रमाण कर दो।

(प्रेषक—श्रीरामकृष्णप्रसादजी एडवोकेट)

श्रीरामचन्द्रके चरित्रमें संयमका योगदान

(लेखक—पूज्यपाद श्रीरामचन्द्रजी डॉगरेजी महाराज)

श्रीरामचन्द्रजीके पाँच व्रत हैं। वे हैं—एकवचनी होना, साथ ही एकदान, एकवाण, एकस्थापन और एकव्रतका पालन।^१ आपने जिस तरह एकवाणी, व्रतका पालन किया—एक बार ही सुप्रीतादिकी स्थापना की, उसी प्रकार एकपल्नी व्रतका भी सम्पूर्ण पालन किया है। शास्त्रोंमें एकपल्नीव्रतकी बड़ी महिमा है। जिन स्त्री-पुरुषोंका देव, ब्रह्मण और अग्निको साक्षीमें रखकर विवाह हुआ हो,

उन्हीं पति-पत्नीका परस्पर दाम्पत्य भाव रखकर धार्मिक मर्यादाका पालना गर्हस्थ्य है। अन्य सब स्त्री-पुरुषोंको जो निष्कामभावसे या सीतारामजीकी भावनासे या भगवद्गावसे देखता है, वह गृहस्थ होता हुआ भी साधु और सच्चित्रि है। वह ब्रह्मचारी और सदाचारी भी है। विगड़े हुए मनको एक खेटेसे वौधनेके लिये विवाह होता है। विवाह कामका विनाश करनेके लिये है, विलासभावके

* द्वितीयोनामिसधते द्विःस्थापयति नाश्रयान्। द्विर्ददाति न चार्थिम्यो रामो द्विनाभिभावते ॥ (महानाटक०)

छिये नहीं। वह धर्म्यकृत्य ही इस कामभावको एक जगह केन्द्रित कर कामका विनाश करता है। यही भारतीय विवाहका प्रयोजन है। इसीसे हमारी संस्कृतिमें विवाहको धार्मिक संस्कार और पत्नीको 'धर्मपत्नी' कहा गया है।

गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीका चरित्र प्रसिद्ध है। वे पत्नीमें विशेष आसक्त थे। जगत्की अन्य सब लियोंको वे मातृभावसे देखते थे। उनका मन पवित्र था, अतः उनके पत्नीप्रेमकी निष्ठा आगे चलकर साधनाकी निष्ठामें परिणत हुई। एक दिन पत्नीको मैंके यहाँसे बुलावा आया। पत्नी पीहर चली गयी। महाराज घर आये तो खबर मिली कि पत्नी पीहर गयी है। उनसे पत्नीका वियोग सहन नहीं हुआ। वे उससे मिलनेके लिये मध्यात्रिमें ससुराल जा पहुँचे। चौमासे-(वर्षाचतुर्तु) की भयंकर रात्रि थी। नदीमें बाढ़ आ गयी थी। तुलसीदासने शब्दको लकड़ी समझकर उसे पकड़कर नदी पार किया। श्वशुरके मकानके पास आये। मकानमें प्रवेश करनेके लिये पेड़के ऊपर चढ़े। लटकने सर्पको ढोरी समझ बैठे। उसके आधारसे मकानमें प्रवेश किया। देवान्तमें रुजुरसर्पका दृष्टान्त बहुत प्रसिद्ध है। अन्वकारमें—अज्ञानमें मनुष्य ढोरीको मर्य समझ बैठता है। मिथ्याको सत्य समझ लेता है। यहाँ तो अतिशय आसक्तिमें तुलसीदासजीको सर्पमें ढोरी दिखी। तुलसीदास बहुत कष्ट सहन कर, संकट काटकर पत्नीके पास पहुँचे। उसे दड़ा आश्र्य हुआ। उसने चेतावनी दी— हाड़ मौस की देह मम तामैं जैसी प्रीति। तिसु आधी जो नम प्रति अवसि मिट्ठि भवभीति ॥

'इस शरीरमें क्या सुन्दर है? शरीर तो हाड़-मौसका लोथड़ा है। इस शरीरसे मिलनेके लिये आपने इतना कष्ट उठाया। उतनी आसक्ति मुश्में? इससे इसकी आधी रामजीमें रखते तो आपका कल्याण हो जाता।' तुलसीदासजीको ज्ञान हुआ। जितनी आसक्ति पत्नीमें थी, उतनी प्रभुमें हो गयी।

मनपर कुटीव पड़ी हुई है। छुन्दर वस्तु दैनंदिन ही यह उसके पीछे दौड़ता है, उसका चिन्तन करता है। अनेक बार मन ऐसा समझता है कि मैं जिसका चिन्तन करता हूँ, वह वरतु मुझे मिल नहीं सकेगी। पर मग उसका चिन्तन करता है—पाप करता है। सनातन-धर्मकी यह मर्यादा है कि पुरुष विना कारण किसी द्वीपी ओर देखे नहीं; और द्वीपी भी पुरुषको न देखे। आँखेसे भले ही कोई दीख पड़े परंतु मनसे किसीको नहीं देखना चाहिये। द्वीपुरुषका चिन्तन करे, पुरुष परसीका स्मरण करे—यह व्यभिचार-जैसा ही पाप है। उसका विहित दण्ड मिलता है। कुछ लोग समझते हैं कि शरीरसे नाप करनेपर ही सजा मिलती है, मनसे पाप करे उसकी सजा नहीं मिलती। कारण कि मनके पाप कोई देख नहीं सकता। पर यह ममझ न्योटी है। मनसे किये हुए पापकी भी सजा होती है। सर्वशक्तिमान् ईश्वर सबको देख रहा है। यद्य तो शरीरको भी जानता है और मनको भी जानता है। मनसे किये पापकी खबर जगत्को भले ही न मिले, परंतु ईश्वरको अवश्य मिल जाती है। तनके और मनके पापोंको देखनेवाला और उसकी सजा देनेवाला ईश्वर बैठा है। चान्द्रियमें शरीर और मन दोनोंसे हुए पवित्र कार्य ही सहायक होते हैं।

श्रीरामजी सदाचार-संयमकी मूर्ति हैं। संयम कैसा होना चाहिये, श्रीरामजीने अपने चरित्रसे जगत्की शिक्षा दी—'मर्त्यवतारस्त्विह मर्त्यशिक्षणम्' (श्रीमद्भा०)। आँखका संयम, जीभका संयम, कानका संयम—सब इन्द्रियोंका संयम पालन करके रामजीने बताया है। मनुष्यको सम्पत्ति थोड़ा सुख देती है, परंतु इन्द्रियोंका संयम बहुत सुख देता है। चरित्रिका आवार संयम है।

इन्द्रियों तो नौकर हैं। इन नौकरोंके अधीन होना ठीक नहीं! आप जहाँ जाते हैं, वहाँ नौकर आता है वयस्वा नौकर जहाँ जाता है वहाँ आप! इन्द्रियोंके

अधीन होनेसे इन्द्रियाँ शत्रु सिद्ध होंगी—परंतु इन्द्रियाँ अधीन रहेंगी तो वे मित्र वनी रहेंगी। रामजी कभी किसी खीको आँख उँची कर नहीं देखते थे—

रामचन्द्रः परान् दारान् चक्षुषा नाभिवीक्षते ।
(बा० रा०)

रामचन्द्रजीका आँखका संयम अधिक था।

आँखोंमें बहुत शक्ति होती है। पर उस शक्तिका दुरुपयोग ही पाप तथा सदुपयोग ही पुण्य है। मानवकी इन्द्रियोंमें प्रसुने बहुत शक्ति दी है, परंतु मनुष्य उसका दुरुपयोग करता है। सनातनधर्मकी मर्यादा है कि पुरुष पर-खीको और ली पर-पुरुषको आँख उठाकर न देखे। आँखसे देखी वात मनमें आती है। वह चित्र मनमें बस जाता है। आँखें बंद रहें तो व्यवहार चलेगा नहीं। अतः दृष्टि शुद्ध करनी चाहिये। दृष्टि दो प्रकारकी है—सापेक्षात्मक और उपेक्षात्मक। कहीं रात्में पड़ा हुआ कचड़ा दिखायी देता है; उस कचड़ेको ऊपर नजर तो गयी होगी, परंतु कचड़ेको सभी उपेक्षाभावसे देखते हैं। इस जगत्को महापुरुष ऐसे ही उपेक्षाभावसे देखते हैं; सन्तजन अपेक्षात्मक दृष्टि केवल ईश्वरमें रखते हैं। किसी खी अथवा पुरुषको आप अपेक्षाभावसे देखेंगे कि वह बहुत सुन्दर है, इससे सुख मिलेगा तो इससे आपका मन बिंदेगा। कोई खी सुन्दर नहीं, कोई पुरुष सुन्दर नहीं, सुन्दर तो श्रीराम हैं। जगत् कदाचित् सुन्दर हो सके, परंतु जगत्का सौन्दर्य बहुत टिक्कता नहीं। छल सुन्दर दीखता है। वह दो-चार घटे बाद कुम्हला जाता है। फिर क्या वह पूर्ववत् सुन्दर लगता है? छल जैसे कुम्हलाता है उसी तरह जगत् कुम्हलाता है। जगत्में केवल एक श्रीराम नहीं कुम्हलाते। देखिये—

प्रसन्नतां या न गताभिषेकत्-

स्तथा न मम्ले वरवासदुखतः।

सुखामुजश्च रघुनन्दनस्य मे
सदास्तु सा मञ्जुलमङ्गलप्रदा ॥

रामजीको कहा गया था कि आनेवाले कालमें आपका राज्याभिपेक होना है। यह सुनकर रामजी प्रसन्न नहीं हुए और राज्याभिपेकके मुहूर्तमें वनमें गये तो तनिक भी उदास न हुए।

छोटी-छोटी बातोंमें मुखकी कान्ति कुम्हला जाती है। रामजीसे कहा गया कि आपको कल पृथ्वीका राजा बनना है। वैसा सुनकर रामजीकी मुखश्श्रीमें वृद्धि नहीं हुई और राज्याभिपेकके मुहूर्तमें जब वनवास मिला, तब उसकी मुखश्श्री कुम्हलाई नहीं।

श्रीरामजी सुन्दर हैं। उनका सौन्दर्य स्थायी है; जगत् नहीं। कदाचित् यह सुन्दर दीखे भी तो वह स्थिर रहनेवाला नहीं। रामजी किसीपर दृष्टि नहीं डालते। कदाचित् किसी खीपर नजर जाय तो रामजी उसमें मातृभाव रखते हैं अर्थात् वह हमारी माता है। प्रत्येक खीको जो मातृभावसे देखता है वह रामजीको सुहाता है। जगत्के खी-पुरुषोंको कामभावसे देखनेवाला ईश्वरको तनिक भी नहीं सुहाता। वह चरित्रशील नहीं हो सकता।

परमात्माने आँख तो सबको समानस्वप्नसे ही ही है। धन देनेमें कदाचित् विमता की हो, पर गरीब-श्रीमन्त—सबको प्रसुने आँख तो एक समान ही दी है। भक्तिमें आँख मुख्य है। पापका आरम्भ आँखसे ही होता है और भक्तिका आरम्भ भी ओंखसे ही होता है। परमात्मा सुन्दर हैं, ऐसा जिसको विद्यास हो गया है, वह भक्ति करता है और संसार सुन्दर है, ऐसा जो समझता है, वह पाप करता है। जगत् खाराव नहीं, परतु वह बहुत सुन्दर भी नहीं। श्रीरामचन्द्रजी किसी-पर भी दृष्टि नहीं डालते, विना काण विसीको नहीं देखते थे। रामजी प्रत्येक खीमें मातृ-भाव रखते

हैं। यही तो उनकी मर्यादा थी और इसीसे वे पुरुषोत्तम ही सके।

रामजी इतने अधिक शुद्ध हैं कि जो रामजीका स्मरण करता है, वह भी शुद्ध हो जाता है। रामायण अनेक हैं। उनमें महापुरुषोंने अनेक भाँतिके रामजीका वर्णन किया है। श्रीएकनाथ महाराजकी भावार्थ-रामायण बहुत बड़ी है। अनेक रामायण पढ़कर एकनाथ महाराजने इसकी रचना की है। उस रामायणमें पैंतालीस हजार मराठी पद हैं। किञ्चिन्नाकाण्डमें वे कहते हैं कि 'इतनी कथा मैंने श्रीहनुमान्‌जीको सुनायी है। अब उसके पीछे श्रीरामजीकी प्रेरणासे यह कथा करता हूँ।'

लंकाका युद्ध चाल्थ था। रावणके बड़े-बड़े महारथी युद्धमें मारे जा चुके थे। कुम्भकर्ण सोया हुआ था, तब युद्ध करनेके लिये रावणने उसको जगाया। कुम्भकर्णको खूब मदिरा पिलायी, खूब मांस खिलाया; कुम्भकर्ण रावणसे मिलने आया। उसने रावणसे पूछा—'मुझे क्यों जगाया है?' रावणने कहा—'रामजीके साथ युद्ध करनेके लिये तुमको जगाया है।' कुम्भकर्णने पूछा कि 'रामजीके साथ क्यों युद्ध हो रहा है?' रावणने बहुत बातें की। कहा—'सीताजीके लिये युद्ध हो रहा है।' कुम्भकर्णने रावणको समझाया कि 'लंकामें अनेकानेक देव-गन्धर्व-कन्याएँ हैं। फिर भी सीताजीकी चोरी करने क्यों गया? तुमने चोरी की। यह बड़ा खोटा काम किया। यह तेरी भूल है। तू सीताको किसलिये लाया है?'

रावणने कहा—'लङ्कामें बहुत-सी देव-गन्धर्व-कन्याएँ तो हैं, परंतु सीताजी-जैसी एक भी नहीं। सीताजी अनि सुन्दर हैं। इनकी तुलनामें आ सके, ऐरी कोई नहीं। इस कारणसे मैं सीताजीको ले आया हूँ।' कुम्भकर्णने पूछा—'तू सीताजीको ले आया तो तेरी इच्छा पूरी हुई कि नहीं?' रावणने कहा—'मेरी इच्छा पूरी

होती नहीं, सीताजी महान् पतिव्रता हैं। वे आँख ऊँची करके किसीको सामने देखती भी नहीं।'

जब कुम्भकर्णने रावणको सलाह दी कि तू नकली राम बनकर सीताजीके पास जा, तब रावणने कहा—मैंने करके देखा है। परंतु कुम्भकर्ण! मैं तुमसे क्या कहूँ—

कर्तुश्चेतसि रामरूपममलं द्वार्वादलदयामलं
तुच्छं ब्रह्मपदं परं परवधूसंगप्रसंगः कुतः॥

'कुम्भकर्ण! जब-जब मैं नकली राम बनता हूँ, तब-तब मेरे मनमें काम रहता ही नहीं।'

मायावी रावण कामरूप होनेकी शक्ति है, पर जब वह नकली राम बनता है, तब अन्य लोगोंमें उसका मातृ-भाव हो जाता है। परखीमें अतिशय कामभाव रखनेवाले उस राक्षसके मनमें भी काम नहीं रह जाता। नकली रामकी ऐसी स्थिति है तो असली राममें कैसी होगी?

रामजीका चरित्र अति शुद्ध है। रामजी सम्पूर्ण रूपसे एकपल्नीव्रतधारी हैं। दशरथ महाराजसे थोड़ी भूल हुई। दशरथ महाराजने अनेक लियोके साथ विवाह किया था। उनके राज्यमें एक पुरुष अनेक लियोके साथ विवाह कर सकता था। श्रीरामजीको यह अच्छा नहीं लगा। श्रीरामजीने यह रीति सुधारी। राम-राज्यमें एक पुरुष एक ही लोगोंसे विवाह कर सकता था, जगत्की अन्य प्रत्येक लोगोंमें मातृ-भाव रखता था। रामजीको बहुपल्नी-प्रथा योग्य नहीं लगी फिर भी 'मेरे पिताजीने भूल की है'—ऐसा रामजी कभी बोले नहीं। पिताजीकी भूल रामजीने बहुत विवेक-युक्तिसे सुधारी। मैं एकपल्नीव्रतपालन करूँगा। मेरी प्रजा भी एक-पल्नीव्रतका पालन करे। यह था, रामका चारित्रिक आदर्श।

बड़ोंकी कोई भूल हो तो उसका अनुकरण करना ठीक नहीं। पिताजी प्याज खाते हो, गुरुजी तम्बाकू

खातें हों इसलिये पुत्र-शिष्य भी खाय, यह उचित नहीं। पिता अथवा गुरु जो पवित्र आचरण करते हों, उनका ही अनुकरण पुत्र अथवा शिष्यको करना चाहिये।

चार वर्षतक गुरुकुलमें रहकर ब्रह्मचारीके वेदशास्त्रोंके अध्ययनकर गुरुजीकी बन्दना करके कहा—‘अब मुझे अन्तिम उपदेश दीजिये।’ तब गुरुजीने कहा—‘वेटा! अब तुझे घर जाकर विवाह करना है। मुझे आनन्द है, परंतु मेरा तुझे उपदेश है कि विवाह होनेके बाद याद रखना है कि तेरी माँ परमात्मा हैं, तेरे पिता परमात्मा हैं।’ संसारमें ऐसा दीखता है कि विवाह होनेके बाद छोकरोंका माता-पिताके प्रति प्रेम धीरे-धीरे कम हो जाता है। सत्यपरामर्शदाता कोई न मिले तो नियत त्रिगड़ सकती है। अतः गुरुजी शिक्षा देते हैं—

‘मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव।’ वेटा। तेरे गुरुजीका क्रम तीसरा है। चार वर्षतक तू मेरे आश्रममें रहा है। मेरी कितनी ही भूँ तूने देखी होंगी। जीवमात्र भूल करता है। निर्देष तो एक परमात्मा ही हैं। मैंने कोई भूल की हो, उस भूलको तू नहीं करना—‘थान्यसाकमनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि नो इतराणि, यान्यसाकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि।’ मेरे जो पवित्र आचरण हैं उनका ही तुझे अनुकरण करना है। मैंने किसी समय क्रोध किया हो, मुझसे कोई पाप हुआ हो, उसका अनुकरण तू न करना। राम-राज्यमें प्रजा भी एक-पलीत्रितधारी थी। वे प्रजा-सहित सभी प्रकार चत्विरील एवं सुखी थे। चत्विरान् सर्वत्र मुखी ही रहते हैं।

उपनिषदोंमें चरित्र-शिक्षा

(लेखक—अनन्तश्री यतिचक्कचूडामणि काशी श्रीमत्याठावीश्वर जगद्गुरु स्वामी श्रीरामानन्दाचार्य श्रीशिवरामाचार्यजी महराज)

यो ब्रह्माणं विद्धाति पूर्वं
यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।
तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं
सुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये ॥

इस जगत्में सभी दुःखके त्याग और सुखकी इच्छा करते हैं। उसमें भी निरतिशय सुखमें सबका अधिक प्रेम होता है। आधुनिक समयमें लोग जिस किसी प्रकारसे भी इन्द्रिय-नुसिको ही वर्तमान जन्मकी परम सफलता मानते हैं। इस इन्द्रिय-नुसिके साधनभूत विषयोंके उपभोगमें ही मनको लगाये रखते हैं। वे इसके साधनभूत धनराशिको किसी भी उपायसे अर्जित करना परम पुरुषार्थ समझते हैं। ये उससे बढ़कर दूसरी कोई वस्तु नहीं मानते। दूसरी ओर कुछ विशिष्ट लोग विषयभोगोंको अति तुच्छ समझते हुए उसके साधनभूत धनादिकको तृणके समान मानकर सचित्र-

निर्माणको सर्वोत्कृष्ट सुखका साधन मानते हैं। ये दो प्रवृत्तियाँ आज भी देखनेको मिलती हैं। किंतु वस्तुतः सुख तो धर्मजुष्टान या चरित्र-निर्माणसे ही हो सकता है। प्राचीनकालमें ऋषि, मुनि, महात्मा, आचार्य शिक्षा-समाप्तिपर छात्रोंको तैत्तिरीयोपनिषद् अनुवाक् ११के अनुसार उपदेश दिया करते थे।

वहाँ कहा गया है कि—

‘सत्य बोलो, धर्मका आचरण करो। स्वाध्यायसे प्रमाद न करो। आचार्यकी आङ्गासे छी-परिग्रह कर संतान-परम्पराका पालन करो। सत्यसे प्रमाद नहीं करना चाहिये। धर्मसे प्रमाद नहीं करना चाहिये। कुशल (आत्मरक्षाके उपयोगी) कर्मसे प्रमाद नहीं करना चाहिये। देनेवाले माझलिक कर्मसे प्रमाद नहीं करना चाहिये। ऐश्वर्य-स्वाध्याय और प्रबचनसे प्रमाद नहीं करना चाहिये।

देवकार्य और पितृकार्यमें प्रमाद नहीं करना चाहिये । तू माताको देवता मानो, पिताको देवता मानो, आचार्यको देवता मानो और अतिथिको देवता मानो । जो अनिन्द्य कर्म हैं, उन्हींका आचरण करना चाहिये; दूसरोंका नहीं । हमारे-(गुरुजनों)-के जो शुभ आचरण हैं, तुझे उन्हींकी उपासना करनी चाहिये । दूसरे प्रकारके कर्मोंकी नहीं । जो कोई हमारी अपेक्षा श्रेष्ठ ब्राह्मण हैं, उनका आसनादिके द्वारा तुझे आश्वासन (श्रमापहरण) करना चाहिये । श्रद्धापूर्वक (दान) देना चाहिये—अश्रद्धासे नहीं देना चाहिये । अपने ऐश्वर्यके अनुकूल देना चाहिये, लजासे देना चाहिये । मयसे देना चाहिये; संवित्-सैंत्रीसे भी देना चाहिये । यदि तुझे कर्म या आचारके विप्रयमें कोई संदेह हो तो वहाँ जो विचारशील कर्मसे नियुक्त, आयुक्त (स्वेच्छासे कर्मपरायण), अरुक्ष (सरल्नन्ति) एवं धर्माभिलापी ब्राह्मण हों, वे उस प्रकरणमें जैसा व्यवहार करें, वैसा ही कर । यही अनुशासन है—

‘ये तत्र ब्राह्मणाः समर्दिनः युक्ता आयुक्ता अलूक्षा धर्मकामाः स्युः । यथा ते तत्र वर्तेन्द्र तथा तत्र वर्तेथाः । एष उपदेशः । एषा वेदोपनिषद् । पन्द्रुशासनम् ।’

इसी प्रकार जिनपर संशययुक्त दोप आरोपित किये गये हों उनके विप्रयमें, वहाँ जो विचारशील, कर्ममें नियुक्त अयवा आयुक्त (दूसरोंसे प्रेरित न होकर सतः कर्ममें परायण), मरलहृदय और धर्माभिलापी ब्राह्मण हों, वे जैसा व्यवहार करें, तू भी वैसा ही कर । यह आदेश-विधि है, यह वेदका रहस्य है और ईश्वरकी आज्ञा है । इसी प्रकार तुझे उपासना करनी चाहिये । ऐसा ही आचरण करना चाहिये । इस श्रुति-वाक्यमें आचार्य विद्यार्थि-वर्गको सत्य बोलने और धर्माचरण करनेके लिये दो-चार उपदेश देने हैं ।

इससे इस बातका भी ज्ञान होता है कि प्राचीन भारतवर्षमें सत्य और धर्मकी सत्ता रही है । भारतमें वौद्धिक चेतनाके शाश्वत स्रोत हमारे चिन्तक दार्शनिक तथा साहित्यद्रष्टा प्रकृतिकी गोदमें ही निवास कर अनन्त ऊर्जा तथा अलौकिक प्रतिभाको प्राप्त किया करते थे । चक्रवर्ती राजालोग भी वनोंमें ऋषि-मुनियोंके चरणोंमें बैठकर ही सुख और शान्ति लिया करते थे । इस देशके वालकोकी शिक्षामें सच्चरित्र-निर्माणकी आज नितान्त आवश्यकता है ।

—

चरित्रवल और ब्रह्मचर्य ही भारतीयोंके चिर-स्वातन्त्र्यके मूल उत्स हैं

(लेखक—डॉ. श्रीनीरजाकान्तजी चौधुरी देवगर्मा, विद्यार्थी, एम.ए० ए०, एल-एल० बी०, पी-एच० डी)

कालके प्रबल प्रवाहमें अनेक सुमेरु, अक्कड़, मिस्र, ईरान, प्रीस, रोम आदिकी प्राचीन सम्प्रतार्थ नष्ट-भ्रष्ट तथा ल्पत हो गयी । किंतु भारतकी सर्वप्राचीन एवं सर्वोक्तुष्ट वर्गाश्रमकी व्यवस्था आज भी स्वदेशमें प्रतिष्ठित है । विचारणीय है कि उसकी यह चिर अमर-जीवनी-शक्तिके मूल उत्स और कारण क्या है ? हमारा इन विद्वास है कि भारतीयोंकी धर्मानुवर्तिना, चरित्रवल एवं विशेषस्थपसे ब्रह्मचर्य ही इसका प्राणकेन्द्र है । यहाँ

वेद तथा तन्मूलक शास्त्रोंके आवारपर इस विषयका विवेचन किया जा रहा है । ब्रह्मचर्य अप्रतिहत वीर्य तथा ब्रह्मलोक-ब्रह्मविद्या-प्राप्तक है । योगशास्त्रमें इसकी बड़ी महिमा है; यथा—‘अहिंसासत्यास्तेय-ब्रह्मवर्यपरिग्रहा यमाः ।’ (माधवपाद ३०) ‘ब्रह्मचर्य-प्रतिष्ठायां वीर्यलाभः ।’ (वही ३८) । तात्पर्य यह कि सुदुर्लभ ब्रह्मविद्या भी ब्रह्मचर्यद्वारा प्राप्त हो सकती है । मगधान् श्रीकृष्णने गीतामें ब्रह्मचर्यको शारीरिक

तपस्या कहा है (अ० १७।१४)। महर्षि सनसुजातने महाराज धृतराष्ट्रके पास ब्रह्मचर्यके माहात्म्यका विस्तृत वर्णन किया है। यहाँ उसका मात्र एक श्लोक दिया जा रहा है—

नैतद् ब्रह्म त्वरमाणेन लभ्यं
यन्मां पृच्छन्नतिहृष्यतीव।
बुद्धौ विदीने मनसि प्रचिन्त्या
विद्या हि सा ब्रह्मचर्येण लभ्या ॥
(महा० उद्योग० सनसुजात० ४४।२)

‘राजन् ! आपने मुझसे जो ब्रह्मविद्याका विषय पूछा, वह त्वरायुक्त मानवको लभ्य नहीं है। मन प्रलीन होनेपर बुद्धिमें वह विद्या अवभासित होती है। ब्रह्मचर्यसे ही उसको लाभ करना सम्भव है।’ ब्रह्मचर्यका अर्थ खीसंग-त्याग है। परन्तु उसे नारीसङ्गी पुरुषसे भी दूर रहना चाहिये। छान्दोग्य-उपनिषद्—(सामवेद-छान्दोग्य-शाखा-)का कथन है—‘अथ यद् यद्य इत्याच्छते ब्रह्मचर्यमेव तद् ब्रह्मचर्येण हेतु यो ज्ञाता तं विन्दतेऽथयदिष्टमित्याच्छते ब्रह्मचर्यमेव तद् ब्रह्मचर्येण हेतुेष्टवात्मानमनुविन्दते’। (छा० अ० ८।५।१) अर्थात् ‘जिसे ‘यज्ञ’ कहते हैं, वह भी ब्रह्मचर्य ही है। कारण जो ‘ज्ञाता’ अर्थात् शास्त्रोंका मर्माभिज्ञ है, वह भी ब्रह्मचर्यद्वारा ही उस ब्रह्मलोकको प्राप्त होता है और जिसको ‘इष्ट’ वा उपासना कहते हैं, वह भी ब्रह्मचर्य ही है। कारण लोग ब्रह्मचर्यके अनुष्ठानद्वारा ही आत्माको अर्थात् ब्रह्मलोकको प्राप्त करते हैं।’ (महाभाष्योपाल्याद्य धूर्णाचरण, शास्त्र्य-वैदानतीर्थके अल्पवादका सारांश।)

शुण्डकका भी कथन है—

१—महात्मा श्रीश्रीसीदातारामदास औंकारनाथकी पुस्तक ‘विरक्त पूजा’ (१३—७३ पृ०)में भी ब्रह्मचर्यकी सहितका विस्तृत विवरण है।

२—जन विज्ञतो बहुधा विवाचसं नानाधर्मानं पृथिवीं ज्ञानैकसाम् ॥ (अथर्ववेदसहित)

सत्येन लभ्यस्तपसा हेतु आत्मा
सम्यग् वानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम् ।
अन्तःशरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो
यं पश्यन्ति यतयः ज्ञीणदोपाः ॥

(३।१।५)

‘शुद्धचित्त यतिगण जिन्हे दर्शन करते हैं, वह ज्योतिर्मय शुभ्र आत्मा ही निरन्तर सत्य, तपस्या, सम्यक् ज्ञान एवं ब्रह्मचर्यद्वारा ही लाभ होता है।’ कठोपनिषद् की श्रुतिमें यमराज ब्रह्मणवालक नचिकेतासे कहते हैं—

सर्वे वेदा यत्पद्मामनन्ति
तपांसि सर्वाणि च यद्वद्वन्ति ।
यदिच्छतो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीमि ओमित्येतत् ॥

(१।५)

‘समस्त वेद जिस वाञ्छिततम वस्तुको उत्तमरूप प्रतिपादित करते हैं, निखिल तपस्या भी जिसको लभ करनेका उपाय है तथा जिसकी अभिलाषा कर लोग ब्रह्मचर्यका आचरण करते हैं, तुझे मैं उस परमग्राह्य पदकी कथा संक्षेपमें कहता हूँ—वह है ‘ओम्’। यह स्पष्ट है कि ब्रह्मचर्यद्वारा ही पूर्ण शारीरिक खास्थ्य, असाधारण शक्ति, वीर्य एवं आयुका लाभ होता है। फिर, ब्रह्मचारीको योगकी सारी विभूतियाँ, यहाँतक कि अप्रतिहत अणिमादि अष्ट सिद्धियाँ मिल जाती हैं। ब्रह्मविद्या, आत्मज्ञान, पर एवं अपर ब्रह्म—सब ब्रह्मचारीको ही प्राप्त होते हैं।’

प्राणचर्य-आश्रम—वेद अनादि एवं अपौरुषेय हैं। वे ईश्वर-निःशक्तित पदं लक्षतःप्रमाण हैं। वेदोंके कार्ये लक्षणेण ज्ञानण, ध्यानिधि, वैष्णव, शूद्र—इन सार विद्यौ लक्षण कर्त्त्वे संकर जातियोंके भी उल्लेख हैं। वेदमन्त्रका

अधिकार केवल प्रथम तीन वर्णको उपनयन-दीश्माके पश्चात् होता है। जिन वर्णों या जातियोंका उपनयन नहीं होता उन्हें इसमें अधिकार नहीं है। कारण, उनका उपनयनहारा वैदिक मन्त्रोमें दीक्षा वर्जित है।

वर्णाश्रमी भारतीय समाजमें चार आश्रमोमें अधिकार निम्नरूप हैं । (१) ब्राह्मणके चार आश्रम हैं—ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और संन्यास। (२) क्षत्रियके तीन आश्रम हैं—ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य और वानप्रस्थ। (३) वैश्यके दो आश्रम—ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, एवं (४) शूद्रका एक आश्रम—गार्हस्थ्य मात्र निर्दिष्ट है। वर्णाश्रमके अनुसार तीन वर्णों या समुदायके बालक गुरुगृहमें ब्रह्मचर्य-पालन करते थे। ब्राह्मण-माणवक ५वर्षसे ३६, कोई-कोई ४८ वर्ष तक ब्रह्मचारी रहते थे। क्षत्रिय ११वर्षसे, वैश्य थोड़ी और देरसे उपनयन लेते थे और उनका समावर्तन शीघ्र होता था। ये सभी ब्रह्मचारी बालक भूमिपर कुश एवं मृगचर्मपर सोते थे। ब्राह्म-मुहूर्तमें उठकर शौच आदि एवं स्नानके अनन्तर संव्यागायत्री-जपादि नित्य-कर्म करते थे। हवनके लिये समिधा—काष्ठादि आहरण, भिक्षाटन करना पड़ता था और तीन बार स्नानका नियम था। कठोर संयम, नाना व्रत, उपवास, फल-मूल आहार, त्रिकालसंध्या, दीर्घ उपासना, तपस्या आदिसे स्वाभाविकतया उनके चरित्र बाल्यकालसे ही ठोस आव्यात्मिक भित्तिपर गठित होते थे और वे धार्मिक वन जाते थे। शूद्र और अन्य जातिके लोग उच्च वर्णके शारीरिक ब्रह्मचर्यका अनुसरण करते थे।

विवाहितका ब्रह्मचर्य—शास्त्रका आदेश है कि सर्व-जातिके विवाहित स्त्री-पुरुष केवल सन्तानार्थ ऋतुकालमें (प्रथम ४ दिन छोड़कर) प्रतिमास मात्र एक बार दैहिक सम्पर्क करेंगे। यद्यपि यह असिध्या व्रतसे भी

कठिन है, परंतु इसमें संदेह नहीं कि इस नियमका उच्च आदर्श प्राचीन भारतके अधिकार परिवारोंमें पालित होता था। यही है विवाहितका व्रतचर्य। पशु भी मात्र ऋतुकालमें ही मांगनि करता है और एक वारमें गर्भ रह जाता है। ठीक उसी प्रकार यौवन पर्यन्त अखण्डित व्रतचर्य रहनेपर पनि-पत्नीका एक बार दैहिक संयोग होनेसे ही गर्भागत हो जाता है। विवाहित जीवनकालमें २४। २५ वर्षमें मात्र १०-१२ बार पनि-पत्नीका दैहिक मिलन होता होगा, कारण दोनों ही अखण्ड व्रतचर्यदाग अमोवन्यीर्य बन जाते थे। अतएव संतान-संख्या स्वाभाविक ही खल्य होती थी। संयम ही संतान-निरोक्त था।

एक पुत्र तथा तीन-चार संतान होनेपर पति-पत्नी भ्राता-भणिनीवत् रहते थे। यह प्राचीन आदर्श आज भी भारतमें पालित हो सकता है। गाँधीजीका भी उपदेश इसी प्रकारका रहा। वनेंडा-(उदयपुर-) के राजकुमार मानसिंहजीकी माता रानी साहिवाने इस आदर्शको अपनाया था। ठाकुर रामकृष्ण परमहंस, माँ शारदादेवी, माँ आनन्दमयी आदिने विवाहित होनेपर भी अखण्ड ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन किया—यह प्रसिद्ध है।

वानप्रस्थमें ब्रह्मचर्य—वानप्रस्थ आश्रममें केवल ब्राह्मण और क्षत्रियका अधिकार है। वानप्रस्थी गृह त्यागकर वनमें रहता है। साथमें स्त्री रह सकती है, परंतु पूर्ण ब्रह्मचर्यवत् रखना चाहिये—भूमिपर सोना, फल-मूल-नीवारादि अकृष्टपञ्च आहार, नित्य हवन-व्रतादिका पालन इत्यादि। इस आश्रममें नखच्छेद, केश-वपन आदि निषिद्ध है।

भगवान् श्रीरामने जगन्माता सीतादेवी और लक्ष्मणके साथ वनवासमें इसी वानप्रस्थ नियमका पालन किया था।

आपने लंका-विजयके बाद भी पुरी प्रवेश नहीं किया। पाण्डवोंने भी द्रौपदीके साथ इसी प्रकार बानप्रस्थ १२ वर्ष किया था।

आदर्श ब्रह्मचारी श्रीलक्ष्मण—श्रीलक्ष्मणजीने श्रीराम-सीताके साथ १४ वर्ष वनवासके समय साथ रहकर अहर्निश उनकी सेवा की थी। रावणद्वारा आकाश-पथमें सीताको ले जाते समय सीतादेवीने रामको सकेतके लिये कुछ आभूषण ऋष्यमूक पर्वतपर नीचे गिरा दिये थे। वानरराज सुप्रीवने उन्हें उठाकर रख लिया था। श्रीरामने ऋष्यमूक पर्वतमें उन आभूषणोंको पहचाननेके लिये जब कहा तो लक्ष्मणजीने कहा—

नहं जानामि केयूरे नाहं जानामि कुण्डले ।
नूपुरे त्वभिजानामि नित्यं पादाभिवन्दनात् ॥
(वा० रा० कि० ६)

'मैं केयूर तथा कुण्डलको पहचान नहीं सकता, परंतु नित्य सीतादेवीकी चरणवन्दना करनेसे नूपुरद्रव्यको मैं उत्तमरूपसे' जानता हूँ।' यहाँ उन्होंने ब्रह्मचर्यकी मर्यादा तथा कीर्तिमान इस उत्तरमें सर्वकालके लिये स्थापित कर दिया। परमाधर्यकी वात होनेपर भी यह सत्य है। दीर्घ काल—१४ वर्ष अनुश्रव साथ रहकर लक्ष्मणजी उनकी सेवा करते रहे। किंतु उन्होंने अपनी भौजी सीतादेवीके चरणसे ऊपरके किसी भी अङ्गपर कभी दृष्टि नहीं डाली। कठोर ब्रह्मचर्य पालन करनेके प्रभावसे ही लक्ष्मणजीने मेघनादके वधकी शक्ति प्राप्त की थी। इसी प्रकार महात्मा देवव्रतने पिता महाराज शान्तनुके शुखके लिये

राज्य त्यागकर आमरण ब्रह्मचर्यको धरण किया। हनुमानजी पूर्ण ब्रह्मचारी है एवं इसीलिये अमर है। भारतके इतिहासमें ब्रह्मचर्यके महान् आदर्श कभी म्लान नहीं हुए।

संन्यासमें ब्रह्मचर्य—मात्र ब्राह्मणको ही संन्यास-आश्रमका अधिकार है। क्षत्रिय भी संन्यास प्रहण नहीं कर सकता। संन्यासीको सुकठोर ब्रह्मचर्य व्रत करना पड़ता है। खी-चिन्तनतक उनके लिये निपिद्ध है। इस प्रकार सिद्ध है कि ब्राह्मण ५ वर्षके वयसे आजीवन ब्रह्मचारी ही रहता था।

नारीका ब्रह्मचर्यव्रत—वैदिक शास्त्रानुसार रजो-दर्शनके पहले ही कन्याओंका विवाह होना चाहिये। इस देशमें पहले प्रेम, वादमें विवाह कभी नहीं था। मुस्लिम आक्रमणके समयतक वर्णश्रीमके नियम यथावत् पालित होते रहे। लेखकने देखा है कि विर्दभ देश-(वरार-) में कई गाँवोंका नाम 'तपोन' है। यह 'तपोवन' का अपञ्चंश है। भास, कालिदास आदिके नाटकोमें तपोवनके जो चित्र हैं, वे सब निराधार कविकी कल्पना मात्र नहीं हैं। २३,०० वर्ष पूर्व ग्रीक राजदूत मेगास्थनीजके वर्णनसे प्रमाणित होता है कि ब्राह्मण ब्रह्मचारी ३७ वर्ष (मनुके आदेशानुसार ३६ वर्ष) तक गुरुगृहमें ब्रह्मचर्य रहा करते थे। अनद्दा कन्या विवाहकालपर्यन्त पितृगृहमें कुमारी ब्रह्मचारिणी रहती थी। ५५ वर्ष पहले विधर्मी अंप्रेज

४—वेदमें कुमारी कन्याके ब्रह्मचर्यका मन्त्र है—

ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम् । (अथर्व सं० ११ । ५ । १८)

'अत्रापि ब्रह्मचर्यं प्रशस्यते। (कन्या) अकृतविवाहा छी ब्रह्मचर्यं चरति तेन (ब्रह्मचर्येण) (युवानं) युवत्वगुणोपेतमुक्तश्चं (पति) (विन्दते) लभते।' (साधणपा० का सारांश) अर्थात् 'यहाँ ब्रह्मचर्यकी प्रशंसा की गयी है। कुमारी कन्या ब्रह्मचारिणी रहती है और उसके प्रभावसे उत्कृष्ट युवा पति लाभ करती है।'

सरकारने १४ वर्षके पूर्व कन्याका विवाह निपटा किया। अब तो जनता-सरकारने मनमाना १८ सालके नियमको बाँध दिया है। ये सब अधिनियम नारीकी चरित्र-शुद्धिके बातक हैं। इनसे नारी-चरित्रका गठन नहीं हो सकता।

भारत सनियोंकी भूमि है। यहाँ विवाह लोनेपर पतिव्रता सती सहमरणीय मानी जाती रही। १८२८ में कानूनद्वारा सहमरण बदल दिया गया। परंतु आज भी सहमरण कभी-कभी हो ही जाता है। १८५६ में विद्यासागर द्वारा विवाह-विविध सिद्ध वरनेका अनुचित प्रयत्न किया गया। भारतीय जातिमें विवाह खी आमरण ब्रह्मचारिणी रहती है। शाश्वों तथा इतिहासमें कहीं विवाह विवाहका एक भी उदाहरण नहीं मिलता।

आयुर्वेदके मतमें—

निर्मल चरित्रसे विना ओपधि रोगमुक्ति

(लेखक—वैद्य श्रीगाननिधिजी अग्रवाल, अल्युवेदानार्थ)

आयुर्वेदके आर्पन्योंमें सुन्दर स्वास्थ्यके लिये चरित्रकी निर्मलता आवश्यक बतायी गयी है। सचरित्रको कभी गम्भीर रोग नहीं होता; हो भी जाय तो शीघ्र मिट जाता है। सुदृढ़ स्वास्थ्यके साथ-साथ धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष-रूपी चतुर्वर्ग भी चरित्रवान्‌को सरलतासे प्राप्त हो जाते हैं। अतः चरित्रकी अनिवार्यता स्पष्ट है।

आयुर्वेदके तीनों महर्षियोंने स्वस्थ रहनेके लिये सदृशुत-सचरित्र-पालनकी आवश्यकता बतायी है। ईर्ष्या, धय, क्लोध आदि विकारोंकी स्थितिमें साधारण ज्ञेय भी धूषित हो जाता है। धृष्टी संगतिये, द्विद्व तंस्कृतिसे पवित्र संस्कार बनते हैं। धर्माचरणयुक्त श्वेतकार ही भावी चरित्रका निर्माण करते हैं। छाते चरित्रसे मम निर्मल रहता है। सपाज, ईश्वर और कानूनका भय ही मानवको दुश्चरित्र होनेसे रोकता है। सचरित्रवान् दूसरोंको निर्मय बनाता है।

हिन्दू कोड़द्वाग संगोष्ठ विवाह, विश्वामित्र-स्त्रियों आदि सिद्ध कर सनातनधर्मके ऊपर भीपर कुछागानन किया गया है। सदृशिता, नारी-वृत्त, श्री-पुरुषके एकत्र गीत-नाटकादिको प्रोत्साहन दिया जा रहा है। तिनेमा, कवच, पार्टी, खेड़-कूटमें अविकल पाठ्यार्थ्य समाजकी नकल ही रही है। किंतु भी भारतमें मावारण चारों दूसरे देशोंसे समर्थिक पवित्र ठ और दूनाम दृढ़ विद्वास हैं कि यह आगे भी रहेगा।

भारतीय जातिके व्रजनर्य-वर तथा चारित्र आज भी पृथ्वीमर्गमें श्रेष्ठ हैं। भारतीय वर्गाश्रमी समाजका गठन इतना उत्तम था और यहाँका वैयक्तिक नीतिक चरित्र आज भी इन्हा उच्च है कि दूसरे देशोंसे इसकी तुलना नहीं की जा सकती है।

चरित्रवान् व्यक्तिके रक्तचाप, हृदयकी दुर्बलता, मधुमेह, केन्सर, टी० वी० आदि व्रीमारियाँ नहीं होती हैं; हो भी जाय तो कष्टदायक नहीं होती। उन्हे मृत्युका भय नहीं रहता। खान-पानमें असंयम रखनेसे व्रीमारीका भय रहता है। यह व्रीमारीका भय भी शुद्ध चरित्रके निर्माणमें सहायता करता है। ममता और कामना मनको दुर्बल, विशिष्ट करती हैं। कर्म करते समय स्वार्थकी भावनाका त्याग करनेसे मनको शक्ति मिलती है। प्रयत्न इच्छाके और इच्छा ज्ञानके अधीन है। इच्छा कर्मकी जननी है। ज्ञान इच्छाका जनक है। त्यागसे ज्ञान मिलता है।

इच्छा श्रीर कामना ही सम्पूर्ण रोगोंकी जननी है। ईष, धृष्ट, प्राप्त और धप्राप्त कर्मफल भी पुनीत चरित्रसे कष्टदायक नहीं रहते। अपनेसे शरीरको अलग समझनेसे पीड़ाकां बोध उतने समयतक कम हो जाता है। इसके लिये ही चरित्रकी निर्मलता और त्याग आवश्यक है।

चारित्रिक प्रेरणाके मूल स्रोत-वेद

(लेखक—श्रीजगन्नाथजी वेदालंकार)

राजपि मनुने धर्मका मूल स्रोत बतलाते हुए वेदको सर्वप्रथम स्थान दिया है—

वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम् ।
आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च ॥
(मनु० २ । ६)

‘समस्त वेद, वेदके जाननेवालोंकी स्मृतियाँ और उनका शील, धार्मिकोंका आचार और अल्लरात्माकी आन्तरिक तुष्टि—ये धर्मके मूल हैं ।’ चारित्र्यका निर्माण करनेवाले दैवी तत्त्व वेदमें कूट-कूट कर भरे हैं । यहाँ उनका कुछ दिग्दर्शन कराया जा रहा है—

सत्यमूच्छुरं एवा हि चकुरमु स्वधाम्भवो
जग्मुरेताम् । (ऋ० ४ । ३३ । ६)

‘नर सदा सत्य ही बोलते आये हैं और उन्होने सदा सत्यका ही आचरण किया है और इससे उन बुद्धिमान् जनोंने सर्वसमर्थ आत्मिक शक्ति प्राप्त की ।’

सुविज्ञानं चिकितुषे जनाय
सच्चासच्च वचसी पस्पृथाते ।
तयोर्यत् सत्यं यतरद् ऋजीय-
स्तदित् सोमो अवति हन्त्यासत् ॥
(ऋ० ७ । १०४ । १२ ; अर्थ० ८ । ४ । १२)

‘मनुष्य जब सत्य और श्रेष्ठ ज्ञानकी खोजमें होता है तब उस विवेकशील पुरुषके सामने सत्य और असत्य वचन दोनों स्पर्धा करते हुए आते हैं । उन दोनोंमेंसे जो सत्य है, उसका सोम परमेश्वर रक्षा करते हैं और असत्यका नाश कर देते हैं ।’

इच्छन्ति देवाः सुन्वन्तं न स्वप्नाव स्पृहयन्ति ।
यन्ति प्रमादमतन्द्राः ॥

(ऋ० ८ । २ । १८, अर्थ० २० । १८ । ३)

‘देवलोग श्रेष्ठ और निःखार्य यज्ञ-कर्म करनेवालोंको ही चाहते हैं, निदाशील आलसियोंको नहीं । स्वयं

आलस्यरहित वे गलती एवं भूल करनेवालेका नियमन करते हैं ।’

मा प्रगाम पथो वयं मा यज्ञदिन्द्र सोमिनः ।
मान्तःस्युर्नो अरातयः ॥ (ऋ० १० । ५७ । १ ;
अर्थ० १३ । १ । ५९)

‘परमेश्वर ! हम सन्मार्गको छोड़कर न चलें । ऐश्वर्यशाली होते हुए भी हम यज्ञका मार्ग छोड़कर न चलें । हमारे अंदर काम, क्रोध आदि शत्रु न रहे ।’

चोदयित्रो स्तूतानां चेतन्ती सुमरीनाम् ।
यश्च दधे सत्स्वती ॥ (ऋ० १ । ३ । ११)

‘सच्ची और प्यारी वाणीको प्रेरित करती हुई और अच्छी बुद्धियोंको चेताती हुई सरस्ती देवी हमारे जीवन-यज्ञको धारे हुए चल रही है ।’

यन्मे छिद्रं चक्षुपो हृदयस्य मनसो वातितृष्णं
बृहस्पतिमेतद्धातु । शं नो भवतु भुवनस्य यस्पतिः ॥
(यजु० ३६ । २)

‘मेरी ओर आदि वाद्य इन्द्रियोंका जो छिद्र एवं दोष है, उनकी जो त्रुटि एवं न्यूनता है, मेरे हृदयका, मन या बुद्धिका, जो गहरा छिद्र एवं दोष है, उसे इस बृहत् विश्वका ज्ञानमय रक्षक परमेश्वर ठीक कर दे । भुवनका स्वामी हमारे लिये कल्याणकारी हो ।’

परि माग्ने दुश्शरिताद् वाधस्वा मा सुचरिते भज ।

उदायुपा स्वायुपोदस्थाममृता अनु ॥ (यजु० ४ । २८)

‘मेरे जीवन-यज्ञके अग्रणी अग्निदेव । मुझे दुश्शरितसे सब ओरसे वचा और सुचरितमें मेरी प्रीति और भक्ति हो । मैं उसीका सेवन करूँ । देवो और देवोपम मानवोंका अनुसरण कर मैं अपने जीवनमें उत्थानके मार्गपर आरूढ़ होऊँ और फिर सजीवनसे, सर्वाङ्गसुन्दर जीवनसे उच्च स्तरपर प्रतिष्ठित हो जाऊँ ।’

वाचं ते शुन्धामि प्राणं ते शुन्धामि चक्षुस्ते
शुन्धामि श्रोत्रं ते शुन्धामि । नाभिं ते शुन्धामि मेहं
ते शुन्धामि पायुं ते शुन्धामि चारित्रांस्ते शुन्धामि ॥
(यजु० ६ । १४)

‘मैं तेरी वाणीको शुद्ध करता हूँ, तेरे प्राण, तेरे
नेत्र और श्रोत्रको शुद्ध करता हूँ । मैं तेरी नाभि,
उपस्थेन्द्रिय और गुदाको शुद्ध करता हूँ, मैं तेरी सभी
इन्द्रियोंके चरित्र, व्यवहार और वर्तनको शुद्ध करता
हूँ ।’* जब शरीरकी समस्त इन्द्रियोंका व्यवहार सर्वथा
शुद्ध पवित्र होता है, तभी मनुष्य चरित्रान् और
सच्चरित्र कहा जाता है । यदि किसी एक भी इन्द्रियका
व्यवहार अयोग्य, अशुद्ध और अपवित्र है तो मनुष्य
चरित्रहीन है ।

प्रतिष्ठायै चरित्राय अग्निष्टाभि पातु ।

(काठकसंहिता ३१ । २३; यजु० १३ । १९)

‘तेरे जीवन-पङ्कजका पुरोहित अग्नि तेरी प्रतिष्ठा और
चरित्रको बनाये रखनेके लिये तेरी रक्षा करे ।’

चरित्रांस्ते मा हिंसिपम् ।

(यजुर्वेदीय काठकसंहिता ३, २२)

(माता, पिता और आचार्य) पुत्र एवं शिष्यके
चरित्रको, आचरणोंको किसी प्रकार भी विगड़ने या
नष्ट होने न दे ।

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा
भद्रं पद्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरद्वैस्तुप्दुवांसस्तनूभि-
र्यश्चोम देवहितं यदायुः ॥

(ऋ० १ । ८९ । ८; यजु० २५ । ३१; साम०८० ९ । ३ । ९)

‘यजनीय देवो ! हम कानोंसे भद्रका ही
श्रवण करे, आँख आदि इन्द्रियोंसे भद्रको ही दंखे एवं
अनुभव करें । अपने द्वड़ अङ्गोंसे, अपने सुद्वड़ शरीरोंसे
सदा स्तुतिन्यूजा करते हुए हम ईश्वर-प्रदत्त आयुको
प्राप्त कर लें ।’

यस्तिष्ठति चरति यश्च वञ्चति
यो निलायं चरति यः प्रतद्वम् ।
द्वौ सं निपद्य यन्मन्त्रयेते
राजा तद् वेद वरुणस्तुतीयः ॥
(अर्थ० ४ । १६ । २)

‘जे मनुष्य खड़ा है या चलता है, जो दूसरोंको
ठगता है, जो छिपकर कुछ करतूत करता है, जो
दूसरोंको भारी कष्ट देकर अल्याचार करता है और
जब दो आदमी मिलकर, एक साथ बैठकर जो कुछ
गुप्त मन्त्रणाएँ करते हैं उन्हें भी सर्वश्रेष्ठ वरुण परमेश्वर
तीसरा होकर जानता है ।’

जुहुरे चि चिन्तयन्तो अनिमिषं नृमणं पान्ति ।
आ व हां पुरं विविशुः ॥ (ऋ० ५ । १९ । २)

‘जो ज्ञानपूर्वक स्वार्थ त्याग करते हैं और लगातार
जागते हुए अपने आत्मवल्की रक्षा करते रहते हैं; वे
परमात्माकी दृढ़ अमेघ नगरीमें प्रविष्ट हो जाते हैं ।’

इयं समित् पृथिवी द्वयोद्दितीयो-
तान्तरिक्षं समिथा पृष्णाति ।
ब्रह्मचारी समिथा मेखलया
श्रमेण लोकांस्तपसा पिपर्ति ॥

(अर्थ० ११ । ५ । ४)

ब्रह्मचारी शरीरकी समिथासे, शरीरके त्याग और
बलिदानसे स्थूल पृथिवीलोकको तृप्त और परिपूर्ण
करता है, मनकी समिथासे, मानसिक तेजके अर्पणसे
अन्तरिक्षलोकको तृप्त करता है और आत्मप्रकाशसे
द्वुलोकको । वह मेखलासे, कटिवद्धतासे, श्रमसे और
तपसे तीनों लोकोंका, संसारके सब लोगोंका पालन-
पोषण करता है और उन्हे पूर्णता प्रदान करता है ।

अश्मन्वती रीयते सं रमध्य-
मुत्तिष्ठत प्र तरता सखायः ।
अत्रा जहाम ये असन्नशेवा:
शिवान् वयसुत्तरेमाभि वाजान ॥

(ऋ० १० । ५३ । ८, यजु० १५ । १०, अर्थ० १२ ।
२ । २६)

* कात्यायनकी यजुर्नुकमणिका तथा सायण आदिके अनुसार यह मन्त्र अश्वमेघके अश्वप्रोक्षणीमें विनियुक्त है ।

‘पथरों-शिलाओंवाली संसारनदी वेगसे वह रही है। हे साथियो ! हे सखाओ ! उठो, मिलकर एक दूसरेको सहारा दो और इस नदीको प्रवलतासे पार कर जाओ। जो हमारे अकल्याणकर संग्रह हैं, व्यर्थके बोझिल परिग्रह हैं, उन्हे हम यहीं छोड़ देवे और कल्पणकारी सुख, बल तथा धनको पानेके लिये हम इस नदीके पार हो जायें।’

क्रत्वः समह दीनता ग्रतीपं जगमा शुचे ।
मृत्युं सुक्षत्रं मृत्युं । (ऋ० ७। ८३। ३)

‘परम तेजोमय ! परम पवित्र परमेश्वर ! दीनता, दुर्वल्ताके कारण मैं अपने संकल्पसे, प्रज्ञासे, कर्तव्यसे उलटा चला जाता हूँ। शुभशक्तिशालिन् ! मुझपर कृपा कर, मुझे सुखी करो।’

यदन्तरं तद् वाहं यद् वाह्यं तदन्तरम् ।
(अर्थव० २। ३०। ४)

‘जो तेरे अंदर हो वही बाहर हो और जो बाहर हो वही अंदर।’

‘केवलाद्यो भवति केवलादी।’ (ऋ० १०। ११७। ६)

‘अकेला खानेवाला मनुष्य केवल पापको ही भोगनेवाला होता है।’

अनागसो अदितये स्याम ।
(ऋ० १। २४। १५; यज० १२। १२; साम०प० ६। ३। १०। ४; अर्थव० ७। ८३। ३)

अखण्ड-अनन्त-चित्स्वरूपा जगजननी अदिति माताके सामने हम निष्पाप, निष्कलङ्क होकर रहे— उनका अखण्ड चैतन्य और असीम विशालता प्राप्त करनेके लिये।

उथानं ते पुरुष नावयानम् ॥ (अर्थव० ८। १। ६)

‘ओ मनुष्य ! तेरा उथान ही हो, उन्नति ही हो, नीचे पतन कभी नहीं हो।’

न ऋते आन्तस्य सख्याय देवाः ॥
(ऋ० ४। ३३। ११)

‘विना स्वयं परिश्रम किये, विना थके देवोंकी मैत्री एवं सहयता नहीं मिलती।’

कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य आहितः ।
(अर्थव० ७। ५२। ८)

‘मेरे दाये हाथमे कर्म पुरुषार्थ है और मेरे वायें हाथमे विजय रखी हुई है।’

शुद्धाः पूता भवत यज्ञियासः (ऋ० १०। १८। २;
अर्थव० १२। २। ३०)

‘बाहरसे शुद्ध, अंदरसे पवित्र और यज्ञमय जीवन-वाले हो जाओ।’

उद्धयं तमसस्परि ज्योतिष्पश्यन्त उत्तरम् ।
देवं देवत्रा सूर्यमग्नम् ज्योतिस्तुतम् ॥
(ऋ० १। ५०। १०, अर्थव० ७। ५। ५३)

‘हम अन्धकारसे ऊपर ऊँचे उठकर, अधिक उच्च प्रकाशको देखते हुए, सब्र प्रकाशोंके प्रकाशक, सब्र देवोंके देव, सर्वप्रेरक महासूर्यको, सबसे उत्तम ज्योतिको प्राप्त करे।’

गृहता गुह्यं तमो चि यात विश्वमत्रिणम् ।
ज्योतिष्कर्ता यदुद्धमसि ॥
(ऋ० १। ८६। १०)

‘मरुत्-देवो ! प्राणशक्तियो ! हृदय-गुहाके अंधेरेको विलीन कर दो। सब खा जानेवालोंको, राक्षसी शक्तियोंको दूर भगा दो। जिस दिव्य ज्योतिकी हम कामना कर रहे हैं उसे प्रकाशित कर दो।’

उदीर्घं जीवो असुरं आगादप
प्रागात्म आ ज्योतिरेति ।
आरैक् पन्थां यातचे सूर्याया-
गन्म यत्र प्रतिरन्त अस्युः ॥
(ऋ० १। ११३। १६)

‘मनुष्यो ! उठो, हमारे लिये नवजीवनका प्राप्त आ गया है। तामसी निद्राका अन्धकार हट गया है। नयी दिव्य उपाकी ज्योति आ रही है। उसने सूर्यका मार्ग प्रशस्त कर दिया है। हम उस अवस्थामे पहुँच गये हैं जहाँ जीवन-शक्तियों जीवनको बढ़ाती ही हैं।’

परे पेहि मनुस्पापि किञ्चास्तानि शंससि ।
परे हि न त्वा कामये वृक्षां वनानि
सं चर गृहेषु गोपु मे मनः ॥
(अथर्व० ६। ४५। १)

‘ओ मेरे मनके पाप ! दूर हट जा । क्यों निन्दित सलाहें दे रहा है ? परे हट जा, मैं तुझे नहीं चाहता । वनोंमें, वृक्षोंपर जा विचर । मेरा मन तो घरके धन्वोंमें तथा अन्य लोकोपकारक कायोंमें व्यस्त है ।’

इदमिन्द्र शृणुहि सोमप यत्
त्वा हृदा शोचता जोहवीमि ।
वृश्चामि तं कुलिशेनैव वृक्षं
यो अस्माकं मन इदं हिनस्ति ॥
(अथर्व० २। १२। ३)

‘सोमपायी इन्द्रदेव ! सुनिये, मैं आपका ध्यान करता हुआ आपसे पुकार-पुकारकर कह रहा हूँ; जो भी मेरे मनकी हत्या करने आयेगा, मुझे पतनकी ओर ले जानेका प्रयत्न करेगा, उसे काट डाढ़ँगा, जैसे कुल्हाड़ीसे वृक्षको काटा जाता है ।’

शुक्रोऽसि भ्राजोऽसि स्वरसि ज्योतिरसि ।
आनुहि श्रेयांसमति समं क्रम ॥
(अथर्व० २। ११। ५)

‘मेरे आत्मन् ! तू पवित्र है तू तेजोमय आनन्दस्त्रूप और ज्योतिर्मय है । तू मनुष्यके सामान्य स्तरको अतिक्रम करके उच्चतर कल्याणको प्राप्त कर ले ।’

‘अयुतोऽहमयुतो म आत्मायुतं मे चक्षुरयुतं मे
श्रोत्रमयुतो मे प्राणोऽयुतो मेऽपानोऽयुतो मे
व्यानोऽयुतोऽहं सर्वः ।’
(अथर्व० १९। ५१। १)

मैं परिपूर्ण हूँ, मैं अखण्ड हूँ । मेरी आत्मा अखण्ड है, चक्षु-शक्ति अखण्ड है, श्रीशक्ति अखण्ड है । मेरे प्राण विश्वात्माके प्राणसे संयुक्त हैं, मेरे श्वासोच्छ्वास भी विश्वपुरुषके श्वास-प्रश्वाससे संबद्ध हैं । मेरी आत्मा विश्वात्मासे विभक्त नहीं है । मेरी सम्पूर्ण सत्ता उससे अविभक्त एवं अखण्ड है ।’

यत्र ज्योतिरजस्त्रं यस्मिन् लोके स्वर्हितम् ।
तस्मिन् मां धेहि य पवमानामृते
लोके आक्षित इन्द्रायेन्दो परि स्ववा ॥

(ऋ० ९। ११३। ७)

‘आनन्दघन, अमृतस्त्रूप सोमदेव ! परम पावन ! सोमरसकी अनन्त धाराओंके साथ मुझ आत्माके लिये सवित होओ, मुझे उस अक्षय अमृतलोकमें प्रतिष्ठित कर दो जिसमे शाश्रत ज्योति है और अनन्त आनन्दका साम्राज्य है ।

ॐ भूर्भुवः स्वः । तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य
धीमहि । धियो यो नः प्रचोदयात् ॥

(ऋ० ३। ६२। १०, यजु० ३। ३५)

‘सच्चिदानन्द भगवन् ! सकल जगत्के उत्पादक और प्रेरक आप सचितादेवके परम वरणीय तेजका हम नित ध्यान किया करे और उसे अपने अंदर धारण करते रहें । आपकी वह ज्योति हमारी बुद्धियोंको, हमारे विचारों और कायोंको सदा सन्मार्गपर प्रेरित करती रहे, हमारी मार्गदर्शक बनी रहे ।’

इस प्रकार हम देखते हैं कि वेदोंमें चारित्रियके उद्वीधक मन्त्र भरे पढ़े हैं । यदि इन्हें हम अपना आदर्श बना ले तो हमारा चरित्रि सम्पूर्णतया सुनिर्मित हो जाय और हम आदर्श चरित्रिके प्रतीक बन जायें । आज इसीकी राष्ट्रको और समाजको अपेक्षा है, आवश्यकता है ।

सामवेदकी चारित्र्य-संयोजना

(ले०—डॉ श्रीसिंहारामजी सक्सेना 'प्रबर')

इन्द्राय साम गायत विप्राय वृहते वृहत् ।
ब्रह्मकृते विपश्चिते पनस्यवे ॥
(सा० ३८८, १०, ७)

सामवेद गीतिमय सूक्तोंकी संहिता है । उसमें गीतिमय जीवनका उल्लास और गीतिमय चारित्र्यका अनुशासन है । अतः सामवेदकी मुख्य प्रेरणा यह है कि जीवनको संगीतमय—मधुर बनाया जाय, जिससे विश्वमें जीव-जीवके मध्य साम्यभावके स्थापन और प्रसारमें प्रचुर योगदान होनेका पथ प्रशस्त हो सके । ब्रह्मका व्यक्तोन्मुख आदिस्तरूप नाद है । अतः वाणीद्वारा ही उसकी उत्तम उपासना सम्भव है' इसीलिये सामवेदका साप्रह परामर्श है—‘उपास्मै गायतां’^१ परमेश्वरको संगीतमय वाणीके साथ स्मरण करना विशेष उपयुक्त है^२ पुरुहूत इन्द्र,^३ अग्नि,^४ सोम,^५ रुद्र^६ एवं महान् व्यापक ब्रह्मकी उपासनाके लिये सामगान करना चाहिये । पवित्रात्माओंका यशोगान सामके द्वारा करना चाहिये । सामगानसे इन्द्र प्रसन्न होते हैं^७ साथ ही यह भी निर्देश है कि ऋतरूप यज्ञ करते हुए बुद्धिमत्तापूर्ण, मधुर, प्रिय वचन बोलना चाहिये ।”

वाणीद्वारा सुष्टु अभिव्यधन होता है ।^८ आशय यह कि हमें दूसरोंको प्रेरणा देनेवाली एवं उनका सम्मान और अभिनन्दन करनेवाली वाणी बोलनी चाहिये । तभी जीवनमें संगीतमयता, समता, समरसता और सामजिकी संस्थापना होगी ।

सुखद साम्यकी प्रतिष्ठाके लिये ऋत-पथका अनुगमन,^९ तप,^{१०} कर्मप्यता^{११} और सेवा-भावकी^{१२} चतुः-सूत्रीका अनुवर्त्तन बहुत हितकर है । ऋत-पथसंचरणमें परमात्माकी उपासना, ऋत और सत्यमय आचरण, सुमार्गगमिता, आत्मकल्याणका उपाय करना तथा भद्रभावना सम्मिलित हैं । तपमें आत्मशुद्धि, ज्ञान और भक्तिको भी लिया जा सकता है । कर्मप्यतामें कर्म, धर्म, यज्ञ और राष्ट्रभक्तिकी गणना है । सेवाभावके साथ दानको भी उसके सहायक कार्यके रूपमें लिया जा सकता है । ऋत और सत्यका समाश्रय परमात्मा है । यह सर्वस्त्रष्टा, सर्वधाता और सर्वपता है ।^{१३} इन्द्र (परमात्मा) विश्वेश्वर हैं—‘इन्द्रो विश्वस्य राजति ।’^{१४} सामवेदका निर्देश है कि परमेश्वरका अर्चन करो, जो सर्वसमर्थ सर्वविजयी, द्वेषभाव-

१—वाणीसे अर्चना करे ॥—सा० उ० ५। ५। १३, २—‘उपास्मै गायता’ ॥—सा० उ० १२। ५। १८, ३—सा० पू० २। ३। १०। २। ५। १। १०; २। १५। ४। ४। ४। २; सा० उ० २। १। १। ४—सा० पू० २। १३। ४—सा० पू० २। १३। ४, ६, ५—अग्ने त्वा कामये गिरा ॥—सा० पू० १। १। ८; सा० उ० १८। ६। १२ (१); अग्नि न अन्तु नो गिरः ॥—सा० पू० १। ५। ३, ६—सोमाय गाथमर्चत ॥—सा० उ० १३। २। ३ (१), ७—स्तोम रुद्राय द्वीपकम् ॥—सा० पू० १। २। ५, ८—प्रमहिष्ठाय गायत ॥—सा० पू० १। १२। १; सा० उ० ४। ६। १७ (१); विप्रभिप्रगायत ॥—सा० उ० ९। २। ३ (२); इन्द्राय साम गायत विप्राय वृहते वृहत् ॥—सा० पू० ४। ४। ८, ९—युनाभाय प्रगायत ॥—सा० पू० ५। १०। २ पुनानमाभ प्रगायत ॥—सा० पू० ५। १०। ३, १०—सा० उ० १२। ६। १९ (३), ११—सा० उ० १। ५। १९ (२), १२—त्वा गिरो वर्धन्तु या मम ॥—सा० पू० ३। २। ८ ममेद् वर्धस्व सुष्टुतः—सा० उ० १४। १। ५ (३), १३—ऋतस्य पत्या अनु ॥—सा० उ० १८। ३। १४ (२) सुपथा कुण्डोतु वज्री ॥—सा० पू० ४। १२। ४, १४—तपिष्ठैरजरो दह ॥—सा० पू० १। ३। ४ तपसा रवसो दह ॥—सा० पू० १। ११। १०, १५—इन्द्र कतु न आ भर ॥—सा० पू० ३। ३। ७, १६—सिपासन्तो म्नामहे ॥—सा० उ० १। ३। ८ (३), १७—सा० पू० ३। १। ९, १८—सा० पू० ४। ११। १०;

नाशक, ज्ञान-कर्म-शक्ति-संभूति, सत्यस्वरूप और महान् हैं।⁹
 परमात्मासे बड़ा कोई नहीं है।¹⁰ परमात्मा सब मनुष्योंके
 स्वामी हैं—‘त्वं राजा जनानाम्।¹¹ अतः केवल
 परमात्माका यशोगान करना चाहिये और उन्हींकी
 उपासना करनी चाहिये, अन्य किसीकी नहीं।¹² यज्ञ
 करनेवाले साधक केवल इन्द्र-(परमात्मा-) का ही
 स्वधन करते हैं¹³ क्योंकि विश्वकर्मा, विश्वदेव सबसे
 महान् हैं।¹⁴

परमात्माका तेज सबमें व्याप्त है । अतः समस्त
देव उनके सख्यकी कामना करते हैं ।^१ हमे भी
केवल परमात्मासे ही याचना करनी चाहिये; उनसे कौन
नहीं मोगता है ।^२ इन्द्रके दिव्य शासनमें हम सब सुखी
रहते हैं ।^३ उनके साथ हमारा (जीवात्माका) पिता-पुत्र
या माँ-वेटेका सम्बन्ध है ।^४ परमात्मा पिता और भ्रातासे
अधिक माताके समान हैं । वे हमारे माता-पिता और
सर्वस्य हैं ।^५ अतः जैसे पुत्र पिताकी सेवा करते हैं,
वैसे ही परमात्माकी उपासना करनी चाहिये ।^६

वे परमात्मा मनसियों और सुकृतियोंके साथ्य हैं ।
साथ्यका अर्थ है तादात्म्य साथ्य और सहानुभूति ।

१—सा० महानाम्याचिकः ६; सा० पू० ३।५।४, २—सा० उ० १।४।११ (२), ३—सा० उ० ११।१।३ (३), ४—सा० पू० ३।१।१०, ५—वृणुते नान्यं त्वत् ॥—सा० उ० ६।३।७ (३), ६—सा० उ० ११।२।६ (२), ७—सा० उ० ६।७।२२ (२), ८—सा० उ० ६।७।२२ (३), ९—क ईशानं न याचित् ॥—सा० पू० ३।८।५, १०—सा० उ० २०।४।१६ (३), ११—सा० पू० ३।४।५; ४।१२।३; सा० उ० १३।३।६ (१); १२—त्वं हि नः पिता, वसो त्वं माता शतकतो वभूविथ । अथा ते सुम्ममीमहे ॥—सा० उ० ८।६।३ (२), १३—सा० पू० २।१३।५, १४—इन्द्रो मुनीना सखा ॥—सा० पू० ३।५।३, १५—तवेदं सख्यमस्तृतम् ॥—सा० पू० २।१२।७, १६—इन्द्रः स नो युवा सखा ॥—सा० पू० २।२।३, १७—यस्य त्वं सख्यमादिथ ॥—सा० पू० १।१२।२, १८—सखायस्त्वा वृष्टमहे ॥—सा० पू० १।६।८; तवां सोम रारण सख्य इन्द्रो दिवे-दिवे ॥—सा० पू० ५।५।६, १९—सखा सखिभ्य ईड्यशः ॥ सा० उ० १५।१।१ (२) २०—सखित्वं मा वृणीमहे ॥ सा० उ० ३।१।५ (१), २१—भवा नः सुम्ने अन्तमः सखा वृचे ॥ सा० उ० २।३।१२ (३); २२—सा० उ० ५।४।११ (१); २०।१२।२१ (१-२), २३—सा० उ० १६।२।१० (३), २४—तिस्रो वाच ईरयति प्रवहिष्ठृतस्य धीर्तिं ब्रह्मणो मनीप्राम् ॥ सा० पू० ५।६।३, २५—सा० पू० १।४।४, २६—सा० उ० ३।२।३ (२), २७—सत्य श्लवसि ॥ सा० उ० १९।३।११ (३)

और सत्य ही यज्ञ है।^१ हवियोंमें ऐसी सत्य-हवि वन्दनीय है।^२ सत्य-यज्ञसे यिमुख व्यक्ति अन्ती और दस्यु है^३ तथा प्रमादी भी होते हैं।^४ कर्महीन अयज्ञिय व्यक्ति लोभी कुत्तेके समान हैं।^५

सत्यानुयायियोंके लिये परमात्माके कल्याणमय दान होते हैं और वे सत्योपासककी कामनाको व्यर्थ^६ नहीं जाने देते।^७ हमारी विभूति सत्यमयी हो,^८ अतः उस परमदेवके सान्निध्यके लिये हमें अपनेमे देव-भाव जगाना चाहिये—‘देवं देवाय जागृवि।’^९ इस प्रकार आत्म-सुधार करते हुए^{१०} आत्म-कल्याणमें निरत रहना उपयुक्त है।^{११} अतः हम सुमार्गामी बने^{१२} और परमात्माकी भक्तियुक्त उपासना करे।^{१३} प्रकाश-खरूप सद्ब्रह्मको अपने पवित्र हृदयासनपर विराजमान करना ही सच्चा भक्तिभाव है।^{१४} इस प्रकार हम उस विशेषरस-(आनन्द)-के पात्र बन सकते हैं—जो शिवतम है, परम कल्याणमय है।^{१५} जीवनको संगीतमय बनानेके लिये, सामवेदके अनुसार, भद्रभावनाका विस्तार अपेक्षित है। उसका उपसंहृत स्वस्ति-नाचन यह है कि देवताओंकी कृपासे हम मङ्गलमय वचन सुने, हमारे नेत्र कल्याणदर्शनमें समर्थ रहें, हमारे अङ्ग पुष्ट हों और हम विद्याद्वारा नियत आयु प्राप्त करे। पुण्यश्लोक, अविनाशी इन्द्र हमारा मङ्गल करें, विश्वविद् पूषा, अहिंसित आयुधधारी गरुत्मान् और देवाधिदेव बृहस्पति हमारा स्थायी कल्याण

करें।^{१६} इन्द्रके दान कल्याणमय हों—‘भद्रा इन्द्रस्य रातयः।’^{१७} सूर्य और इन्द्रकी उपदर्शन कल्याणमय है—‘भद्रा सूर्ये इचोपद्वक,’^{१८} हमारी आयु, विद्या, धन, यज्ञ, और प्रशस्तियाँ सब भद्र हों।^{१९} प्रभो! हमारे मनको भद्र करो—‘भद्रं मनः कृषुप्व।’^{२०} हमारे मन, अन्तःकरण और कर्म भद्रभावनामय हों।^{२१} भद्रभावना-हेतु परमात्माके अनुदान हैं। एतदर्थ हमें दान-प्रायण होना चाहिये। वेदका आदेश है कि पहले सोमके द्वारा अन्न प्राप्त करो, और फिर उसका वितरण कर दो।^{२२} अन्न देवता सब देवोंसे, ऋतसे भी, पहले जन्मे हैं। जो व्यक्ति अतिथियोंको अन्न देता है, वह मानो सबकी रक्षा करता है। जो लोभी दूसरोंको नहीं खिलाता, अन्नदेव स्वयं उस लोभीका ही भक्षण कर लेते हैं।^{२३} युद्धोंको समाप्त करके, उनमें लगनेवाला धन हमें दो, अर्थात् समाजके हितमें लगाओ।^{२४} इस प्रकार सामवेदने जीवन-संगीत-हेतु अहिंसा-भावका विस्तार किया है। उसका निर्देश है कि हम अहिंसनशील देवका वरण करें,^{२५} उग्र वचन न बोलें—‘उग्रं वचो अपावधीः।’^{२६} हम किसीको हानि नहीं पहुँचायें और परमात्मा भी हमसे अप्रसन्न न हो।^{२७} अहिंसाभावके साथ हममें अभय भी रहना चाहिये—‘नो अभयं कृधि।’^{२८} अहिंसाका पोषक तप है। तपका मुख्य उद्देश्य पाप-राक्षसका दहन है। अतः अग्निदेवसे प्रार्थना है कि वे

१—सा० पू० १। २। ७। सा० उ० ८। २। २ (३) २—सा० उ० ८। २। २ (२) ३—सा० उ० ५। १। ३ (२); १२। ६। २० (३) ४—सा० उ० १६। २। ९ (१) ५—सा० उ० २। ६। २२ (३) ६—सा० उ० १०। १०। १४ (२) ७—विभूतिरस्तु सूर्योत्ता ॥ सा० उ० १६। ३। १५ (२) ८—सा० पू० ३। ३। ६ ९—सा० पू० ३। ७। ८ १०—सा० पू० १। २। ४ (१) ११—सा० उ० १। २। ५ (१) १२—सा० पू० १। ७। ७ १३—सा० पू० १। ३। ३ १४—सा० पू० २०। ७। १० (२) १५—सा० पू० २५। ५। ९ (२) १६—सा० उ० १०। १०। १४ (२) १७—सा० उ० १५। ४। १४ (३) १८—सा० पू० १। १२। ५ सा० उ० १५। ३। १० (१) १९—सा० उ० १५। ३। १० (२) २०—सा० पू० ४। ८। ८ २१—सा० पू० ६। १। ८ २२—सा० पू० ६। १। ९ २३—सा० पू० २। २। १० २४—सा० पू० १। ३। ११ २५—सा० पू० ४। १। २ २६—सा० रिप्पण्यत ॥ सा० पू० ४। ६। ३; सा० उ० ११। २। ५ (१) मा रिपामा वयं तव ॥ सा० उ० ७। ३। ७ (१) २७—सा० पू० ३। ५। २, २८—सा० १। ३। ५, २,

पापोसे हमारी रक्षा करे^१ और हमें प्रतिदिन शुद्ध करते रहें—‘अहरहः शुन्ध्युः।^२ सरस्वती देवीसे प्रार्थना है कि वे हमें पवित्र बनायें।^३ पावमानी ऋचाएँ हमे पवित्र करें,^४ तथा पाप-क्रम और निन्दासे हमारी रक्षा करे।^५ परमात्मा हमें शुद्ध करें। शुद्ध (पवित्र) होनेसे मुख, ऐश्वर्य, आनन्द होते हैं, उत्तम कर्मोंमें आनेवाले विद्ध दूर होते हैं और हिंसाके दोष नहीं रहते हैं।^६ शीक्रकर्मा, बुद्धिमान् पुरुष कर्मोद्धारा अन्न (जीवन-साधन) प्राप्त करते हैं।^७ जो शरीर ब्रतोसे तपाये हुए नहीं हैं, उनमें मन्त्रेश व्याप्त नहीं होते। तपसीके अड्डोंमें दिव्य दीप्ति हो जाती है और उसकी सर्वश रक्षा होती है।^८ अतः हमें सदा ‘शुचिव्रताः’ होना चाहिये। इस प्रकार अपने जीवनमें यज्ञ-भावका विस्तार करते हुए^९ अमृतत्वकी उपलब्धिव^{१०} करनी चाहिये। अमृतत्व ज्ञानसे प्राप्त होता है। परमात्मा-प्रदत्त ज्ञानके द्वारा हम चिरकालतक सूर्यके दर्शन करते रहे।^{११} सूर्य, अग्नि और इन्द्र ज्योतिःस्तरूप हैं, ज्ञानमय हैं।^{१२} सूर्य चराचरके आत्मा हैं—‘सूर्य आत्मा जगतस्तस्युपश्च।’^{१३} अतः हमें प्रतिदिन सूर्य-नमस्कार करना चाहिये।

ऋत—सत्यके धारण करनेसे तथा अहिंसामय सर्वहित-भाव रखनेसे पुरुष सूर्यवत् तेजस्वी हो जाते हैं।^{१४} अग्निदेव हमें ओज और तेज प्रदान करें।^{१५} और अनुग्रहानों-

द्वारा भी हमें तेज प्राप्त हो।^{१६} हम जवतक जियें, ज्योतिःदर्शन करते रहे—‘यामनि जीवा ज्योतिरशीमहि।’^{१७} हम तेज और पौरुषसे युक्त हो।^{१८} तेजके तीन रूप हैं और यह सुर्वाण, गौ तथा सत्यस्तरूप ब्रह्ममें स्थित है और ये क्रमशः (धन), आधिदैविक (सर्वहित) तथा आध्यात्मिक आधिभौतिक (आत्मदीपि) रूपमें विभक्त हैं। ये तीनों तेज हममें हों।^{१९} इनके द्वारा हमें प्रभृत पराक्रमयुक्त धन तथा अन्न प्राप्त हों।^{२०} शक्तिसे ही ऐश्वर्योंका धारण सम्भाल्य है—‘निम्णा दधान ओजसा।’^{२१} इससे हम अपराजेय और विजयी—‘जेतारमपराजितम्’^{२२} होते हैं। ओज-(बल) से बड़े-बड़े शत्रुओंको पराभूत किया जा सकता है।^{२३} इसीसे हम भी इन्द्रके समान देवताओंके रक्षक और पापोंके नाशक—‘देवावीरघ्रांसहा।’^{२४} वन सकते हैं। तेजके साथ ही सुमति, सद्बुद्धि प्राप्त करनेके लिये हमें भगवान्-से प्रार्थना करनी चाहिये।^{२५} मनुष्य सुमतिमय नमन-(विनय-)से महिमा प्राप्त करता है।^{२६} धी-(सुमति-) से मनुष्य विप्र (विशेष गुणयुक्त) हो जाता है।^{२७} अतः श्रेष्ठ बुद्धिकी कामना करनी चाहिये।^{२८} प्रभुकी कृपा-बुद्धिसे हमारी रक्षा हो।^{२९} और हमें सुमति (सद्बुद्धि) प्राप्त हो।^{३०} भगवान् हमें यशस्वी बनाये।^{३१} हमें सब प्रकारसे—धावा-पृथिवीका, इन्द्र-बृहस्पति और आदित्य-सम्बन्धी यज्ञ प्राप्त हो; हीनभाव नहीं आये और हम श्रेष्ठतापूर्वक बोलनेवाले बने।^{३२}

१—सा० उ० १२। १। १(३) २—सा० पू० ४। ५। ६ ३—सा० पू० २। ५। ८ ४—सा० १०। ७। ६ (२-५) ५—सा० उ० १०। ८। ९(२) ६—सा० उ० १३। ३। ९ (१-३) ७—सा० उ० ४। ४। १३ (१) ८—सा० उ० ४। ५। १६ (१-२) ९—सा० उ० १। २। ४ (२) १०—सा० पू० १। ५। २ ११—अमृतत्वाम् घोपयन्॥ सा० पू० १। ४। ९; ५। १। ६, सा० उ० ५। ६। १७ (१) १२—सा० उ० ७। २। ४ (६) १३—सा० उ० २०। २०। ६। ८। ८ (१) १४—सा० पू० ६। ५। ३। १५—सा० पू० २। ४। ८। १७—सा० पू० १। १२। २। १८—सा० पू० ३। ३। ७; सा० उ० १३। ३। ६ (१) १९—सा० पू० ३। ३। १। ११ २०—सा० पू० ६। ४। १० २१—सा० पू० ५। ४। ५ २२—सा० उ० १०। २। ३ (६) २३—सा० उ० ३। ६। १९ (२) २४—सा० पू० २। ७। ६ २५—सा० उ० १०। ६। ६ (६) २६—सा० पू० २। ६। ७ २७—सा० पू० २। ३। ३। ३ २८—सा० पू० २। ३। ९ २९—सा० पू० २। ६। ७ ३०—सा० पू० ३। १। ७ ३१—सा० उ० ६। ३। ८ (१) ३२—सा० उ० ३। १। २ (१) ३३—यगो मा धावा पृथिवी मेन्द्र बृहस्पती।

यशोभगव्य विन्दतु यगो मा प्रतिमूच्यताम्। यशस्त्वस्याः संसदेऽह प्रवदिता स्याम्॥—सा० पू० ६। ३। १०

सुमति और यशकी प्रसूति 'काव्य' है। काव्य, अर्थात् वैचारिकता और मन्त्र-दर्शनका लक्ष्य विश्वाहित है।^१ इसीसे वह प्रिय होता है।^२ सोम सुकर्मा, सुयक्षिय होनेसे कवि है। परमात्माका काव्य देखिये कि उसकी महिमासे, जो आज मरता है, वह कल जन्म ले लेता है। आशय यह कि काव्य अमरत्व-प्रदायक है।

ऋतवान्, ऋत-(सत्य-) यज्ञोतिका प्रतिपालक, पवित्र कर्म 'धर्म' है। ऐसे धर्मकी हम नित्य कामना करते हैं।^३ विश्वरक्षक भगवान् विष्णुने धर्म-(यज्ञादि कर्मानुष्ठानों) को पुष्ट किया है तथा त्रिलोकीमें अपने तीन चरणोंसे उसे दबाया अर्थात् सुरक्षित किया है।^४ मनुष्यको उनका अनुसरण करके धर्म-धारण करना चाहिये। धर्मका धारण बलवान् ही कर सकते हैं— 'वृपा धर्माणि दग्धिपे'^५। अतः हमें शूरवीर और दृढ़मति 'शूर उत स्थिरः' होना चाहिये। बल, शौर्य और स्थैर्य धारण करनेका वेदका आदेश है।^६ इन्द्र स्वयं कर्मशील— शतकर्तुर्है। अतः हमें भी कर्मशील होना चाहिये।^७ और, परमात्माकी योजना जानकर— 'विदाना अस्य योजना'^८— अपनी जीवनचर्या चलानी चाहिये, अपने कर्मोंका स्वरूप निश्चित करना चाहिये। परमात्माकी चरण-रजमें सब संनिविष्ट हैं। उनकी महिमा समश्कर कर्म और उपासना करो।^९ हम— 'मन्त्रश्रुत्यं चरामसि' वेद-विहित कर्म करें, निपिद्ध कर्मोंसे बचें।^{१०} हमारे सभी कर्म परमेश्वरको प्राप्त होते हैं।^{११} इन्द्र

समस्त कर्मोंके धारण-कर्ता है और बहुस्तुत मुवन-रक्षक हैं।^{१२} वे ही हमें कर्म-फल प्रदान करते हैं।^{१३} वे अकर्मण्यके मित्र नहीं होते।^{१४} वे कर्मवानोंके संकट दूर करते हैं और सत्पुरुषोंके रक्षक हैं, साथ ही कर्महीनों और दस्युओंके उपद्रवोंको शत्रुओंसहित नष्ट करते हैं।^{१५} वे सोमयागको सत्यसे पूर्ण करते हैं।^{१६} अतः उस कल्याणरूप प्रभुको हम उत्तम, सुन्दर कर्मोद्वारा चाहते हैं, उसकी उपासना करते हैं— 'चारु सुकत्ययेमहे।'^{१७} मित्र और वरुणदेव कर्मफलके बढ़ानेवाले और साधकपर कृपा करनेवाले एवं प्रकाशके पालनकर्ता हैं। उनका आह्वान करना चाहिये।^{१८} शान्तभावसे कर्ममें लगा हुआ मनुष्य दिव्य गुणोंसे युक्त हो जाता है, और भगवान् उसकी रक्षा करते हैं। वह शत्रुओंको पापके समान लौघ जाता है।^{१९} हमें लोक-रक्षाके लिये हाय वढाना चाहिये— सदा उद्धत रहना चाहिये तथा प्रकर— कुशलकर्मी और कर्म-परायण होना चाहिये।

इस प्रकार सामवेद अन्युदय और नि:श्रेयस् दोनोंका उपाय बताता है और ऐसी योजना करता है कि जिससे सदा और सर्वत्र जीवन-संगीतकी मधुरिमा बनी रहे। 'यहौं धी-दूध और वहौं भी मधु'^{२०}, यह उसका मन्तव्य है। वरुणदेव हमारी इन्द्रियोंके धर-रूप देहको तथा पारलैकिक स्थानोंको भी उत्तम ज्ञान-रससे सींचते हैं।^{२१} इन्द्र परमानन्दके सार-रूप जलकी वर्पा करे।^{२२} सत्य-

१—अभिविश्वानि काव्याः ॥—सा० उ० ३।१।१। (१); १८।४।१६ (१)—अभिप्रियाणि काव्याः ॥ सा० उ० १९।५।१८ (२), २—सोमो यः सुक्रुतुः कविः ॥—सा० उ० ३।१।१ (१); १८।४।१६ (१);—देवस्य पद्य काव्यं महित्वाद्यो ममार स द्यः समान ॥—सा० पू० ३।१०।३, ३—सा० उ० १८।४।१९ (१), ४—सा० उ० १८।२।५ (२), ५—सा० पू० ५।४।८; सा० उ० ३।१।३ (१), ६—सा० उ० ३।६।१८ (१), ७—सा० पू० २।१२।९; ८—सा० पू० २।११।९, ९—सा० पू० २।७।२, १३—सा० पू० ४।१२।५, १४—इन्द्रो विश्वस्य कर्मणो धर्ता बज्री पुष्पष्टुतः। सुवनस्य गोपाः ॥—सा० उ० १०।१।१ (१), १५—सा० उ० ५।३।३ (२), १६—सा० उ० १२।२।४ (२), १७—सा० उ० ४।२।८ (३), १८—सा० उ० ४।२।२।६ (२), १९—सा० उ० ४।१।३ (१), २०—सा० उ० ३।२।३ (२), २१—सा० पू० ४।२।२—सा० पू० २।१।१४, २२—सा० पू० २।१।१०, २३—सा० उ० ३।२।४ (१), २४—सा० उ० १३।१।१० (३);

पालनसे सुख होता है;^१ क्योंकि सत्य ही सच्चा धन है।^२

परमात्म-प्रदत्त, न्यायार्जित धन और बलसे ही वृद्धि होती है।^३ अद्वेष्टको भगवान्‌के द्वारा सब काम्य पदार्थ प्रदान किये जाते हैं।^४ धृतिशील उपासकको धन मिलता है।^५ धन स्थिरमति और दृढ़ पुरुषके पास आते और ठहरते हैं।^६ सामवेदका परामर्श है कि धनदाताओंके लिये बुरे शब्द नहीं कहे जाते। धन देनेवालेकी प्रार्थना या प्रशंसा न करनेवालेको धन नहीं मिलता। सोम-संस्कारके समय देय धनको सुन्दर स्तुति गानेवाला ही धनिक इन्द्रसे प्राप्त करता है।^७ परमात्मासे प्रार्थना है कि वे धन आदिको पवित्र करके हमें प्रचुर रूपमें प्रदान करें।^८ अग्निदेव हमारे लिये अतिस्युहणीय, पवित्र, सुनीति-द्वारा अर्जित और सुयश-विस्तारक धनकी वृद्धि करे।^९ धन, बल, ज्ञान आदिकी प्राप्ति परमात्मा और विश्वकी सेवाके लिये है। सेवायोग्य परमात्मा हैं,^{१०} विश्व-रूपमें भी उन्हींकी सेवा है। कर्मका विधान करनेवाले सोम खर्य सेवा-कार्यमें संलग्न हैं।^{११} परमात्माकी कृपासे प्राप्त समस्त यज्ञ-साधनोंके द्वारा हम परमात्माकी सेवा और स्तुति करे।^{१२} गाय यज्ञका विशेष साधन है, अतः गोभक्त ही परमेश्वरका स्तोता हो सकता है—स्तोतामे (‘गो-सखा स्यात्’)^{१३}। गोसखा होना जीवनमें संगीत-माधुरीका प्रवाह करना है। विश्व-सेवा ही यज्ञ-भाव है। यज्ञके लिये हमारे मनमें आदर हो।^{१४} यज्ञ सत्यधर्म होता है।^{१५} यज्ञसे दिव्य

(तेजस्वी) इदियों एवं दीप्ति और आयुका अभिवर्धन होता है। यज्ञका जिससे विस्तार हो उस विश्व-हित-भावको हमारी स्तुतियों बढ़ाये।^{१६} यज्ञके हेतुसे इन्द्रकी शरणमें जानेवाले व्यक्ति पवित्र, निष्पाप, विश्वपोपक और दानादि गुण-युक्त हो जाते हैं।^{१७} इस प्रकार दिव्य-गुण, आह्वाद और आनन्द प्राप्त करो।^{१८} इसीलिये धीर (बुद्धिमान्) पुरुष प्रभुके ब्रतोंको नहीं छोड़ते।^{१९}

यज्ञसे देव-भाव प्राप्त होता है; और देव ही देवोंमें प्रशस्त होते हैं—‘देवा देवेषु प्रशस्ता’^{२०} विश्व-सेवासे ही सूर्यदेव स्तुत्य हुए हैं। वे अन्नदानके कारण सबसे बड़े दानी, तेजस्वी होनेसे महान् और प्रकाश प्रदान करनेसे सबसे श्रेष्ठ हैं।^{२१} अतः पिताके समान उत्पत्तिकर्ता, रक्षक और हितैषी मित्र वायुदेव हमें जीवन-यज्ञमें समर्थ बनायें और हमारे जीवनको ऐश्वर्य-सम्पन्न करें।^{२२} सेवा-भावकी सघनता राष्ट्र-भक्तिमें व्यक्त होती है। राष्ट्र-भक्तिकी भावना सामवेदमें दृढ़ की गयी है। सामवेदके एक सूक्तकी टेक ‘वस्वीरनु स्वराज्यम्’^{२३} है। एक अन्य मन्त्रमें भी यह है।^{२४} ‘अर्चन् ननु स्वराज्यम्’^{२५} की टेक भी एक सूक्तमें है। इन सबसे यह ध्वनित है कि राष्ट्रकी सेवा उपासना-भावसे होनी चाहिये। राज्य-(राष्ट्र-)की रक्षा करो^{२६}—यह सामवेदका स्पष्ट निर्देश है। राष्ट्रकी रक्षाके लिये रक्षा-प्रणालीपर भी परस्पर विचार करना चाहिये।^{२७} यदि राष्ट्र-रक्षा और दुर्गेंके दमनके लिये क्रोध किया जा रहा हो, तो ऐसा क्रोध भी श्रद्धेय है।^{२८} इन कथनोंमें ‘स्वराज्य’का

१—सा० पू० १। १। ९, २—सा० उ० १९। ३। ११ (३), ३—सा० पू० ३। ७। ८, ४—सा० पू० ५। ८। ६, ५—सा० उ० ६। ५। १४ (३), ६—सा० पू० २। १०। ४, ७—सा० उ० ४। ४। १३ (२), ८—तत्रः पुनान आ भर ॥—सा० उ० ६। ४। १३ (१), ९—सा० पू० १। ४। ९, १०—सा० महानाम्याच्चिकः ९, ११—सा० पू० १। १। ५, १२—सा० उ० १। ३। ८ (३), १३—सा० उ० २०। ७। १९ (१), १४—यज्ञाय सन्त्वद्वयः॥—सा० उ० १। ५। १० (३), १५—सा० पू० १। ५। १२, १६—सा० उ० २। १। ४ (३), १७—सा० पू० ४। १०। ६, १८—सा० उ० ५। १। ७। २२ (१—२), १९—तत्त्व व्रतानि न मिनन्ति धीराः ॥ सा० उ० २०। ३। १। ११ (२), २०—सा० उ० ८। १। ३। ४ (२), २१—सा० उ० २०। १। १। ११ (२), २२—सा० उ० २०। ७। १। ११ (२—३), २३—सा० उ० ६। ५। १। १५ (१—२), २४—सा० उ० ११। १। २ (३), २५—सा० पू० ४। ७। १—२, २६—सा० पू० ४। ९। ६, २७—सा० उ० १६। ३। १। ५ (३), २८—सा० पू० ४। ३। २।

आध्यात्मिक अर्थ भी है। 'स्व'के राज्यका आशय अत्मानुशासन, मनोजय, आत्म-शक्ति-वर्वन भी है। जहाँ 'राज्य' और 'राष्ट्र' शब्द हैं; वहाँ अभिप्राय 'राष्ट्र'से ही है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सामवेदमें चरित्र-विधानकी योजना जीवनके प्रत्येक क्षेत्र और अङ्गको हो जाय।

—८५७७—

वैदिक चारित्र्य एवं ऋग्वेदके प्रेरणा-मन्त्र

(लेखक—डॉ० श्रीत्रिभोवनदास दामोदरदास शेठ)

ऋग्वेद ईश्वरको सर्वोच्च प्रेरणा-स्रोत मानकर भिन्न-भिन्न रूपोंमें उसकी स्तुति करता है। वैदिक चरित्र-निर्माणका पथ-प्रदर्शन करनेवाली अपौरुषेय वाणीका धाराप्रवाह हमारे चित्त एवं चिन्तनको पवित्रतासे परिपूर्ण वायुमण्डलमें लाकर मानवजीवनके अनुत्तम सत्यसे साझात् करा देता है। वेदोंकी यह विशेषता है कि वे ज्ञान और कर्मसे भावित कर्मको परिपृष्ठ कर ईश्वरकी शरणागतिको ही श्रेयोमार्गमें महत्त्वपूर्ण मानते हैं। वे ईश्वरसे प्रार्थना करते हैं कि ईश्वर हमें सन्मार्गपर लाये, हमारे अन्तः-करणको उज्ज्वल आत्मश्रेयके सर्वोच्च शिखरको प्राप्त करा दे। वेद आत्मविकासके लिये ईश्वरी कृपाको ही साथ्य एवं साधन मानकर ईश्वरको ही पथप्रदर्शक आत्मबलदायक एवं प्रेरणादायी परम स्रोत मानते हुए प्रार्थना करते हैं कि वह हमें अपनाये। श्रेयोऽर्थकी, भक्तोंकी यही इच्छा सर्वश्रेष्ठ मानी गयी है। ऋग्वेदके कई-कई प्रेरणामन्त्र आत्मश्रेयके लिये ईश्वर-कृपाकी याचनाकी निष्ठाके ज्ञापक हैं। उस आनन्दमयकी सेवारूप एवं ऋषि-संस्कृतिके क्रिया-खरूप चतुर्विंव पुरुषार्थको प्राप्त कर अभ्युदय और निःश्रेयसको प्राप्त होकर, जीवनको सामर्थ्यसम्पन्न, ऐश्वर्यसम्पन्न एवं आत्मबलसम्पन्न बनाना हमारे चारित्रिक दृष्टिकोणका लक्ष्य है।

जीवन-दर्शनका स्पष्ट आदर्श समक्ष न होनेसे जनता भ्रामक विचार-प्रवाहमे वह जाती है। किंतु भारतीय

परिव्याप्त करनेवाली है। आधिमौनिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक, आर्थिक और सामाजिक, मानसिक और नैतिक एवं राष्ट्रिक और राजनीतिक सभी स्तरोंपर चरित्र-निर्माणकी ऐसी विधि बतायी गयी है, जिससे दिव्य-संगीत मनुष्यके समग्र जीवनमें तरङ्गायमान दिव्यसंगीत मनुष्यके समग्र जीवनमें तरङ्गायमान हो जाय।

संस्कृतिका ध्येय एवं उसकी प्राप्तिके श्रेयोमार्गका स्वरूप स्पष्ट है। वह नरको नारायण बनाती है। मानव-चरित्रको परिपूर्ण बनानेके लिये मानवकी वृत्तियों एवं प्रवृत्तियोंको भागवनी चेतनामें ओतप्रोत और जीवनको ऐश्वर्य, चिदानन्द रस एवं माधुर्यको जगानेके लिये वैदिक संस्कृति सचेत है।

ज्ञान और कर्मके अन्तिम परिणामरूप भक्ति और उस भक्तिके अन्तिम परिणामरूप उन विराट् विश्वरूप पुरुषोत्तमकी शरणागति—यही जीवात्माका कथित वैदिक चारित्र्यका सर्वोत्तम स्वरूप है। उत्तम पुरुष ज्ञान और कर्मके सुभग मार्गसे होकर परमानन्दके पश्चर अग्रसर होनेका यत्न करता है। अन्तस्तलकी वृत्तिरूप पूजाकी रसानुभूतिमें रसात्ममय होकर पुरुष पुरुषोत्तमको प्राप्त करता है। ज्ञानकी पराकाष्ठापर भक्तिका उदय होकर भक्तिके सदा परिपूर्ण होनेसे, वृत्तिमें मुक्तिकी वासना भी नहीं उठती। ऐसा जीवन ही ऋषि-संस्कृतिका आदर्श है। हम संस्कृतिके प्रदानको समझे और उत्तम जीवन जीएँ—यही वेदोंकी भावना है।

वैदिक चारित्र्यका प्रारम्भ सदाचारसे होता है। निपिद्ध प्रवृत्तियोंमें मनका संयम ही सदाचारका कारक है। जिससे आचार एवं विचार एक हो, उसका मूल बीज मनका संयम है। इसके संयमसे ही मनोजय होता

है। मनःसंयमके लिये अपेक्षित सामर्थ्य ब्रह्मचर्यसे प्राप्त होती है। समस्त सदाचारोंकी सिद्धिका वीज ब्रह्मचर्यमें निहित है। जैसे वीजमें स्थित सूक्ष्मांशोंसे वृक्ष फलता-फलता है, उसी प्रकार ब्रह्मचर्य एवं तजन्य जितेन्द्रियता या मनोजयसे समस्त आचरणोंमें सामर्थ्य, पवित्रता, चैतन्य एवं दिव्यताका संचार एवं वहन होकर सिद्धि प्राप्त होती है। अतः चरित्र-निर्माणका आधारस्तम्भ ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्यके अभावमें कोई भी कर्म मङ्गलकारी नहीं बनता। ब्रह्मचर्य-संयमसे समस्त धार्मिक कर्म, मर्यादाएँ एवं श्रेय-प्रेयके कार्य सुगमतासे हल किये जा सकते हैं।

माता-पिताके धर्ममय शुभ संस्कारोंसे उत्थन हुई धर्मावलम्बन करनेवाली सतति-प्रम्परा वैदिक जीवनसे शिक्षा पांकर चरित्र-निर्माण करके श्रेयः साधनोंमें समर्थ होती है। व्यक्ति समाजका मूल है। वैयक्तिक चरित्रके निर्माणसे ही सामाजिक चारित्र्यका निर्माण सिद्ध किया जा सकता है। व्यक्तिसे परिवार, परिवारसे ग्राम एवं ग्रामसे राष्ट्रका निर्माण होता है। अतः वैयक्तिक उत्थानसे ही मानव-समाजका उत्थान सम्भव है। अतएव संस्कृति-निर्माणमें वैयक्तिक उत्थान ही मूल कारण है। अतः व्यक्तिको संस्कार-सम्पन्न बनाकर वैयक्तिक उत्थान-द्वारा सामाजिक क्रान्ति हमारे धार्मिक साहित्यकी साधना है। ऐसा होनेपर ही सामाजिक चारित्र्य दूषण-रूप नहीं; अपितु भूषण-रूप बनेगा। इसीलिये व्यक्तिके चित्त-वृत्तिरूप राज्यमें प्रतिपल पवित्र, वरेण्य एवं उर्वर विचार-सत्ति निरन्तर बहती रहे, जिससे अन्तःकरण दैवी सम्पदाओंका केन्द्र बने।

ॐ भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भग्नो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्।
(ऋ० ३। ६२। १०)

‘सच्चिदानन्दस्वरूप परमात्मन्! आपके प्रेरणादायी विशुद्ध तेजःस्वरूपभूत दिव्यरूपका हम अपने हृदयमें

नित्य ध्यान करते हैं। उससे हमारी बुद्धि हमेशा प्रेरित होती रहे। आप हमारी बुद्धिको अपमार्गसे रोककर तेजोमय शुभ मार्गकी ओर प्रेरित करें। उस प्रकाशमय पथका अनुसरण कर हम आपकी ही उपासना करें एवं आपको ही प्राप्त होवें। हमारी इस प्रार्थनाको आप पूर्ण करें; क्योंकि आप ही पूर्णकाम हैं, सर्वज्ञ हैं एवं परम शरण्य और वरेण्य हैं’—

न ह्यन्यं चन्द्यकरं मणिडत्तारं शतकतो । त्वं न
इन्द्र मृडय ॥ (ऋ० ८। ८०। १)

‘विश्वरूप प्रभो ! आपसे भिन्न अन्य कोई सुखदाता नहीं है। फिर हम अन्यत्र क्यों भग्नके ? हे सुखस्वरूप ! सत्यतः आप ही सब सुखोंके मूल स्रोत हैं। हमें कही सुख चाहिये, जो साक्षात् आपसे प्राप्त हुआ हो। उसी सुखसे हमारा चित्त तुष्ट हो ।’

हृदि स्पृशस्ते आसते सोम विश्वेषु धामसु ।
अथ कामा इमे मम वस्त्रयो
वि वो चितिष्ठन्ते चिवक्षसे ॥
(ऋ० १०। २५। २)

‘अमृतस्वरूप प्रभो ! इस विश्वरूप धाममें सर्वत्र विराजमान, आपसे ही वासके इच्छुक हम उपासकोंकी, आपकी प्रसन्नतामें ही स्थित-स्थिर रहती हमारी हृदयस्पर्शी कामनाएँ विशुद्ध होकर महान् बने। सर्वदा एवं सर्वस्थानोंमें आपको ही पानेकी और नित्य आपहीमें वास करनेकी हमारी कल्याणमयी इच्छासे आप प्रसन्न होकर उसे बढ़ावें। प्रभुके हृदयतक पहुँचानेवाली हमारी एकाग्रता वा जिज्ञासाका सहज स्वरूप ऐसा हो, जिससे उत्थित प्रयेक कामना प्रभु-प्रीत्यर्थ बनें।

संगच्छध्वं संवद्धवं सं वो मनांसि जानताम् ।
देवा भागं यथापूर्वे संज्ञानाना उपासते ॥
(ऋ० १०। १९१। २)

‘मनुष्यो ! सम्यक् मार्गपर चलो। सम्यक् वाणीको बोलो। अपने मनसे ज्ञानको सम्यक् प्रकारसे जानो’—

जिस प्रकार सृष्टिके आरम्भसे देव अपने-अपने कर्तव्यको सम्यक्तया (अच्छी तरह) जानकर पूर्ण करते हैं। हम सन्मार्गपर, श्रेयोमार्गपर ऐसे मिलकर चले, जिससे परस्परका एकत्र न ढूटे। हमारी वाणी ऐसी होनी चाहिये, जिससे श्रेयके साथ-साथ पारस्परिक एकता बनी रहे। हमें भय ज्ञान इस तरह प्राप्त करना चाहिये जिस तरह पारस्परिक प्रीति बिगड़े नहीं।

यह संगठन या सम्भव सूक्त है। मनद्वारा जो ज्ञानकी एकता स्थापित होती है, वही सच्ची एकता है। अस्ति, वायु आदि देवता संसारके संचालनमें, अपने कर्तव्यमें प्राप्त कार्योंको अच्छी तरह समझकर परस्पर एक-दूसरेके अविरोधी बनकर, एक-दूसरेके पूरक बनकर, जैसे यथायोग्य रीतिसे सम्पन्न करते हुए कठिन कार्योंमें भी सफल होते हैं, उसी तरह मनुष्योंको भी करना चाहिये। परस्परकी एकता—यह दैवी प्रबृत्ति है।

मा चिदन्यत् विशंसत् सखायो मा रिभण्यत् ।
इन्द्रमित् स्तोता चृष्णं सन्या
सुते मुहुरुक्थ्या च शंसत् ॥
(श० ८।१।१)

‘हिताकाङ्क्षी उपासको ! सब एकाग्र होकर प्रसन्न होनेपर अभीष्टको पूर्ण करनेवाले परमेश्वरकी ही स्तुति करो एवं उनके ही गुणों वा मंहिमाका वारम्बार चिन्तन करो, कीर्तन करो। परमात्माके अतिरिक्त अन्य किसीकी भी उंपासना न करो, आत्मश्रेयका नाश न करो। हम भगवान्का ही अनन्याश्रय लेकर उनमें ही तन्मय बने।’

तन्तुं तन्वनजसो भानुमन्चिह्नं
ज्योतिष्मतः यथो रक्ष धियाकृतान् ।
अनुल्वणं चयत् जोगुवामयो
मनुर्धय जनया दैत्यं जनम् ॥
(श० १०।४।५३)

‘मनुष्य ! तू ज्ञानके प्रकाशक प्रभुका अनुगमन करता हुआ, उत्तम बुद्धिसे संतति-परम्पराका विस्तार करता हुआ; उनकी वनायी तेजस्वी प्रणालियोंकी रक्षा कर। जिज्ञासुओंके पर्व-कर्मोंको यथायोग्य रीतिसे कर, मननशील नन और दिव्य संततिको उत्पन्न कर। हम आत्ममन्थनपूर्वक धर्ममार्गका अवलम्बन करते हुए ज्ञानज्योतिसे अनुप्राणित पवित्र बुद्धिसे श्रेष्ठ संतति उत्पन्न कर दैवी सम्पदाका विस्तार करे। वैदिक संस्कृतिकी मूलभित्ति त्याग और तपस्यापर आश्रृत है।’

नू अन्यत्रा चिदद्रिवस्त्वन्नो जगमुराशासः ।
मधव छग्धि तव तन्न ऊतिभिः ॥
(श० ८।२४।११)

‘भगवन् ! संसारको धारण करनेवाले हमारी अभिलापाएँ आपको छोड़कर अन्यत्र कहीं कदापि न गयी हैं, न जाती है; अतः आप अपनी कृपाद्वारा हमे सब प्रकार सामर्थ्यसे सम्पन्न करे। हम ईश्वरको अनन्य एकाग्रतासे, उपासनासे प्रसन्न करें और वह हमारे योग-क्षेमादिको सर्वदा सम्पन्न करे।’

सोम रारन्धि नो हृदि गावो न यवसे वा ।
मंथ इव स्व ओक्ये ॥
(श० १।९।१३)

जिस तरह जौके खेतमें गाये और अपने घरमें मनुष्य आनन्दपूर्वक रमण करता है, उसी प्रकार आप भी हमारे हृदयमें आनन्दपूर्वक रमण करे। हमारे हृदयमें नित्य ही निवास करके परम संतोष उत्पन्न करें, हमारी बुद्धिको प्रकाशित करें।

नद्यज्ञं नुवो त्वदन्यं विन्दामि राधसे ।
राये द्युमनाय शवसे च गिर्वणः ॥
(श० ८।२४।१२)

‘जगत्को यन्त्रकी भौति न चानेवाले ! सावनाकी

सिद्धिके लिये हम किसी अन्यका आश्रय नहीं लेते।

हे भजनीय ! सम्पत्तिके लिये, तेजके लिये एव सामर्थ्यके लिये हम विसी अन्यकी और नहीं रखते । हमारी जीवनसाधनाके एकमात्र आधार आप ही हैं ।

नहि ते दूर राधसो

अन्तं विन्दामि सत्रा ।

दशस्या नो मधवन् नू चिद्,

अद्विद्वो धियो वाजेभि राविभ ॥

(कृ० ८ । ४६ । ११)

शौर्यस्वरूप प्रभो ! तत्त्वतः आपके ऐश्वर्यका अत्त हम नहीं जान पाये हैं । अतः परम ऐश्वर्यसम्बन्ध । अप्रतिहत सामर्थ्यवाले । उसे हमें अवश्य प्रदान करके ज्ञानशक्तिसे हमारी दुष्क्रिया एवं कर्मोंकी रक्षा करें ।

यह तो ऋग्वेदके प्रेरणादायी मन्त्रोंकी एक झलक-मात्र है । वस्तुतः ऋग्वेदके सभी मन्त्र प्रेरणादायी हैं । उन मन्त्रोंकी हित्य प्रेरणासे हमारे कर्म, हमारा चारित्य दिव्य बने, यही सेव्य है, उपास्य है ।

आयुर्वेदमें चारित्रिक उपदेश

(लेखक—वैद्य श्रीबालकृष्णजी गोस्वामी, आयुर्वेदाचार्य (स्वर्णपदकप्राप्त) आयुर्वेद-वृहस्पति)

आयुर्वेदवाङ्मयमें स्वस्थ व्यक्तिके लक्षणोंमें आत्मा, मन एवं इन्द्रियोंकी प्रसन्नताका समावेश किया गया है । खास्थ्यका मूल हृदयकी पवित्रता है और इसके लिये जीवनमें चरित्र आवश्यक है । उत्तम चरित्रमें आत्मा एवं मनकी प्रसन्नता निहित है । इसी लक्ष्यको दृष्टिगत रखते हुए आचार्योंने पदे-पदे चारित्रिक उपदेशोंके माध्यमसे सुखायु और दीर्घायु-प्राप्तिके सूत्रोंका समुल्लेख किया है ।

चरित्रिका निर्माण विचार, अनुभव, कर्म एवं संस्कारोंसे होता है । चरित्र नैतिक सदाचारका मुख्य अङ्ग है तथा यह आव्यालिकताका मार्ग प्रशस्त करता है । शंकराचार्यके वेदान्त (३ । १ । ९.) भाष्यके अनुसार चरित्र, शील एवं सदाचार पर्यायवाची शब्द हैं—‘चरणं चारित्रमाचारः शीलमित्य-र्थान्तरम् ।’ इसके अतिरिक्त अनुग्रान, व्रतकर्म, स्वभाव, चेष्टा एवं लीला-शब्दोंको भी चरित्रिके समानार्थ व्यवहृत किया जाता है । चारित्रिक गुणोंमें क्षमा, सत्यता, गुरुसेवा, नम्रता, अहिंसा, धैर्य, त्याग, अनासक्ति, ईश्वराराधन, दानशीलता तथा आत्म-संयमका प्रमुख स्थान है ।

महर्षि चरकने आयुर्वेदके प्रयोजनद्वय—स्वस्थके स्वास्थ्यरक्षण तथा आतुरके रोगशमनके लिये चरित्रिकी आवश्यकतापर बल दिया है । आचार्यने ‘निवृत्तिः पुष्टि-कराणां श्रेष्ठम्’ कहकर स्पष्ट किया है कि शान्तचित्तता भी पुष्टिकारक है । पुष्टिका उद्देश्य स्वास्थ्यरक्षण है । इसी प्रसङ्गमें ‘प्रशमः पथ्यानां श्रेष्ठम्’ कहकर यह निखलित किया है कि रोग-निवारण-हेतु सर्वोत्तम पथ्य कामादि दोषोंका निराकरण है । चारित्रिक दुर्बलताएँ शारीरिक एवं मानसिक रोगोंको जन्म देती हैं । सदाचार अर्थात्—चरित्र ही प्रथम धर्म है । धर्मच्युत व्यक्ति कभी भी सुख एवं शान्तिको प्राप्त नहीं कर सकता । वाभट्टने इसी प्रयोजनसे धर्म-प्रायण होनेकी आज्ञा दी है—सुखं च न विना धर्मस्तस्माद्धर्मपरो भवेत् । (अ० ह० २ । २०)

अर्वमूलः (अशुभ, अहितकर) कार्यादि करनेसे दुःख (रोग) उत्पन्न होता है । उसे दूर करने-हेतु जो उपाय किया जाता है, उसे प्रायश्चित्त कहते हैं । चरकने चिकित्सास्थानमें प्रायश्चित्तको भी भेपजके पर्याय-रूपमें प्रतिष्ठित किया है ।

आरोग्य-प्राप्तिके साधनोंमें चरित्रकी भूमिका प्रति-
पादन करते हुए महर्षि चरकने स्पष्ट किया है—

नरो हिताहारविहारसेवी
समीक्ष्यकारी विपर्येष्वसक्तः ।
दाता समः सत्यपरः क्षमावा-
नासोपसेवी च भवत्यरोगः ॥
 (च० सृष्टि० २ । ४६)

—हितकारी आहार-विहार सेवन करनेवाला, शुभाशुभकी समीक्षा करनेवाला, विपर्येषमें अनासक्त, दानशील, समतायुक्त, सत्यवादी क्षमाशील एवं गुरुजनोंकी सेवा करनेवाला मनुष्य आरोग्यकी प्राप्ति करता है । सुख देनेवाली मति, सुखकारक वचन एवं सुखकारक कर्म, अपने अधीन मन और शुद्ध पापरहित बुद्धि जिनके पास है तथा जो ज्ञान प्राप्त करने, तपस्या करने और योग-सिद्ध करनेमें तत्पर रहते हैं, उन्हें शारीरिक एवं मानसिक रोग नहीं होते । उत्तम चरित्रसे बुद्धि, धैर्य एवं सरणशक्तिका विकास होता है । इन तीनोंके क्षीण होनेकी अवस्थामें किये गये अनुचित कार्य प्रज्ञापराध कहलाते हैं । सभी आगन्तुक एवं मानसिक रोगोंका कारण प्रज्ञापराध ही है—

धीधृतिस्मृतिविभ्रष्टः कर्म यत्कुरुतेऽशुभम् ।
प्रज्ञापराधं तं विद्यात्सर्वदोपप्रकोपनम् ॥
 (च० स० १)

आयुर्वेदोक्त रसायनका सेवन करनेसे दीर्घ आयु, स्मरण-शक्ति, मेधा, आरोग्य, यौवन, प्रभा, सुवर्ण, देहसे उत्तम बलकी प्राप्ति, वाक्-सिद्धि, नम्रता एवं कान्तिका अभ्युदय होता है । उपर्युक्त गुणोंके समुचित प्राप्तिहेतु अग्निवेशने रसायनाध्यायमें आचारका समावेश किया है । तदनुसार सत्य बोलनेवाले, क्रोध न करनेवाले मद्य एवं मैथुनसे निवृत्त, अहिंसक, अतिश्रम न करनेवाले, शान्त, प्रियवादी, जप और पवित्रतामें तत्पर, धीर, दानशील, तपसी, देवता, गौ, आचार्य, ब्राह्मण एवं बृद्धोंकी सेवामें तत्पर, कूरतासे विरत, सर्वत्र उज्ज्वल कर सकते हैं ।

अहंकार-रहित, उत्तम आचार-विचारवाले अध्यात्म-विषयोंमें प्रवृत्त, आस्तिक, धर्मशास्त्रको पढ़नेवाले तथा जिनात्मा व्यक्ति सदा रसायनयुक्त होते हैं ।

भगवान् आत्रेयने कहा है—मनुष्यको देवता, गौ, गुरुकी पूजा, प्रातः-सायं संच्या करना, सदा प्रसन्न रहना, दूसरोंपर आपत्ति आनेपर डया करना, सामर्थ्यके अनुसार दान देना, अतिथि-पूजा करना, समयपर हितकर मधुर एवं अल्प वचन बोलना तथा जितेन्द्रिय एवं धर्मात्मा होना चाहिये । दूसरेकी उन्नतिके कारणोंमें ईर्ष्या करनी चाहिये; पर उनके फलमें ईर्ष्या नहीं करनी चाहिये । निश्चिन्त, निःर, लज्जायुक्त, बुद्धिमान्, उत्साही, चतुर, क्षमायुक्त एवं आस्तिक होना चाहिये । जिनकी जीविकाका कोई साधन न हो तथा जो व्याधि और शोकसे पीड़ित हो, यथाशक्ति उनकी पीड़िको दूर करनेका उपाय करना चाहिये । याचकोंको खाली हाथ नहीं जाने देना चाहिये । अभ्यागतके गृहागमनपर उसके बोलनेसे पूर्व ही कुशल-क्षेम पूछना चाहिये । गुणोंमें श्रेष्ठ, दूसरेके स्वभावको जाननेवाले, शारीरिक एवं मानसिक दुःखोंसे रहित, सुख और शान्त, प्राणिमात्रको अच्छे मार्गोंका उपदेश करनेवाले और जिनकी गाथा सुनने एवं दर्शन करनेसे पुण्य होता है, ऐसे महापुरुषोंका साथ करना चाहिये । मनुष्यको क्रोधी व्यक्तियोंको विनयके द्वारा प्रसन्न करनेवाला, भययुक्त व्यक्तियोंको आश्वासन देनेवाला, दूसरेके कठोर वचनोंको सहनेवाला तथा राग-द्वेष उत्पन्न करनेवाले कारणोंका त्याग करनेवाला होना चाहिये । ऐसे ही व्यक्ति अपने चरित्रिको सर्वत्र उज्ज्वल कर सकते हैं ।

आचार्यने अहितकर कर्मोंका निषेव करते हुए स्पष्ट किया है कि मनुष्य असत्य न बोले, दूसरेके अविकार, धन तथा स्त्रीकी कामना न करे, शत्रुतामें हृचि न ले, पाप न करे, पापीके साथ भी पापका हुर्व्यवहार

न करे और दूसरेके दोप न कहे। उत्तम पुरुषोंका विरोध न करे, नीच पुरुषोंके साथ न रहे न उनपर आश्रित रहे। अंगोंको भयभीत न करे। क्षियोंका अपमान न करे। अपवित्र होकर देवपूजन और अध्ययन न करे। मनुष्य समय नष्ट न करे, किसी नियमको भङ्ग न करे। किसीका तिरस्कार न करे, गायोंपर डंडा न उठाये। भाईसे, प्रेम रखनेवाले और आपत्तिकालमें सहायता करनेवालेसे कभी सम्पर्क न तोड़े। सहसा कोई कार्य न करे, इन्द्रियोंके वशीभूत न हो तथा किसीके द्वारा किये गये अपने अपमानको बार-बार स्मरण न करे। इन सभी आयुर्वेदीय आदेशोंका पालन करनेसे उत्तम चरित्रका निर्माण होता है। शौच-मूत्रादि वेगोंको धारण करनेसे रोग प्रादुर्भूत होते हैं। इहलोक और परलोकमें भी अपना हित चाहनेवाले व्यक्तिको निम्न वेगोंको रोकना चाहिये—१-मानसिक वेग—लोभ, शोक, भय, क्रोध, अहंकार, निर्लज्जता, ईर्ष्या, अतिराग और दूसरेका धन लेनेकी इच्छा। २-वाचिक वेग—अत्यन्त कठोर वचन, चुगलखोरी, असत्य वचन और अकालयुक्त वचन बोलना। ३-शारीरिक वेग—हिंसा, परपीड़न, परखीगमन एवं चोरी करना। इन वेगोंको रोकनेसे मनुष्यके मन, वचन और कर्म पापरहित हो जाते हैं; जिससे वह पुण्यका भागी होता है तथा सुखपूर्वक अर्थ, धर्म एवं कामको प्राप्त करके उसके फलोंका उपभोग करता है। सम्प्रति बढ़ रहे मानसिक रोगोंकी चिकित्सामें वेग धारणकी भूमिका बहुत महत्वपूर्ण है।

सुश्रुतने वैद्यके चारित्रिक पक्षको सबल बनानेकी दृष्टिसे चिकित्सकके गुणोंमें सत्य तथा धर्मपरायणताको सम्मिलित किया है। अग्रदृष्ट्यमें हिंसा, चोरी, परखीगमन, चुगली, बाटुवचन, असत्य, किसीको पीड़ा पहुँचानेका विचार, दूसरेके धनकी इच्छा तथा शाश्वतोंका विपरीत अर्थ लगाना—इन दस कामोंको पापकर्म कहा गया है। इनका मनसा-वाचा-कर्मणा त्याग करना चाहिये—

हिंसास्तेयान्यथाकामं पैशुन्यं पस्पानुरुते ।
सम्भिन्नालापव्यापादममिथ्यादग्विपर्ययम् ॥
पापं कर्मति दशाद्या कायवाङ्गानसंस्त्वजेत् ।

(अ० ह० स० २)

मध्यपानको गर्हित बताते हृषि चरकने मन व्यक्त किया है कि रज एवं मोहसे जिनकी आत्मा पराजित है, ऐसे मूर्ख व्यक्ति महादोषवाले और बड़े-बड़े रोग उत्पन्न करनेवाले मध्यपानको सुख समझते हैं। शार्दूलके मतानुसार सभी मदकारी द्रव्यों (गोंजा, अक्षीम, भोंग, तंबाकू आदि) से बुद्धिका लोप होता है, अतः इनका त्याग करना चाहिये। सभी आयुर्वेदीय ग्रन्थोंमें रोगनिवारण तथा आरोग्य-प्राप्तिहेतु स्थान-स्थानपर चारित्रिक गुणोंकी आवश्यकताका प्रनिपादन किया गया है। निश्चय ही उत्तम चरित्र उत्तम स्वास्थ्यका मूल कारण है। अतः उत्तम स्वास्थ्य चाहनेवालेको अपने चरित्रकी पवित्रतापर विशेष ध्यान देना चाहिये।

—८८४—

चारित्रिक सद्ब्रत

आर्द्रसंतानता त्यागः कायवाक्चेतसां द्रमः । स्वार्थघुद्धिः परार्थेषु पर्यात्मिति सद्ब्रतम् ॥

(अ० ह० स० २ । ४६)

‘मनुष्यको करुणारससे सतत आर्द्र रहना चाहिये (अर्थात् परम कारणिक होना चाहिये)। त्यागशील और शरीर-वाणी-चित्तपर नियन्त्रण रखना चाहिये तथा परमार्थको ही स्वार्थ समझना चाहिये। ये चार सचरित्रके आवश्यक कर्तव्य हैं।’

वेदोंमें चरित्र-निर्माणके उद्बोधक मन्त्र

(लेखक—यजिकसप्राट् पं० श्रीचेणीरामजी शर्मा, गौड, वेदाचार्य)

यह निर्विवाद है कि मानव-जीवन ही सर्वोत्तम जीवन है। मानव-जीवनकी उत्तमता शारीरिक अथवा आर्थिक उन्नतिसे नहीं होती, किंतु चारित्रिक उन्नतिसे होती है। चारित्रिक उन्नतिशील मनुष्य ही उन्नतिको प्राप्त कर सकता है और उसीका जीवन सर्वाङ्गपरिपूर्ण एवं प्रशसनीय कहा जाता है। इसलिये मनुष्यको अपना जीवन उन्नत बनानेके लिये चारित्रिक उन्नतिका सम्पादन करना चाहिये। चारित्रिक उन्नतिका सम्पादन करना ही मनुष्यका परमर्थ और कर्तव्य है। जो मनुष्य चारित्रिक उन्नतिका सम्पादन करता है, उसीका जीवन सार्थक है। यही कारण है कि समस्त हिंदू-धर्मके ग्रन्थोंमें चारित्र्य-निर्माण, चारित्र्य-वर्धन और चारित्र्य-संरक्षणकी आवश्यकता और महत्त्वापर विशेष बल दिया गया है।

मानव-जीवन क्षणभङ्ग है। अतः इस जीवनको प्राप्तकर मनुष्यको सर्वप्रथम चरित्रवान् बनना चाहिये। जो मनुष्य चरित्रवान् है, उनका जीवन सार्थक और प्रशंसनीय है और जो मनुष्य चरित्रवान् नहीं है, उनका जीवन निर्थक और निन्दनीय है। चरित्रवान् बननेसे मनुष्यको आत्मसंतुष्टि होती है और चरित्रहीन होनेसे आत्मसंतुष्टि न होकर आत्मगळानि ही होती है। अतः जिस कर्म-(सुचरित्र)-को करनेसे मनुष्यको आत्म-संतुष्टि हो, उसीको सर्वदा करना चाहिये और जिस कर्मको करनेसे मनुष्यको आत्मसंतुष्टि न हो, उसको कभी नहीं करना चाहिये। ऐसे कर्म दुर्कर्म होते हैं। मनु महाराजकी यही आज्ञा है—

यत् कर्म कुर्वन्तोऽस्य स्यात् परितोपेऽन्तरात्मनः ।
तत् प्रयत्नेन कुर्वीत निपरीतं तु चर्जयेत् ॥
(मनुस्मृति ४ । १६१)

च० नि० अ० ६ -

संसारमें चरित्रवान् मनुष्यका विशेष महत्त्व है, इसलिये चरित्रवान्के कुलको उत्कृष्ट और चरित्रहीन-के कुलको निकृष्ट कहा गया है—

न कुलं वृत्तहीनस्य प्रमाणमिति मे मतिः ।
अन्तेष्टपि हि जातानां वृत्तमेव विशिष्यते ॥
(महाभारत, उद्योगपर्व ३६ । ३०)

‘चरित्रहीन मनुष्यका कुल श्रेष्ठ होनेपर भी वह निम्न श्रेणीका ही समझा जायगा और नीच कुलमें उत्पन्न मनुष्यका वदि चरित्र श्रेष्ठ है तो वह श्रेष्ठ माना जायगा।’

अतः स्पष्ट है कि जो मनुष्य पुत्र, पौत्र, धन आदि विविध सम्पत्तियोंसे विशेष सम्पन्न होनेपर भी चरित्रहीन हैं, उनकी गणना श्रेष्ठ कुलमें नहीं हो सकती और जो मनुष्य स्वत्व धनवाले होनेपर भी चरित्रवान् हैं, उनकी गणना श्रेष्ठ कुलमें हो सकती है। इसलिये चरित्रवान् मनुष्यका विशेष महत्त्व कहा गया है। अतः मनुष्यको अपने चरित्रकी यत्नपूर्वक रक्षा करनी चाहिये। महाभारतमें ही कहा है—

वृत्तं यत्नेन संरक्षेद् वित्तमेति च याति च ।
अक्षीणो वित्ततः क्षीणो वृत्तस्तु हतो हतः ॥
(महा० उद्योग० ३६ । ३०)

‘मनुष्य आचार-(चरित्र)-की यत्नपूर्वक रक्षा करे। धन तो आता-जाता रहता है। वित्तसे दुर्बल व्यक्ति यदि चरित्रवान् हैं तो वह क्षीण नहीं कहा जाता, किंतु वृत्त-(चरित्र)-से नष्ट होनेवाला तो सर्वथा नष्ट ही है।’

अब हम जीवनके मूल केन्द्र-विन्दुपर दृष्टि डालते हैं। इस जीवनकी मूल आधार शिला क्या है, जिसके द्वारा इसका संवर्धन एवं विकास होता है। प्रत्येक प्राणी माता-पिताके संयोगमें उत्पन्न होता है, यह वात प्रत्यक्ष सिद्ध है; किंतु सूक्ष्म वैज्ञानिक दृष्टिमें विचार करनेपर

यह सिद्ध होता है कि प्रकृति और पुरुष ही सभी जीवोंके उत्पादक हैं। प्रकृति और पुरुषके संयोगमें भी अग्नि (तेजस्) तत्त्व मुख्य है, जो सर्वत्र समस्त चलाचल पदार्थोंमें व्याप्त रहता है। यही बात शूक्रयजुवेद- (१२।३७)में कही गयी है—

गमो विश्वस्य भूतस्याम्ने ।

‘अग्निदेव ! आप विश्वके सभी पदार्थोंमें व्याप्त हैं।’ अतः स्पष्ट है कि मनुष्यकों जो कुछ दृष्टिगोचर होता है, वह सब अग्नि ही है। इसलिये प्राणीके जन्मसे लेकर मृत्युपर्यन्त जो कुछ भी भाव-विकार उत्पन्न होते हैं, वे सब अग्निके द्वारा ही होते हैं। अतएव प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्षरूपमें समस्त वैदिक एवं लौकिक कर्मोंका आधार अग्निदेव ही हैं। यही कारण है कि शूक्रवेद- (१।१।१)में ‘अश्विमोले पुरोहितम्’ और सामवेद-(पूर्वार्चिक १।१)में ‘वद्म आ याहि वीतये’ के द्वारा सर्वप्रथम अग्निदेवका ही स्मरण और स्तवन किया गया है। अतः अग्निको मुख्य देवता मानकर उनसे ऋषियोंने दुःचरित्रसे मुक्त होकर सुचरित्रमें लगानेकी प्रार्थना की है—

परि मङ्ग्ने दुश्चरिताद् वाधस्वा मा सुचरिते भज ।
(शूक्रयजुवेद ४।२८)

‘अग्निदेव ! आप हमको दुश्चरितसे सर्वदा बचाते रहे और सुचरितमें सदा लाते रहें।’

इस प्रकार वेदोंके विभिन्न स्थलोंमें ऋषियोंने अग्निदेवसे अपनेको चरित्रान् समृद्धत, कल्याणकारी, समदर्शी और मेवादी बनानेकी पुनः-पुनः प्रार्थना की है। चरित्रान् बननेके लिये मनुष्योंमें जिन सद्गुणोंकी आवश्यकता होती है, उनकी पूर्तिके लिये भी ऋषियोंने अग्निदेवसे प्रार्थना की है।

वेदोंमें अग्निसे सम्बद्ध मन्त्र विशेषरूपसे प्राप्त होते हैं जो मनुष्योंको चरित्र-निर्माणके लिये प्रेरित करते

हैं। वेदोंमें इसी प्रकार चरित्र-निर्माणके सम्बन्धमें अन्य भी अनेक उद्घोषक एवं प्रेरक उपयुक्त मन्त्र और सुनृत सूक्तियाँ उपलब्ध हैं, जिनमेंमें कतिष्य महत्त्वपूर्ण वैदिक मन्त्रों और सुन्दर सूक्तियोंको उद्धृत किया जाता है। उनके अनुसार आचरण करनेसे मनुष्यका चरित्र-निर्माण, चरित्र-वर्धन और चरित्र-संरक्षण सुनिश्चित और सुरक्षित है।

पहले हम यजुर्वेदको देखें—

अहमनृतात् सत्यसुपैषि । (१।१)

ॐ असत्यमे सत्यको प्राप्त होता है ।

वर्धयारथिम् (३।४) अग्निदेव ! हमको धनसे बढ़ावें। (धनकी वृद्धिसे हमें समृद्ध करें) ।

अग्ने यन्मे नन्दा ऊर्न तन्म आपृण । (३।१७)

‘अग्निदेव ! हमारे शरीरमें जो कर्मी हो, उसको आप पूर्ण करें।’

परि माग्ने उदायुपा स्वायुपोदस्यामसृतां अनु ॥
(४।२८)

‘अग्निदेव ! मुझे दुश्चरितसे सर्वदा सब प्रकारसे बचाते रहो और सुचरित्रमें सदा लगाते रहो, जिससे मैं उच्च जीवन और पवित्र जीवनके साथ देवताओंकी ओर उन्मुख हो सकूँ ।’

ऋतस्य यथा प्रेत (७।४५)—‘सत्यके मार्गपर चलो ।’

दधद्रियं मयि पोपम् (८।३८)

अग्निदेव ! मुझ प्रार्थयितामें पोपण करनेवाला धन स्थापित करें।

अहं मनुष्येषु भूयासम् । (८।३८)

ॐ मनुष्योंमें अत्यन्त कात्तिमान् (तेजस्वी) वर्नः ।

अग्ने अच्छा वदेह नः । (९।३८)

‘अग्निदेव ! हमारे अभिमुख होकर आप हमारी अभिलापाओंको पूर्ण करे।’

उद्युध्यस्वामने प्रति जागृहि त्वमिष्टपूर्ते सं सुजेथाम् । (१५।५४)

‘अग्निदेव ! आप प्रबुद्ध (प्रज्ञनित) होकर मुझ श्रौत स्मार्त कर्ममें प्रवृत्त करे।’

मयि धेहि रुचा स्त्रम् । (१८ । ४८)

‘अग्निदेव ! आप मुझे अपने तेजसे तेजसी बनाये ।’

अथवनः प्रजां बहुलां मे करोन्वन्नं पयो रेतो
अस्मासु धत्त । (१९ । ४८)

‘अग्ने ! आप हमारी प्रजाको, अनन्तको तथा जीवना-
धार रसको अत्यधिक रूपसे बढ़ावे ।’

सं चेत्यस्त्वाग्ने प्र च वोधयैनमुच्च तिष्ठ महते
सौभगाय ॥ (२७ । २)

‘अग्निदेव ! आप इस प्रार्थीको महान् सौभग्यके
लिये प्रेरित करे ।’

यां मेधां देवगणा पितरद्वोपासते ।
तथा मामद्य मेधयाग्ने मेधाविनं कुरु स्वाहा ॥
(३२ । १४)

‘अग्निदेव ! जिस मेधा-(उत्तम बुद्धि-)को देवगण
और पितृगण सेवन करते हैं, उस मेधासे आप मुझे
युक्तकर मेधावी (बुद्धिमान्) बनाये ।

वयं देवानां खुमतौ स्याम । (३४ । ७)

‘हम देवताओंकी कल्याणकारिणी बुद्धिको प्राप्त करें ।’

मित्रस्य चक्षुपा समीक्षामहे (३६ । १८)

‘हम सबको मित्रकी दृष्टिसे देखे ।’

पावको अस्मभ्यः शिवो भव । (३६ । २०)

अग्निदेव ! आप हमारे लिये कल्याणकारी बने ।

मा गृधः कस्य स्विद्धनम् । (४० । १)

‘किसीके धनपर मत ललचाओ ।’

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् । (४० । १६)

‘अग्निदेव ! हमको सन्मार्गके द्वारा धन-प्राप्ति करनेके
लिये अग्रसर करो ।’

यहौं ऋग्वेदसे भी कुछ बानगी लीजिये

उत नः सुभगां अरियोंचेयुर्दस्म कृप्रयः ।
स्वामेदिन्द्रस्य शर्मणि ॥ (१ । ४ । ६)

‘दुर्गुणों और पापोंको क्षीण करनेवाले प्रभो ! हमारे
शत्रु भी हमें सच्चरितताके कारण श्रेष्ठ और सौभग्यशाली
कहे । हम सच्चरितताके द्वारा परमैक्षर्यशाली परमेश्वरकी
कल्याणमयी भक्तिमें सर्वदा तप्तपर रहें ।’

देवानां सख्यमुप सेद्विमा वयम् । (१ । ८९ । २)

‘हम देवों-(विद्वानों)-की मैत्री प्राप्त करें ।’

भद्रं भद्रं क्रतुमस्मासु धेहि (१ । १२३ । १३)

‘प्रभो ! हम लोगोंके सुख और कल्याणमय उत्तम
संकल्प, ज्ञान और कर्मको धारण करे ।’

स्वस्ति पन्थामनुचरेम । (५ । ५१ । १५)

‘हम कल्याण-मार्गके पथिक बने ।’

संगच्छध्वं संधदध्वम् । (१० । १६१ । २)

‘आप सब मिलकर चले और मिलकर बोले ।’

अब सामवेदकी स्तुतियाँ देखिये

जीवा ज्योतिरशीमहि । (पू० ३ । ५ । २)

‘हम शरीरधारी प्राणी विशिष्ट ज्योतिको प्राप्त करें ।’

कृधी नो यशसो जने । (पू० ५ । २ । ३)

‘हमे अपने देशमे यशसी बनाये ।’

मा कीं ब्रह्मद्विष्यं चनः । (उत्त० २ । २ । २)

‘ब्राह्मणो (और वेद-पुराणों)से द्वेष करनेवालेसे दूररहें ।’

अथर्ववेद

मा ते अग्ने प्रतिवेशा रिषाम । (३ । १५ । १)

‘अग्निदेव ! हम कभी भी हानिका अनुभव न करे ।’

वयं सर्वेषु यशसः स्याम । (६ । ५८ । २)

‘हम समस्त जीवों-(मनुष्यों)-में यशसी बने ।’

सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु । (१९ । १५ । ६)

‘हमारे लिये सभी दिशाएँ कल्याणकारिणी हो ।’

उपर्युक्त वैदिक भावनाएँ चरित्र-निर्माणकी सीढ़ियों

हैं । इन भावनाओंको क्रियान्वितकर मनुष्य श्रेष्ठ
चरित्रवान् बन सकता है ।

चरित्र-निर्माणके मूल वैदिक स्रोत

(अथर्ववेदमें चारित्र्य-विधान)

(लेखक—श्रीदीनानाथजी सिद्धान्तालङ्कार)

प्राचीन स्मृति-ग्रन्थोमे वेदको श्रुति कहा गया है; क्योंकि गुरु-शिष्य-परम्परासे मन्त्र-त्राहणात्मक इनका श्रवण किया जाता था। वेदोंको धर्मका मूल और आदिस्रोत कहा गया है। मनुस्मृतिके दूसरे अध्यायके कुछ वचनोंको यहाँ इस कथ्यके समर्थनमें उपस्थित किया जाता है; यथा—

वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम् ।
आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुप्रिणेव च ॥
यः कथित्कस्यचिद् धर्मो मनुना परिकीर्तिः ।
स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः ॥
श्रुतिस्तु वेदो विद्येयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः ।
ते सर्वार्थेष्वमीमांस्ये ताभ्यां धर्मो हि निर्वभौ ॥
योऽवमन्येत् ते मूले हेतुशास्त्राश्रयाद्विजः ।
स साधुभिर्वहिष्कार्यो नास्तिको वेदनिन्दकः ॥
वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मतः ॥
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद् धर्मस्य लक्षणम् ॥
(२।६, ७, ९, ११, १२)

अर्थात्—वेद समस्त धर्मोंका मूल है और वेद-वेत्ताओंके लिये स्मृति, शील, श्रेष्ठ पुरुषोंका आचार और आत्मसंतोष—ये सहायक हैं। जिस किसी व्यक्तिके लिये मनुने जो कुछ धर्म बताया है, वह वेदमें कहा गया है; क्योंकि वेद समस्त ज्ञानयुक्त है। श्रुति वेदका नाम है, स्मृतियाँ धर्मशास्त्र हैं। उनमें कहे गये वचनोंको निःशङ्क ग्राह्य मानना चाहिये; क्योंकि इन दोनोंकी सहायतासे धर्म प्रकाशित होता है। जो द्विज केवल तर्कशास्त्रके आश्रयसे धर्मके इन दोनों मूलोंका अपमान करे, उस नास्तिकको शिष्टवर्गसे अलग कर दिया जाय; क्योंकि वह वेद-निन्दक (नास्तिक) है।

चरित्र-निर्माणके अनेक साधनोंमें कुछ मुख्य साधन इस प्रकार हैं—(१) भगवद्भक्ति और सपर्या, (२) विश्वकल्याणकी भावना, (३) आत्मबल,

आत्मज्ञानका चिन्तन, (४) जीवनका लक्ष्य यज्ञमय, (५) कामादि शत्रुओंका दमन, (६) पवित्र जीवन, (७) उन्नतिके मार्गका सतत अवलम्बन, (८) पाप-वासनाका त्याग, (९) श्रेष्ठ शुद्ध पारिवारिक जीवन, (१०) मक्किंगत सदाचारमय जीवन और (११) जीवनका अन्तिम लक्ष्य मोक्ष एवं उसके साधन।

अब हम चरित्र-निर्माणके इन साधनोंपर क्रमशः अथर्ववेदके कुछ मन्त्र अर्थ-सहित उपस्थित कर रहे हैं—

भगवद्भक्ति और सपर्या—यो चः शिवतमो
रसस्तस्य माजयतेह नः । उशर्तारिव मातरः ॥
(अथर्व० १।६ । २, अथर्व० १० । १ । २)

‘प्रमो ! जो आपका आनन्दमय भक्तिरस है, हमें वही प्रदान करे। जैसे शुभ कामनामयी माता अपनी संतानको सतुष्ट एवं पुष्ट करती है, वैसे ही आप बृप्या करो।’

२—यो भूतं च भव्यं च सर्वं यश्चाधितिष्ठति ।
सर्वर्थस्य च केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ग्रहणे नमः॥
(अथर्व० १० । ८ । ३)

‘भगवन् ! आप भूत, भविष्य, वर्तमान रूप तथा सब पदार्थों और प्राणियोंके आधार हैं। आप सुख और कैवल्य-मोक्षके साधन हैं। आप महातम और श्रेष्ठतम ज्ञानखरूप ब्रह्मको हमारा नमस्कार है।’

नाम नाम्ना जोहर्वीति पुरा सूर्यात् पुरोपसः ।
यदजः प्रथमं सम्बभव स ह तत् स्वराज्यमियाय यस्मा-
ज्ञान्यत् परमस्ति भूतम् ॥ (अथर्व० १० । ७ । ३१)

‘जो श्रेष्ठ प्रभुमक्त सूर्योदयसे पूर्व उपाकालमें उन सुप्रसिद्ध परमात्माको, उनके नामको पुकारता और जपता है, वह अवश्य ही स्वराज्य—मोक्षको प्राप्त करता है, जिससे उत्तम अन्य कुछ भी नहीं है।’

विश्वकल्याणकी भावना—‘स्वस्ति मात्र उत पित्रे नो अस्तु स्वस्ति गोभ्यो जगते पुरुषेभ्यः। विश्वं सुभूतं सुविद्वं नो अस्तु ल्योरेव वृशेम सूर्यम् ॥ (अर्थव० १। ३१।४)

‘हमारे माता और पिताके लिये कल्याण हो, गौओंके लिये नथा समस्त जगत्के नर-नारियोंके लिये कल्याण हो । हमारे लिये सभी कुछ उत्तम स्थिति और उत्तम प्रासिवाला हो । हम सब जगत्के प्राणी चिरकालतक सूर्यके प्रकाशको देखनेवाले हों ।’

अभयं नः करोत्वन्तरिक्षमभयं द्यावापृथिवी उभे इमे ।
अभयं पश्चाद्भयं पुरस्तादुत्तरादधरादभयं नो अस्तु ॥
(अर्थव० १९। १५।५)

‘प्रभो ! हमे अन्तरिक्षसे भय न हो, बुलोक और पृथिवी दोनों हमारे लिये अभयरूप हों । पीछेसे, सामनेसे, नीचे-ऊपरसे हम निर्भय रहें ।’

अभयं मित्राद्भयमित्राद्भयं द्यानाद्भयं परोक्षात् ।
अभयं नक्तमभयं दिवा नः सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु ॥
(अर्थव० १९। १५।६)

‘प्रभो ! हमे मित्रसे, अमित्रसे, जो समुख हैं और जो हमे जात हैं, उन सबसे अभय कीजिये । हमारे लिये दिन और रात अभय हों, सब दिशाएँ मेरे लिये मित्र हों ।’

आत्मबल, आत्मज्ञान और चिन्तन—‘शुक्रोऽसि भ्राजोऽसि स्वरसि व्योतिरसि । आप्नुहि यांस मति समं क्राम ॥’ (अर्थव० २। ११।५)

प्रभु प्रेरणा देते हैं—‘मनुष्य ! तेरी आत्मा वीर्यवान्, तेजस्वी, आनन्दयुक्त और प्रकाशस्वरूप है । त् श्रेष्ठताको प्राप्त कर और दूसरोंसे आगे बढ़ जा ।’

स्वर्यं वार्जित्स्तन्वं कल्पयस्व स्वर्यं यजस्व स्वर्यं जुपस्व । महिमा तेऽन्येन न संनद्दो ॥

(यजुर्वेद २३। १५)

‘वाजिन् ! स्वर्यं अपने शरीरको शक्तियुक्त कर, स्वर्यं अपना जीवनरूपी यज्ञ कर और स्वर्यं ही सेवन कर तथा

फल भोग । तेरा महत्व दूसरेसे किसी प्रकार तुलनामें कम नहीं है ।’

पृष्ठात् पृथिव्या अहमन्तरिक्षमारुहमन्तरिक्षाद् दिवमारुहम् । दिवो नाकस्य पृष्ठात् स्वर्ज्योतिर्गामहम् ॥ (अर्थव० ४। १४। ३)

‘जगदीश्वर ! मैं पृथिवीके पृष्ठसे ऊपर उठकर अन्तरिक्षपर चढ़ा हूँ; अन्तरिक्षसे बुलोक आया हूँ । सुखयुक्त दौके पृष्ठसे मैं आनन्दमय प्रकाशको प्राप्त हुआ हूँ ।’

जीवनका लक्ष्य यज्ञमय—‘उत्तिष्ठ ब्रह्मणस्पते देवान् यज्ञेन वोधय । आयुः प्राणं पश्चून् कीर्ति यजमानं च वर्धय ॥’ (अर्थव० १८। ६३। १०)

‘बृहस्पते ! तू खड़ा हो जा ! देवताओंको यज्ञद्वारा जाग्रत्कर और उत्तम आयु, प्राणशक्ति, उत्तम संतान, गौ आदि पशु-प्राप्ति, कीर्ति और यजमानकी वृद्धि कर ।’
वत् पुरुषेण हविषा यज्ञं देवा अनन्यत ।
अस्ति तु तस्मादोजीयो यद् विहव्येनेजिरे ॥
(अर्थव० ७। ५। ४)

देवगण जो निज श्रेय हविद्वारा यज्ञ करने हैं, वह यज्ञ अत्यन्त ओजस्वी है; क्योंकि वह भगवत्तरणोंमें समर्पणसे किया जाता है ।

कामादि शत्रुओंका दमन—

उलूक्यातुं शुशुलूक्यातुं जहि श्यातुमुन्त कोक्यातुम् सुपर्णयातुमुत शुध्यातुं द्वपदेव प्रमृणं न इन्द्र ॥ (अर्थव० ८। ४। २२, ऋचे० ७। १०४)

[मनुष्यको कोध, लोभ, मोह आदि छः मानसिक शत्रुओंके निवारणके लिये इस मन्त्रमें पशु-पक्षियोंकी उपमासे दमन करनेकी सम्भति दी गयी है ।]
‘इन्द्र ! तू उलूक्यातुं उलूकी चालवाले अर्थात् मोहको, शुशुलूक्यातुं—उलूकेकी चालवाले, अपात् ईर्ष्या, द्वेषको, श्यातुं अर्थात् कुत्तेकी चालवाले सत्वरवृत्तिको, कोक्यातुं ‘अर्थात्—कामवासनाको, सुपर्णयातुं अर्थात्—गरुडकी चालवाले अहङ्कारकी

गृध्रयातुं गृध्र—लोभ—लालचवृत्तिको (इस प्रकार इन छः प्रकारकी राक्षसीय भावनाओंको) त् प्रभुसे बल माँगकर पत्थरके सदृश कठोर साधनोंसे मसल दे ।'

पवित्र जीवन—वैश्वदैवी वर्चस आ रभधं शुद्धा भवन्तः शुचयः पावकाः । अतिकामन्तो दुरिता पदानि शतं हिमाः सर्ववीरा मदेम ॥
(अथर्व० १२ । २ । २८)

'पवित्रता और तेजके लिये उत्तम ज्ञान देनेवाली वेदवाणीके द्वारा पवित्र जीवन बनाते हुए दूसरोंको भी पवित्र मार्गके लिये प्रेरणा दीजिये । पापप्रेरक कार्योंका अतिक्रमण करते हुए हम सौं वर्पतक पवित्रताके साथ 'आनन्दसे रहें ।'

उन्नतिके मार्गका सतत अवलम्बन—उद्यानं ते पुरुष नावयानं जीवातुं ते दक्षतानिं कृणोमि । आ हि रोहेमसृतं सुखं रथमय जिर्विं दथमा चदासि ॥
(अथर्व० ८ । १ । ६)

'मानव ! तेरे जीवनका लक्ष्य ऊपरको चढ़ना है, नीचे जाना नहीं; उन्नति ही करनी है, अवनति नहीं । प्रभु प्रेरणा देते हैं—'मानव ! इस प्रकार जीनेके लिये मैं तुझे बल देता हूँ । इस जीवनरूपी सुखकारी रथपर सवार हो जा । इसके बाद त् प्रशासित होकर दूसरोंको भी प्रेरणा दे ।'

पाप-वासनाका त्याग—तेषां सर्वेषामीशाना उत्तिष्ठत संनह्यव्यं मित्रा देवजनायूपम् । इमं संग्रामं सज्जित्य यथालोकम् वित्तिष्ठव्यम् ॥
(अथर्व० ११ । ९ । २३)

'मानव ! तुम अपने आत्मबलके साथ इस शरीर, मन, इन्द्रियोंके शासक हो । तुम हो जाओ । अपने सब श्रेष्ठ मित्र, पापपर विजय पानेके अभिलापी होते हुए देवजनाद्वारा निर्दिष्ट पाप-वासनाके सर्वथा त्यागके मार्गपर चलनेके लिये तैयार हो जाओ । इस पापके विरुद्ध

संप्राप्तिको जीतकर जीवनके अन्तिम लक्ष्य मोक्षपर प्रभुसे प्रार्थना करते हुए दृढ़तासे स्थित हो जाओ ।'

श्रेष्ठ शुद्ध पारिवारिक जीवन—अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः । जाया पल्ये माधुमर्त्ती वाचं वदतु शान्तिवाम् ॥ (अथर्व० ३ । ३० । २)

प्रभु शुद्धस्थियोंको आदेश देते हैं—'पुत्र पिताके ब्रतके अनुकूल व्यवहार करे, माताके साथ एक सदृश मन और विचारवाला हो, पत्नी पतिसे मीठी और शान्ति देनेवाली बाणी बोले, सबका श्रेय हो ।'

व्यक्तिगत सदाचारमय जीवन—'सहदयं सांमनस्यमविघेयं कृणोमि चः । अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाच्या ॥'

(अथर्व० ३ । ३० । १)

प्रभु उपर्दश देते हैं—'ओ मनुष्य ! तुम अपने जीवनमें एक-दूसरेके प्रति सदाचारके मार्गपर आस्तृ होते हुए स्नेहयुक्त हृदयवाले, एक सदृश श्रेष्ठ उत्तम विचारोवाले और वैरका सर्वथा त्याग करते हुए जीवन व्यतीत करो । तुम प्राणिमात्रसे ऐसा निःस्वार्थ प्रेम करो जैसे गौ अपने उत्पन्न बछड़ेको प्यार करती है ।'

मानव-जीवनका अन्तिम लक्ष्य—मोक्षपद—'यस्मात् पञ्चवादसृतं सम्बूद्ध यो गायत्र्या अधिपतिर्वभूव । यस्मिन् वेदा निहिता विश्वस्तपस्नेनौदेनेनाति तराणि सृत्युम् ॥ (अथर्व० ४ । ३५ । ६)

'पके हुए ओदेनके सदृश तपःपूत जीवनसे मोक्ष उपलब्ध होता है । जो प्रभु-गुण गानेवाली गायत्री-द्वारा अपने जीवनकी आत्मशुद्धि कर स्वामी बन गया है, जिसने सब पदार्थोंका निरूपण करनेवाले ईश्वरीय ज्ञान वेदको जीवनमें पूर्णतः धारण कर लिया है, वही मानव इस वेदज्ञानरूपी पके हुए ओदेनके ग्रहणसदृश मृत्युको पारकर मोक्षपद प्राप्त करता है ।' निष्कर्ष यह कि चरित्रका निष्ठा, नियमसे पालनकर मानव अपने अन्तिम लक्ष्य मोक्षको भी प्राप्त कर लेना है ।

सामवेदीय ब्राह्मणग्रन्थोंमें चरित्र-निरूपण

(लेखक—डॉ० श्रीओमप्रकाशजी पाण्डेय, एम० ए०, पी-एच० डी०, साहित्यरत)

गीतामे भगवान् श्रीकृष्णने स्वनिभूतियोके अन्तर्गत सामवेदका सश्रद्ध उल्लेख किया है—‘वेदानां सामवेदोऽस्मि’ (१०।२२) । सामवेदका वैदिक-वाद्ययमें सदासे असीम महत्त्व रहा है । ‘बृहद्-देवता’के अनुसार सामविद् ही वेदका वास्तविक तत्त्ववेत्ता होता है—‘सामानि यो वेत्ति स वेद तत्त्वम्’ (८।३०) ।

संहिताके साथ इस वेदके ब्राह्मणग्रन्थोंकी विशाल राशि भी अपनी विपुल संख्या तथा प्रतिपाद्य विषयकी विशिष्टताके कारण महनीय रही है । सायणाचार्यके अनुसार सामवेदीय ब्राह्मणग्रन्थोंकी संख्या आठ है—‘अष्टौ हि ब्राह्मणग्रन्थाः’ (साम-भाष्य-भूमिका) । ये हैं—ताण्ड्य महाब्राह्मण (यह पञ्चविंश तथा प्रौढमहाब्राह्मणके नामोंसे भी प्रसिद्ध है), पञ्चविंश ब्राह्मण, सामविधान ब्राह्मण, आपेय ब्राह्मण, देवताध्याय ब्राह्मण, संहितोपनिषद् ब्राह्मण, छान्दोग्य ब्राह्मण (मन्त्र-ब्राह्मण और छान्दोग्य उपनिषद्को मिलाकर) तथा वंशब्राह्मण । ये सभी कौथुमशाखाके ब्राह्मण हैं । इनके अतिरिक्त पं० सत्यव्रत सामश्रमी, प्रो० कालन्द, डॉ० रघुनीर, सिमान तथा डॉ० वेलिम्कोत्तु एवं रामचन्द्र शर्मा-सद्वा विद्वानोंके प्रयत्नसे जैमिनीय शाखाके जैमिनीय ब्राह्मण तथा जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मणोंका भी प्रकाशन हो गया है । इस प्रकार कुल सामवेदीय ब्राह्मणोंकी संख्या अब ११ हो गयी है । अभीतक इतने अधिक ब्राह्मणग्रन्थ किसी भी वेदके प्राप्त नहीं हुए हैं ।

इन ब्राह्मणोंमें सोमयागोंके और सामगनविषयक सूक्ष्मातिसूक्ष्म विवरण प्राप्त होते हैं । यही इनका मुख्य प्रतिपाद्य विषय है; किंतु स्थान-स्थानपर इनमें मानवीय चरित्रको ऊपर उठानेवाले (तथा उसे पतित करनेवाले) तत्त्वोंका उपादेय-हेय रूपेण निरूपण भी भूयशः हुआ

है । मानवीय चरित्रको गरिमा प्रदान करनेवाले जिन गुणोंकी आवश्यकता सामान्यतः समझी जाती है, उन सभीका इनमें उल्लेख है । इनका क्रमिक विवरण इस प्रकार है—

जीवनकी यज्ञरूपता—सामवेदीय ब्राह्मणग्रन्थोंके अनुसार वाणी यज्ञपुरुषकी हो तृस्यानीय है, चक्षु अधर्यु है, मन ब्रह्मा है, श्रोत्र उद्ग्राता है, अन्य अङ्ग चमसाधर्यु (सहायक ऋत्विक्) हैं और चक्षुओंके मध्य विद्यमान आकाश ही सदस्य हैं (षड०ब्रा० १।६।२) । पञ्चविंशमें ही एक अन्य स्थानपर प्राणादिको होतृ-अधर्यु आदि कहा गया है । यज्ञमय जीवन वितानेका अभिप्राय है, समस्त प्रलोभनोंसे विरत रहकर त्यागपूर्ण जीवनका निरन्तर अभ्यास । जीवनका प्रत्येक कार्य एक यज्ञ—क्रतु है, उसके विधिवत् अनुष्ठानसे ही लौकिक और परालौकिक सफलता प्राप्त हो सकती है—त्वे देवाः प्रजापतिसुपाधावन् कर्थं त्रुवयस्त्वर्गं लोकमियाम् इति । तेभ्य एतान् यज्ञक्रतून् प्रायच्छत् । एतैः लोकमेष्यथ् (पञ्चविंश ब्राह्मण—१०।१।१५) । इस यज्ञकी ज्ञान निरन्तर प्रदीप्त रहनी चाहिये । मानव-जीवन परमात्माकी समिधा है—‘अयं ते इच्छः’ । ताण्ड्यका वचन है—‘विहाय दौष्ट्कृत्यम्’ (१।१।३)—अर्थात् जैसे यजमान और ऋत्विक् सभी प्रकारके कुकृतियोंको छोड़कर यज्ञशालमें प्रवेश करते हैं, उसी प्रकार जीवनयज्ञके अनुष्ठाताओंको भी दुष्कर्मोंसे विरत होकर सत्कर्मानुष्ठानका निरन्तर प्रयत्न करना चाहिये ।

सत्य, ज्ञान और तपका अनुष्ठान—सामवेदीय-ब्राह्मणोंकी पङ्क्ति-पङ्क्ति में सत्य ज्ञान और तपस्यापर बल दिया गया है । ताण्ड्यब्राह्मणमें कहा गया है कि—‘मृत्युत्पात्रमसि’ (१।२।३)—सत्य-धारणके पात्र बनो; ‘ऋतस्य सदने सीदामि’ (१।२।२)—

मै सत्यके आगरमे आसीन होता हूँ, तथा—
 ‘ऋतधामासि स्वज्योंति’—सत्यके धाम बनो, वह
 स्वर्णीय सुखका प्रकाशक है। पद्भिंश ब्राह्मणमें कहा गया
 है कि—‘विपत्था हि देवा’ (१।१।०) अर्थात्
 ‘उन्होंने ही देवत्व प्राप्त किया, जिनके मन, वाक् और
 कर्म—तीनों ही सत्यशुक्त रहे हैं।’ यजके सर्वभूता
 अनिकी पत्नी स्वाहा देवी सत्यसे ही उत्पन्न हई है—
 ‘स्वाहा वै सत्यसम्भूता’ (५।७।२)। जब
 देवगण असुरोंरो भयमीत हुए तो वे प्रजापतिके पास
 गये। प्रजापतिने उनके भयको दूर करनेके लिये
 मुख्यरूपसे ऋत, सत्य, ज्ञान, ओकारोपासना और
 त्रिपदा गायत्रीके जपको उपाय बतलाया—‘नम्य
 प्रजापतिरेनद् भेषजमपश्यत्। ऋतं च सत्यं च व्रतं
 चोकारं च त्रिपदां च गायत्रीं व्रताणो मुखमपश्यन्’
 (पद्मो ब्रा० ५।५।३)।

‘सामविधान ब्राह्मण’में कहा गया है कि—सत्यं वदेत्।
 अनार्यैर्न सम्भापेत् (१।२।७)। ‘मन्य घोलना
 चाहिये और असज्जनोंसे संभापण नहीं करना चाहिये।’
 ‘देवताव्याय-ब्राह्मण’में प्रार्थना की गयी है कि—व्रत
 सत्यं च पातु माम् (१।४।५)—ज्ञान और
 सत्य मेरी रक्षा करे। ‘ताण्ड्यब्राह्मण’के एक मन्त्रमें देवोंसे
 मनको तेज, ज्ञान, कल्याणभावना और सत्यसे
 संयुक्त करनेकी प्रार्थना की गयी है, जिससे हम चास्तगा
 वाणी बोल सकें—संवर्चसा पयसा संतपोभिरुग्नमहि
 मनसा संशिखेन संविवानेन मनमध्यं सत्यैथा वोऽहं
 चास्तमं चदानीन्द्रो वो द्वगे भूयासं च सूर्य्यश्चशुप्ते
 वातः प्राणाय सोमो गन्धाय व्रह्म व्याय (१।३।९)।
 वाणीकी शुद्धिके लिये सज्जन दीक्षितोंके पापका कथन
 भी नहीं करना चाहिये—यो वै दीक्षितानां पापं
 कीर्तयति तृतीयमेवांगं पापमनो हरति अन्यथा उसे
 तृतीयांशं पाप मिल जाता है (वही ५।६।१०)।

वाणीकी यह शुद्धि तभी सम्भव है, जब उसे
 मानसिक ध्यानकर प्रयुक्त किया जाय अर्थात् मोच-

विचारकर बोला जाय, जोरा कि ‘ताण्ड्यब्राह्मण’
 (६।७।८)में कहा गया है— वाचं मनसा ध्यायेत ।
 तथा—मनसाम्पूर्वं गान्वा युज्यते मनो र्ति यक्षि मनसा-
 भिगच्छनि तदाचा यदति (१।१।३)।
 वाणी और मनकी एकत्रपर विचार करते हुए अडिंश-
 ब्राह्मणमें कहा गया है कि ये दोनों उमों प्रकारपरमार्थित
 हैं, जेमे रथके दोनों परिये। एक पर्याप्तके भगवामें हर
 मासन नहीं कर सकता—वाचि तन्मनः प्रतिष्ठापयनि।
 तथ्यैकवर्तनिना च्येत न कांचत दिशं व्ययनुन
 नादेतन (१।५।५)।

जिसपर गिरामाणगा आंदोल दम जाता है,
 उसका मनुष्य ही नहीं, इनमें मी परिव्याग धर होते
 हैं; वे उसके द्वारा प्रदत्त व्यज्ञनिकों नीचता भरी करते—
 देवना वा एवं परिघजनि यमनुनयभिमंशसनि
 (१८।१।११)। हरीरांगे ताण्ड्यब्राह्मणमें शुद्धप्रयोग
 नामक एक एकात्मक संदर्भमें उन्देश्य मिलता है कि
 ऋतिगण्यसदोमिष्टपमें सद्य वचनोंका उच्चारण करने वाले ही
 प्रमर्पण करते हैं—वृन्मुक्त्या प्रसर्पन्त्युत्तेवेन च्यगं
 लोकं गमयन्ति (१८।२।९)।

सत्यके माय ज्ञानको भी महत्ता है। ‘अडिंश-
 ब्राह्मणमें कहा गया है कि ज्ञानके गोचरसे मनुष्य
 देवत्वकी कोटिमें पृथ्वे जाना है—भव्य हैते
 मनुष्यदेवाः ये ब्राह्मणः गुरुवांसोऽनुचानास्ते
 मनुष्यदेवाः (पद्भिंशब्राह्मण १।१।२०)।
 ज्ञानपूर्वक यज्ञानुष्ठान करनेवालोंका यज्ञ निर्दोष
 होता है—एवं विदुपो है वज्रो न व्यद्यने
 (२।७।९)। ‘सामविधानब्राह्मण’की एक
 आत्मायिकाके अनुसार मनुष्योंने जन प्रजापतिसे पूछा
 कि हम चर्गलदेवको कैसे पहुँच भवते हैं तो
 प्रजापतिने उन्हें आश्वाय (वेदाव्ययन) और तपस्याका
 मार्ग बतलाया—कथं चु वा स्वर्गं लोकं तियाम।
 तेभ्य एतन्मवाध्यायाध्ययनं प्रायच्छत्, तपद्वैतम्बां

स्वर्गलोकमेष्यथेति—(१ । १ । १७) ।
 स्वाध्यायकी श्रेणीमें ही सावित्री-(गायत्री)-की उपासना भी समिलित है, जिससे मनके राग-द्वेपादि कलुपोका विनाश हो जाता है—दुष्टत् कुरुपयुक्तान्यूनाधिकाच्च सर्वसात् स्वत्ति (देवताध्यायब्रा० १ । ४ । ३) ।

विद्याकी सब प्रकारसे सुरक्षा करनी चाहिये—वह निधि है। भले ही विद्याके साथ ही मर जाना पड़े, किंतु असुर्वर स्थानपर कभी भी उसका वपन नहीं करना चाहिये—विद्या सार्थं छियेत् । न विद्या-मूलपरे वधेत् । (सहितोपनिषद् ब्रा० ३ । १०) । किंतु योग्य शिष्यको पाकर उसकी अवहेलना भी नहीं करनी चाहिये अर्थात् उसे विद्याका अध्यापन करना ही चाहिये—सतश्च न विमानयेत्—(वही ३ । १९) । शिष्यका भी यह कर्तव्य है कि वह कभी उस गुरुसे द्वेष न करे, उसे माता-पिता समझे, जिसने उसे विद्या-जैसा शिष्ट दान दिया है—

य आतृणोत्यवितथेन कर्णा-
 वत्सं कुर्वन्नसृतं सम्प्रयच्छन् ।
 तं मन्येत् पितरं मातरं च
 तस्मै न कुद्धयेत् कतमच्च नाह ॥
 (सहितोप० ब्रा० ३ । १३ ।)

यह उल्लेखनीय है कि विद्यादानकी गणना अतिदानोंमें है—ब्रोण्याहुरतिदानानि गत्वः पृथिवी सरस्वती (वही ४ । २) । इस अतिदानसे समस्त कामनाओंकी पूर्णि हो जाती है—दनेन सर्वान् कामानवाच्नोति—(वही ४ । १) ।

सत्य और ज्ञानके साथ ही इन ब्राह्मणग्रन्थोंमें तपस्याका भी गौरव भूयोभूयः निरूपित है। द्वन्द्वोको सहन करनेकी शक्ति और कष्ट-सहिष्णुता मानवीय व्यक्तित्वको आपादशीर्पि मौजकर चमका देती है। तपोऽनुष्ठानसे मानवीय चारित्र्य नितरां समुज्ज्वल हो

उठता है; क्योंकि इस भूतल्पर जो कुछ है, वह सब तपस्यासे ही उत्पन्न हुआ है; जैमा कि पद्धिंशमे कहा गया है—देवा चै …तपोऽतप्यन्त । तेषां तप्यमानानां रसोऽजायत । पृथिव्यन्तरिक्षं द्वौरिति । तेऽभ्यतपन् । तेषां तप्यमानानां रसोऽजायत (५ । १ । २); अर्थात्—‘देवोऽयत्रा दिव्यगुणयुक्त मनुष्योकी तपस्या-साधनासे ही समस्त सारभूत तत्त्व (जल, समुद्रादि)-पृथिवी आदि लोक, ऋग्वेदादि ज्ञानराशि, गार्हण्यादि अग्निर्या तथा अन्य सभी वस्तुएँ उत्पन्न हुई हैं ।’ सत्य ही इस धरतीके अङ्कमे जो कुछ श्रेय और प्रेयोमूलक पदार्थ है, शिव और सुन्दर है, रमणीय और कमनीय है—वे सब उन्हीं तपसियोके अवधान हैं, जिन्होने लौकिक जीवनके प्रलोभनोंसे ऊपर उठकर अकर्मण्यताको तिलाङ्गलि देकर अथक साधनाके पथका वरण स्वेच्छया किया। ताण्ड्यके अनुसार—इसीलिये समस्त समृद्धियों सदैव तपोरत व्यक्तियोंको ही ग्रास हुई—तपश्चितो देवा: सर्वाभृद्विमाध्वृवन्—(२५ । ५ । ३) ।

चरित्र-विधायक कुछ अन्य गुण—सामविधान ब्राह्मणके अनुसार यजमान या गृहपतिको अपने सेवको और समागम अतिथियोकी कदापि उपेक्षा नहीं करनी चाहिये। भोजनके समय सर्वैव पहले अतिथियो और भूयोको भोजन करा देना चाहिये; तत्पश्चात् अवशिष्ट अन्नको स्वयं ग्रहण करना चाहिये। अतिथियोकी धनादिका आवश्यकताको यथाशक्ति पूर्ण करना चाहिये और केवल अपनी पर्वासे ही शारीरिक सम्बन्ध रखना चाहिये, वह भी मात्र ऋतुकालके समय। उपर्युक्त नियमोंका पालन करनेवाले जनोंका अप्रिहोत्र कभी लुप नहीं होता, और उन्हें दर्शपूर्णमासके अनुष्ठानका फल प्राप्त होता है—

भृत्यानिथिशेषमोजी काले दारानुपेयाद् । यथा-शक्ति चानिथिभ्यो दद्याद्युदकमन्तः ।…… तथा अस्याग्निहोत्रमविलुप्तं ॑ सदा हुतं ॒ सदर्शपूर्ण-मासं भवनि (१ । ३ । ५) ।

उपर्युक्त चारित्र्य-घटक तत्त्वोक्ते निस्तृपणके साथ ही सामवेदीय ब्राह्मणग्रन्थोमें उन दुर्वलताओं और विकृतियोका विवेचन भी है, जो चारित्रिक स्खलनका प्रतीक हैं। छन्दोग्य ब्राह्मणमें कहा गया है कि स्वर्णके चोर, मध्यप, गुरु-खागामी और किसीकी हत्या करनेवाले पनित हैं—इनसे सम्पर्क रखनेवाला भी पतित हो जाता है—‘स्तेनो हिरण्यस्य सुरां पिवऽश्च गुरोस्त्लमाच-सन् ब्रह्महा चैते पतन्ति चत्वारः पञ्चमश्चाचरं-स्तैरिति’ (५।१०।९.)।

‘ताण्डवब्राह्मण’में चोरको समाजका अनु बनलाया गया है—‘ये वै स्तेना रिपवस्ते’ (४।७।५.)। नाणद्यमें ही उन लोगोको निकृष्टतम कहा गया है, जो न तो वेदाध्ययन करते हैं और न ही कृपि या वाणिज्य अथवा कोई अन्य व्यवसाय—‘हीना वा एते हीयन्ते ये … न हि ब्रह्मचर्यं चरन्ति न कृपिं वाणिज्यम्’—(१७।१।२.)।

इसी श्रेणीमें आगे उन लोगोको रखा गया है, जो दूसरोके अन्को बल्यूर्धक खा जाते हैं, किसीके अच्छे कथनमें भी दोष निकालते हैं तथा निदोष और निरपराव व्यक्तियोंपर लाठी-डंडेका प्रहर कर देते हैं। ऐसे दुष्टजनोंको विप्रमन्त्रक अर्थात् अपनी आत्माका हनन करनेवाला कहा गया है—‘गारगिने वा एते ये ब्रह्माद्यं जन्ममन्मदन्मयदुरुक्तवाक्यं दुरुक्तमाहुरदण्डं वृद्धेन ज्ञन्तव्यरन्यदीक्षिना दीक्षितवाचं चदन्ति’। (१७।१।९.)।

‘ताण्डव’में एक स्थानपर सावुके वेशमें शूम रहे उन अमाधु और भ्रष्ट असामाजिक तत्त्वोका भी उल्लेख है, जो विवेकज्ञानमें रहित है, वेदान्तके वाक्योंका आचरण नो दूर रहा, उच्चारण भी नहीं कर सकते, केवल कापायवस्थ और दण्डमात्र धारण करनेवाले हैं—‘इन्द्रो यतीन् सालाखुकेभ्यः प्रायच्छत्’ (१९।२।७) इसपर सायणाचार्यका भाष्य इष्टव्य है—

‘केचन यतयः स्वर्वकर्मसंन्यासं कृत्या कदाचिदपि स्वभुवे वेदान्तशास्त्राधारणरहिताः कापायदण्डमात्र-धारिणो विवेकज्ञानरहिताः यत्र तत्रान्तं भक्षयन्तां नरकयोग्या वर्तन्ते ।’

‘भामविधानब्राह्मण’ प्रथम प्रयाटकके पौच्छेसे आठवें खण्डोनकमें चारित्रिक पतनके योतक कुछ अन्य दोष निर्दिष्ट हैं हैं, जो इस प्रकार हैं—अद्वीत और परम-भापण, गुरुजनोसे व्यर्थका बाट-विवाद, अनव्याय व्यर्थात् अपाव्रको विद्यादान, अव्यायको अर्थात् जो यज्ञानुष्ठानका अधिकारी न हो उसका याजन, अमेय (अपवित्र वस्तु) का दर्शन तथा ब्राण अभक्ष्यका भोजन, अमेव्य-ग्रादान, सुरापान, ऋणहत्या, ब्रह्महत्यादि, सुवर्गादि वस्तुओंकी चोरी, परस्ती-गमन. राज-प्रतिग्रह (राजासे विना आवश्यकताके दान लेना), अदत्त-आदान (विना दिये ही किसीकी वस्तु ले लेना), रस-विक्रय, योनिमिल स्थानपर शुक्रपान, अप्रदत्त कन्यासे मम्बन्व करना इत्यादि ।

अनिष्टा, विवशता अथवा दुर्वलतासे यदि ये अपराध कर्मी हो जायें और व्यक्तिको पश्चात्तापकी अनुभूति सच्चे हृदयसे हो, तो उसके लिये ‘भामविधानब्राह्मण’में विभिन्न प्रकारके प्रायश्चित्त-अनुष्ठान दिये हुए हैं, कृच्छ्रादि त्रनोंका विधान है, जिनके अनुष्ठानसे मनुष्य पुनः पवित्र और कर्मण्य वन सकता है। कृच्छ्र, अपिष्टच्छ्र और कृच्छ्रनिकृच्छ्र—इन तीनों त्रनोंके विधि-पूर्वक पालनसे मनुष्यके पाप नष्ट हो जाने हैं—‘प्रथमं चरित्वा शुचिः पूनः कर्मण्यो भवति । द्वितीयं चरित्वा यत्किंचिद्वन्न्यहापातकेभ्यः पापं कुलते तसात् प्रमुच्यते । तृतीयं चरित्वा सर्वसादेनसो मुच्यते’ (१।२।५)। शुद्धि-हेतु उपवास तथा अयाचित त्रनपर भी बल दिया गया है (१।२।४-५)।

इस प्रकार सामवेदीय ब्राह्मणग्रन्थोमें मानवीय प्रकृति, सहज दुर्वलताओं और विवशताओंको ध्यानमें रखकर पनित और निकृष्ट जनोंको भी ऊपर उठानेका प्रयत्न किया गया है। मानवीय चरित्रका निर्माण

एक-दो दिनमें नहीं होता, वह एक सतत चलनेवाली क्रमिक साधना है। ऊपर जिन सद्गुणों, सत्प्रवृत्तियों और आदर्श जीवनदर्शनकी रूपरेखा दी गयी है, उन्हे अपने जीवनमें क्रियान्वित करके तथा निषिद्ध कर्मोंका परित्याग कर मानव अपने चरित्रका समुचित और सर्वाङ्गीण विकास कर सकता है, यह असंदिग्ध है। इस विकसित चरित्रके बलपर उद्दाताके खरमें खर मिलाकर वह कह सकता है—

‘ॐ महन्मे वोचो भगांमे वोचो यशो मे स वोचः स्तोमं मे वोचो भुक्तिं मे वोचः सर्वं मे वोचस्तन्माऽवतु तन्मा विशतु तेन भुक्तिवीय’ (ताण्ड्य त्राण् १ । १ । १) अर्थात् ‘सामवेदीय ब्राह्मणप्रन्थोमे जो कहा गया है, वह मेरे लिये परम आदरणीय पापनाशक, यशस्वर, स्तुति और भोगका साधक तथा सब कुछ प्राप्त करानेवाला है। यह वाणी मेरी रक्षा करे, मुझमें प्रवेश करे और इसके परिपालनसे मैं समस्त भोगोंको प्राप्त करूँ।

आयुर्वेदशास्त्रमें चारित्रिक शिक्षा

(लेखक—श्रीहुसेन खाँ शेख, वी० ए०, वी० एड०)

आयुर्वेद अत्यन्त प्राचीन शास्त्र है। यह ब्रह्माके मुखसे निकला हुआ सृष्टिके साथसाथ चलता हुआ उसकी रक्षा कर रहा है—

हिताहितं सुखं दुःखमायुस्तस्य हिताहितम् ।
मानं च तच्च यत्रोक्तमायुर्वेदः स उच्यते ॥
(चरकसं० १ । ४१)

जिस प्रन्थमें हित आयु, अहित आयु, सुख आयु, दुःख आयु—इन चार प्रकारकी आयुओंके लिये हित (पथ्य), अहित (अपथ्य)—इन आयुओंका मान (प्रमाण और अप्रमाण) तथा आयुका खरूप बताया गया हो, उसे आयुर्वेदशास्त्र कहा जाता है।

आयुर्वेदशास्त्रमें चरकसंहिता, अष्टाङ्गहृदय, सुश्रुत-संहिता, भावप्रकाश आदि प्रमुख प्रन्थ चारित्रिक शिक्षासे सम्बद्ध हैं। मानव-जीवनका प्रमुख लक्ष्य ईश्वर-प्राप्ति या मोक्ष-प्राप्ति है। किंतु मोक्ष-प्राप्तिका अधिकारी कौन है? वेदान्तके अनुसार मोक्षप्राप्तिके अधिकारीको विवेक, वैराग्य, शम-दमादि पट्सम्पत्ति तथा मुमुक्षुता—इन चार गुणोंसे सम्पन्न होना चाहिये। मुमुक्षुके लिये शारीरिक एवं मानसिक दृष्टिसे स्वस्थ होना अत्यवश्यक है।

‘शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम् ।

आयुर्वेद मानवको शारीरिक एवं मानसिक दृष्टिसे स्वस्थ एवं सबल बनाता है, जिससे वह धर्मके साधन- (शरीर-)को साध्य- (धर्म-)में लगा सके। चरित्रवान् व्यक्तिका ही व्यक्तित्व निखता है और अपने इस गुणके कारण ही वह अपने समाज, राष्ट्र और विश्वका कल्याण करनेमें समर्थ हो सकता है। धृति, धमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, धी, विद्या, सत्य और अक्रोध—ये दस धर्मके लक्षण ही वस्तुतः चरित्रवान् मानवके लक्षण हैं। आयुर्वेदके प्रमुख प्रन्थमें चरित्र-निर्माणात्मक उपदेश दियेहैं—

चरकसंहितामें चारित्रिक शिक्षा—चरकसंहितामें सद्बृत्तका विस्तृत विवेचन किया गया है, जो सर्वसाधारणके लिये अत्युपयोगी है। तदनुसार—
‘सुमुखः दुर्गम्यभ्युपगन्ता होना यथा दाता चतुष्पथानां नमस्कर्ता, वलीनामुपहर्ता, अतिथीनां पूजकः, पितॄभ्यः पिण्डदः, कलेहितमितमधुरार्थवादी, वदयात्मा, धर्मात्मा, हेतावोर्प्युः, फलेनेर्प्युः, निश्चिन्नः, निर्भीकः, हीमान्, धीमान्, महोत्साहः, दक्षः, अमाचान्, धार्मिकः, आस्तिकः, विनय-त्रुद्धिविद्यभिजनवयोद्बुद्ध-सिद्धाचार्याणामुपासिता सर्वप्राणिषु बन्धुभूतः स्यात् कुद्धानामनुनेता भीतानामाश्वासयिता, दीनानामभ्यु-पपत्ता, सत्यसंधः, सामप्रधानः, परपरवचनसहिष्युः, अनमर्यथनः प्रशमगुणदर्शी रागद्वेषेतूनां हन्ता च।’
(चरकसंहिता, सूत्रस्यान् ८ । १८)

प्रसन्नमुख रहना, दूसरे पर आपत्ति आनेपर दया करना तथा हवन और यज्ञ करना, सामर्थ्यके अनुसार दान देना, चौराहेको नमस्कार करना, कौवा-कुत्ता आदिको बछि देना, अनियियोंकी पूजा करना, पितरोंको पिण्ड देना, समयपर हितकर थोड़े और मधुर अर्थवाले वचनोंको बोलना तथा जितेन्द्रिय और धर्मात्मा होना चाहिये। दूसरोंकी उन्नतिके कारणोंमें ईर्ष्या करनी चाहिये, किन्तु उसके फलमें ईर्ष्या नहीं करनी चाहिये। निश्चिन्त, निःसं, लज्जायुक्त, बुद्धिमान्, उत्साही, चतुर, क्षमायुक्त, धार्मिक और आस्तिक होना चाहिये तथा विनय, बुद्धि, विद्या, अभिज्ञ (कुल) और अवस्थामें बृद्ध व्यक्ति, सिद्ध एवं आचार्यका सेवक होना चाहिये। सभी प्राणियोंके साथ मईके समान व्यवहार करनेवाला, क्रोधी मनुष्योंको विनयद्वारा प्रसन्न करनेवाला, भयसे युक्त व्यक्तियोंको अश्वासन देनेवाला, दीन-दुःखी व्यक्तियोंका उपकार करनेवाला, सन्यप्रतिज्ञ, शान्तिप्रधान, दूसरेके कठोर वचनोंको सहनेवाला, क्रोधका नाशक, शान्तिके गुणको देखनेवाला और राग-द्वेष उत्पन्न करनेवाले कारणोंका त्याग करनेवाला होना चाहिये—‘ग्रहचर्यवानदानमैत्री-कारुण्यहर्षपेक्षाप्रशमन्त्र श्यादिति ।’

(चरकस० ८ । २९)

‘ग्रहचर्य, ज्ञान, दान, मित्रता, दया, हर्ष, उपेक्षा और शान्ति इन—क्रियाओंमें तथ्यर रहे।’

सुश्रुतरांहितामें चारित्रिक शिष्यणस्तोत—

ततोऽस्मिन् त्रिःपरिणीयाभित्सात्रिकं शिष्यं त्रूयात् । कामक्रोधलोभमोहमानाहंकारायर्जिसाय-पैद्युन्यानृतालस्यायगस्यानि हित्वा नीचनखरोमणा शुचिना कपायवाससा सत्यवत्त्रहचर्याभिवादन-तत्परेणावश्यं भवितव्यम् । (सुश्रुतसंहिता ३ । ६)

‘तत्पथ्वात् अग्निकी तीन बार प्रदक्षिणा करके अग्निको साक्षी करके शिष्यसे कहना चाहिये कि—(हे शिष्य !) तुम्हें अभ्यासपर्यन्त काम, क्रोध, लोभ, मोह, दान, अहङ्कार, ईर्ष्या, कठोर वचन, चुगुली, मिथ्या

गामग, आलस्य और जिनमें अपर्कानि हों ऐसे कार्यमें प्रवृत्ति—इन मर्माका परिम्याग करना चाहिये। नाखन तथा वाल छाँटे रखना, पवित्र रुपना, कमय वेष पहनना, सत्यवत्तम, ब्रह्मचर्यम तथा मान्यजनोंको अभिवादन करनेमें अवश्य तत्त्वर रहना चाहिये ।

अष्टाद्वादश्यमें चारित्र्य-निर्देश—अष्टाद्वादश्य भी यागुर्वेदका चारित्रनिर्माणा ग्रन्थ है। इसमें कहा गया है—
नम्पद्गिपत्स्वेकृपना हेनावोर्येत् फले न तु ॥

(अष्टाद्वादश्य २ । २५)

‘मप्यति और विषनिमें एकपन होना चाहिये और कारणमें ईर्ष्या न करे, उसके फलमें ईर्ष्या न करे—

आद्रेसन्तानता त्यागः कायवाक्येनसां द्रमः ।
स्वार्थघुञ्जिः परायेषु पर्याप्तमिनि नद्यवत्तम् ॥

(अष्टाद्वादश्य ३ । ४६)

‘आद्र-सन्तानता (अनिदय कल्पा या सब्र प्राणियोंमें दयाभाव) त्याग-दान (अपना अधिकार छोड़कर दूसरे को अधिकार देना), शारीरिक, वाचिक और मानसिक चपलताका निश्रह (शान्ति), दूसरेके कार्यमें व्यार्थवृद्धि—ये चारों मम्पृण सद्व्रत (सज्जनोंके धर्म) हैं ।’

भावप्रकाशमें सदाचरण

मैत्री सद्ग्निः समं कुर्यात्स्तेहं सत्यु तु सर्वथा ।

संसर्गं साधुभिः कुर्यादसत्सङ्गं परिन्यजेत् ॥

(भा० प्र० पूर्वक्षण्ड ४ । २८५)

‘सत्पुरुषोंके साथ मित्रता करे, मन, वाणी तथा कर्मसे सत्पुरुषोंसे स्नेह करे। सांघु (परोपकारी) पुरुषोंके साथ मेलजोल करे और असत् पुरुषों-(दुष्टों)-का सङ्ग छोड़ दे ।

गुरुणां संनिधौ निष्ठेत् सदैव विनयान्वितः ।

पादप्रसारणादीनि तत्र नैव समाचरेत् ॥

(३ । ४७)

‘बड़ोंके सामने विनीत (नम्र) होकर बैठे, उनके सामने पैर पसारना आदि अशिष्ट कार्य न करे ।’

काले हितं मितं सत्यं संवादि मधुरं वदेत् ।
भुजीत मधुरप्रायं स्तिरधं कालहितं मितम् ॥
(४ । २५)

‘समयपर हित, मित (नपा-तुला), सत्य, प्रसङ्गानुसार एवं मीठा वचन वोले । समयपर अधिकतया मधुरसयुक्त, स्नेहयुक्त, हित (धारण एवं पोषण) तथा मित (भावानुसार) भोजन करे ।’

इत्याचारं समासेन भापितं यः समाचरेत् ।
स विन्दत्यायुरारोग्यं प्रोतिं धर्मं धनं यशः ॥
(४ । २६९)

‘वह संक्षेपमे सदाचारका वर्णन किया गया है । इसके अनुसार जो मानव आचरण करता है, वह आयु, आरोग्य, प्रेम, धर्म, धन एवं यत्कों प्राप्त करता है ।’ वस्तुतः आयुर्वेद कल्पवृक्षके सदृश हैं, जो मानवको इहलैकिक तथा पारलैकिक सुख प्रदान करता है । आवश्यकता है, केवल उन सदाचरणोंको अपनानेकी । आयुर्वेदप्रेमी न केवल दीर्घायु ही प्राप्त करता है, वरन् मोक्षका भी अधिकारी बन जाता है ।

—२५४—

आगमोंकी सचारित्य-प्रेरणा

(लेखक— टॉ० श्रीसिवारामजी सक्सेना ‘प्रवर’)

चरित्र जैसा कि इस शब्दसे ही स्पष्ट है, आचरण-प्रवान है । अतः विशेष आचार-निष्ठा ‘चारित्य’ है । निष्ठा-सम्बन्धाके लिये मनुष्यके परिपुष्ट व्यक्तिवक्ती अपेक्षा होती है । व्यक्तिन्वमे मनुष्यकी शारीरिक स्थिति, परिवान, रहन-सहन, आचार-विचार और उनकी कर्मसे परिणामिका विचार होता है ।

आगमसे यहाँ तन्त्र-ग्रन्थ अभिप्रेत है, जो विशेषतः मन्त्र-वर्चोसे सम्बन्ध रखते हैं, तथापि उनमे प्रसङ्गानुसार चारित्य-सम्बन्धी कथन भी मिल जाते हैं । हम उन्होंका संकलनकर आगमोंका चारित्य-विषयका मन्तव्य प्रकट कर रहे हैं ।

‘माहेश्वर तन्त्रमे कहा है कि वर्म-अर्य, काम-मोक्ष सब आचारपर आवृत हैं । सदाचार ही धर्म है और उसीसे सब सिद्धि होती है । यह सब विश्व वर्ममूल है, और परमात्मा भी धर्ममूल है, अतः धर्मके द्वारा मनुष्य अपने मूलके प्रतिले जाया जाता है ।’ वसिष्ठसूत्रिका वचन

है कि ‘आचरणसे पतित व्यक्ति स्वर्य अपना, ममाजका और विश्वका भी अपकार करता है । वह इतना कद्युपित हो जाता है कि वेद भी उसे पवित्र नहीं कर सकते— आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः (वसिष्ठ)-अतः मनुष्यको सदा ही सदाचार-परायग रहना चाहिये ।

‘महानिर्वाणतन्त्रमे कहा गया है कि चतुर्वर्ग-(धर्मार्थ-काममोक्ष)-की सम्प्राप्ति मनुष्य-जीवनका लक्ष्य है । इससे इस लोक और परलोकमें आनन्द मिलता है— चतुर्वर्गं करे कृत्वा परत्रेह च मोदते ।’ युद्धाचारके द्वारा चतुर्वर्गका साधन काना मनुष्यका कर्तव्य है ।

‘महानिर्वाणतन्त्रके वक्ता भगवान् शिव कहते हैं कि वह पार्वति ! मैं युगर्वम्के अनुसार समस्त वेदों, आगमों और विशेषतः तन्त्रोंका सार उद्भृत करके तुम्हे इस उद्देश्यसे मुना रहा हूँ कि सारे लोकोंका उपकार हो, समस्त प्राणियोंका हित हो ।’ इस प्रकार महानिर्वाण-तन्त्रकी रचनाका उद्देश्य ही चरित्र-निर्माण है । पादेतीने

१-धर्ममूलमिदं सर्वे धर्ममूलं जनार्दनः । धर्मेण नीयते तस्मात् स्वमूलं प्रनि मानवः ॥

(ब्र० स० ३ । ७ । ५)

२-म० निं० तं० ३ । १७, ३-म० निं० त० २ । २७ । २९, महानिर्वाण तन्त्रको सभी लोग आधुनिक मानते हैं, पर उसके सदाचारपूर्ण वचन अवश्य महस्वके हैं ।

शिवसे पूछा कि जब कलियुगमें सर्वत्र पथ-भ्रष्टता हो जायगी, तब मनुष्योंके तेज, बल, आरोग्य, विद्या, बुद्धिका विकास किस प्रकार होगा और उनका महत्त्व कैसे होगा ? इस सन्दर्भमें पार्वतीजीने जिन मानवीय गुणोंकी ओर इङ्गित किया है, वे चरित्र-निर्माणके प्रधान सूत्र हैं। पार्वतीजीने पूछा—

तेषामुपायं दीनेश कृपया कथय प्रभो ॥
येन लोका भविष्यन्ति महावलपराक्रमाः ।
शुद्धचित्ताः परहिता मातापित्रोः प्रियकराः ॥
स्वदारनिष्ठाः पुरुषाः परत्वीपु पराद्वाख्याः ।
देवता गुरुभक्ताश्च पुत्रस्वजनपोपकाः ॥
ब्रह्मद्वा ब्रह्मविद्याश्च ब्रह्मचिन्तनमानसाः ।
सिद्धद्वयर्थं लोकयात्रायाः कथयस्व हिताय तत् ॥
कर्तव्यं यदकर्तव्यं वर्णाश्रमविभेदतः ॥

(श्लो० ७०-७४)

इस कथनमें मानवीय चरित्रके ये मुख्य आधार निर्दिष्ट हुए हैं—(१) ब्रह्मज्ञान, ब्रह्मनिष्ठा और ब्रह्मचिन्तन, (२) देवता और गुरुकी भक्ति, (३) माता-पिताके प्रिय कार्य करना, (४) चित्तशुद्धि, (५) पर-हित, (६) स्वपत्नी-निष्ठा, (७) पुत्र और वन्य-वान्यवौंका पोषण और (८) अपने आरोग्य, बल, पराक्रम, विद्या आदिका वर्धन।

चारित्र्यके आदर्शके रूपमें पार्वतीजीने सत्ययुगीन मनुष्योंका उदाहरण प्रस्तुत किया है। सत्ययुगके पुण्यशील मनुष्य देवता और पितृगणोंको तृप्त करते हैं। वे जितेन्द्रिय होकर वेदान्यथन, परमार्थ-चिन्तन, तप, दया और दानमें निरत रहते हैं। अतः वे महावलवान्, महावीर्ययुक्त और अत्यन्त पराक्रमी होते हैं। वे देव-कल्प और दृढ़व्रत होते हैं और मर्त्य होकर भी देवलोकमें जा सकते हैं। वे सभी सज्जन, सत्यवादी और सत्यवर्म-परायण होते हैं। कृतयुगके राजा भी

सत्य-संकल्प और प्रजा-प्रालन-त्वय होते हैं। मर्मी मनुष्य परार्था खीको माताके समान, परमुत्रको व्यपुत्रके समान और पर-धनको भिट्ठीके ढेलेके समान देखते हैं। सभी स्वधर्म-निरत और सम्मार्गके धर्वलम्बी होते हैं। उनमें कोई भी मिथ्याभाषी, प्रमादी, चोर, पग्दोदी, दुराशय, मन्त्री, क्रोधी, लोभी, कामुक नहीं होते। सभीका अन्तःश न यदा ही मन् और आनन्दमय रहता है। वे हृष्ट-पुष्ट, नीरोग और तेज-स्त्रय-गुण-सम्पन्न होते हैं। वियों व्यमिचारिणी नहीं होतीं, पति-भक्ति-परायण रहती हैं। चांगं वर्ग अपने-अपने विहित आचारके अनुसार चलते हैं और स्व-स्व धर्मका अनुष्ठान करके निस्तार-पद प्राप्त करते हैं।

व्यक्तित्व-निर्मितिका प्रधान-विन्दु है तात्त्विक आस्था। भारतीयोंका व्यक्तित्व उनकी परमतत्त्व-विप्रयक मान्यताओंके आवारपर संघटित होता है और फिर इसीके परिप्रेक्ष्यमें उनका चारित्र्य सिद्ध होता है। परमतत्त्वको आगमोंने परमात्मा या परमेश्वर कहा है।

परमेश्वर एक अद्वितीय, सत्य, नित्य, परात्पर, ब्रह्मादि देवोंसे भी परे, स्वयंप्रकाश, सदापूर्ण और सच्चिदानन्द-लक्षण है। वे निर्विकार, निरावर, निरिंगं, निराकुल, गुणातीत, सर्वसाक्षी, सर्वान्मा, सर्वदक्ष, विमु, सब प्राणियोंमें गूढ़गावसे विराजमान, सर्वव्यापी, सनातन, सर्वेन्द्रिय-विवर्जित तथापि सर्वेन्द्रिय गुणाभास हैं। समस्त जगत् उनके आलम्बनसे स्थित और उनके अधीन हैं। चेतन-अचेतन सब परमात्माके शरीर हैं। सब भूतोंके कारण होनेसे उन्हे द्रष्टा और वृहत् होनेसे ब्रह्म कहा गया है। ब्रह्म-विष्णु-महेश उनकी इच्छाके अनुसार कार्य करते हैं और इन्द्रादि लोकपाल उनके वशवर्ती और आज्ञापालक हैं।

१-म० नि० तं० १ । ७०, २-म० नि० त० १ । ६९ । ७४, ३-म० नि० त० १ । २० । ३० ।

४ १० ब्र० सं० ४ । ६ । ४६; ५-म० नि० त० २ । ३४-४३, ३ । ९ ;

वे आनन्द-लक्षण ब्रह्म-स्वरूपी जीवोंमें अन्तर्यामीरूपसे रहकर उन्हे चैतन्य और कर्मसे युक्त करते हैं ।^१ आब्रहस्तम्पर्यन्त सकल जगत् तन्मय है ।^२ विश्व उनके आश्रित हैं, अतः वे जगत्के माता-पिता, विश्वात्मा विश्व-हितसे प्रसन्न होते हैं ।^३ सर्वेश्वरके तुष्ट होनेपर जगत् तुष्ट हो जाता है और उनके प्रसन्न हो जानेसे जगत् प्रसन्न हो जाता है ।^४ यह जानकर अर्चा-पूजा-ध्यान आदि तथा लोकोपकारके कार्य उन्हीं परमात्माके उद्देश्यसे करने चाहिये ।^५ जिस प्रकार नदियों अवश होकर समुद्रमें प्रवेश करती हैं, उसी प्रकार जीवके समस्त कर्म उन एक ईश्वरमें पहुँच जाते हैं, उन्हे समर्पित हो जाते हैं ।^६

दान, यज्ञ, वेदाध्ययन और योग आदि समस्त कर्म, तथा समस्त काम भी परमेश्वरके विना सिद्ध नहीं होते । अतः अन्य साधनोंको छोड़कर उन्हींके शरणागत होकर चित्तमें परमात्मासे अपने सञ्चन्व की ही भावना करनी चाहिये ।^७

परमेश्वरके अतिरिक्त अन्य देवोंके पूजनका भी विवान आगमोंमें है । देवता विशेष-विशेष कार्य करनेके हेतुसे आविर्भूत परमेश्वरकी विभूतियाँ हैं । अतः श्रद्धा-सहित किसी भी देवताकी अर्चना करनेसे भी परमेश्वर-अर्चनका ही फल मिलता है और अर्चक जिस फलके अभिप्रायसे देव-पूजन करता है, परमेश्वर अध्यक्षरूपसे उन देवताओंके द्वारा वैसा ही फल दिला देते हैं ।^८

१—बृ० ब्र० स० २ । २ । ४; २—म० नि�० त० २ । ४३, बृ० ब्र० स० १ । १०८; ३—म० नि�० त० २ । ४६; ४—म० नि�० त० २ । ३३, बृ० ब्र० स० १ । ७ । २० ।

५—जगतः पितरौ साक्षात्क्षमीनारायणौ मतौ ।

६—म० नि�० त० २ । ३३ ।

७—कुर्यात् कर्मणि सर्वाणि वासुदेवात्मकानि हि ॥

८—म० नि�० त० २ । ५०, ९—बृ० ब्र० स० ४ । १० । ६०—६१ ।

१०—यो यो यान् यान् यजेद् देवा श्रद्धया यद्यदासये । तद् तद् ददाति सोऽन्यथस्तैस्तेऽवगणेः शिवे ॥

(म० नि�० त० २ । ५१)

११—म० नि�० त० ५ । १४७—१४९; १२—म० नि�० त० ३ । ७६; १३—म० नि�० त० ७ । १११; १४—म० नि�० त० ७ । १४।
१५—म० नि�० त० ४ । ७३—७७,

देवीकी पूजामें पंद्रह प्रकारके भाव-पुष्ट चढानेका विधान है । ये पुष्ट हैं—अमाया, निरहंकार, अराग, अमद, अमोह, अदम्भ, अद्वेष, अक्षोभ, अमात्सर्य, अलोभ, परम-पुष्ट अहिंसा, दया, क्षमा, इन्द्रिय-निग्रह और ज्ञान—ये सच्चारित्र्यके मूलाधार हैं ।^९

परमेश्वरकी उपासना कायिक, वाचिक या मानसिक कैसी भी कर सकते हैं, किंतु चित्त-शुद्धिका सभीमें विशेष प्रयोजन है—

वाचिकं कायिकं वापि मातसं वा यथामति ।
आराधने परेशास्य भावशुद्धिर्विधीयते ॥^{१०}

चित्तशुद्धिसे ही मन्त्रसिद्धि होती है—‘चित्त-संशुद्धिरेवात्र मन्त्राणां फलदायिनी ।’^{११} और, चित्त-शुद्धि होनेपर ही ब्रह्म-ज्ञान होता है—‘चित्ते शुद्धे महेशानि ब्रह्मज्ञानं प्रजायते ।’^{१२}

चित्त-शुद्धिमें सत्यनृतका बहुत महत्त्व है । कलियुगमें अन्य सभी धर्म दुर्बल हो जाते हैं, केवल सत्य ही स्थित रहता है । अतः सत्यधर्मका आश्रय लेकर किये कर्म ही सफल होते हैं । सत्यसे बड़ा धर्म नहीं है, झूठसे बड़ा पाप नहीं है । सत्य ही परब्रह्म है, परम तप है और समस्त क्रियाएँ सत्य-मूलक हैं । सत्यसे श्रेष्ठ कुछ नहीं है । अतः सबको सत्यमय होना चाहिये^{१३}—

प्रकटेऽत्र कलौ देवि भर्वे धर्माश्च दुर्बलाः ।
स्थास्यत्येकं सत्यमात्रं तस्मात् सत्यमयो भवेत् ॥
सत्यधर्मं समाश्रित्य यत्कर्म कुरुते नरः ।
तदेव सफलं कर्म सत्यं जानीहि सुव्रते ॥

(बृ० ब्र० स० १ । १० । ५२)

(बृ० ब्र० स० ४ । १ । ११२)

न हि भव्यात् परो धर्मो न पापमनृतान् परम् ।
तमात् नवात्मजा मर्यः सन्यमेकं समाध्रयन् ॥
भव्यस्पं परं व्रतं सन्यं हि परमं तपः ।
सन्यसूलाः क्रियाः सर्वोः भव्यात् परतरो नहि ॥

(७५ । ७७)

'भव्ययुगमे धर्मके वारो चरण थे, त्रेतायं तीन और
द्वापर्यमें दो हैं । कल्पियुगां एक ही चरण वचा है ।
उम एक चरण धर्ममें मी तपव्या और हयाका अंग
लगाया हां गया है, केवल मन्य ही वद्यात् है । याद
उस मन्यत्वप चरणका भी लोप कर दिया जाय तो
धर्मका ही लोप हो जायगा' ।

मन्य-पाठ्य. चित्तघुडि आदि चारित्रिक उनम
गुणोका निर्दर्शन गृहम्य धर्ममें होना है । आगमशास्त्र
इर्मालिये गार्हन्यको मन्य धर्मोका थात्रय मानता है ।
आगमका मन्तव्य है कि मनुष्य जन्म केन ही गृहम्य
होते हैं, फिर मनुष्टके द्वारा आश्रमी व्रतते हैं । अतः
अपने संस्कारपर, अपनी आचार-युक्तिपर विद्योप व्यान
देना चाहिये । मर्मा मनुष्योका प्रथम धर्म गाहूरव्य है ।
गृहम्यको व्रद्धनिष्ठ और ब्रह्म-ज्ञान-प्रगत्यण होना चाहिये ।
वह जो-जो कर्म करें, उसे व्रतको मनपित कर दें ।
मित्र्यामापण और शट्टा न करें । दबना और अनियोका
सुकार करें । माता-पिताको प्रथम देवता यमदाकर
उनकी सेवा करें । माता-पिता, पुत्र, पनी, अनिय और
महोदरके विना भोजन न करें, जाहे भूखमे प्राण काष्ठमें
आ गये हों । यह सनातन धर्म है कि गृहम्य अपनी
पर्माकी रक्षा करें, पुत्रोंको विद्या पढ़ाये तथा स्वजनों
और वान्यवोक्ता पांपण करें ।

मनुष्यको कर्मनिष्ठ रहना चाहिये । विना कर्म क्रिये
मनुष्य श्रणभर भी नहीं रह सकता और कर्ममें ही मुख्य-
दुःख, जन्म-भरण एवं आचारण होते हैं ।

विना कर्म न निष्ठन्ति धर्मार्थमपि देहितः ।
अनिच्छन्नाऽपि विवशाः कृष्णन्ते कर्मवायुना ॥
कर्मणा सुखमद्वन्ति दुःखमद्वन्ति कर्मणा ।
ज्ञायन्ते च प्रद्वयन्ते वर्तन्ते कर्मणा वशान् ॥

(१० । ११ ।)

आगमनलर्वा या शर्म-भजणमें आवश्यक ममय लगाना
उचित नहीं है । मनुष्यको आद्या, निद्रा, धौणी आदि
परिमित रूपों चाहिये तथा स्नान, नस्न, पवित्र, दश
रहना एवं सब वर्षोंको उचित भागते करना चाहिये—
निद्रालस्य देहयन्तं केशविन्द्यामेव च ।
आनन्दिमण्डने वर्षे नानिरिक्तं भमाचरेत् ॥
युक्ताद्वारा युक्तानिद्रो मितव्याद् मितमेयुनः ।
मन्त्रो नष्टो द्युचिर्द्वयो युक्तः भ्यान् भव्यकर्ममु ॥११ । १२ ॥

अब न और मन्यत्वा विचार करें ती कार्य करने
चाहिये—

अवम्यानुगताद्वेष्याः समयानुगताः क्रियाः ।

तस्माद्वम्यां समयं व्याध्य कर्म नमाचरेत् ॥१३ ॥

इसके अनिवाक निराद्वृत्ति-(नैर्जरी-) में मनुष्यको
दश, अप्रमत्त और मन्यतिष्ठ होना चाहिये ।

जो मनुष्य जैसे आचार, भाव और माध्यनके
अनियोगी है, वहा ही आचरण करके वे निष्पाप होकरा
मन्य-भागके पार हो जाते हैं । अवेद्वित्तिवत उत्तम
आचरणालेखों कहि प्रभावित नहीं करता" ।

ये कुर्वन्ति कुलनारं सन्यष्टता ज्ञेन्द्रियाः ।

द्व्यक्ताचारा द्व्यागील्यान्तहि तान् वाध्यते कलिः ॥

गुन्नुभूष्यपणे युक्ता भक्ता मातृपदाम्भुजः ।

अनुरक्ताः स्वदारपु नहि तान् वाध्यते कलिः ॥

सन्यव्रताः सन्यनिष्ठाः सन्यर्थमपरायणाः ।

ये द्वयुः सन्यवचसं नहि तान् वाध्यते कलिः ॥

हिंसामात्सर्वरहिता दम्भेष्विवर्जिताः ।

स्तानं द्वानं तपस्तीर्थं वतं तपषणमेव च ॥

द्वैतिल्यानुद्वीप्तानां स्वच्छानां कुलमार्गिणाम् ।

परोपकारव्रतिनां भायूनां किंकरः कलिः ॥

(१३-१५, १६, १७)

१-म० निं० त० ८ । ८१-८२ २-म० निं० त० ८ । ११, ३-म० निं० त० ८ । १२-१३, ४-म० निं०
त० ८ । १३, ५-म० निं० त० ८ । ३५, ६-म० निं० त० ८ । १०४-१०५, ७-म० निं० त० ८ । ११२, ८०-म० निं० त० ८ । ११२, १०-म० निं० त० ८ । ३७, ११-म० निं० त० ४ । ६७-६८ ।

किंतु कुलाचार-विहीन, असत्यभाषण, परदोह, लभ्यटता आदि दुराचरणोंसे युक्त व्यक्ति कलिके दास हो जाते हैं—

**कुलाचारैर्विहीना ये सततासत्यभाषिणः ।
परदोहपरा ये च ते नराः कलिकिकराः ॥**

दैनिक जीवन-चर्यमें भी शुद्धि और ब्रह्मार्पणका भाव रहना चाहिये। ब्राह्म-मुहूर्तमें उठकर और ब्रह्म- (वेद या मन्त्र-) दाना गुरुको प्रणाम कर परम ब्रह्मका ध्यान तथा गुरुमन्त्रका जप करना चाहिये—

**ब्राहो मुहूर्ते चोत्थाय प्रणम्य व्रहदं गुरुम् ॥
ध्यात्वा च परमं ब्रह्म यथाशक्तिर्मनुं स्मरेत् ॥**

इस प्रकार प्रातःकृत्य कर फिर प्रातः, मध्याह्न और सायंकी (त्रिकाळ) सध्या करे। आराधनामें शरणागति महत्त्वपूर्ण है। ब्रह्मोपासनासे ब्रह्म-सायुज्य प्राप्त होता है।^{१०}

स्नान करते समय पवित्र नदियोंका स्मरण इस मन्त्रद्वारा करना चाहिये—

**गङ्गे च यमुने चैव गोदावरि सरस्वति ।
नर्मदे सिन्धु कावेरि जलेऽस्मिन् संनिधि कुरु ॥^{११}**

इसी प्रकार अशन-व्रसन-शयन सब भगवत्स्मरणपूर्वक शुद्ध भावसे करने चाहिये।

‘वृहद् ब्रह्मसंहिता’ लोक-धर्मके निर्वाहपर बल देती है। उसका कथन है कि लोक-संप्रहसे हीं मनुष्य सब कायों और कर्त्तव्योंमें सिद्धि प्राप्त करता है। लोक-धर्मका त्याग करनेसे सब प्रकारसे ग्रानि होती है, अतः विवेकशीलोंको लोकाचार-पथमें स्थित रहकर आजीवन प्रयत्नपूर्वक रक्षा करनी चाहिये; क्योंकि वही समस्त

६-म० नि० त० ४ । ७०, ७-म० नि० त० ३ । ११२-११३, ८-म० नि० त० ३ । १२७, ९-म० नि० त० ३ । १३०, १०-म० नि० त० ४ । ४ ।

११-म० नि० त० ५ । ४६ ।

**त्यागाल्लोकस्य धर्मस्य ग्लानिर्भवति सर्वतः ॥ ७२ ॥
विवेकशैरत्स्तसाल्लोकाचारपथास्थितैः ॥ ७३ ॥**

आदेशपतनाद् यत्नाद्रक्षणीय. प्रयत्नतः। आचाराणा हि सर्वेषां धर्माणां मुनिसत्तम ॥ ७४ ॥

(२० ब्र० सं० ४ । ४ । ७१-७४)

१३-म० नि० त० १४ । १०७-१११, ६४-म० नि० त० १४ । १३६, १५-म० नि० त० ८ । २८७, १६-म० नि० त० ३ । १२, १७-म० नि० त० ३ । ८१,

८० नि० अ० ७—

आचारों और धर्मोंका आधार है।^{१२} इस प्रकार हम देखते हैं कि आगमोंके मतमें लोकाचार किसी भी मनुष्यके चारित्रियका मुख्य प्रकल्प है।

अशुभ कर्मसे प्राणियोंको तीव्र पीड़ा होती है। शुभ कर्म भी यदि फलासक्तियुक्त हो तो कर्म बेड़ीमें जकड़ देता है। बेड़ी चाहे लोहेकी हो या सोनेकी, बन्धन-काग्नी तो दोनों ही हैं। अतः शुभाशुभ सभी कर्मोंका शय होनेपर ही मुक्ति होती है। कर्म-शय तो ज्ञानमयी अनासक्तिसे ही होता है।^{१३} कर्मसे, संतति उत्पन्न करनेसे या धनसे मुक्ति नहीं होती, वह तो आत्मज्ञानसे ही होती है।^{१४} अतः ज्ञान-पूर्वक कर्मचरणकर, फिर कर्म-संन्यास कर लेना चाहिये; क्योंकि कर्म कुछ भी किया जाय, यदि ब्रह्मज्ञान और कर्म-संन्यास नहीं हुआ तो वह कर्म मोक्षदायक नहीं होता।^{१५}

**ब्रह्मशानादते देवि कर्मसंन्यसनं विना ।
कुर्वन् कल्पशतं कर्म न भवेन्मुक्तिभाग् जनः ॥**

सब कुछ ब्रह्ममय है, ब्रह्मका है—‘सर्वं ब्रह्ममयं देवि साथयेद् ब्रह्मसाधकः’।^{१६} अतः ‘त्वदीयं वस्तु गोविन्दं तुभ्यमेव समर्पये’की भावना परम पावन है। ब्रह्मको समर्पित कर फिर प्रसाद-रूपमें ही मनुष्यको विसी पदार्थका प्रहण करना चाहिये। पकव हो या अपकव, द्रव्यको ब्रह्ममन्त्रद्वारा ब्रह्मार्पित करके खजनोके साथ उसका उपभोग करना चाहिये।^{१७} ऐसे ब्रह्मनैवेद्यके

ग्रहणसे अश्वमेघादि यज्ञकी अपेक्षा करोड़ गुना फल मिलता है'। वस्तुको ब्रह्मार्पित करनेके अतिरिक्त अपने सभी कर्मोंको भी ब्रह्ममन्त्रसे सिद्ध करके ब्रह्मार्पित करना चाहिये—‘यद्यत् कर्म प्रकुर्वात् ब्रह्ममन्त्रेण साधयेत्।’

इसी संदर्भमे वृहत्संहिताका वह निर्देश है कि जीवात्मा और परमात्माका अनन्य सम्बन्ध है। कर्मोंके तात्त्वसे और प्रकृतिके परिणामसे परमात्माके अंशमें जो-जो भाव बनता है, वही जीव-लोक हो जाता है। अतः यदि जीव ब्रह्मको जान ले तो वह ब्रह्म ही हो जाता है। परमात्मा जीवको आनन्द-राज्य प्रदान करते हैं। देह-भावकी अवस्थामें कर्म-ज्ञान-उपासना भगवत्प्राप्तिके सावन हैं; क्योंकि धर्म-वृत्त-रूप इस देहका फल यही है कि इसके द्वारा जगन्नाथका दर्शन किया जाय, उनकी सेवा की जार्य।

सेवा भक्ति है। दास होकर परमात्माका यजन करे—दासो भूत्वा यजेद् देवम्। कैङ्कर्य-वृत्तिकी सिद्धिसे हरि-पद प्राप्त होता है। परमात्मा भक्तिसे ही प्राप्त होते हैं, अन्य करोड़े सावनोंसे भी नहीं। भक्ति परमात्माका अवण्ड स्मरण है। अवण्ड म्माण ज्ञानमय है थोर ज्ञान भगवत्पद-प्रदायक है।

उपर्युक्त विवेचनसे स्पष्ट है कि आगमोंकी सञ्चारित्य-प्रेरणा ऐसी है, जिसके द्वारा मनुष्यके व्यक्तित्वका बहुमुखी विकास होता है, उसका दृष्टिकोण ज्ञानी नहीं रह जाता है, वह अपनी लोकत्यागाका निर्वाह सुखपूर्वक करते हुए अन्यान्य मनुष्यों, प्राणियों, यहौनका कि जड़-जीवोंके भी सुखकी योजना साथ-साथ करता चलता है। ऐसे चरित्रिके निर्माणसे मनुष्य युगानुकूल आचरण करनेमें सक्षम होता है और उसके लोक-प्रत्योक दोनों बनते हैं। आगमोंमें आदर्शात्मक लोक-चारित्र्य है।

वेदान्तकी हृषिमें चरित्र-निर्माण

(उत्तरक—परमश्रद्धेय स्वामी श्रीज्योतिर्मयानन्दजी महाराज, मिवामी—संयुक्त राज्य अमेरिका)

(अनुवादक—श्रीसुवांशुश्रेष्ठरजी त्रिपाठी, एम्० ए०, साहित्यरनन्)

चरित्र व्यक्तिकी सफलता एवं समाजके सांस्कृतिक उत्थानका आधार है। चरित्रसे बढ़कर मनुष्य-जीवनमें कुछ भी महत्व पूर्ण नहीं है। यथा, धन, शक्ति एवं

ऐश्वर्य-प्राप्तिका कोई महत्व नहीं—यदि व्यक्ति चरित्र-रहित है। इन सबसे परिपूर्ण रहनेपर भी यदि व्यक्तिमें चरित्र नहीं है तो उसे आन्तरिक शान्ति नहीं मिल

१—म० नि० त० ३। ८८, २—म० नि० त० ३। ११२-११३

३—अनन्याहसम्बन्धो जीवात्मपरमात्मनोः ॥

(व० ब्र० स० १। ४। ४७)

४—कर्मणा तारनम्येण प्रहृते। परिणामतः। यो यो भावः प्रसिद्धयेत् जीवलोकः स एव हि ॥

(व० ब्र० स० २। ३। ११)

५—ब्रह्मविद् भवति ब्रह्म इत्येवा परा श्रुतिश्च ॥

(व० ब्र० स० ४। ३। १०)

६—आत्मराज्यप्रदो देवः ॥—व० ब्र० स० ३। ९। ८२।

७—कर्मज्ञानोपासनं च भगवत्प्रतिसाधनम् ॥

(व० ब्र० स० ४। ३। १०)

८—वर्मज्ञास्य देवस्य फलमेतद् विनिश्चितम् । यदनेन जगन्नाथः परमात्मावलोक्यते ॥

(व० ब्र० स० ५। ६। ४५)

९—व० ब्र० स० ३। ७। ८६।

१०—कैङ्कर्यवृत्तिः संवाद्या समायाति हरेः पदम् ॥

(व० ब्र० स० ३। ४। ४२)

११—भक्त्याद्येक्या ग्राह्यो न हि सावनकोटिभिः ॥

(व० ब्र० स० ३। ५३। २६९)

१२—उक्ता भगवती भक्तिरस्त्वृतिलक्षणा ॥

(व० ब्र० स० ३। ५४)

सकती। उसे वह ज्ञान नहीं प्राप्त हो सकता, जो जीवन्मृत्युके बन्धनसे छुटकारा दिलाता है। चरित्र-रहित व्यक्तिको ईश्वरीय विशुद्ध प्रेमकी मिठासका अनुभव नहीं हो सकता।

चरित्रके बिना व्यक्तिका जीवन उस दिग्भान्त, नाविकविहीन जहाजके समान है, जो दुष्प्रियमयी स्थितिमें विस्तृत सागरमें डगमग कर रहा हो। चरित्र-युक्त मनुष्यके जीवनका एक निश्चित लक्ष्य होता है; वह है—आत्मज्ञानकी प्राप्ति। आत्मज्ञान-प्राप्तिकी आकाङ्क्षा रखना ही श्रेष्ठ चरित्रके विकासका रहस्य है। श्रेष्ठ चरित्र एक खिले पुष्पकी भोंति शान्ति और आनन्दका सौगम्य सदैव प्रसारित करता रहता है।

एक प्रसिद्ध कहावत है कि बुद्धिसे विचार, विचारसे क्रिया, क्रियासे प्रवृत्ति (आदतें) एवं प्रवृत्तिसे गुण एवं गुणसे चरित्रका निर्माण होता है तथा चरित्रसे भाग्यका निर्माण होता है। एक बुद्धिमान् मनुष्य अपने चरित्रका निर्माण विचार, क्रिया, आदत एवं गुणके समन्वयसे कर सकता है, जो आपसमें एक-दूसरेसे जुड़े हुए हैं। चरित्र मनुष्यको दैवी सौभाग्य—आत्मज्ञानके पास पहुँचाता है।

साधारणतया मनुष्य जब अनैतिकता, अविद्यास, कामलोल्पयता, क्रोध, पाखण्ड आदि मानसिक विकारोंसे प्रसित रहता है तो उसे चरित्रहीन कहा जाता है। इसके विपरीत मनुष्यमें एकाग्रता, सञ्चार्द, परोपकारिता, सहिष्णुता, नम्रता आदि महान् गुणोंके होनेपर वह चरित्रका महान् कहलाता है। चरित्रका महान् वास्तविक महान् होता है।

यौगिक दृष्टिसे मनुष्य अपने चरित्रका निर्माण यमो और नियमोंका पालनकर करता है। चरित्रकी महत्ता अहिंसा, सञ्चार्द, ब्रह्मचर्य आदि गुणोंके पालनकी क्षमतापर निर्भर है। जब मनुष्य आदर्श चरित्रका विकास करता है तो उसका व्यक्तित्व निर्भीकता,

हृदय-शुद्धता, ज्ञान, योग, दया, इन्द्रियोंको बशमें रखना प्रभृति ईश्वरीय गुणों-(दैवी-सम्पदाओं)-से युक्त हो जाता है; जैसा कि श्रीकृष्णने गीताके अध्याय १६, श्लोक १-३ में बतलाया है—

‘अर्जुन ! दैवी संपदा जिन पुरुषोंको प्राप्त है, उनमेंसे सर्वथा भयका अभाव, अन्तःकरणकी अच्छी प्रकारसे खच्छता, तत्त्वज्ञानके लिये ध्यानयोगमें निरन्तर दृढ़ स्थिति और सात्त्विक दान तथा इन्द्रियोंका दमन, भगवत्-पूजा और अग्निहोत्रादि उत्तम कर्मोंका आचरण एवं वेद-शास्त्रोंके पठन-पाठनपूर्वक भगवान्‌के नाम और गुणोंका कीर्तन तथा स्वर्वर्मपालनके लिये कष्ट सहन करना एवं शरीर और इन्द्रियोंके सहित अन्तः-करणकी सरलता होती है। इसी प्रकार मन, वाणी और शरीरसे किसी प्रकार भी किसीको कष्ट न देना तथा यथार्थ और प्रिय भाषण, अपना अपकार करने-वालेपर भी क्रोधका न होना, कर्मोंमें कर्त्तापिनके अभिमानका त्याग एवं अन्तःकरणकी उपरामता अर्थात् चित्तकी चञ्चलताका अभाव और किसीकी भी निन्दाद्विन करना तथा सब भूत-प्राणियोंमें हेतुरहित दमा, इन्द्रियोंका विषयोंके साथ संयोग होनेपर भी आसक्तिका न होना और कोमलता तथा लोक और शास्त्रसे विरुद्ध आचरणमें लज्जा और व्यर्य चेष्टाओंका अभाव होना, तेज, क्षमा, धैर्य और बाहर-भीतरकी शुद्धि एवं किसीमें भी शत्रुभावका न होना और अपनेमें पूज्यताके अभिमानका अभाव, यह सब तो है अर्जुन ! दैवी संपदाको प्राप्त हुए पुरुषके लक्षण हैं।’

प्रत्येक मनुष्य अपने चरित्रका निर्माता स्वयं है। इसलिये वह अपने भाग्यका भी निर्माता है। मनुष्य अपने आपको वही रखते हुए भी अपने अंदर संचित असीमित स्रोतोंसे अपने व्यक्तित्वमें परिवर्तन ला सकता है। इस

तरह वह दैवी गतिका विकास करता है, जो उसे आत्मज्ञान या ईश्वर-प्राप्तिकी ओर ले जाता है।

चरित्रयुक्त व्यक्ति कभी भी भाग्यके सामने झुकता नहीं। वह अपने व्यक्तित्वका विकास एवं उसे अखण्डित रखनेकी स्थिति करता है। वह दुर्गुणोंका निवारण करता है और अच्छे गुणोंका विकास करता है। ज्ञातव्य है कि ऋषि वसिष्ठने योगवासिष्ठमे आत्मज्ञान-प्राप्तिके लिये चारित्रिक आत्म-प्रयासपर विशेष बल दिया है।

भूतका आत्म-प्रयास एवं वर्तमानका आत्म-प्रयास दोनों आपसमें दो लड़कू मेडोंकी भौंति लड़ते हैं और उसमें जो मजबूत होता है, वह विजयी होता है। इसलिये कोई यदि वर्तमानके आत्मप्रयासमें सफल नहीं होता है तो उसे अपने आत्मप्रयासकी शक्तिको दोप नहीं देना चाहिये—यह समझकर कि भूतका आत्मप्रयास उद्दीप्त होकर निखरित हड्डा है।

इसलिये एक महत्वाकाङ्क्षीको सर्व अच्छी सङ्गतियों (सत्सङ्ग) तथा वेदोंके अनुसार या धर्मानुसार आत्म-प्रयास करना चाहिये; ताकि वह भूतके प्रतिवन्धक कर्मोंपर विजय प्राप्त कर सके।

एक मनुष्यको आत्म-प्रयास करने दो—उसकी पूरी शक्तिके साथ, दाँत कठोरकर और बँधी हुई मूर्टीके साथ यानी कठोर परिश्रम एवं अद्यत्य साहसके साथ। उसे भूतके आत्म-प्रयासों-(पूर्व-जन्मके आत्म-प्रयासों)-के सामने झुकने न दो। इस प्रकार किये गये वर्तमान प्रयासका बल निश्चय ही भूतके सभी प्रयत्नोंको जीत लेगा। पुरुषार्थकी महत्वा भाग्यपर विजयसे होती है।

जो आत्म-प्रयासके वर्तमान शक्तिकी उपेक्षा करता है और भूतसे डरा रहता है, वह यह समझकर कि ये दोनों हाथ दो लटकते साँप हैं—अपने दोनों हाथोंसे भी ढर सकता है। और जो यह कहता है कि हम

भाग्यद्वारा चालित होने हैं, उसका काला चेत्रा समृद्धिकी दर्शाके लिये वृणास्पद होता है। लक्ष्मी उनसे दूर चली जाती है—जो भाग्यके महारे जीते हैं या भाग्यपर विश्वास कर बैठे रहते हैं।

सभी महान् व्यक्तियोंने अपने आत्म-प्रयासोंद्वारा सफलता प्राप्त की। भाग्यपर विश्वास करना, अपनी अज्ञानताको प्रकट करना तथा असफलताका मुख्य कारण होता है। अतः अपने चरित्रसे गाग्यविजयी बनना चाहिये।

आध्यात्मिक ज्ञानके द्वारा पथ-प्रदर्शित तथा अच्छी सङ्गतियोंके मह्योगसे सच्चा आत्मप्रयास भूमित होता है। इस तरहका आत्म-प्रयास कम ममयमें अपना परिणाम दिखायता है। लेकिन वह प्रवर्णन, जिसमें ज्ञान एवं परिज्ञान-दृष्टिका अभाव हो, नकारात्मक विकासकी ओर उन्मुख होता है। प्रयासका आधार ज्ञान होना चाहिये।

यदि यह अशुभ आलस्य इस संसारमें नहीं रहता तो कौन नहीं सफलता एवं सर्वेत्र आनन्द प्राप्त कर लेता ? शीत्रता- (स्फुर्ति-) की कमी है जो कि सुस्ती एवं मानसिक विलम्बसे होती है, और जो मनुष्यको सफलता एवं उपलब्धिसे बन्धित कर देती है।

एक आदर्श चरित्रके विकासके लिये योगवासिष्ठ- (मुमुक्षु-व्यवहार-प्रकरण ५)की निम्नलिखित वातें ज्ञातव्य हैं—

‘स्व’की प्रकृतिको समझिये—आध्यात्मिक गुरुके निर्देशनमें धार्मिक प्रन्थों या वेदोंका अनुशीलन करिये। श्रवण-भनन एवं निदिव्यासनका अभ्यास डालिये। अपनी बुद्धिको यह जानने दीजिये कि आप ‘स्व’ का रूप हैं। आपका व्यक्तित्व नष्ट होनेवाला नहीं है। आप दिमाग, बुद्धि, ज्ञानेन्द्रिय और शरीरसे परे हैं। आप जाप्रत, स्वप्न, सुपुसावस्थासे परे हैं। आप सचिदानन्द हैं। ज्ञान, आनन्द, सत्य एवं अस्तित्वके

रूप हैं। जीवनका मुख्य प्रयोजन 'स्व'को समझना है—पाना है, यह मानकर जीवित रहिये।

शुभ वचनों- (शुभाशंसाओं)ने अज्ञानताके प्रभावसे आपका व्यक्तित्व बचा दिया है—विशेष लक्षणों एवं सुझावोंसहित। जब आप अशुद्ध प्रभावोंको शुद्ध प्रभावोंद्वारा दूर करनेका तरीका सीख जायेंगे, तो स्वयं अपने व्यक्तित्वमें एक बड़ा परिवर्तन लायेंगे।

क्रोध, लालच, काम, द्रेप, वृणा, निर्दयता आदि अन्य दोषोंको बढ़ानेके बजाय क्षमा, श्रद्धा, ईश्वरीय प्रेम, नम्रता, प्रसन्नता, मित्रता और इसी तरहके और ईश्वरीय गुणोंका विकास करें। यह सत्सङ्गसे एवं असदाचरणके प्रतिपक्ष या प्रतिकूल भावोंके द्वारा सम्भव है—यानी ऋणात्मक दोषोंको धनात्मक गुणोंद्वारा जीतकर (जैसे अहंको नम्रतासे, क्रोधको प्रेमसे जीतकर आदि)।

विशुद्ध प्रेम-(ईश्वरीय प्रेम)-का विकास करें—ईश्वरीय प्रेम सबसे ऊँचा एवं सर्वश्रेष्ठ साधन है। सांसारिक वस्तुओंसे प्रेम दैवी प्रेमके लिये ही है—यह सभी भक्तों एवं संतोंकी शिक्षाकी मुख्य वात है।

सांसारिक प्रेममें लिप होनेसे समयकी गतिके साथ-साथ सर्वोच्च आनन्द-(ईश्वरीय भक्तिके आनन्द-) की कमी होती जाती है। दैवी प्रेम या ईश्वरीय प्रेमसे आनन्दकी मात्रा (स्फुरणा) बढ़ती जाती है। मानवताकी स्वार्थहित सेवा, भक्तियोगकी विद्याओंका अभ्यास और अपने कर्तव्यका पालन ईश्वर-पूजा समझकर करनेसे हृदयमें विशुद्ध प्रेम या दैवी प्रेमका सचार होता है। जब विशुद्ध प्रेमका संचार हृदयमें होने लगता है तब व्यक्तिव उच्चतम संभाव्य चरित्रसे युक्त हो जाता है।

ध्यान कीजिये—ध्यान, चिन्तन एवं मननके लिये कुछ समय निकालिये। जप, स्मरण (ईश्वरका नाम) आव्यासिक पूछताछ, (जिज्ञासा-समाधान लेना), चिन्तन और विभिन्न तरहकी उपासना करनेसे ध्यानवस्था आ जाती है। इस अवस्थाके आ जानेपर उत्तम आचरण सत्तः होने लग जाते हैं।

मनुष्य-जीवनको मधुर बनाहट्ये—अपनेको दूसरोंके अनुकूल और उनसे समन्वय भाव रखिये। थोड़ी-सी नम्रता, थोड़ा-सा धैर्य, थोड़ी-सी उदारता, थोड़ी दयालुता, असहायोंके प्रति थोड़ा त्याग—यह सब मनुष्य-जीवको सुखमय एवं शान्तिमय बनाते हैं। क्रोध, वृणा, लालच, कामना आदि मानसिक विकारों—भावोंको मत आने दीजिये। जब आप विभिन्न अच्छे लोगोंके साथ रह रहे हों तो मित्रता, श्रद्धा और प्रसन्नताका भाव रखिये। बुरे और वृणित विचारवालोंसे दूर रहिये। ऐसा करनेसे आपके मनमें वृणा, क्रोध, द्रेप आदिका अशुद्ध भाव नहीं पनपने पायेगा। संगका प्रभाव अवश्य होता है।

अपने शरीरको स्वस्थ रखिये—शरीर एवं स्वास्थ्य-की उपेक्षा मत कीजिये। खास्थ्यके नियमोंका पालन कीजिये। आपका शरीर ईश्वरका मन्दिर है। हठयोग, आसन, प्राणायाम, सात्त्विक भोजन, स्वस्थ आचरण कर आप अपने शरीरको स्वस्थ रख सकते हैं और तभी आप बिना विघ्नके ध्यान, मनन और चिन्तन कर सकते हैं।

इन सभी नियमोंका यथासम्भव पालन करनेसे आपका चरित्र उदात्त एवं आदर्श हो जायगा, जो इस संसारमें सभी सत्य, अच्छाइयों एवं सौन्दर्यका स्रोत हैं।

ईश्वर आपका चरित्रबल बढ़ाकर कल्याण करे।

धर्मशास्त्रों (मन्वादिसमृतियों)में चारित्य-विधान

(लेखक—श्रीराजदेवजी दुबे, ग्राम छाव)

प्राचीन भारतमें विद्यार्थियोंकी सभी प्रकारकी शिक्षाओंमें सदाचारके उपदेश भरे होते थे । धर्मशास्त्रोंका मुख्य प्रतिपाद्य सदाचार है । आचार्य शिष्योंको उनका ही उपदेश देते थे । इन सबके अतिरिक्त जिस वातावरणमें ब्रह्मचारियोंको रखा जाता था, वह भी ऐसा होता था, जो उनके चरित्रको इष्ट दिशामें अग्रसर कर सके । वे आचार्यकी देख-रेख और नियन्त्रणमें रहते थे । आचार्य उनके बौद्धिक विकासके प्रति ही नहीं, अपितु उनके आचरणके प्रति भी जागरूक रहते थे । प्राचीन भारतीयोंकी धारणा थी कि चरित्र शिष्ठाचार या सदाचारसे पृथक् नहीं है । आचार्यका यह भी कर्तव्य माना जाता था कि वे इसका ध्यान रखें कि उनका ब्रह्मचारी गुरुजनो, बन्धुओं और अनुजोंके प्रति सदाचार और शिष्ठाचारके नियमोंका सम्यक्-खप्से परिपालन करता है या नहीं । शिष्ठाचारके उन नियमोंका ब्रह्मचारीके चरित्र-निर्माणपर गहरा प्रभाव पड़ता था । हरिचन्द्र, भीष्म, राम, भरत, लक्ष्मण, हनुमान्, सीता, सावित्री और द्रौपदी-जैसी राष्ट्रकी महान् विभूतियोंका आदर्श चरित्र उनके सम्मुख वार-न्वार उपस्थित किया जाता था । इससे उनके चरित्रके निर्माणमें सहायता मिलती थी ।

चरित्र या शीलकी परिभाषा महाभारतके शान्तिपर्वमें बतलायी गयी है । उसके अनुसार मनसा, वाचा,

१—अलतेकर, प्राचीन भारतीय शिक्षणपद्धति (वाराणसी, १९६८), पृ० ९, २—महा० शान्तिपर्व १२४ । ६६, दिव्यावदान ३२९ । १२-१३,

३—धर्म सत्यं तथा वृत्तं वलं चैव तथाप्यहम् । शीलमूला महाप्राज्ञ सदा नास्त्यन्तं संशयः ॥

(महा० शान्ति० १२४ । ६२)

४—महा० शान्ति० १२४ । १५, ५—शीलं परं भूषणम्, नीतिशतक ८३,

६—आवित्रीमात्रसारोऽपि वरं विप्रः सुयन्त्रितः । नायन्त्रितस्त्रिवेदोऽपि सर्वाशी रर्बेष्ट्रितवी ॥ (मनु० २ । ११८)

कर्मणा किसीसे द्वैह न करना, वरन् अनुग्रह करना एव दान देना ही शील है । शीलपर ही सत्य, धर्म, सदाचार एवं वल आश्रित हैं । मनुष्यका चरित्र अथवा आचरण शीलसे ही उन्नत होता है । जीवनमें सफलता प्राप्त करनेके लिये शीलकी अपेक्षा होती है । मनुष्यका भूपण शील है । अतः शीलयुक्त व्यक्ति अपने पवित्र कार्योदारा लोगोंका प्रिय वन जाता है । चरित्रके महत्वका प्रतिपादन करते हुए विदुरजीने कहा है—

वृत्तं यत्नेन संरक्षेद् विच्चमेति च याति च ।

अश्वीणो विच्चतः श्रीणो वृत्ततस्तु हतो हतः ॥

(महा० ५ । ३५ । ३९)

मनुष्यके चरित्रके नष्ट हो जानेपर वह शरीरधारी होते हुए भी मृतकके समान समझा जाता है । अतः चरित्रसे श्रेष्ठ और कुछ नहीं है ।

स्मृत्युक्त शिक्षा-पद्धतिका मुख्य उद्देश्य चरित्रका उत्थान करना था । प्राचीन भारतमें चरित्रिका इतना अधिक महत्व था कि समस्त वेदोंका मर्मज्ञ सञ्चरित्रिताके अभावमें माननीय नहीं था, किंतु केवल गायत्रीमन्त्रका ज्ञाता अपनी सञ्चरित्रिताके बलपर माननीय हो जाता था । सक्लमें से ही चरित्रिका उत्थान माना जाता था । ये सक्लमें नैतिक मूल्योंसे ही संचालित होते थे । शिक्षणकालमें ही मनुष्यके आचरण और चरित्रको उन्नत करनेका प्रयास किया जाता था । समाजके अन्य लोगोंके साथ उसके

सदृश्यवहारकी प्रवृत्ति उसके चरित्रोत्थानमें सहायक होती थी । व्यक्ति चाहे किसी वर्ण, जाति, पद आयु अथवा स्तरका हो, उसे धैर्य, क्षमा, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, विद्या, सत्य, अहिंसा, पवित्रता, दान, सयम और अतिथि-सेवा आदि नैतिक मूल्योंका परिपालन करना पड़ता था ।^१ इससे व्यक्तिका चारित्रिक उत्थान होता था । जिसमें धर्म और चरित्रिका आधिक्य होता था, वही पण्डित समझा जाता था ।

गुरुकुलमें ब्रह्मचारियोंको जो शिक्षा दी जाती थी, उससे व्यक्ति अपनी तामसी एवं पाशविक प्रवृत्तियोंपर नियन्त्रण रखता था तथा सदसत्का भेद कर सकनेमें समर्थ होता था । जब शिक्षाकी यथोचित प्राप्ति होती थी, तब चरित्रिको तदनुकूल संघटित करनेका अवसर मिलता था ।

ब्रह्मचारीका जीवन त्याग एवं तपस्याका जीवन था । ब्रह्मचर्यव्रतको धारण करनेवाला तेजोमय ब्रह्मज्ञान-को धारण करता था । उसमें सम्पूर्ण देवताओंका वास होता था ।^२ अपने श्रम, त्याग एवं तपस्यासे ब्रह्मचारी समाज और राष्ट्रका उत्थान करता था ।^३ चरित्रिके उत्थान और ज्ञानकी प्राप्तिके लिये ब्रह्मचर्यव्रत अनिवार्य था ।^४

ब्रह्मचारीका यह कर्तव्य होता था कि वह भिक्षा माँगकर जो कुछ प्राप्त करे, उसे गुरुके समझ लाकर

७-धृतिः अमा दमोऽस्तेय शौचमिन्द्रियनिग्रहः । धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥

(मनु० ६ । ९२ । १० । ९३)

अहिंसा सत्यमस्तेय शौचमिन्द्रियनिग्रहम् । दान, दमो दया धान्तिः सर्वेषां धर्मसाधनम् ॥
(याज० १ । ११२, ३ । ६६, अर्थव० १ । ३ । ८ । ८, (विष्णुधर्मस० २ । १६-१७)

८-(महा०अनु० १२ । ३२१ । ७८)

९-अर्थवैद ११ । ५ । २४, १०-वही ११ । ५ । ४, ११-मनु० २ । ८८-९२, गोपथब्राह्मण १ । २ । १-७, १२-मनु० २ । ४९-५१, याज०, १ । २९-३०, १३-मनु० २ । १६५-१६६, अमृतमन्थन १ । १ । ४५-४८, याज० १ । १५ । १ । ४१-४३, १४-मनु० २ । १७५-१७७, स तत्र तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया समन्नो महिमानमभूमधति प्रश्नो० ५ । ३, १५-उपनीय गुरुः गिर्य शिश्रयेच्छौचमादितः । व्याचारमग्निकार्ये च संध्योपासनमेव च ॥ मनु० २ । ६९, १७९, २००, २२२, १६-मनु० ३ । ६८-७०, याज० १ । १०२-१०३, वही १ । १२१, १७-मनु० ३ । ९४-९६, याज० १ । १०८, १८-मनु० ३ । ९८, १९-वही ३ । ९९, १०३, याज० १ । १०९-११३, २०-आपस्तम्ब ८० स० २ । ५ । ९ । ११, मनु० ३ । ११६, याज० १ । ११४,

उपस्थित करे ।^५ ब्रह्मचर्य-कालमें भिक्षा-वृत्तिका निर्देश इसलिये किया गया था कि वह अमीर एवं गरीबका भेद-भाव भूलकर समताका भाव प्रहणकर नियम और संयमका परिपालन वर सके । इससे व्यक्तिके चरित्रिका उत्थान होता था । चरित्रिके उत्थानमें ब्रह्मचर्यका मौलिक अभिप्राय ज्ञानको प्राप्त करना था ।^६ तप ब्रह्मचर्य-जीवनका आवश्यक अङ्ग था ।^७ शौच, पवित्रता, आचार, स्नान-क्रिया, अग्निकार्य और संध्योपासन आदि ब्रह्मचारीके आधारस्तम्भ थे । इनसे उनके चरित्रिका उत्थान होता था ।^८ ये सब चरित्रिके आधारभूत कर्म हैं ।

गृहस्थ पञ्चमहायज्ञको सम्पन्न करता और^९ ब्रह्मचारी, सन्यासी एवं भिक्षुकोंको विधिपूर्वक भिक्षा देता था ।^{१०} वह सत्पात्रोंको दान देता था ।^{११} सभी धर्मशास्त्रकारोंने अतिथि-सत्कार करना गृहस्थका नैतिक कर्तव्य माना है । आये हुए अतिथिका वह जल एवं शक्तिके अनुसार व्यञ्जनादिसे सत्कार करता था ।^{१२} वह अपने आश्रित जनों और अतिथियोंके भोजन कर लेनेपर खयं भोजन करता था । यदि कहीं भोजनकी कमी पड़ जाती तो खयं गृहपति, उसकी भार्या और बालक भूखे रह जाते, पर दास या अतिथिको भोजन अवश्य करा देते थे ।^{१३}

विद्योकी सच्चरित्रिताके लिये स्मृतिकारोंने विशेष नियम बनाये । मनुका कथन है कि वचपन, जवानी या

बुद्धापेमें भी खीको अपने घरोंमें भी अपनी इच्छासे क्रमशः पिता, पति और पुत्र आदि अभिभावककी सम्मतिसे ही धर्मादिमें कुछ कर्म करने चाहिये ।^१ उन्हें स्वतन्त्र कभी नहीं रहना चाहिये ।^२ याज्ञवल्क्य एवं नारदने भी इसका समर्थन किया है ।^३ विज्ञानेश्वरने अपनी मिताक्षरा-व्याख्यामें शंखके वचनसे कहा है कि वह घरसे बिना वतलाये बाहर न जाये, शीत्रता-पूर्वक न चले, बनिये, संन्यासी, वृद्ध, वैद्यके अतिरिक्त किसी पर-पुरुषसे बात न करे, अपनी एड़ीतक कपड़ा पहने, स्तनोंपरसे कपड़ा न हटाये, मुँह ढके बिना न हूँसे और पति या उसके सम्बन्धियोंसे घृणा न करे इत्यादि । वह धूर्त, वेश्या, अभिसारिणी, संन्यासिनी, भाग्य बतानेवाली, जादू-टोना या गुप्त विधियाँ करनेवाली दुःशील खियोंके साथ न रहे; क्योंकि इनकी संगतिसे खियोंका चरित्र गिरता है ।^४ निश्चय ही इस प्रकारके प्रतिबन्ध खियोंकी सच्चरित्रताके लिये ही थे ।

पतिव्रता ख्योंको समाजमें सर्वत्र सम्मान
मिलता था ।^{१३} मनुके अनुसार मन, वचन तथा कर्मसे
संयत रहती हुई जो ख्यी पतिके विरुद्ध कोई कार्य
(असदाचारादि) नहीं करती, वह पति-लोकको
प्राप्त करती है तथा उसे सज्जन लोग पतिव्रताकी
संज्ञासे विभूषित करते हैं ।^{१४}

‘कौन किससे अधिक गौरवशाली है’ इसको बताते हुए मनु कहते हैं कि दस उपाध्यायोंकी अपेक्षा आचार्य,

२५—मनु० ५ । १४७, २८
 प्रभुः लियाः । पक्षयोरभावे
 पर मिताक्षरा, २५—मनु० ५ । प्रदेश
 १६६, यात्र० १ । ८७ ।, २७-
 ३०—यश नार्यस्तु पूज्यन्ते रम
 ३२—मनु० ७ । ३३, ३९, ४३,
 ६ । १, पी० सी० काणे, धर्मशा
 यात्र० १ । ३१५—३१६, ३४४—वह
 (गीता), २०० । १२७-१२९,

सौ आचार्योंकी अपेक्षा पिता तथा सहस्र पिताओंकी अपेक्षा माता अधिक गौरवशाली है ।^{१०} निःसंदेह माताका सम्मान तथा गौरवशाली स्थान सहस्रों पिताओंकी अपेक्षा अधिक है । माताको त्यागना पाप और अपराध दोनों ही समझा जाता था^{११}, चाहे वह पतित ही क्यों न हो^{१२} । छोटे मातृखल्खण्डको देवकोटिमें रखा गया है । छोटे सत्कारसे देवता प्रसन्न होने हैं^{१३} ।

राजाओंके आदर्श चरित्रका उल्लेख वर्गशास्त्रोंमें
मिलता है। मनु एवं याज्ञवल्क्य-स्मृतिमें राजाके गुणोंका
र्णन किया गया है। उनके अनुसार राजाको
उत्साही, स्थूलकाय, अकृतन्, वृद्धसेवी, विनययुक्त, सदा
एकरस, कुलीन, सत्यवादी, पवित्र, अदीर्घसूत्री, स्मृतिमान्,
कठुवाक्य न बोलनेवाला, धार्मिक, अव्यसनी, पण्डित,
शूर, रहस्य जाननेवाला, आत्मविद्या और राजनीतिमें निपुण,
लभके उपाय तथा तीनों वेदोंमें प्रवीण होना चाहिये ॥^३
वास्तवमें राजा अपनी प्रजाके लिये आदर्श चरित्रकी मूर्ति
होता था। राजाका शील प्रजाका शील होता है ॥^४

राजा ब्राह्मणोंको अपार धन दानके रूपमें देता था।³³
 युद्धमें अपहृत धन ब्राह्मणोंको दान करता था तथा प्रजाको
 अभयदान देता था।³⁴ ब्राह्मण भी दानमें अपार वनका
 त्याग करता था।³⁵ वनपर्वमें कहा है कि त्रिलोकमें
 दानसे बढ़कर कोई पुण्य कर्म नहीं है। इसलिये
 विद्वान् दानको ही सर्वोच्च कर्म बताते हैं।³⁶ इस प्रकार
 दान लेनेयोग्य व्यक्तियोंको दान देना राजाकी पवित्रता
 एवं सञ्चरित्रिताका धोतक है।

२३—याशवल्क्य १। ८५।, तस्पिण्डेषु चासत्सु पितृपक्षः
मतः । (वेदव्यास-स्मृति, २५४ ।) २४—याज० १। ८७
॥, हिंदी व्याख्योपेता (प० २८८)। २६—मनु० ५, १६५-
१० १। ३५, २८—मनु० ३८९, २९—मनु० ११। ६० ।
तेतास्तु न पूज्यन्ते सर्वार्थत्राफलाः क्रियाः ॥ (मनु० ३। ५६)
पुराण १३। ५२-५७, याज० १। ३०९-३११, अर्थव०
२। (हिंदी अनुयाद) प० ५९७, ३२-अर्थव० ८। १, ३३-
४। एपिग्राफिका इण्डिका, प० १५६, ३६—महा० आरण्यक०)

प्रजाकी रक्षाके लिये युद्ध करना या मर जाना सम्भव या, अतः धर्मशास्त्रके प्राचीन ग्रन्थोंका कहना है कि क्षत्रियका कर्तव्य है—युद्ध करना और सबसे बड़ा आदर्श है—समराङ्गणमें मर जाना । मनुका कथन है कि आक्रमणमें प्रजाकी रक्षा करते समय युद्ध-सेवसे पल्लयित नहीं होना चाहिये । जो राजा जो युद्ध करते-करते मर जाते हैं, उन्हें स्वर्ग प्राप्त होता है ।^{३७} याज्ञवल्क्यके अनुसार राजा अपनी प्रजा एवं नौकरोंके साथ पुत्रवत् व्यवहार करता था ।^{३८} महाभारतमें भी इसी तरहका विचार व्यक्त किया गया है ।^{३९} रामायणसे इस वातकी सूचना मिलती है कि राजालोग प्रजाके साथ पितृवत् व्यवहार करते थे । यदि प्रजा दुःखी रहती तो वे दुःखी हो

जाते थे, यदि प्रजा प्रसन्न रहती तो उन्हें पिताके समान आनन्द मिलता था ।^{४०}

राजा शाखानुसार अपराधियोंको दण्ड देता था । भई, पुत्र, आचार्य, श्वशुर और मामा भी यदि अपने धर्मपथसे विचलित होते थे तो राजा उन्हें भी निष्पक्ष भावसे दण्डित करता था ।^{४१} धर्मशास्त्रोंमें वर्णित राजाके विवि-विधानोंसे यह ज्ञात होता है कि राजा सच्चरित्राकी साक्षात् मूर्ति होता था । वह प्रजाके लिये आदर्श प्रस्तुत करता था ।

इन समस्त उल्लेखोंसे ज्ञात होता है कि समाजमें निरन्तर धर्मकी भावना काम कर रही थी । धर्मशास्त्रोंमें वर्णित चारित्र्य-विधानका यदि विधिवत् परिपालन किया जाय तो निश्चय ही समाजका सर्वाधिक कल्याण हो सकता है ।

श्रीमद्भगवद्गीतामें चारित्र्योपदेश

(लेखक—डॉ० श्रीविश्वभरताथजी द्विवेदी, एम० ए०, पी-एच० डी०, आचार्य)

श्रीमद्भगवद्गीता समस्त उपनिषदोंका सार है । उसमें व्यवहार और परमार्थका समन्वय है, जिसके कारण उसमें श्रुति और स्मृति तथा लोक और परलोक दोनोंके यथोचित निर्वाहके साथ मानवके योग-क्षेम एवं प्रेय तथा श्रेय सबकी सिद्धि सुकर तथा सुलभ हो जानी है । अतएव उसमें जो व्यवहारपक्ष—आचारपक्ष—मिलता है, वह ‘चरित्र’ ही है । यह वात चरित्र और चारित्र शब्दोंके अर्थसे सहजमें ही समझी जा सकती है ।

पाणिनिके अनुसार‘चर्’ धातुसे ‘इत्र’ प्रत्यय (पा० ३। २। १८४) करके ‘चरित्र’ शब्दकी तथा ‘चरित्र’ शब्दसे भाव अथवा कर्ममें ब्राह्मणादिगणमें व्यञ्जि प्रत्यय (पा० ५। १। १२४) करके ‘चारित्र’ शब्द सिद्ध होता है । जिससे मनुष्य समाजमें भलीभाँति चलता है—यथोचित-

स्वप्से व्यवहार करता है (चरति अनेन) वह ‘चरित्र’ एक सद्गुण है । उस चरित्रके ही सारतत्त्व—उत्कृष्टता सुन्दरताको चारित्र (चरित्रस्य भावः कर्म चा चरित्रम्) कहते हैं । एक सयुक्ति अवधारणाके अनुसार अन्य शब्दोंमें—मनुष्य जिसके द्वारा समाजमें यथोचित आचरणरूप सदाचारका आचरण करता है, उसे ‘चरित्र’ और उसके द्वारा मानव-हितोंकी जो सुरक्षा होती है, उसके कारण उसके तात्त्विक स्वरूपको ‘चारित्र’ कहते हैं—

सम्यक् चरति येनातश्चरित्रं व्यवहारतः ।
चरितस्याणशीलत्वाच्चारित्रमिति कथयते ॥

गीतामें इसी पृष्ठभूमिपर आधृत चरित्रका उत्तम उपदेश मिलता है, जिसके अनुसार चलनेसे मानवके सब

३७-पी० वी० काणों, धर्मशास्त्रका इतिहास, भाग २—(हिंदी अनुवाद) पृ० १६०-से२, ३८-यात्रा० १। ३३४, अथर्व० २। १, ३९-महा० शान्ति० १३९। १०४ से १०५, ४०-रामायण २। २८-४७ तथा ५। ३५। १-१४, ३। ६। ११, शाकुन्तल० ५। ५-६। २६ एवं रघुवंश १। २४, ४१-यात्रा० १। ३५८-३५९ वसिष्ठ० १९। ४०-४४,

चरित्रका निर्माण अपने-आप ही होता रहता है। गीताका चारित्र्योपदेश नरको नारायण वना देनेकी अद्भुत कुश्मी है। गीताके प्रारम्भमें पाण्डवों और कौरवोंकी सेनाके अनेक प्रसिद्ध वीरोंका उल्लेख मिलता है। उन दोनों ही सेनाओंमें अनेक ऐसे वीर हैं, जो सचमुच बड़े ही चरित्रवान् हैं और अनेक ऐसे भी लोग हैं, जिनका चरित्र संदेह और विवादका विषय बन गया है। चरित्रवान् लोगोंमें भगवान् श्रीकृष्ण, अर्जुन, युधिष्ठिर, द्रोण तथा भीष्म आदि महापुरुष आते हैं, और उनसे भिन्न लोगोंमें दुर्योधन, कर्ण तथा अश्वत्थामा आदि आते हैं। पाण्डवोंकी सेनाका नेतृत्व चरित्रवान् वीरोंके हाथमें (१। ३, ६) है, जिनकी विशद चर्चा स्वयं दुर्योधनने गुरु द्रोणाचार्यसे (१। ३-६ में)की है और स्वयं उसीने अपने पक्षमें केवल द्रोण, भीष्म, कर्ण, कृपाचार्य, अश्वत्थामा, विकर्ण तथा भूरित्रिवाका (१। ७-९ में) उल्लेख किया है। इसके साथ ही उसने भीमसे रक्षित पाण्डवोंकी सेनाको युद्धमें विजयके लिये पर्याप्त (१। १०) तथा भीष्मसे रक्षित अपनी सेनाको अपर्याप्त (असमर्थ) बताया है।

दुर्योधनके इस व्यथाभरे निवेदनसे आभासित होता है कि भीमके पक्षमें चरित्रबल तथा चरित्रवान् लोगोंकी अधिकता थी और भीष्मके पक्षमें वह अत्यन्त अल्प थी। इस सत्यको दुर्योधनका दुर्बल मन भीतर-ही-भीतर समझ रहा था; इसीलिये उसके मुखसे ही भावी पराजयकी आशङ्का बाहर आ गयी। सत्य और असत्यका न्याय और अन्यायका, चारित्रिक सबलता और दुर्बलताका निर्णय स्वयं दुर्योधनकी ही आत्माने इस प्रकार कर दिया कि जिस पक्षमें चरित्रवान् धार्मिक लोग अधिक होते हैं, उसकी विजयका होना (यतो धर्मस्ततो जयः), उसके ऐश्वर्यकी अभिवृद्धिका होना तथा उसके सुधारका युग-युगान्तरोंतक व्याप्त रहना सुनिश्चित है। वर्तुतः गीताके उपक्रम और उपसंहारका भी यही संदेश है—

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पाथौ धनुर्धरः ।
तत्र श्रीर्विजयोभूतिर्धृवा नीतिर्मतिर्मम ॥
(१८। ७८)

गीतामें उदात्त एवं सर्वोक्तुष्ट चरित्रके प्रेरक पात्र मुख्यतया दो हैं—श्रीकृष्ण और अर्जुन। इनके अतिरिक्त अन्य पात्रोंका उल्लेख प्रथम तो गीताके उपदेशकी भूमिका वनानेमें सहायक है और दूसरे वह कनिपय सामान्य चरित्रोंवाले पात्रोंके अर्थमालिन, अल्पमालिन एवं धूमिल चरित्रोंकी पृष्ठभूमिमें अर्जुनके ध्वल सरल तथा सात्त्विक चरित्रको उदात्त एवं उक्तुष्ट प्रमाणित करनेमें उपकारक हुआ है। चरित्रकी व्यावहारिकता और चारित्र्यकी पारमार्थिकतामें संतुलन वनाये रखनेके लिये ही श्रीवेदव्यासजीने गीतामें क्रमशः अर्जुन और श्रीकृष्णको श्रोता-शिष्य एवं वक्ता-गुरुके रूपमें खड़ा किया है। अतएव अर्जुनके सरल एवं सात्त्विक शीलमें, उसके बुद्धिवादमें तथा उसके चिपादयोगमूलक उहापोह और व्यामोहमें अनायास ही उस समग्र मानवताकी झलक मिल जाती है, जिसमें मानवके गुणदोषमूलक स्वभाव एवं स्वरूपके साथ-साथ तामस, राजस और सात्त्विक अथवा निम्न, मध्यम एवं उच्च—इन तीनों वर्गोंके मनुष्योंका यथाकथंचित् प्रतिनिधित्व हो जाता है। इस प्रकार सर्वाङ्गीण चारित्र्यके उपदेशकी जैसी सुन्दर एवं उपयुक्त पृष्ठभूमि गीतामें मिलती है, वैसी अन्यत्र दुर्लभ है; कारण यह कि पुत्र, धन और यश (सुत, वित्त, लोक) इन तीनों एपणाओंको दृঁगपर लगाकर मृत्युसे जूझनेके लिये खड़ी समग्र मानवताकी समस्याओंको, उसके अन्तर्दृढ़द्वको तथा उसके दम्भ और निश्छल भावको जँचने-परखनेका जैसा सहज साधारणिक एवं मनोवैज्ञानिक वातावरण गीतामें मिल जाता है, वैसा अन्यत्र असम्भव ही था। माया, मोह और मृत्युके तिहरे आधरणोंमें लिपटी मानवता, जब मृत्युकी विभीषिका सामने आती है, तो अपना रहस्य खोलती है। संयोगवश गीतामें यह रहस्य पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है।

गीतामें चारित्र्योपदेश मनोवैज्ञानिक सोपानक्रममें मिलता है। ‘खरूप-बोध’ उसका प्रथम सोपान है। मैं कौन हूँ? संसारमें मेरे जन्मका उद्देश्य क्या है? क्या मेरी इष्टि अपने लक्ष्यमें केन्द्रित है? इत्यादि प्रश्नोंके समाधानके लिये जागे हुए आत्म-अनात्मके विवेकसे खरूप-बोधका जो क्रम आरम्भ होता है, वही गीतागत साधनाओंसे परिष्कृत होता हुआ वैराग्य, शम, ठम, तितिशा, उपरति, समाधान तथा श्रद्धाकी आध्यात्मिक शक्तिसे समर्थ होकर पहले जीवन्मुक्ति और अन्ततः विदेहमुक्ति- (मोक्ष-)में परिणत हो जाता है।

गीताके अनुसार चारित्र्योपदेशकी योजना और उससे चरित्रनिर्माणकी साधनाका शुभारम्भ यद्यपि खरूप-बोध करनेवाले परिचयसे प्रारम्भ होता है और अन्तमें भी खरूप-बोध- (आत्मबोध-)में ही होता है, फिर भी उसमें वर्णित समस्त साधनाके आचरण-पक्षपर विशेष बल दिया गया है। उसके बिना तो चरित्र-निर्माणका कार्य एक पग भी आगे नहीं बढ़ सकता—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोस्त्वकर्मणि ॥
(२ । ४७)

गीतामें वर्णित समस्त साधनाएँ—फिर चाहे वह चित्तको शुद्ध करनेवाली निष्कामकर्मयोगकी साधना हो, चित्तको एकाग्र करनेवाली भक्तियोगकी साधना हो, अथवा अपने समस्त कार्यसहित सम्पूर्ण अज्ञानरूप आवरणके भङ्गकी साधना हो—वस्तुतः व्यवहार-पक्षमें चरित्रनिर्माणका और परमार्थतः चारित्र्यके अनुशीलन एवं मननका ही अनुष्ठान है।

चरित्रके इसी खरूपबोधात्मक अङ्गकी पूर्तिके लिये महाभारतमें गुरु द्वाणने ‘शिष्य-परीक्षा’में अर्जुनको प्रथम स्थान दिया था और गीतामें श्रीकृष्णने उसे आत्माका

स्वरूप समझाते हुए आत्माको अजर, अमर, नित्य, अविनाशी, अव्यय एवं सनातन बताया है (२ । १८)।

खरूपपरिचय अथवा उद्देश्य-केवाढ निश्चय—लक्ष्य-निष्ठताके अनन्तर—हमारा वह कर्तव्यमार्ग निरापद एवं सुगम बन जाता है, जिसमें मृत्युका भय नहीं है और अनासक्ति होनेसे पतनकी कोई आशङ्का नहीं रहती। उस समय हमारा मनोवल—चरित्रबल बहुत अविक और ऊँचा हो जाता है। इसी निर्भयता एवं निर्द्वन्द्वतामें गीता हमें अकर्मसे विमुख रहते हुए निष्कामभावसे कर्ममें जुटना सिखाती है, जिससे हमारे शीलके—चरित्रके लोक और परलोक दोनों पक्षोंकी समस्त सुविधाएँ हमें अनायास उपलब्ध हो सकती हैं—

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर ।
असक्तो ह्याचरन् कर्म परमात्मोति पूरुषः ॥
सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत ।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुलोकसंग्रहम् ॥
(३ । १९, २५)

गीतामें वर्णित चरित्र-साधनामें काम और क्रोध—ये दो दुर्गुण घोर वाधक हैं। चरित्रवान्को इनसे सदैव साधन रहना चाहिये (३ । ३७)। इन्द्रिय, मन और दुष्टि—ये तीनों कामके आधार हैं। अतः इनका नियमन भी चरित्रकी सम्पन्नताके लिये परमावश्यक है; अन्यथा ज्ञान और विज्ञान दोनों नष्ट हो जायेंगे—

तस्मात्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्पम् ।
पाप्मानं प्रजाहि होनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥
(३ । ४१)

निष्काम कर्मयोगी, भक्त तथा ज्ञानी सभीके लिये काम और क्रोध त्यागने योग्य है (५ । २३-२६)। इनके रहते लौकिक, पारलौकिक कोई सुख नहीं मिल सकता। काम, क्रोध और लोभको त्यागकर ननु एवं परम चरित्रबान् बन सकता है (१६ । २१-२२)।

इनके रहते बुद्धिनाश, चरित्र-हानि तथा जीवननाश सुनिश्चित है (२ । ६३-६४) ।

काम, क्रोध और लोभसे वचे रहनेसे राग, द्रेष्ट और परिप्रहका भगव निवृत्त हो जाता है । तदनन्तर अन्तः-करणकी प्रसन्नता के साथ (२ । ६४) वह अपने सहित अपने समाज, जाति तथा राष्ट्र और समग्र मानवताके उद्धारके लिये भगवदाज्ञानुसार अथवा शास्त्रके अनुकूल जो भी कल्याणकारी आचरण करता है, वही उसका उज्ज्वल चरित्र बन जाता है—

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैख्यमिर्नरः ।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम् ॥
(१६ । २२)

इन्द्रियों और इन्द्रियोंके शत्रुओंके जीतनेके अनन्तर भगवद्वावका जागरण—भगवान्‌में प्रेम और विश्वास रखना भी चरित्रका प्रमुख सद्गुण है । इससे साधारणतः लैकिक काम, राग, क्रोध, लोभ, ईर्ष्या, मोह, मानवडाई, द्रेष्ट, दम्भ, अभिमान, आलस्य, मत्सर तथा मद आदि सभी दुर्गुणोंकी निवृत्ति हो जाती है अथवा इनका भगवद्वावसे परिष्कार हो जाता है, जिससे फिर वे दुर्गुण नहीं रहते । इसका सबसे बड़ा लाभ अहंकारका दमन और विनष्ट्रताकी प्राप्ति है । इससे मनुष्य कुछ देना—समर्पण करना—सीख जाता है । समर्पण और निरहंकारिताके भावसे वह अनायास ही भैंकी संकीर्ण भावनासे ऊपर उठकर 'अहम्'में विराजते हुए लोकसंग्रही बन जाता है । अपने लक्ष्यमें उसकी एकाग्रता सधने लगती है (१२ । १३-१४) ।

समत्वं बुद्धिमूलक ज्ञान गीताकी चरित्र-साधनाका एक थसाधारण रूपसे उत्कृष्ट अङ्ग है, जिसके द्वारा

चरित्रके साधकको अपने उद्देश्यकी प्राप्ति भोजनके एक-एक ग्रासके साथ तृतीय अथवा संतुष्टिके समान अनायास होती रहती है । कालसापेक्ष होकर भी यह परम लाभ सुनिश्चित है—

न हि ज्ञानेन सद्वशं पवित्रमिह विद्यते ।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ॥
(४ । ३८)

गीताका चारित्र्योपदेश सचिदानन्दपरक है । इसमें खरूपवोधसे सत्ताका भान, निष्काम कर्मयोगसे चेतनाका स्पन्दन, भक्तियोगसे आनन्दका अनुभव और ज्ञानयोगसे आत्मा-परमात्माके शाश्वत एकीभावरूप महाभावके अखण्ड एकरस, अवर्णनीय परमानन्दकी अनुभूति करायी गयी है । यह गीताके उपदेशसे प्राप्त चारित्रिक उत्कर्पका अमृतमय परम मधुर रस है । इसीका पान करनेके पश्चात् अर्जुन कहता है—

नयो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत ।
स्थितोऽस्मि गतसंदेहः करिष्ये वचनं तव ॥
(१८ । ७३)

इस प्रकार गीता एक चरित्र-निर्माणकारी ग्रन्थ है । इसमें सोपानक्रमसे श्रीकृष्णके माध्यमसे व्यासके शब्दोंमें अर्जुनरूपी समग्र मानवताके चरित्रके उत्कृष्ट रूपका उपदेश किया गया है । इस उपदेशसे न केवल अर्जुनका शिष्यत्व एवं श्रीकृष्णका गुरुभाव धन्य हुआ है, अमितु समस्त मानवोंका शिष्यत्व तथा समग्र मानवताकी चारित्रिक उत्कृष्टताका गुरुत्व भी धन्य हुआ है । ठीक ही है—

यावद्देवो गुरुः कृष्णो यावच्छिष्यो नरोऽर्जुनः ।
यावद्गीतामयी बुद्धिस्तावद्यारित्र्यकं नृणाम् ॥

आदिकाव्य रामायणमें चरित्र-निर्माणके प्रसङ्ग

(लेखक—श्रीकुवेरनाथजी शुक्ल)

रामायणके समान विश्वसाहित्यमें उच्च कोटिका दूसरा चरित्रकाव्य नहीं है। जैसे समुद्र विविध मुक्ता, मणि, रत्न आदिसे भरा पड़ा है, वैसे रामायण विचित्र-निर्माणके विविध आदर्श एवं प्रेरक प्रसङ्गोंसे भरा पड़ा है। सब प्रसङ्गोंका उल्लेख इस संक्षिप्त लेखमें सम्भव नहीं है। अतः कठिपय प्रसङ्गोंको प्रस्तुत करनेका प्रयास किया जा रहा है।

रामवनगमन—महाराज दशरथके आदेशसे श्रीरामका राज्याभिषेक होने जा रहा था। अयोध्या नगरी तथा कोसल जनपदके नागरिकोंमें अभूतपूर्व उल्लास एवं आनन्द दृष्टिगोचर हो रहा था। बड़ी ही धूमधामसे उत्सव-की तैयारी हो रही थी। चारों ओर नृत्य, गान एवं वाद्यका कार्यक्रम चल रहा था। सब लोग शुभ मुहूर्तकी प्रतीक्षामें सजघञ्जके तैयार थे। अभिषेकके समय श्रीरामको अकस्मात् माता कैकेयीद्वारा वनवासकी सूचना मिली। श्रीराम चौदह वर्षके वनवासके लिये सहर्ष उद्यत हो गये। उन्हे लेशमात्र भी दुःख न हुआ कि मुझे वनवास क्यों दिया जा रहा है? उन्होंने कहा कि माता-पिताकी आज्ञाका पालन करना पुत्रका धर्म है। इससे बढ़कर और कोई धर्म नहीं है—

नह्यतो धर्माचरणं किञ्चिदस्ति महत्तरम्।
यथा पितरि शुश्रूपा तस्य वा वचनक्रिया ॥

जहाँ राज्यके लिये बराबर युद्ध होते रहे हैं, भाई-भाईका गला काटता रहा है, पिता-पुत्रका सम्बन्ध धूमिल हो जाता रहा है, वहाँ श्रीरामका महान् आदर्श चरित्र एवं त्याग सर्वथा स्फुहणीय है।

जब श्रीरामने अयोध्यासे वनवासके लिये प्रस्थान किया, असंदृश्य नागरिक आवालृद्ध उनके रथके पीछे-पीछे रोते-चिल्लते दौड़ चले। सब हाथ नहीं छोड़ सकता—

जोड़कर बोले—‘युवराज! आप वन न जायें। अयोध्या लौट चले।’ दयालु श्रीराम आगे न बढ़ सके। उन्होंने रथ रोककर नागरिकोंसे कहा—‘नागरिकगण! आप लोगोंने मेरे प्रति जो असाधारण प्रेम दिखलाया है और मेरा सम्मान किया है, वही प्रेम और सम्मान आपलोग राजकुमार भरतपर दिखलाये। शुभचरित भरत आपलोगोंका सर्वथा प्रिय और हित करेंगे। वे बुद्धिमान्, गुणसम्पन्न तथा सर्वथा योग्य शासक सिद्ध होंगे। मेरे वन चले जानेपर महाराज दुःखी न हों इसपर आपलोग ध्यान देगे।’ जिसके लिये वनवास है, उसपर यह सहृदयता रामके उदात्त चरित्रका अवदात निर्दर्शन है।

चित्रकूटमें राम-भरत-संवाद—भरतजीने समस्त राजसमाजके साथ चित्रकूट जाकर श्रीरामके चरणोंमें अत्यन्त नष्टपूर्वक निवेदन किया—‘कुल-प्रस्पराके अनुसार आपका ही राज्याभिषेक होना चाहिये। हमारी माताने जो भूल की है, आप उसे क्षमा करें। मैं अयोध्याका राज्य नहीं चाहता। मैं उसके योग्य भी नहीं हूँ। सबकी हार्दिक इच्छा है कि आपका अभिषेक हो और आप अयोध्याके राजा बनकर सबको आनन्दित करें।’

भरतजीका विशुद्ध प्रेम, भ्रातृ-वात्सल्य, शील और धर्म देखकर सब लोग मुग्ध हो गये। सबने उनके प्रस्तावका समर्यन किया और श्रीरामसे अनुरोध किया कि वे उसे स्वीकार करें। परंतु इड प्रतिज्ञ श्रीराम ठस-से-मस न हुए। उन्होंने कहा—‘शोभा! चन्द्रमाको छोड़ दे, हिमालय हिमको त्याग दे, समुद्र अपनी मर्यादाको छोड़ दे, परंतु मैं अपने पिताके आदेशको नहीं छोड़ सकता’—

लक्ष्मीश्चन्द्रादपेयाद्वा हिमवान् वा हिमं त्यजेत् ।
अतीयात् सागरो वेलां न प्रतिशामहं पितुः ॥

सत्यप्रतिज्ञ श्रीरामको हिमालयके समान दृढ़ देखकर सबलोग आश्चर्य-चकित हो गये और धन्य-धन्य कहने लगे । चरित्रिका यह उज्ज्वलतर स्वरूप अन्यत्र कहों मिल सकता है :

पादुकाग्रहण—जब भरतजीने देख लिया कि उनके ज्येष्ठ भ्राता श्रीराम कथमपि राज्य-भार वहन करनेको प्रस्तुत नहीं है, तब उन्होंने श्रीरामके समक्ष स्वर्णकी चरण-पादुका रख दी और कहा—‘आप इसे पहनकर मुझे दे दे । ये ही समस्त लोकका कल्याण करेंगी ।’ श्रीरामने वैसा ही किया । भरतजीने पादुकाको मस्तकपर चढाकर कहा—‘चौदह वर्षोंतक जटा-बल्कल धारणकर मै मुनिवेषमे रहूँगा और फल-मूल खाकर नगरसे बाहर रहकर आपके आगमनकी प्रतीक्षा करूँगा । यह पादुका राज्य करेगी और मै सेवक बनकर राजकार्य देखूँगा । चौदह वर्ष पूर्ण हो जानेपर यदि प्रथम दिन आपका दर्शन न हुआ तो आगमें जलकर अपने प्राण दे दूँगा ।’ श्रीरामने ‘तथास्तु’ कहा और ओँखोंमें औँसू भरकर भाई भरतको विदा किया ।

रामवनगमनमें भरतजीका लेशमात्र भी टोप न था । अपने बड़े भाई श्रीरामको बनसे लौटानेके लिये जो कुछ सम्भव था, सब कुछ किया । जटा-बल्कल धारण कर चौदह वर्षोंतक फल-मूलपर जीवन-निवाह करनेका व्रत लिया । भूमिशयन तथा बाहर रहनेका भी व्रत लिया ।

श्रीरामके स्थानपर उनकी चरण-पादुका सिंहासनपर रखी गयी । वही राजा थी । भरतजी उसके सेवक थे । राजकार्य पादुकाके समक्ष निवेदित किया जाता था । पश्चात् भरतजी मन्त्रियोंके परामर्शसे कार्य करते थे । उपहार-स्वरूप प्राप्त सुवर्ण आदि सब कुछ पादुकापर चढाया जाता था । यह अलौकिक चरित्रादर्श भरतके सर्वथा अनुरूप था ।

भरतजीका भ्रातृ-प्रेम जगतमें अनुपमेय है । क्या ऐसा कोई दूसरा उदाहरण है ? उन्होंने अनायास प्राप्त राज्यको तृण-सद्वश समझा । कुलप्रभुरामको मान्यता दी और भ्राताकी अनुपस्थितिमें उनकी पादुकाको राजा मानकर सिंहासनपर बैठाया । इसमें भ्रातृ-प्रेम और चरित्रकी उन्नत्यता देखते बनती है ।

पञ्चवटीमें भरत-गुणगान—पञ्चवटीमें एक दिन प्रातःकाल भरतजीका गुणगान होने लगा । उसी प्रसङ्गमें लक्ष्मणजी बोल उठे—‘जिसके पति महाराज दशरथ और पुत्र भरत-जैसा साधु और धर्मात्मा वह माता कैकेयी इतनी कूर क्यों हो गयीं ?’ उक्त वचन सुनते ही परमोदार श्रीराम माताजीकी निन्दा न सह सके और बोले—‘भाई लक्ष्मण ! मझली माताकी निन्दा न करो । इक्ष्वाकुनाथ भरतकी ही चर्चा करो—

न तेऽम्बा मध्यमा तात गर्हितव्या कथंचन ।
नामेवेद्वाकुनाथस्य भरतस्य कथां कुरु ॥

श्रीरामने भाई भरतके शील और स्नेहकी भूरि-भूरि प्रशंसा की । किसीकी भी निन्दा चरित्रके लिये दुर्गुण है ।

गृग्राजजटायुका दाह-संस्कार—गृग्राज जटायुके मुखसे रावणद्वारा सीताहरणका वृत्तान्त सुनकर तथा उसे मृत देखकर श्रीराम-लक्ष्मण शोक-विहळ हो उठे । उन्होंने करुण विलाप किया और अपने हाथोंसे चिता बनाकर उसका दाह-संस्कार किया । गोदावरीमें स्नानकर श्रीरामने पिण्डदान किया और उसे सदूगति प्रदान की । इस कार्यसे एक नवीन संस्कृतिका निर्माण हुआ । पक्षियोंमें भी ऐसे धर्मात्मा तथा पराक्रमी होते थे । परार्थ प्राण-त्याग यह आदर्श-चरित्र पक्षिरूपमें जटायुने निभाया ।

सुग्रीवका राज्याभिषेक—श्रीरामकी कृपासे सुग्रीवको किञ्चित्कारा राज्य मिल गया । राज्याभिषेकके अवसरपर सुग्रीव अपने आवासपर विविध रक्तों एवं मालांओंसे श्रीरामकी पूजा करना चाहते थे और उन्हे अपना स्वामी

बनाकर वहीं किञ्चिन्नामे रखना चाहते थे । श्रीरामने सुग्रीवसे कहा—‘पिताजीके आदेशसे मैं चौदह वर्षोंतक किसी ग्राम अथवा नगरमे नहीं जा सकता । अतः तुम्हारा अभिपेक वानरगण किञ्चिन्नामे यथाविधि सम्पन्न करे । मैं यहीं बनमे रहूँगा ।’

शरणागत-पालक—रावणसे अपमानित होकर उसके भाई विभीषण श्रीरामकी शरणमे आये । वानरराज सुग्रीव-प्रभृति मन्त्रियोने राक्षसोंको कपटी तथा अविश्वसनीय वतलाया और उन्हे टप्पित करनेका सुझाव दिया । श्रीरामने मन्त्रियोंकी बात सुनकर कहा—‘हाय जोड़कर दीन भावसे शरणमे आये हुए शत्रुकी भी रक्षा करनी चाहिये । शरणागतकी रक्षा न करनेसे बड़ा पाप लगता है, अपर्कर्ति होती है और बल-वीर्यका नाश होता है । सुना है कि एक कपोतने शरणमें आये हुए व्याघ्रको अपना मांस खिलाकर बचाया था, जब कि वह व्याघ्र उसका शत्रु था और उसने कपोतकी खींका वध किया था । महर्पि कण्ठुने शरणागतकी रक्षा करनेका विधान किया है । मैं उससे सर्वथा सहमत हूँ । एक बार भी जो मेरी शरणमे आकर ‘तुम्हारा हूँ’—ऐसा कहता है, मैं उसे सर्वथा निर्भय कर देता हूँ—

सकृदेव प्रपञ्चाय तवास्मीति च याचते ।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददास्येतद्वतं मम ॥

श्रीरामने विभीषणको अभयदान दिया । तुरत समुद्रसे जल मेंगाकर ‘लङ्घेश्वर’ पदपर उसका अभिपेक कराया । श्रीरामके इस कार्यपर सबने हार्दिक प्रसन्नता नहीं की और उन्हे साधुवाद दिया ।

रावणका दाह-संस्कार—रावणका वध हो जानेपर विभीषण उसके दाह-संस्कारके लिये उद्यत न था । परमोदार श्रीरामने उसे समझाया और कहा—‘विभीषण ! तुम्हारी सहायतासे मैंने विजय प्राप्त की है । अतः मुझे तुम्हारा हित देखना है । रावण निस्सन्देह, सदा असत्य और अधर्ममे लीन रहता था तथापि वह बलवान्, वीर

और तेजस्वी था । इन्द्रादि देवगण भी उसे नरास्त न कर सके थे । जबतक प्राणी मर नहीं जाता, तबतक उससे शक्ति रहती है । मर जानेपर कोई द्वेषभाव नहीं रह जाता है । जैसे वह तुम्हारा भाई है, वैसे हमारा भी है । अतः तुम उसका दाह-संस्कार करो ।’ विभीषणने तदनुसार दाह-संस्कार किया । चारित्रिकी व्यापकतामें शत्रु भी शत्रु नहीं रहता ।

महाराज दशरथका वरदान—लङ्घा-विजयके पश्चात् सीताग्नि-परीक्षाके समय देवगणके साथ महाराज दशरथ भी लङ्घामें आये थे । उन्होंने श्रीरामको अयोध्या जाकर राजसिंहासनपर आसीन हो भाइयोंके माथ राज्य करनेका आदेश दिया । महाराज दशरथकी बात सुनकर श्रीरामने नम्रतासे हाथ जोड़कर कहा—‘महाराज ! आप भाई भरत तथा माता कैकेयीपर प्रसन्न हो जायें । आपने माता कैकेयीसे कहा था—‘मैंने तुम्हे तुम्हारे पुत्र भरतके साथ त्याग दिया है ।’ आपका यह शाप माता कैकेयीपर न लगे । हाथ जोड़कर खडे हुए श्रीरामसे महाराज दशरथने ‘तथास्तु’ कहा । यह श्रीरामके अलौकिक शीलका निर्दर्शन है ।

दयामयी दीनवत्सला सीता-लङ्घा-विजयके पश्चात् हनुमान् अशोकवाटिकामें सीताजीके विजयकी सूचना देने आये । सीताजी हनुमान् के मुखसे लङ्घा-विजयका समाचार सुनकर अत्यन्त प्रसन्न हुई । उन्होंने हनुमान् से कहा—‘हनुमन् ! इस शुभ समाचारको सुनानेके बदलेमें मैं तुम्हें क्या दें ? ससारका सुवर्ण, रत्न अथवा तीनों लोकोंका राज्य, यदि तुमको दे दिया जाय तो वह भी पर्याप्त न होगा ।’ हनुमान् ने कहा—‘देवि ! पतिका कल्याण चाहनेवाली आप-जेसी पतिव्रताके मुखसे ही ऐसी बात निकल सकती है । आपके बचन देवराज्य और सम्पूर्ण रत्नोंसे बढ़कर है ।’ पर हाँ ! यदि आप आज्ञा दें, तो मैं इन राक्षसियोंको मार डालूँ, क्योंकि इन्होंने

इसी वाटिकामें आपको डाराया, धमकाया तथा बहुत दुःख दिया है। इन कूर औंखोवाली राशियोंको मैं घूसूं, लातों, हाथों, जाँघोंसे मारकर दाँतोंसे तथा नाक-कान काटकर, बालोंको नोचकर गर ढालना चाहता हूँ।'

इसपर यशस्विनी सीताने कहा—‘वानरेन्द्र ! ऐसा मत कहो। ये सब राक्षसियाँ तो राजाकी आज्ञाका पालन मात्र कर रही थीं। अब देखो, ये मेरी सेवा कर रही हैं, अतः इनपर तुम्हें क्रोध न करना चाहिये। यह दुःख तो मेरे भाग्य-दोषसे मिला था। अपने कियेका फल सबको भोगना पड़ता है—’

राजसंश्रयवद्यानां कुर्वतीनां पराप्नया ।
विधेयानां च दासीनां कः कुप्येद् वानरोत्तम ॥
भास्यवैपम्यदोपेण पुरस्तादुप्लुतेन च ।
मयैतत् प्राप्यते सर्वं स्वकृतं शुपभुज्यते ॥
(वा० रा० ६ । ११३ । ३८-४०)

विभीषणकी प्रार्थना—लङ्घा-विजयके बाद लङ्घेश्वर विभीषणने श्रीरामसे कहा—‘राजन् । स्नान करनेके लिये जल, अङ्गराग, सुगन्धित तैल, वश, आभूपण, चन्दन और अनेक प्रकारका दिव्य मालाएँ उपस्थित हैं। अलङ्घार-कलाको जाननेवाली छियाँ भी उपस्थित हैं। ये सब आपको उत्तम रौनिसे स्नान करायेंगी।’ इसपर श्रीरामने कहा—‘सौम्य ! तुम सुप्रीव-प्रभृति श्रेष्ठ वानरोंसे स्नान करनेको कहो। सत्यवादी, सुकुमार, गहावाहू भरत सुखभोग त्यागकर मेरे लिये कष भोग रहे हैं। कैकेयी-पुत्र भरतको देखे बिना मुझे स्नान, वश, आभूपणादि कुछ भी रुचिकर न होगा। मैं अभी अयोध्या जाना चाहता हूँ।’

उपर्युक्त प्रसङ्गोके अन्ययनसे चरित्र-सम्बन्धी बहुमूल्य सामग्रियाँ उपलब्ध हो सकती हैं, जो मानवजीवनके संबल परं समुन्नयनके लिये नितान्त अपेक्षित हैं।

रामायणमें चरित्र-निर्माण

(लेखक—स्वामी श्रीओकागनन्दजी महाराज)

‘पठ रामायणं व्यास ! काव्यवीजं सनानन्दम् । सहित अनेक निर्विवाद तथ्यो एवं प्रमाणोके आधारपर अब यह सर्वमान्य हो चुका है कि ‘रामायण’ भूतलका प्रथम काव्य तथा अति प्राचीन प्रन्थ है। यदि यह कहा जाय कि कविकुल-गुरु महर्षि वाल्मीकि-रचित रामायण वेदका ही रूप है तो अतिशयोक्ति न होगी—‘रामायणं वेदसमं श्राद्धेषु आवग्येद् वुधः।’

इसी प्राचीनताको समयावधि मानकर इस महान् प्रन्थके परिप्रेक्ष्यमें चरित्र-निर्माणके तत्कालीन स्वरूप एवं महर्षिद्वारा निर्धारित मानदण्डोका अवलोकन किया जाय।

नगर एवं नागरिक—इक्ष्याकुवंशी नरेशोंका गौरव-शाली इतिहास भारतीय संस्कृतिकी उज्ज्वल पताका

फहरानेमें सर्वदा अप्रणी माना जाता रहा है। इन महापुरुषोंकी वाद्यशी परम्परामें अद्वितीय कर्म-धर्म-वीर, ज्ञान-दान और शूरवीर हैं। कौसल नामसे प्रसिद्ध जनपदकी प्रमुख अयोध्या नगरी, जो सूर्यवंशियोंकी राजधानी रही, रामायणद्वारा वर्णनसे तत्कालीन नागरिक संस्कृति ओर सभ्यताका आभास मिलता है। प्राचीनकालमें भारतके नगर इस कोटिके होते थे—

विमानमिव सिद्धानां तपसाधिगतं दिवि ।
सुनिवेशितवेदमान्तां नरोत्तमसमावृताम् ॥
(वा० रा० वा० ५ । ११)

‘देवलोकमें तपश्चर्यसे प्राप्त सिद्धोके विमानकी भाँति सुव्यवस्थित प्रासादोंके अन्तःपुरोंका निर्माण अलौकिक पथ। अनेक श्रेष्ठ नरपुंगव पुरीमें वास करते थे।’

इस पुरीके नागरिकोंके विषयमें आदिकवि कहते हैं—‘थाँ समस्त खी-पुरुष धर्मशील, संयमी, सदा प्रसन्नचित् एवं शील और सदाचारकी दृष्टिसे ऋषियोंकी भाँति निर्मल थे—

सर्वे नराश्च नार्यश्च धर्मशीलाः सुसंयताः ।
सुदिताः शीलचुन्ताभ्यां महर्षय इवामलाः ॥
(वाल्मी० रा० वाल० ६ । ९)

यहाँतक कि सम्पूर्ण राज्यमें एक भी मनुष्य मिथ्यावादी, दुष्ट, परखी-गामी (लम्पट) न था । सम्पूर्ण राष्ट्र और नगरमें शान्तिका साम्राज्य था—

शुचीनामेकवृद्धीनां सर्वेषां सम्प्रजानताम् ।
नासीत् पुरे वा राष्ट्रे वा मृषपावादी नरः ष्वच्चित् ॥
ष्वच्चित् दुष्टस्तत्रासीत् परदाररतिर्नरः ।
प्रशान्तं सर्वमेवासीद् राष्ट्रं पुरवरं च तत् ॥
(वा० रा० वाल० ७ । १४-१५)

भारतीय संस्कृतमें चरित्र-निर्माण-हेतु निर्धारित जिन सिद्धान्तों और सद्गुणोंको आचरणमें लानेका निर्देश दिया गया है, उनमें सर्वप्रथम है—अहिंसा ।

अहिंसा—चित्रकूटकी पावन धरापर जब रघुवंशके दो नरपुङ्गव विचित्र परिस्थितियोंमें परस्पर मिलते हैं, तब श्रीराम भरतको कुरुतेलेमके बहाने जो विस्तृत उपदेश देते हैं, उसमें यह प्रश्न पूछते हैं—‘रघुनन्दन-भरत ! जहाँ किसी प्रकारकी हिंसा नहीं होती, वह अपना कौसल देश धनधान्यसे सम्पन्न सुखपूर्वक तो रह रहा है न ?’

कच्छिज्जनपदः स्फीतः सुखं वसति राघव ॥
(वा० रा० अयो० १०० । ४६)

हिंसाका अर्थ केवल किसीको मौतके घाट उतार देना ही नहीं, वरन् भारतीय दार्शनिक चिन्तन तो मनसा, वाचा भी किसीके हृदयको ठेस पहुँचानेको हिंसा मानता है,

इसीलिये तो दशरथ-राज्य मन्त्रिमण्डलके गुणों और नीति-सम्बन्धी विवरणोंमें प्रन्थकार संकेत देते हैं—

अहितं चापि पुरुषं न हिंस्युरविदूषकम्—
(वा० रा० वाल० ७ । ११)

‘शत्रु भी अगर अपराधी न हो तो उसकी भी हिंसा नहीं करते ।’ अयोध्या लौट चलनेकी अपनी प्रार्थनापर भरतका समर्थन करते हुए जब ब्राह्मणश्रेष्ठ जावालि नास्तिक मतका अवलम्बन लेकर रामको अपने तर्कद्वारा समझानेका प्रयास करते हुए इहलौकिक लाभको अपनाकर पारलौकिक लाभको विस्तृत करनेको कहते हैं—‘प्रत्यक्षं यत्तदातिष्ठ परोक्षं पृष्ठतः कुरु’—तब उनके मतकी निन्दा करते हुए मर्यादापुरुषोत्तम धोषणा करते हैं कि—‘सत्य, धर्म, पराक्रम, समस्त प्राणियोंपर दया, प्रिय-भाषण, देव, अतिथि और ब्राह्मण-पूजाको ही साधु-पुरुषोंने खर्गका मार्ग बताया है—

सत्यं च धर्मं च पराक्रमं च
भूतानुकम्पां प्रियवादितां च ।
द्विजातिदेवातिथिपूजनं च
पन्थानमाहुस्त्रिदिवस्य सन्तः ॥
(वा० रा० अयो० १०९ । ३१)

विदेहराजके परम वैष्णव वातावरणमें सुसंस्कृत विद्या-सम्पन्न सीताने प्रथम बार जब विराधका वध और गड्ढा खोदकर उसका वीभत्स अन्त भी अपनी आँखों देखा, तब वे उद्धिन हो उठीं । सुतीदण्डीसे विदा लेकर जब दोनों भाइयोंने दण्डकारण्यकी ओर आगे प्रस्थान किया, तब विदेहकुमारीने स्नेहयुक्त वाणीमें रामसे अहिंसा-धर्मके विषयमें जो कुछ कहा, वह अत्यन्त भावपूर्ण विचार है । अरण्यकाण्डके ३२ श्लोकोंका सम्पूर्ण नवम सर्ग ही इसपर प्रकाश डालता है ।

एक पक्षीकी निर्मम हत्यासे प्रन्थरचनाकी प्रेरणा पानेवाले महर्षि भगवती सीताके मुखसे अहिंसाधर्मकी जो व्याख्या करताते हैं, वह स्तुत्य है—

व्यवहारं क्वच च वर्तं क्वच च क्षात्रं तपः क्वच च ।
व्याविद्मिद्भस्माभिर्देशधमस्तु पूज्यतम् ॥
(वा० रा० अर० ९ । २७)

‘कहाँ तो शश्ख-धारण और कहाँ वनवास ? कहाँ क्षात्रधर्म और कहाँ हिंसा-जैसा कठोर कर्म और कहाँ सब प्राणियोंपर दयालुप तप—ये परस्पर विरोधी जान पढ़ने हैं, अतः आर्यपुत्र ! हम लोगोंको देशधर्मका ही आदर करना चाहिये । (इस समय हम तापसी-वेपमें और वनप्रदेशमें हैं, अतः यहाँके अहिंसामय धर्मका पालन ही हमारा कर्तव्य है ।) यह है भगवती सीताका कान्तासम्मित आदर्श चारित्रिक परामर्श ।

शोकाकुल अवस्थामें भी रावणकी कारामें बंदी बनी सीता जब हृषुमानद्वारा श्रीरामको अपना संदेश कहती हैं, तब अन्य वातोंके साथ ही इस वातका भी स्मरण दिलाती हैं कि ‘वानरश्रेष्ठ ! भगवान् रामसे कहना कि—‘दया करना सबसे बड़ा धर्म है, यह मैंने आपसे ही सुना है; आप मेरी परिस्थितिसे अनविज्ञ नहीं हैं, आपका वल, पराक्रम और उत्साह महान् है—

आनन्दसंस्यं परो धर्मस्त्वत्त एव मया श्रुतम् ।
जानामि त्वां महावीर्यं महोत्साहं महावलम् ॥

भगवान् राम अहिंसाकी व्याख्याका परोक्ष निर्देश करते हुए भगवती सीताको समाधान करते हैं कि—‘देवि ! अहिंसाका अर्थ कायरता नहीं है । त्रासण एवं सामुओंके परित्राणार्थ मुझे स्वयं पास पहुँचनेका उपक्रम करना था, पर वे स्वयं मेरे पास आये यह मेरे लिये अनुपम लजाकी वात है । मैं उनके समक्ष प्रतिज्ञा कर चुका हूँ कि ‘अपने सत्यव्रतके पालनार्थ आवश्यक हो तो मैं तुम्हारा और लक्षणका भी परित्याग कर सकता हूँ । यहाँतक कि अपना जीवन भी अपित करनेको तत्पर हूँ’—

अथव हं जीवितं जह्यां त्वां वा सीते सलक्षणम् ।
न तु प्रतिज्ञां संशुत्य ब्रह्मणेभ्यो विदेषतः ॥
(वा० रा० अर० १० । १८)

बालि-वधके समय भी रामपर दोपारोपण करते हुए जब वाली अपनी मृत्युको धर्म-विरोधी वताता है—‘अगुरुं यद्धर्मेण त्वयाहं निहतो इषो’—नव भी अहिंसा-धर्मका पालन करनेवाले श्रीराम कहते हैं—

न च ते मर्पये पापं शशियोऽहं कुलोद्धतः ।
औरसौं भगिनीं वापि भार्यां वाप्यनुजस्य यः ॥
प्रचरेत् नरः कामाद् तस्य दण्डो वधः समृतः ॥
(वा० रा० कि० १८ । २२-२३)

‘हरीश्वर ! श्रेष्ठ कुलोत्पन्न क्षत्रियोचित कर्तव्य-जुसार तुम्हारे अपराध क्षम्य नहीं थे । कन्या, वहन, अनुजवधूको कामदृष्टिसे देखनेवालेके लिये मृत्युदण्ड ही उपयुक्त विधान है । अहिंसा-धर्मपालनका इससे उदात्त और उदाहरण क्या हो सकता है कि वैरीको भी भाई शब्दसे सम्बोधित किया जाय । जब विभीषण अपने भ्राताको अधर्मी, क्रूर, निर्दयी, मिथ्यावादी तथा परखीगमी कहकर उसका दाहसंस्कार न करनेको ही उचित ठहराता है तब श्रुति-सेतु-पालक गम समझाते हैं—

सरजान्तानि वैराणि निर्वृत्यं नः प्रयोजनम् ।
क्रियतामस्य संस्कारे ममाप्येष यथा तव ॥
(वा० रा० यु० १११ । १००)

‘वैर तो मृत्युतक ही होता है । मरनेके बाद उसका भी अन्त हो जाता है । हमारा प्रयोजन सिद्ध हो गया है, अतः जैसे रावण तुम्हारा भ्राता है, वैसे ही मेरा भी है, इसलिये उसका दाह-संस्कार करो ।’ शील, संयम, इन्द्रिय-निग्रह या चरित्र भारतीय संस्कृतिकी अपनी विशेषता है । संयम ही समस्त संसिद्धिका आधार है । वैसे तो रामायणका हर आदर्श पात्र खयंमें शालीनताका उज्ज्वल प्रतीक है, परंतु अल्पमणका चरित्र स्नेह, शील और पराक्रमका अद्भुत समन्वय है । एक दोर ष्येष भ्राताका भादेश है कि—

भवाप्रमत्तः प्रतिगृह्य मैथिलीं

प्रतिक्षणं सर्वत एव शक्तिः ॥

और दूसरी ओर परशुराम-जैसे पराक्रमीसे भी टक्कर लेनेमें तनिक भयभीत न होनेवाले सुमित्रानन्दन सीताके अति कठोर वचन 'सुदुष्टस्त्वं'- (दु बड़ा दुष्ट है) को भी हर्षपूर्वक सहन करते हुए कहते हैं— 'देवि ! मैं आपकी बातका प्रत्युत्तर नहीं दे सकता; क्योंकि आप मेरे लिये आराध्या देवीके समान हैं—

उत्तरं नोत्सहे वक्तुं द्वैवतं भवती मम ।

(वा० रा० अर० ४५ । २८)

चारित्रिक उक्तर्षताका सर्वोच्च नायक लक्ष्मण अपने आदर्शसे भारतीय पारिवारिक जीवनको धन्यता प्रदान करते हुए इस रूपमें प्रस्तुत करते हैं कि देवर होकर भी उन्होंने आजीवन भाभीका मुख नहीं देखा । रावण-द्वारा अपहृत सीताके किञ्चिन्धामें गिराये आभूषणोंको पहचाननेके अवसरपर लक्ष्मणका प्रत्युत्तर है— 'भैया ! ये बाजूबंद और कुण्डल तो मेरे अपरिचित हैं, पर मैं इन नूपुरोंको अवश्य पहचानता हूँ कि ये भाभीके ही हैं; क्योंकि प्रतिदिन चरणवंदनके समय मैं इन्हें देखता था—

नाहं जानामि केयूरे नाहं जानामि कुण्डले ।

नूपुरे त्वभिजानामि नित्यं पादाभिवन्दनात् ॥

(वा० रा० किञ्चि० ६ । २२)

कर्मद्वारा आचरण-भ्रष्टता तो सर्वविदित निन्दनीय कृत्य है ही, परन्तु रामायणका आदर्श तो मनमें आये कुविचारोंको भी क्षम्य नहीं मानता ।

'ज्ञानिनामग्राण्य' पवनपुत्र सीता-अन्वेषणमें संलग्न रात्रिके अन्तिम प्रहरमें जब दशग्रीष्मके अन्तःपुरमें अचेत एवं अर्धनग्नावस्थित नारियोंको देखते हैं, पर कहीं श्रीसीताजीका दर्शन नहीं होता, तब धर्मके भयसे भयभीत हो उठते हैं और उनके हृदयमें संदेह उपस्थित हो जाता है कि— 'मेरी इष्टि अबतक कभी परखीपर

नहीं गयी । यहीं आनेपर मैंने न केवल परखीको इस रूपमें देखा, पर इस पापी रावणको भी देखना पड़ा ।'

अपनी इस शङ्काका समाधान भी हनुमानजी 'न तु मे मनसा किंचिद् वैकृत्यमुपपद्यते' 'तथा तदिदं मार्गितं तावच्छुदधेन मनसा मया' के आधारपर खयं करके आश्वस्त हो जाते हैं । दूसरी ओर विरहसे व्याकुल देवी सीताकी अत्यन्त विकल दशा देखकर हनुमानजी जब उनसे कहते हैं— 'सती साध्वी देवि ! आप मेरी पीठपर बैठ जाइये, मैं अभी आपको इन राक्षसोद्वारा हो रहे कष्टसे मुक्त कर भगवान् रामके पास ले चलता हूँ— 'अस्साद्दुःखादुपारोह मम पृष्ठमनिन्दिते ।' तब सदाचारके धर्मका परिपालन करनेवाली विदेह-नन्दिनी पुत्रवत् पवनपुत्रसे कहती हैं—

भर्तुर्भक्तिं पुरस्कृत्य रामादन्यस्य वालर ।
नाहं स्पृष्टुं स्वतो गत्रमिच्छेयं वानरोत्तम ॥

(वा० रा० सु० ३७ । ६२)

'वानरवीर ! (तुम्हारे साथ न चल सकनेका प्रमुख कारण और भी है कि) पतिभक्तिको हृदयंगम कर मैं श्रीरामके अतिरिक्त किसी दूसरे पुरुषका स्वेच्छया स्पर्श करना नहीं चाहती ।'

शील और सदाचार नारीके आभूषण हैं । संस्कार-मूलक अनुष्ठानका उत्सव-पक्ष मूलतः महिलाओंके हिस्सेमें रहा है । महर्षि वाल्मीकिके कथानकका ग्वल-नायक रावण और उसकी पटरानी तथा राक्षस-परिवारकी महिलाओंका भी तत्कालीन सदाचार देखनेपर ज्ञात होता है कि वह कितना उच्च था । रावण-भरणके पक्षात् मंदोदरीका विलाप-प्रसङ्ग, सदाचार-समुद्भूत उनेका आदशोंको परिलक्षित करता है । इन्द्रियों यदि मानवके वशमें हों तो वे मित्र होती हैं, परंतु यदि मानव इन्द्रियोंके वशीभूत हो जायें तो वे शत्रु बन जाती हैं । इसी सिद्धांतकी परिपुष्टिमें मंदोदरी कहती है— 'नाथ ! इन्द्रिय-दमनद्वारा ही तो आप प्रैक्षेप्य विजयी

बने थे और उन्हीं इन्द्रियोंने आपसे प्रतिशोध कर आपको आज धराशायी कर दिया'—

इन्द्रियाणि पुरा जित्वा जितं विभुवनं त्वया ॥
स्मरन्द्रियं तद् वैरमिन्द्रयैरेव निर्जितः ।
(वा० रा० यु० १११ । १६, १६)

पतिव्रत—पतिव्रत धर्मके प्रति अपनी आशा व्यक्त करते हुए मयनन्दिनी मन्दोदरी अशुपूरित नेत्रोंसे कहती है—‘महाराज ! पतिव्रताओंके अशु इस पृथ्वीपर व्यर्थ नहीं गिरते, यह कहावन आपपर आज पूर्ण चरितार्थ हो रही है’—

प्रवादः सत्यमेवायं त्वां प्रति प्रायशो नृप ॥
पतिव्रतानां नाकसात् पतन्त्यथूणि भूतले ।
(वा० रा० यु० १११ । ६६, ६७)

लज्जा—लज्जा नारीका भूषण है—इस सारगम्भित मन्तव्यको वर्तमानमें असम्यता कहकर उसका न केवल उपहास उड़ाया जा रहा है बरन् खुलकर उसके सभी अंगोंपर कुठाराघात भी किया जा रहा है, जिसका दुष्परिणाम हमारे सामाजिक जीवनमें स्पष्ट परिलक्षित हो रहा है। रामायणका आदर्श तो राक्षस-समाजके परिवेशमें रहनेवाली नारियोंकी लज्जाके तत्कालीन गुणोंकी ओर संकेत करते हुए दर्शाता है कि रावणकी सभी लियाँ कभी लज्जा परित्याग कर बाहर नहीं निकलती थीं—

पद्मेष्टदार दारांस्ते भ्रष्टलज्जावगुण्डनान् ॥
वहिर्निष्पतितान् सर्वान् कथं दृष्टा न कुप्यसि ।
(वा० रा० यु० १११ । ६२-६३)

मन्दोदरी विलाप करते हुए कहती है—‘नाय ! आप अपनी सभी खियोंसे अपार स्नेह करते थे, पर आज वे सभी लाज छोड़कर, परदा हटाकर बाहर आ गयी हैं । इन्हें देखकर क्या आपको क्रोध नहीं होता ?’

सत्य—‘सत्य ही परमेश्वर है, धर्मकी स्थिति सदा

सत्यपर आधारित है, सत्य मूल (जड़) है । सत्यसे बढ़कर अन्य कोई परम पद नहीं’—

सत्यमेवेश्वरं लोके सत्ये धर्मः सदाश्रितः ।
सत्यमूलानि सर्वाणि भन्यान्तास्ति परं पदम् ॥
(वा० रा० यु० १०९ । १३)

क्षमा—क्षमा शीर्णका भूषण है । विरोधग शाण्णगनिके समय अनेक मन्त्रियोंके विभिन्न पारमर्शके पश्चात् भक्त-नवल श्रीरामका यह निर्णय कि व्यदि शत्रु भी शरणागत होकर दीनभासे कहवद्व दयाकी याचना करे तो उसपर भी प्रहर अनुचित व्यवहार है—

वद्धाञ्जलिपुरुं दीनं याचनं शरणागतम् ।
न एन्यादान्तशर्णास्यार्थमपि शत्रुं परंतप ॥
(वा० रा० यु० १८ । २७)

वाल्मीकिरामायणका सम्पूर्ण वृहत् कथानक ही चरित्र-निर्माण-हेतु शिखा गया अद्दुत प्रयोग है ।

तप—जो पुरुष स्वयं तपके ही बलपर महर्षि वाल्मीकि कहलाये और तपदीके आधारपर जो ऐसा अनुपम काव्य जगत्को दे सके, भवा वे इस प्रन्थको तपकी महत्तासे कंसे अद्यता रखते । कथाका सम्पूर्ण श्रेय तपको प्रदान करते हुए महर्षि अपने प्रन्थका शुभारम्भ तप शब्दसे ही प्रारम्भ करते हैं; वन्धि प्रथम अर्धलिङ्मे ही दो बार ‘तप’ शब्दका प्रयोग कर चरित्र-निर्माणके आधारभूत गुणोंकी ओर विशेष संकेत करते हैं—

‘ॐ तपःस्वाध्यायनिरतं तपस्वी वाग्विदां वरम्’

और फिर इस प्रन्थके महानायककी ओर तपश्चर्या क्या कम है । इन्द्रके लिये भी जो समृद्धि सृहाका विषय हो, उस वैभवशाली राज्यको ठुकराकर बनवासी वेषमें नंगे पाँव वूमनेवाले तपःशिरोमणि तपस्वी रामको शतशः वन्दन । जिन्होंने उत्तम चरित्रके निर्माणका पथ प्रशस्त कर चरित्र-धर्मको महत्व दिया ।

संस्कृत-वाङ्मयमें चारित्र्य-विधान

(लेखक—पं० श्रीआद्याचरणजी ज्ञा)

वैदिक वाङ्मयसे लेकर सम्पूर्ण संस्कृतवाङ्मय ‘चारित्र्य-विधान’से परिपूर्ण है। वेद, उपनिषद्, पुराण, धर्मशास्त्र, नीतिशास्त्र तथा समग्र संस्कृत-काव्य-साहित्य एवं दर्शनके प्रन्थ जीवनयात्राके कल्पकाकीर्ण पथपर—पग-पगपर—खड़े होकर मार्गदर्शन करा रहे हैं और उन कठिन, दुर्गम तथा वक्ता मार्गोंको मङ्गलमय बना रहे हैं। यदि कहा जाय कि संस्कृत-वाङ्मयके सभी अङ्ग, सिद्धान्त एवं तर्क-वितर्क विभिन्न रूपोंमें चरित्र-विधानके ही पोपक हैं तो कोई अत्युक्ति न होगी। जितने भी उपदेश दृष्टान्त हैं, वे सभी अतिम रेखापर पहुँचकर केवल उदात्त चरित्रिकी ओर इक्षित करते हैं, उसीको चरम उपलब्धि समझते हैं। चारित्र्यविधान अतीत और अनागतके विस्तृत कालकी एकताका सुट्टद सोपान है। यहाँ इस संक्षिप्त निनन्धमें संस्कृतके कुछ विभिन्न प्रन्थोंसे दो-चार मात्र उद्घरणोंके द्वारा यह प्रमाणित करनेका प्रयास किया जा रहा है कि समस्त संस्कृत-वाङ्मयमें चारित्र्य-विधानको ही जिस किसी रूपमें रचनाका चरम लक्ष्य माना गया है।

हम पहले मङ्गलाचरणके रूपमें ‘वेद’ तथा ‘उपनिषद्’ के दो-चार वाक्योंको उद्धृत कर संस्कृत-वाङ्मयमें प्रवेश करेंगे। वेदमें—(क) भद्रं कर्णेभिः श्रणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षिभिर्यजत्राः—अर्थात्—‘कानोसे भद्र वातोको सुनें, ऊँखोंसे भद्र वातोको ही देखें, ‘यतो यतः समीहसे ततो नोऽभयं कुरु शं नः कुरु प्रजाभ्योऽभयं नः पशुभ्यः’—‘समस्त लोकों एवं पशुओंका कल्याण हो’ प्राणिमात्रकी कल्याण-भवनाद्वारा क्या यह चरित्र-निर्माणका मूलमन्त्र है? ‘अतिर्थोऽश्च लभेमहि, याचितारश्च नः सन्तु मा च याचित्स्म कंचन। एताः सत्याशिषः सन्तु’—‘हमें अतिरिक्त प्राप्त हों, याचक मिलें, हम किसीसे याचना न

करें; ये सत्य-आशीष प्राप्त हों’ उदात्त चरित्रिका यह महान् दिग्दर्शन है। भावनाको व्यापक बनानेकी यह मङ्गल-कामना है। इससे अपना चरित्र और समाजका कल्याण निर्भित होता है।

२—उपनिषदोंमें—‘सत्यं वद, धर्मं चर, स्वाध्यायान्मा प्रमदः, मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव; ईशावास्यमिदः सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत् तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः मा गृधः कस्य-स्वद्भनम्’—ये आर्ष-वाक्य ढंकेकी चोटपर ‘चारित्र्य-विधान’ का दिव्य सन्देश प्रसारित कर रहे हैं। अब हम आदिकाव्य वाल्मीकिरामायणसे लेकर प्रमुख काव्य-प्रन्थोंमें ‘चारित्र्य-विधान’की उदात्त भावना देखें।

३—चाल्मीकीय रामायणमें—
(क)—यस्य त्वेतानि चत्वारि चानेन्द्र यथा तव।

धृतिर्द्विष्ठिर्मतिर्दोक्षयं स कर्मसु न सीदति ॥
(सुन्दरकाण्ड १। २०१)

समुद्र-लङ्घनके अन्तमें हनुमान्‌जीको कहा गया है कि ‘जिसे धैर्य, दूर-दृष्टि, स्थिरता और दृढ़ दक्षता है वह किसी कार्यमें परेशान नहीं होता है एवं सदा सफल होता है।’

(ख)—नहि मे परदाराणां दृष्टिर्विषयवर्तिनी ।
कामं दृष्टा मया सर्वाः विश्वस्तारावणस्त्रियः।
न तु मे मनसा किंचिद्वैकृत्यसुपजायते ॥
(सुन्दरकाण्ड २। ३९, ४१)

लङ्काके विशाल भव्य शृङ्गारमय राजमहलमें भ्रमण करते हुए हनुमान्‌जीको सहस्रशः खर्गीय सुन्दरियोंको देखनेपर कोई विकार मनमें नहीं हुआ और परनारीपर नजर नहीं गड़ी।

(ग)—कुद्धः पापं न कः कुर्यात् कुद्धो हन्याद् गुरुनपि ।
कुद्धः पारुष्यवाचा नरः साधूतधिक्षिपेत् ॥
घाच्यावाच्यं प्रकृपितो न विजानाति कर्हिचित् ॥
(सुन्दरकाण्ड)

अर्थात्—कुछ व्यक्ति उपर्युक्त कोई भी कुर्कम कर सकता है, अतः—

(घ) यः समुन्पादितं क्रोधं अमयैव निरस्याति ।
यथोरगस्त्वचं जीर्णा स वै पुरुष उच्यते ॥

‘जो व्यक्ति उत्पन्न क्रोधको अपासे निरस्त कर देता है, जिसे सर्व अपनी केंचुलको छोड़ देता है—उसे ही ‘पुरुष’ कहते हैं, वही पुरुषार्थुक है।’ क्रोधको छोड़ देना ही मानवता है, चारित्र्य-विवानकी इससे उत्तम विविहो क्या सकती है ?

(ङ) वड़क्षेवेदविदुपां क्रतुपवरयज्जिनाम् ।
शुश्राव ब्रह्मनिर्योपान् विरावे ब्रह्मरक्षसाम् ॥
यथ मद्गलवादिष्वैः शश्वैः शोभ्रमनोहरैः ।
प्राशुद्ध्यत महायाहुद्दशश्रीवो महावलः ॥
(मुन्द्रस्काण्ड १८ । १-२)

यहाँ श्रुमान् जीद्वारा लक्ष्मे रावणके जगनेके समयका वर्णन करते हुए आदि कवि महर्षि वाल्मीकिने कहा है कि ‘ब्राह्मसूत्रमें रावण समी छः अङ्गोंके साथ वेदज्ञ विद्वानों पर्यं याज्ञिकोंके मन्त्रोच्चारण सुनता तथा कर्णप्रिय माझलिक वेद-त्राक्योंको सुनकर जगता था।’ रामस रावणका भी यह दैनिक अद्भुत चरित्र था। क्या आजके भौतिकवादी भारतीय चरित्रके इस आदर्शकी ओर भी व्यान देना चाहेंगे ?

३-हुमकाटकमें—स्त्रयं श्रीहुमान् जीद्वारा रचित ‘हुमकाटक’के कुछ अद्भुत चारित्रिक वर्णन देखें—

(क) कुण्डले नैव जानामि नैव जानामि कद्मणे ।
नूपुरवैव जानामि नित्यं पादाभिवन्दनात् ॥

श्रमणजी रामचन्द्रसे कहते हैं कि ‘सीताके आभृणोमेसे मैं कानके कुण्डल और हाथके कंगनको नहीं पहचानता हूँ, केवल प्रत्येक दिन चरणस्त्री—पादाभिवन्दनके कारण पैरके दोनों नूपुरों—पायलोंको

पहचानता हूँ; सीताके ही ये हैं। चरित्रके इस उदात्प पदपर टिप्पणी अनावश्यक है।

(ख) विदशैरपि दुर्धर्षा लक्ष्मा नाम महापुरी ।
कथं वीर त्वया द्रव्या विद्यमाने दशानने ॥

लक्ष्मा-दहनके प्रसङ्गमें भगवान् रामचन्द्रके उक्त प्रस्तुतेके उत्तरमें हनुमान् जी कहते हैं—

(ग) निःश्वासेनैव सीताया राजन् कोपानलेनते ।
पूर्वद्रव्यात्प्रियं लक्ष्मा निमित्तोऽभवत् कपिः ॥

‘सीताजीके शोकोच्छ्वाससे तथा आपके क्रोधानव्यसे दंका तो पहलेसे ही जल चुकी थी, यह वानर (मैं) तो निमित्त मात्र हुआ।’ शालीनता-विनम्रता तथा उच्च चारित्रिका यह किन्तु मार्मिक विवान है, यह कोई भी चारित्र्यवान् समय सकता है।

हुमान् जीकी विनम्रताकी दूसरी उक्ति—

(घ) शालामृगस्य शालायाः शालां गन्तुं पराक्रमः ।
यत्पुनर्देवितोऽम्भोधिः प्रभावोऽयं प्रभो तव ॥
(७ । ४४)

‘वानरका पराक्रम तो एक दावसे दूसरी दावपर कूदनामात्र है; इतने बड़े समुद्रदहनमें तो केवल प्रमुका (आप रामचन्द्रजीका) ही प्रभाव है।’

५-श्रीमद्भगवद्गीतामें—वैसे तो सम्पूर्ण गीता चरित्रमय है, प्रत्येक पङ्क्ति उत्कृष्ट आचरण, संकल्प-निष्ठापूर्ण कर्म, कर्मसे प्राप्त भक्ति और भक्तिद्वारा उपलब्ध ज्ञानकी गरिमा प्रतिमादित करता है, जिसका वर्णन यहाँ अपेक्षित नहीं है, तथापि केवल एक-दो उदाहरणमात्र यहाँ देना आवश्यक है।

(क) तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः ।
वदो हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रवा प्रतिष्ठिता ॥
(२ । ६१)

अर्थात् ‘इन्द्रियोंको वशमें करके ही प्रजावान् हो सकते हैं, यह विना उच्च चरित्रके सम्भव नहीं है।

(ख) क्रोधाद्वति संमोहः संमोहात् स्मृतिविभ्रमः ।

एवं उपर्युक्ताद्युष्मिताशो बुद्धिमाणात्प्रयश्यति ॥
(२ । ६३)

‘क्रोधसे संमोह, संमोहसे त्परणशक्तिका हास, उससे बुद्धिनाश और बुद्धिनाशके बाद सर्वनाश हो जाता है ।’ अतएव विना क्रोध-मुक्त हुए चरित्र-निर्माण नहीं हो सकता । यह गीताका संदेश है ।

६—अब कविकुलगुरु कालिदासके कुछ काव्योंका सौरभ लें ।

कुमारसम्भवमें—

(क) शुद्रेऽपि नूनं दारणं प्रपथे
यमत्यसुच्छृङ्खः शिरसा सतीव ।
(१ । १२)

धर्णद् नीचके भी शरणागत होनेपर उसे अपना लेना महत्ता है ।

(घ) विकारहेतौ सति विक्रियन्ते
येषां न चेतासि त एव जीरणः ।
(१ । ५५)

‘सभी विकारों, पथभ्रष्ट होनेके साधनोंके रहते हुए भी जिनके वित्त विकृत नहीं होते हैं वे ही धीर हैं ।’ विना सुदृढ़ चरित्रके क्या यह सम्भव है ?

(ग) न देवलं यो महतोऽपभाषते
शृणोति तस्मादपि यः स पापभास् ।
(५ । ८३)

‘अपशब्दोंका प्रयोग तो दूर रहे, उनके श्रवण भी पापके कारण हैं ।’ अतः अपशब्दका प्रयोग न करे ।

७—रघुवंशमें—गो-सेवाका चरम आदर्श उपस्थापित किया गया है । दिलीपने गौकी आदर्श-सेवा की है । आज गोवंश उपेक्ष्य हो गया है ।

(क) आस्वादवज्ज्ञः कवटैस्तुणानां
कण्ठूयनैर्देशनिवारणैश्च ।
अव्याहतैः स्वैरगतैश्च तस्याः
सम्भ्राट् समाराधनतत्परोऽभूत् ॥

महाराज दिलीपके वैयक्तिक एवं सामाजिक चरित्र-निर्माणका इससे लक्ष्य क्या उदाहरण हो सकता है ?

वभिज्ञानशाकुन्तलमें—नाटकके आदि भागमें ही महाराज दुष्प्रत्यन्तको कण्वके आश्रममें प्रवेश करते समय वैखानस कहता है—‘एष खलु कण्वस्य कुलपतेः तु मालिनीतीरमाश्रमो ह दृश्यते, न चेदम्यकार्यातिपातः तथा प्रविश्य प्रतिगृह्यतामातिश्यसत्कारः’ अर्थात् मालिनी नदीके तटपर कुलपति कण्वका आश्रम है, अतएव वडी शालीनता, बड़ी विनयके साथ प्रवेश करके आतिथ्य-सत्कार प्रहण करें जिससे वहाँ किसी भी कार्यमें जरा भी विघ्न-नाश न हो । आश्रममर्यादाकी रक्षामें चारित्रिक शीलताका यह निर्दर्शन आजके विद्यालयोंके लिये अनुकरणीय आदर्श है ।

(ल)—भवस्ति लग्नाल्लारदः फलोदृगमैः—(५ । ३५)

फल होनेसे धृक्ष नम्र होते हैं, इत्यादि वाक्य चत्रिमोन्नायक हैं । चरित्र-विधानके लिये नम्रता व्यावर्यक गुण है ।

८ मेघदूतमें—तो कविकुलगुरुने ‘अर्थात्तरन्यास’ अलंकारके चमल्कारमें चारित्रिक दिग्दर्शनसे चकित कर दिया है । यथा—

(क)—‘याच्चामोघा वरमधिगुणो लाभमे लज्जकामा’,
(पूर्वमेघ)

‘गुणवान् व्यक्तियोंसे याचना निष्फल होना श्रेष्ठ है, लेकिन नीचसे याचना सफल होना भी निकृष्ट है ।’

(घ)—‘मन्द्यान्ते न खलु चुहृदामभ्युपेतर्थकृत्या’,
(पूर्वमेघ)

‘मित्रोंके कार्यको अपना समझ महान् व्यक्ति मन्द नहीं होते हैं ।’

(ग)—न शुद्रेऽपि प्रथमसुकृतापेक्षया संश्रयाय प्राप्ते मित्रे भवति विमुखः किं पुनर्यस्तथोच्चैः ।
(पूर्वमेघ)

‘नीच व्यक्ति भी मित्रके पूर्वकृत उपकारको समरण करके विमुख नहीं होते हैं; जो महान् हैं उनका तो क्या कहना है ।’

(घ) —‘आपन्नार्तिप्रशामफलाः संपदो हृत्तमानाम्’

‘उत्तम व्यक्तियोंकी सम्पत्तियाँ तो आतेके ब्राणके लिये ही होती हैं।

(ङ) —नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिकमेण ।
(उत्तरमेघ)

‘चक्रकेरी धूरीकी तरह मनुष्योंकी दशा ऊपर-नीचे होती है, यह प्रकृतिका नियम है।’

९—‘महाकवि’ भारविके ‘किरातार्जुनीयम्’ महाकाव्यमें दुर्योधनके उच्च चरित्रका दिग्दर्शन कराते हुए कहा है—

(क) —कृतारिपड्वर्गजयेन मानवी-
मगम्यरूपां पद्वीं प्रपित्तुना ।
विभज्य नक्तंदिवमस्ततन्द्रिणा
विनन्यते तेन नयेन पौरुपम् ॥

अर्थात्—‘मानवताके उच्च धरातलपर पहुँचनेकी कामना करते हुए दुर्योधन काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह, मात्सर्य—इन छः रिपुओंपर विजय प्राप्त कर रात-दिन आलय-रहित होकर कार्य-विभाजन करके अनीतिसे प्राप्त राज्यको अब नीतिद्वारा पुरुषार्थको फैला रहा है।’ (ख) —द्रौपदी युधिष्ठिरसे कहती है—

भवाद्वेषु प्रमदाजनोदितं
भवत्यधिक्षेप इवानुशासनम् ।
तथापि वक्तुं व्यवसाययन्ति मां
निरस्तनारीसमया दुराधयः ॥

अर्थात्—‘आपके सदृश महान् व्यक्तिके प्रति मुश्ख-जैसी अबलाके द्वारा कुछ कहना आक्षेपकी तरह है, फिर भी नारी-सुलभ हृदयकी आह मुझे कुछ कहनेकी प्रेरणा दे रही है।’ उपर्युक्त दोनों पद्य अपने-आपमें उदात्त चरित्रके उत्कृष्ट दृष्टान्त हैं।

१०—महाकवि ‘भवभूति’के ‘उत्तररामचरितम्’में—
उज्ज्वल चात्म्य-विधानको उत्सुंग शिखरपर रखते हुए कहा है—

(क) —लौकिकानां दि साध्वनामर्थं वाग्नुवर्तते ।
धृष्टाणां पुत्ररायानां धात्रमत्राऽनुधावन्ति ॥
(१।१०)

अर्थात्—‘आधुनिक सामान्य मुश्ख-जैसे व्यक्तियोंकी वाणी अर्थ-वस्तुके पीछे चलती है, जैसे ‘आग’को ही आग और ‘पानी’को ही पानी कहते हैं; लेकिन त्रिकालज्ञ ऋषिगणकी वाणीके पीछे ही अर्थ (वस्तु) चलता है’, जैसे वे यदि ‘आग’को पानी और ‘पानी’को आग कह दें तो वे वैसे ही हो जाते हैं।

(ख) —स्नेहं दयां च सौख्यं च यदि वा जानकीमपि ।
आराधनाय लोकानां मुञ्जतो नास्ति मे व्यथा ॥
(१।१२)

श्रीरामचन्द्र कहते हैं कि लोगोंके, समाजकी आराधनाके लिये, इच्छापूर्तिके लिये मैं स्नेह, दया, सौख्यको कौन कहे, जानकीतकको छोड़नेके लिये प्रस्तुत हूँ, लोकाराधनके लिये जानकीको त्याग देनेमें भी मुझे तनिक व्यथा नहीं होगी।’ यह है लोकाराधकका आदर्श चरित्र।

महाकवि ‘भास’ अपने ‘खन्वासवदत्तम्’में—
उत्तम आचरणरूपी चरित्रकी ओर इंगित करते हुए कहते हैं—

(क) —कोऽयं भो निभृतं तपोवनमिदं ग्रामीकरोत्याश्रया ॥
(१।३)

‘इस तपोवनको कौन अज्ञानी आपनी आज्ञासे ग्राम बना रहा है’! तात्पर्य यह कि तपोवनकी मर्यादाकी रक्षा चरित्रशीलता है, उसमें वाधा नहीं डालनी चाहिये।

(ख) गुणानां वा विशालानां सत्काराणां च नित्यशः ।

कर्तारः सुलभा लोके विद्यातारस्तु दुर्लभाः ॥
इसके द्वारा गुणज्ञ होनेका निर्देश देते हैं।

१२—चाणक्य—भर्तृहरि प्रभृति नीतिकारोंके नीति-श्लोकोंमें तो सम्पूर्ण चात्म्य-विधानकी ही विधि है। निम्नाङ्कित छोटे-छोटे कुछ पद्योंद्वारा उदात्त चरित्र-विधानका मार्गदर्शन कराया गया है जो स्वर्णपात्रमें गङ्गाजल-सदृश है।

मातृवत् परदारेषु परद्रव्येषु लोप्तवत् ।
आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति स पण्डितः ॥

कामिनी-काश्चनपर विजय और समदर्शी होनेका इतने स्वल्प शब्दोमें इतना बड़ा उपदेश शायद ही अन्यत्र कहीं हो । यह पद्य गायत्रीमन्त्रके समान पवित्र है—

पुण्यस्य फलमिच्छन्ति पुण्यं नेच्छन्ति मानवाः ।
न पापफलमिच्छन्ति पापं कुर्वन्ति यत्नतः ॥

सारांश यह कि यदि अच्छा फल चाहते हैं तो कर्म भी वैसा ही करे । ऐसा नहीं कि पुण्यका फल चाहें और पापकर्म करें, जैसा कि सामान्यतया देखा जाता है— जब कि पापका फल बाज्जनीय नहीं है ।

‘क्षीयन्ते खलु भूषणानि सततं वाग्भूषणं भूषणम् ।’

संसारके सभी आभूषण तुच्छ हेय या नाशवान् हैं, केवल ‘वाणी’ ही सच्चा आभूषण है । फलतः चारित्र्यनिर्माण-हेतु सत्य-प्रिय-मधुरभाषी बने ।

‘योऽर्थं शुचिः स हि शुचिः न सृद्धारिशुचिः शुचिः’

साबुन-शैम्पूसे ‘वाथ’ लेनेसे पवित्रता नहीं होती, पवित्रता तो अर्थ-धनके आदान-प्रदान, उसके प्रति अनासक्तभाव होनेसे ही सम्भव है ।

एकेनापि सुपुत्रेण पुष्पितेन सुगन्धिना ।

वासितं तद्वनं सर्वं सुपुत्रेण कुलं यथा ॥

‘एक सुगन्धित पुष्पसे भी जैसे सम्पूर्ण वन सुरभित होता है, वैसे ही एक ही सुपुत्रसे वंश उज्ज्वल होता है ।’ चारित्र्य-सम्पन्न पुत्र ही सुपुत्र है ।

१२—महाकवि ‘माघ’के ‘शिशुपालवध’ महाकाव्यमें शालीन व्यवहारका दिग्दर्शन कराते हुए नारदजी श्रीकृष्णके यहाँ पहुँचते हैं तो भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

हरत्यघं सप्रति हेतुरेष्यतः

शुभस्य पूर्वाचरितैः कृतं शुभम् ।

शरीरभाजां

भवदीयदर्शनं

व्यनक्ति कालचित्येऽपि योग्यताम् ॥

(१ । २६)

(आप नारदजीके) दर्शन अतीत, वर्तमान और अनागत तीनों कालोंके मेरे पुण्योंके परिणाम हैं ।

त्वमेव साक्षात्करणीय इत्यतः

किमस्ति कार्यं गुरुयोगिनामपि ।

(१ । ३१)

नारदजी कहते हैं कि आप ही (श्रीकृष्ण ही) सभीके लिये साक्षात्कारणीय हैं—दर्शनके उद्देश्य हैं, इसके अतिरिक्त योगियोंके लिये भी कौन-से महान् कार्य हैं : अर्थात् आपके दर्शनसे मोक्ष भी न्यून है ।

खाभिमानिताका उपदेश देते हुए ‘माघ’ कहते हैं—अपमानित जीवनसे धूँड़ि ही श्रेठ है, जो पैरके ठोकरसे ऊपर उठती है ।

१४—महाकवि ‘श्रीहर्ष’ने अपने अति प्रसिद्ध ‘नैषधीयचरितम्’में विद्याकी व्यावहारिक प्रक्रियाका निर्देश किया है—

मृगया न विगीयते नृपैरपि धर्मागममर्मपारगैः ।
सरसुन्दर मां यद्यत्यजस्तव धर्मः सद्यो दयोज्ज्वलः ॥

‘निगमागमनिष्टात राजा भी शिकारसे विमुख नहीं होते, फिर भी आपने जो मुझ हंसको छोड़ दिया है, वह तो आपकी उज्ज्वल दया-धर्मका ही उदाहरण है । दया चरित्रिका उत्कृष्ट गुण है ।

१५—अन्तमें हम यहाँ महाकवि बाणभट्की ‘कादम्बरी’से ‘शुकनाशोपदेश’की कुछ पंक्तियोंको उद्धृत करनेका लोभ संवरण नहीं कर पा रहे हैं । यदि महाभारतमें सारभूत आत्मवत् ‘भगवदीता’ है तो कादम्बरीमें शुकनाशोपदेश है, जिसे मनीषिण ‘बाणगीता’ भी कहते हैं ।

‘कामिनी-काश्चनपर विजय प्राप्त करना यदि

आकाशके तारे तोड़ना नहीं है तो लोहेका चना

चबाना सो अवश्य है। अपने दीर्घकालीन अध्यापन-कालमें छात्रोंके विश्लेषणके क्रममें शाश्वत सत्यके रूपमें स्थित उक्त मेरी पङ्कियाँ बहुचर्चित रहीं। इसमें भी 'काष्ठन'की प्रखरता ही 'कामिनी'के प्रति संलग्नताकी मुख्य कड़ी है—यह स्पष्ट है। संस्कृत-वाच्यकी प्रत्येक रचना इन दोनों (कामिनी-काष्ठन)से बचने-सतर्क रहने, सावधानतासे उपयोग करनेकी शिक्षा देती है। यही चरित्र-निर्माणका मूलाधार है। जो इनसे बचा, वह चरित्रवान् बना।

'शुक्नासोपदेशम्' बाणभृने कुमार चन्द्रा-पीड़को राज्याभिषेकके बाद ही वृद्ध विद्वान् 'शुक्नाश'के द्वारा लक्ष्मी-मदसे बचनेके उपाय लक्ष्मीके प्रबल अजेय-अपरिमेय प्रमादका जो वर्णन किया है, वह न केवल संस्कृत-वाच्य या भारतीय वाच्य अपितु विश्ववाच्य-का अद्भुत अद्वितीय उदाहरण है जो परम कट्ठ होते हुए भी परम सत्य है। उसीका कुछ मात्र अंश 'चारित्र-विधान'के मूल खोतके रूपमें भी उद्भृत कर रहा हूँ। शुक्नासका कथन है—

'अपरिणामोपशामे द्वारणोलक्ष्मीमदः, न श्रेष्ठमपरिचितमिह जगति किञ्चित् यथेयमलार्या। लक्ष्मीपि खलु दुःखेन परिपाल्यते, द्वद्वगुणपात्रा-संदाननिष्पन्दीकृताऽपि नक्षयति। न परिजनं रक्षति, नाभिजनमीक्षते, न रूपमालोक्यते, न कुलक्रममनु-घर्तते, न शीलं पद्यति, न वैदर्श्यं गणयति, न श्रुतमार्कण्यति, न धर्ममनुरूप्यते, न त्यागमाद्वियते, न विशेषज्ञतां विचारयति गन्धर्वनगरलेखेव पद्यत एव नक्षयति।'

सारांश—'यह अनार्या लक्ष्मी सबकी अपरिचिता है, सुरक्षित रखनेपर भी भाग जाती है तथा इसके लिये

कोई गुण, कोई धर्म, कोई योग्यता, कोई भी उदात्त चरित्र हैये है, त्यज्य है, अस्पृश्य है। यह देखते-देखते गंधर्वनगरके समान अद्भुत हो जाती है।

'कुमार, यहामोहान्धकारिणि राजतन्त्रे तथा प्रयतेथाः यथा नोपहस्यसे जनैः, न विनिन्द्येच्च साद्भुमिः, न धिक्षिक्रयसे गुरुमिः, नोपलभ्यसे सुहृदमिः, न शोच्यसे विद्वद्भुमिः।'

'इश्वरतां दधानाप्यशिवप्रकृतिं दधाना, अमृत-सहोदराऽपि कदुचिपाका, संवर्धनवारिधारा तृष्णा विपवलमीलाम्, परामर्शधूमलेखा सञ्चरितचित्राणाम्, तिसिरोद्धतिः शास्त्रदृष्टीनां पुरः पताका सर्वो-विनयानाम्, प्रस्तावना कषट्टनादकस्य—दत्यादयः।'

'अर्थात्—सर्वथा मोहान्धकारके गर्तमें ढकेलनेवाली यह लक्ष्मी अकल्याणकारिणी, सभी दुर्गुणोंकी जड़, सभी अविनयोंकी विजयपताका तथा सभी कपट-छलमय नाटकोंकी प्रस्तावनाखरूपा है।

अतएव कुमार! ऐसा प्रयत्न करो कि साधु, विद्वज्जन तुम्हारा उपहास-गिन्दा न करो। मित्रगण उपाळम्भ न दें और कोई भी व्यक्ति तिरस्कार नहीं करे। चरित्रिका ऐसा आदर्श नम्रता और बड़ोंकी संगतिसे निर्मित हो सकता है।

उपसंहार—

इन संक्षिप्त उपर्युक्त कुछ उदाहरणोंसे ही यह स्पष्ट है कि समग्र संस्कृत-वाच्य 'चारित्र-विधान'की प्रक्रियासे परिपूर्ण है। क्या भारतीय प्रशासन और इस राष्ट्रके विवेकशील व्यक्ति इस ओर अब भी ध्यान देंगे जब कि भारतसे चरित्रिका लोप होता जा रहा है?

भगवान् इस राष्ट्रकी रक्षा करें यही प्रार्थना—
मङ्गलकामना है।

महाकवि कालिदासकी चारित्रिक उद्घावनाएँ (लेखक—श्रीकामेश्वरजी उपाध्याय)

महाकवि कालिदास भारतीय संस्कृतिके मूळ तत्वोंको, एवं मानवभनके चार्जवल्य स्थैर्यादि भावोंको अपनी सूख्म अनुभूति एवं शास्त्र-चक्षुसे अत्यन्त समीपसे परखते हैं। कालिदासका लोक-सामज्जस्य अपने-आपमें अनृठा है। कालिदास पूरे विश्वके कवि है। अतः इतनी लम्बी युगयात्राके बाद भी उनकी काव्यामृतधारा शिथिल होती नहीं दीखती। फलतः कालिदास नाम अब भारतीय संस्कृति, शास्त्र, उत्कृष्ट चिन्तन आदिका पर्याय बन चुका है।

कालिदासकी विशेषता उपमाके साथ छुइ छुई है। उपमाकंकारका सर्वाधिक वैशिष्ट्य यह है कि इसमें तीव्र अनुभूति और गहरी संवेदना होती है। यह अनुभूति उपमेय और उपमानके बीच सादृश्यको यथातथ्य रूपमें चित्रित करती है। इसमें अतिशयोक्ति आदिकी तरह मात्र कोरी कल्पना नहीं होती। अतः कालिदास अपने काव्योंमें सर्वथ मानवीय किंवा प्राकृतिक गुणोंकी ही अन्वेषणा करते हैं। प्रकृतिके विशेष पूजक होते हुए भी महाकवि कालिदास आदर्श मानवताके स्थान हैं।

चरित्रको सदासे ही प्रधानता प्राप्त है। अतः मानवके चारित्रिक गुणोंकी परिकल्पना कालिदासने अत्यन्त प्रौढ़ता तथा सूक्ष्म मनोवैज्ञानिकताके साथ की है। महाकविने चरित्रके प्रत्येक पहलूपर अपना विचार प्रकट किया है। रघुवंश महाकाव्यमें उन्होंने रघुवंशियोंके गुणोंका क्रमशः आख्यान किया है—आजन्मशुद्धता, फलप्राप्तिपर्यन्त कार्यसंलग्नता, यथाविधि यजन, दानशीलता, अपराधकी कठोर दण्ड-व्यवस्था, त्याग, सत्यता, मृदु-भाषिता, यशके लिये विजय करना, प्रजाका पालन

करना, शैशवकालमें विशार्जन करना, यौवनकालमें विषय-सेवन, वृद्धावस्थामें वानप्रस्थवृत्तिका परिपालन एवं योगद्वारा इस शरीरका परित्याग करन। इत्यादि।'

भारतीय संस्कृतिकी मूळ विचारधाराओंके अनुकूल एक मानवमें इससे अधिक चरित्र-निर्भाणकी और क्या कल्पना हो सकती है? दिलीप एवं रघु आदिमें ये सभी गुण विद्यमान थे। इतना ही नहीं, इनके अतिरिक्त भी महाकविने रघुमें अन्य चारित्रिक गुणोंको दर्शाया है। बुद्धिके सात सूक्ष्मभेद होते हैं। वे क्रमशः इस प्रकार हैं—

शुशूषा अवणं द्वैष ग्रहणं धारणं तथा।
ऋषोहोऽर्थविश्वानं तत्त्वज्ञानं च धीगुणाः॥

इन्हीं गुणोंसे व्यक्ति महान् होता है।

महाकवि कालिदासके अनुसार यहाँ कर्मिय चारित्रिक गुणोंका उल्लेख किया जा रहा है।

संयम—संयम मानव-जीवनको देवत्वकी लोर ले जाता है। संयमी व्यक्ति संसारमें प्रसिद्धित होता है। संयमद्वारा मृत्युपर विजयकी परिकल्पना भारतीय संस्कृतमें प्राप्त होती है। रघुवंशियोंमें कालिदासने इसी वैशिष्ट्यको दिखाया है। कालिदासका प्रत्येक प्रधान पात्र संयमी है। कविने महाराज दिलीपके जीवनमें संयमके स्थायी भावको दिखाया है—

अनाकृष्टस्य विपर्यैविद्यानां पारदृग्वनः।
तस्य धर्मरतेरासीद् वृद्धत्वं जरसा विना॥
(रघु० १। २२)

‘विपर्यवासनापर सदम होनेके कारण राजा दिलीप, यौवनकालमें भी बृद्धके महत्वको प्राप्त थे।’ महाकवि कालिदास कामवृत्तिसे विमुक्त हो भाव-

रसकी ऊर्ध्वगमिनी यात्रामें विश्वास करते हैं। काम-संतप्त होकर प्रेमके लिये पैर उठानेको वे तुच्छ एवं गर्हित समझते हैं। उनके कुमारसम्बद्धमें माता पार्वती शंकर भगवान्‌को धर्मभावनासे प्राप्त करना चाहती हैं। वे शिवको अकाम, योगी एवं अकिञ्चन जानते हुए भी तपस्यामे संलग्न दीखती हैं—

ममात्रं भावैकरसं मनः स्थिरं
न कामबृत्तिर्वचनीयमोक्षते ।
(कुमा० ५ । ८३)

मनुष्य अपने जीवनमें पारमार्थिक यत्नकी प्रेरणा, अवधारणा आदिसे संतुष्ट एवं सुखी रहता है।

त्याग—मनुष्यमें त्यागकी भावना, लोकोपकारिता एवं साहाय्यकी इच्छा होनी चाहिये। दीन-हीन-संतप्त जनोंकी हित-कामनामें संलग्न मनुष्य ही मानवताका सबसे वड़ा आदर्श प्रमाण होता है। महाराज दिलीप अपने राज्यमें प्रजासे जितना कर ग्रहण करते थे, उससे अधिक वे उन्हें प्रदान भी करते थे। यह त्यागकी ही भावना है। स्वयंके लिये संग्रहकी प्रवृत्ति मनमें उत्पन्न होनेसे मनुष्य त्याग नहीं कर सकता। अतः राजा दिलीप या दुष्प्रति प्रजा-हितमें ही संलग्न रहना अपने जीवनकी चरम-परिणति मानते हैं; यथा—

प्रजानामेव भूत्यर्थं स ताभ्यो वलिमग्रहीत् ।
सहस्रगुणसुत्सुष्टुमादत्ते हि रसं रघिः ॥
(रघ० १ । १८)

× × ×

स्वसुखनिरभिलापः खिद्यसे लोकहेतोः
प्रतिदिनमथवा ते बृत्तिरेवंविधैव ।
अनुभवति हि सूक्ष्मा पादपस्तीवसुष्णं
शमयति परितापं छायया संश्रितानाम् ॥
(शा० ५ । ७)

अन्तर्वाहाशुद्धता—मनुष्यको सरल सभावका होना चाहिये। अन्तर्वाह्य चेतना एवं कायामें पवित्रताकी

मन्दाकिनी अजस्त्र प्रवाहित होती रहनी चाहिये। मानसकी शुद्धतापर महाकविने सर्वत्र कलम दौड़ायी है। माँ रीता परित्याग-दुःखसे दुःखित होकर भगवती वसुंधरासे प्रार्थना करती हैं—‘यदि मैंने वाक्, मन एवं कर्मसे पतिके विपरीत आचरण न किया हो तो विश्वमरे ! फटो, आज तुम्हारी बेटी तुम्हारी गोदमें सदाके लिये प्रविष्ट हो जाना चाहती है ।’

वाङ्मनःकर्मभिः पत्यौ व्यभिचारो यथा न मे ।
तथा विश्वमरे देवि मामन्तर्धातुमर्हसि ॥
(रघ० १५ । ८१)

हुआ भी यही—उस विश्वद्वात्मा सतीके करुण कन्दनसे धरित्रीकी छाती फट गयी—

सा सीतामङ्कमारोप्य भर्तृप्रणिहितेष्वाम् ।
मा मेति व्याहरत्येव तस्मिन् पातालमभ्यगात् ॥
(१५ । ८४)

राजा दुष्प्रति कण्ठाश्रममें प्रविष्ट हो शकुन्तलाको देखते हैं और प्रथम दर्शनमें ही उसके प्रति अनुरक्त हो जाते हैं। अपनी अनुरक्तिका कारण सोचते हुए वे कहते हैं—

असंशयं क्षत्रपरिग्रहक्षमा
यद्यार्यमस्यामभिलापि मे मनः ।
सतां हि संदेहपदेषु वस्तुपु
प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः ॥

‘मेरे आर्य मनमें अग्राह्य कन्याके प्रति अनुराग उत्पन्न हो ही नहीं सकता।’ ऐसा आत्मविश्वास उसी व्यक्तिको हो सकता है जिसकी चित्तवृत्ति अत्यन्त सात्त्विकी, सच्छ एवं संशयविमुक्त हो।

सेवाभावना—अपनेसे श्रेष्ठ व्यक्ति या अशक्यके प्रति मानवके मनमें सहज सेवा-भाव होना चाहिये। सेवाकी जितनी दिव्य निर्दर्शना महाकवि कालिदासके रघुवंशमें प्राप्त होती है, सम्भवतया वैसी उत्कृष्ट कल्पना

विश्वके किसी भी साहित्यमें विरले ही समुपलब्ध होगी। महाराज दिलीप गो-सेवामें निरत हैं। जब नन्दिनी चलती है तब वे भी चलते हैं, जब वह खाती है तब वे भी भोजन करते हैं, जब वह आराम करती है तब वे आराम करते हैं, ठीक उसी तरह जिस तरहसे छाया अपने आश्रयका अनुकरण करती है। * नन्दिनीके सिंहसे आकान्त हो जानेपर राजा दिलीप अपने प्राणोंका भी उत्सर्ग करनेके लिये तैयार हो जाते हैं। वे सिंहसे अपने शरीरका भक्षण कराकर बदलेमें गायको छोड़नेके लिये कहते हैं—

स्वेयं स्वदेहार्पणनिष्कयेण
न्याय्या मया मोचयितुं भवत्तः।
न पारणा स्याद् विहृता तवैवं
भवेदलुप्तश्च सुनेः क्रियार्थः॥
(खु० २। ५५)

शुश्रूपा मानवका नैतिक कर्तव्य है। शाकुन्तल-नाटकमें महाकविने कण्वके मुखसे शकुन्तलाको शुश्रूपाका दिव्य मन्त्र दिया है। मानव-जीवनकी सफलता अपने चतुर्दिक् प्रेम उत्पन्न करनेमें ही है। प्रेम सेवासे पुष्ट होता है। अतः महाकविने कण्वके मुखसे शकुन्तलाको संदेश दिलाया है—

शुश्रूपस्व गुरुन् कुर्व ग्रियसखीवृत्तिं सपल्लोऽजने
भर्तुर्विप्रकृतापि रोपणतया मा स्म प्रतीर्पं गमः।
भूयिष्ठं भव दक्षिणा परिजने भोगप्वन्तुत्सेकिनी
यान्त्येवं गृहिणीपदं युवतयो वामाः कुलस्याधयः॥
(शा० ४। १८)

नारी-शरीर भोगेषु-लोकका आधारमात्र ही नहीं है। महाकविने नारीके कार्यगौरवका उल्लेख करते हुए उसके चरित्रिको अतिविस्तृत दिखलाया है। रूपाश्रयी रुक्षाने भी उनमें अवश्य हैं, लेकिन उस प्रचण्ड काम-प्रवाहमें वे वहते नहीं हैं। वहाँ भी उन्हें नारीके अनेक विशुद्ध स्वरूप दिखायी पड़ते हैं। अतः उनका अज

इन्द्रुमतीके पार्थिव शरीरके लिये नहीं, अपितु उसके आन्तरिक सौन्दर्य, शील, लज्जा, सहयोग आदिके दारुण विश्रयोगसे दुःखित हो चीत्कार कर उठता है।

गृहिणी सच्चिवः सखा मिथः
प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ ।
करुणाविमुखेन मृत्युना
हरता त्वां वद किं न मे हृतम् ॥
(खु० ८। ६७)

निरभिमानिता—क्षुद्र अहंकारसे प्रेतित किया हुआ सभी अनुष्ठान तामसी माना जाता है। तामसी दानसे सात्त्विक ग्रहण उत्तम होता है। महाकविने प्रत्येक प्रधान पात्रमें निरभिमानिता और निरभिलाषिता झलकती है। द्वारपर आये हुए अतिथिका स्त्रतः दौड़कर खागत करना रघुवंशी राजाओंको कुलक्रमसे प्राप्त है। वे अतिथिको देवता मानते हैं, अतः उनकी पूजा करते हैं। कौत्स और रघुका प्रथम मिळन और सल्कार कितना क्षाद्य और अनुकरणीय लगता है—

तर्मचयित्वा विधिवद् विधिव्य-
स्तपोधनं मानधनाग्रथायी ।
विशम्पतिविष्टरभाजमारात्

कृताङ्गजलिः कृत्यविदित्युवाच ॥
भारतवर्ष दान देनेवाले तथा दान लेनेवाले समुचित पात्रोंका देश है। यहाँका याचक अपनी आवश्यकतासे अधिक लेना नहीं चाहता और दाता उसे अधिक देना चाहता है। आज हमारा वह पूर्व चरित्र न जाने भूतके किस अन्तरालमें सिमटकर लुप्त हो गया। आज भी हमें अपने आचरणको लोकविश्वासी बनानेकी आवश्यकता है, जैसा कि रघु और कौत्सके प्रति अयोध्याकी जनता विश्वस्त थी, यद्यपि दाता राजा है, याचक बनवासी साधारण अध्येता ।†

* स्थितः स्थितामुच्चित्तः प्रयातां निपेदुषीमासनवन्धधीरः।

जलभिलाषी जलमाददानां द्यायेव तां भूपतिरन्वगच्छत् ॥ (खु० २। ६)

+ जनस्य साकेतनिवासिनस्तौ द्वावप्यभूतामभिनन्द्यस्तौ । गुरुप्रदेयाधिकनिःस्युद्गुर्धी नृपोऽर्थिकामादधिकप्रदश्च ॥ (खु० ५। ३१)

छल-पाखण्डका वर्जन—अपने किसी भी कार्यसे किसी अन्य व्यक्तिको छलना एक अधम वृत्ति है। इस वृत्तिसे चरित्रिका अधःपतन होता है। महाकवि कालिदास भारतीय संस्कृतिके संवाहक कवि हैं। उन्होंने छल-छद्म चित्तानुरक्तजनोकी अन्यन्त तीक्ष्ण शब्दोंमें भर्तसना की है। राजा दुष्यन्त शकुन्तलासे अपने ऐकात्तिक सम्बन्धको स्थीकार न कर उसे लाञ्छित करते हैं। इसपर शकुन्तलाका पवित्र चित्त आहृत होकर विलुप उठता है। वह कहती है—अनार्य। अपने हृदयके ही समान दूसरेको हृदयको समझते हो। तुम्हारी धर्मकञ्चुकयुक्त आकृति ठीक उसी तरह की है, जिस तरह तृणाञ्छन्न-कूपकी प्राणघातक भयंकरता अटप्प होती है। एक राजाको एक साधारण नागरिक राजसभामें इस तरह तभी कह सकता है, जब उसके अन्तरमें सात्त्विक तेजकी चमचमाती अप्रतिहत दीपि दहकती हो। यही नहीं शार्ङ्गत्व राजाको अन्यन्त तिरस्कृत भी करता है—

आजन्मनः शार्ङ्गमश्चिकितो यः
तस्य प्रमाणं धर्मं उनस्य।
परातिसंधानमधीयते य-
र्थ्येति ते सन्तु किलासवाचः॥
(अभिं० शाक० ५। २५)

अतः छल-छद्म, पाखण्ड-वृत्तिद्वारा दूसरेको ठगनेवाला समाजका कलंक होता है, उसे सर्वत्र पददलित और अपमानित होना पड़ता है।

महाकवि कालिदास शारीरिक सुन्दरताकी निर्दर्शना हो करते ही हैं, साथ-ही-साथ आन्यन्तरिक एवं आत्मिक पेशलताका भी प्रत्याद्घान करते हैं। स्वभावशुद्धि, आन्म-शुद्धि, द्वुद्धि-शुद्धि आदि चारित्रिक गुणोंसे मानव देवत्वको प्राप्त ही नहीं करता अपितु उसे अतिक्रान्त कर और उपर

उठता है। कालिदासने कतिपय स्थलोंपर महेन्द्रको स्वर्गसे धरतीपर लाकर पुरुषके बल, वीर्य एवं गुणोंके सामने अवनत कराया है। महाकवि शीलवान् व्यक्तित्वके सुन्दर पुरुषको तैयार करनेमें अनवरत संग्रह दीखते हैं। उनका नायक धीर, गम्भीर एवं संयमी होता है। यथा—

ज्ञाने मौतं क्षमा शक्तौ व्यागे द्युग्राविष्यर्थ्यः।
गुणागुणानुवन्धन्वात् तस्य सप्रसवा इव ॥
(रु० १। २२)

आजके इस अर्यपैशाचिक युगमें द्रव्यके लिये मानव अनैतिक कार्य करनेके लिये उद्यत है। अपराध मनोवृत्ति बन चुका है। ऐसी स्थितिमें अभावसे ज्ञाता मनुष्य यहि अपने साहसिक अभियानमें सत्यताओं वनाये रखता है तो वह पूज्य है, नमस्य है। धर्म-अर्य-काम-मोक्ष पुरुषार्थोंका सामान्य सेवन समाजको स्थायित्व प्रदान करता है। अतः चारित्रिक शिक्षाका महत्त्व ऐसे युगमें अधिक महत्त्वपूर्ण होता है।

प्रकृतिका द्वार सबके लिये खुला है। आज भी पवन सुगन्धित है, पुष्प अभिराम हैं, धरित्री सारस-हंस-मयूरसे परावृत्त है। मात्र आवश्यकना है अकुणिठत दुद्धिकी जो सत् और असत्को विवेककी आँखोंसे देख सके, सृष्टिका आनन्द ले सके। कहुणाकी स्वर्गीय अमृत-क्षणीको प्रवाहितकर जन-जनका अभियंक करनेको महाकवि तैयार बैठा है।

अभिमानका त्याग कीजिये, क्योंकि भगवान् अष्टमूर्ति भी अभिमानरहित हो संसारका भरण-पोषण करते हैं, वही हमें सन्मार्गके प्रति प्रेरित करेंगे—

अष्टाभियस्य कृत्स्नं जगदपि तनुर्धिप्रतो नाभिमानः।
स्वामार्गालोकनाय व्यपनयतु स वस्तामसी वृत्तिमीशः॥

जैनहृष्टिमें चारित्र

(लेखक—डॉ० श्रीरङ्गन सूरदेव, एम् ०४० (प्राकृत-जैनशास्त्र, संस्कृत-हिन्दी), स्वर्णपदक-प्राप्त, पी-एच००
डी०, साहित्य-आयुर्वेद-पुराण-जैन-दर्शन-पात्याचार्य, व्याकरणतीर्थ, साहित्यरत्न, साहित्यालंकार)

चारित्र मानव-जीवनके उदात्तीकरणका सर्वसामान्य मूलमन्त्र है। इसीलिये ब्राह्मण और श्रमण सभी सम्प्रदायोंके भारतीय शास्त्रकारोंने एक स्वरसे प्रत्येक मनुष्यको प्रतिदिन अपने चरित्रपर- व्यान रखनेका आदेश दिया है—‘प्रत्यहं प्रत्यवेष्टेत नरश्चरितमात्मनः’ (शार्ङ्गधर प०)। चरित्र-बल सबसे बड़ा बल माना गया है। भगवान् महावीरने तो ‘चारित्र’को मोक्षमार्गके प्रधान अङ्गके रूपमें स्वीकृत किया है। ज्ञातव्य है कि जैनाचार्योंने प्रायः ‘चरित्र’की जगह सर्वत्र ‘चारित्र’ शब्दका व्यवहार किया है।

जैनियोंकी बाइबिल—आचार्य उमाखाति (ई० प्रथम शती) रचित ‘तत्त्वार्थसूत्र’का पहला ही सूत्र है—
‘सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः ।’
अर्थात् ‘सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यकचारित्र ही मोक्षमार्गके निर्देशक उपायभूत सत्त्व हैं।’ (पञ्चाभ्यायी), (श्लोक सं० ४१२-४१३)में भी कहा गया है कि ‘तत्त्वार्थकी प्रतीतिके अनुसार क्रिया करना ‘चरण’ या ‘आचरण’ कहलाता है; अर्थात् मन, वचन और कार्यसे ज्ञूप कर्मोंमें प्रवृत्त रहना चरण है—

‘चरणं वाक्यायचेतोर्भिन्नव्यापारः शुभकर्मसु ।

‘तत्त्वार्थसूत्र’की टीका ‘खार्यसिद्धि’- (१। १। ६। २)में इसी चरणको चारित्र माना गया है—
‘चरति चर्यते अलेन चरणमात्रं वा चारित्रम् ।’
अर्थात् ‘जो आचरण करता है या जिसके द्वारा आचरण किया जाता है अथवा आचरण करना मात्र ‘चारित्र’ है।’ भगवती-आराधना’ (८। ४१। ११)में कहा गया है कि ‘जिससे हितको प्राप्त करते हैं और धृष्टिका निवारण करते हैं, उसे ‘चारित्र’ कहते हैं’

हैं’ अथवा सज्जन पुरुष जिसका आचरण करते हैं, उसे ही ‘चारित्र’ समझना चाहिये—
चरति याति येन हितप्राप्तिम् अहितनिवारणं चेति तच्चारित्रम्। चर्यते सेव्यते सज्जनैरिति वा चारित्रम्। जैनलोग प्रायः निवृत्तिमार्गी होते हैं, इसलिये वे मूलतः संसारकी कारणभूत वाह्य और अन्तरङ्ग क्रियाओंसे निवृत्त होनेको ही ‘चारित्र’ मानते हैं।

व्यवहारनय (व्यापक दृष्टिकोण) तथा निश्चयनय- (आत्मनिष्ठ दृष्टिकोण)के अनुसार चारित्र दो प्रकारका होता है—वाह्य और आम्यन्तर। इन्द्रिय-संयम वाह्य चारित्र है और प्राणसंयम आम्यन्तर चारित्र—यद्यपि विविध निवृत्तिमूलक परिणामोंकी दृष्टिसे चारित्रके अनन्त मेद होते हैं। महाव्रतों, ईर्या (परिव्रजन) *आदि पौच्छ समितियों, मन, वचन और काय—इन त्रिगुप्तियोंका पालन करना तथा क्षुधा, तृष्णा आदि वाईस परीषहोको सहन करना—ये चारित्रकी भावनाएँ हैं। चारित्रमें ‘सम्यक्’ विशेषणका प्रयोग अज्ञानपूर्वक आचरणके निराकरणके लिये ही किया गया है। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानके बाद ही सम्यकचारित्र सम्भव होता है।

‘आत्मालुशासन’—(श्लोक सं० १२०-१२१) में उल्लेख है कि साधु पुरुष पहले दीपकके समान प्रकाश-प्रधान होते हैं, तदनन्तर वे सूर्यके समान ताप और प्रकाश दोनोंसे सुशोभित होते हैं। पुनः वे बुद्धिमान् साधु पुरुष मिथ्यातत्त्वके त्याग और सम्यकत्त्वके प्रहणद्वारा दीपज्योतिके समान ज्ञान और चारित्रसे स्वयम्प्रकाशित होते हैं। उसके बाद वे कर्मरूप काजल्को वमन (निराकृत) कर ख लौर पंक्को प्रकाशित करते हैं।

प्राक् प्रकाशप्रधानः स्यात् प्रदीप इव संयमी ।
पश्चात्तापप्रकाशभ्यां भास्वानिव हि भासताम् ॥
भूत्वा दीपोपमो धीमान् शानचारित्रभास्वरः ।
स्वमन्यं भासयत्येप प्रोद्धमत्कर्मकज्जलम् ॥

पूर्वोक्त महात्रत, समिति, गुप्ति और परीष्ठहका पालन-रूप चारित्र शुद्धात्माकी प्राप्तिका कारण है और बाह्य-शुद्धि (शरीरशुद्धि) तथा आभ्यन्तर-शुद्धि- (मनःशुद्धि-) का सहायक कारण । 'चारित्रपादुड़'—(गाथा सं० ९)के अनुसार—जो ज्ञानी अमूढ़दृष्टि होकर सम्यक्त्वाचरणरूप चारित्रसे शुद्ध होते हैं, वे यदि संयमाचरणरूप चारित्रसे भी शुद्ध हो जायें तो शीघ्र ही निर्वाण प्राप्त करते हैं । 'बृहद् नयचक्र'—(गाथा सं० २०४)के अनुसार, सराग अवस्थामें भेदोपचाररूप जिस चारित्रिका आचरण किया जाता है, उसीका वीतराग-अवस्थामें अभेद और अनुपचारसे आचरण करना चाहिये । सराग चारित्रमें बाह्य क्रियाओंका विकल्प रहता है और वीतराग-अवस्थामें उनका विकल्प नहीं रहता । सराग चारित्रमें वृत्ति बाह्य-त्यागके प्रति जाती है और वीतराग-अवस्थामें अन्तरङ्ग-त्यागके प्रति ।

इससे स्पष्ट है कि जैनदृष्टिमें चरित्र केवल सदाचार या शिष्टाचारतक ही सीमित नहीं, अपितु संयमका ही पर्याय है, जो निर्वाण-प्राप्तिके कारणभूत तत्त्वोंसे जुड़ा हुआ है । यहाँ सोक्षमार्गकी प्राप्तिके कारणभूत चारित्रिके सामान्य तत्त्वोंका विवरण उपन्यस्त किया जा रहा है ।

महाव्रत—हिंसा, असत्य, चोरी, मैथुन और परिग्रहसे मन, वचन और कायद्वारा निवृत्त होना व्रत है । दूसरे शब्दोंमें, दोषोंको समझकर उनके त्याग या उनसे विरतिकी प्रतिज्ञा करनेके बाद पुनः उनका सेवन न करनेको व्रत कहते हैं । यही व्रत अल्पांशमें विरति होनेसे 'अणुव्रत' (गृहस्थोंके लिये) और सर्वांशमें विरति होनेसे 'महाव्रत' (साधुओंके लिये) कहलाता है ।

समिति—चारित्रवी दृष्टिसे तथा व्रतोंको स्थिर करनेके लिये, चलने-फिरने, बोलने-चालने, आहार प्रहण करने, वस्तुओंको उठाने-रखने तथा मल-मूत्रके निक्षेपण करनेमें विवेकपूर्वक सम्यक् प्रकारसे प्रवृत्त होते हुए जीवोंकी रक्षा करना 'समिति' है । दूसरे शब्दोंमें, सम्यक् प्रकारसे प्रवृत्ति या भावनाका नाम 'समिति' है । इसके पाँच भेद हैं—ईर्या-समिति, भाषा-समिति, एषणा-समिति, आदन-निक्षेपण-समिति और प्रतिष्ठापन-समिति ।

अपने या दूसरेको क्लेश न हो, इस प्रकार यत्न-पूर्वक चलना-फिरना 'ईर्यासमिति' है । विचारपूर्वक सत्य और प्रिय बोलना 'भाषा-समिति' है । ध्यातव्य है कि जीव-हिंसाकी अपेक्षा सत्य भी असत्य हो जाता है और जीव-रक्षाकी अपेक्षा असत्य भी सत्य हो जाता है । जैनोंकी 'लाटीसंहिता'में कहा गया है—

सत्यं ह्यसत्यतां याति जीवहिंसानुवन्धतः ।
असत्यं सत्यतां याति ध्वचिज्जीवानुरक्षणात् ॥

वस्तुको हँड़ने, उसके उपयोगके लिये उसे उठाने और उपयोगके बाद उसे रखनेमें दोष न लगने या हिंसा (शारीरिक या मानसिक आघात) न होनेका ध्यान रखना 'एषणा-समिति' है । वस्तुको लेते और छोड़ते समय सम्यद्विष्टसे उसे उठाना और रखना 'आदन-निक्षेपण-समिति' है । एकान्त, जीवरहित, दूरस्थित, गोपनीयता-युक्त विल या छेदविहीन, अभिन्दनीय तथा विरोधरहित चौड़े स्थानमें मूत्र, विषा आदि देहके मलका क्षेपण करना 'प्रतिष्ठापन-समिति' है । कुल मिलाकर, चारित्रिक उल्कर्मके लिये हिंसा, सत्य, अस्तेय (अचौर्य), ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह व्रतकी रक्षा करना 'समिति' है । कहना न होगा कि आजके मानव-जीवनमें समिति-रूप चारित्रिका सर्वथा अवगूल्यन हो गया है, जिससे समग्र उच्चत सामाजिक संस्कार ही पूर्णतः भ्रष्ट होता जा रहा है ।

गुप्ति—आचारगत जिस व्रतके बलद्वारा संसारके कारणोंसे आत्माका गोपन या रक्षण होता है, वह 'गुप्ति' है। दूसरे शब्दोंमें, मन, वचन और काय—इन तीनोंके द्वारा मिथ्या प्रवृत्तिका निरोध ही 'गुप्ति' है। मनको अशुभ ध्यानसे बचाकर शुभ ध्यानमें लगाना 'मनोगुप्ति' है; अर्थात् सम्यक् प्रकारसे राग-द्रेप आदि कायोंके कारणभूत योगका निरोध करना 'मनोगुप्ति' है। दूसरे प्राणियोंको जिस भाषणसे कष्ट होता है अथवा जिस भाषणमें आत्मा अशुभ कर्मोंसे आद्वृत्त होती है, वैसे भाषणसे पराड्मुख होना 'वचनगुप्ति' है। मौनव्रत 'वचनगुप्ति'का अपर पर्याय है। कर्मबन्धके कारणभूत सभी कायिक क्रियाओंसे गुप्ति या रक्षा तथा कायगत ममताका त्याग 'कायगुप्ति' है। कुल मिलाकर मनकी एकाग्रताके साथ अशुभ कायिक चेष्टाओंका निरोध भी 'कायगुप्ति' है। राग आदि विकारोंसे रहित होकर स्वाध्यायमें प्रवृत्त होना भी 'मनोगुप्ति' है तथा दुर्वचनका त्याग या मौन धारण करना भी 'वचनगुप्ति' है।

परीपह—साधना-मार्गसे व्युत न होना तथा कर्मोंकी निर्जरा-(आत्यनितक क्षय-)के लिये क्षुधा, तृष्णा आदिकी पीड़ाओंको सहन करना 'परीपह' है। दूसरे शब्दोंमें क्षुधा, तृष्णा आटिकी वेदना होनेपर कर्मोंकी निर्जराके लिये उसे सहन करना 'परीपह' है। 'परीपह' मुख्यतया बाईंस प्रकारका है—क्षुधा, तृष्णा, शैत्य, उष्णता, दंश-मशक, नग्नता, अरति, खी-कामना, चर्या, निषथा,

शय्या, आकोश, वध (हिंसा), याचना, अलाभ, रोग तृष्णास्पर्श (तृणदंश), मल, सत्कार-पुरस्कार-कामना, ज्ञानवरणके सद्वायमें प्रज्ञा, अज्ञान और अदर्शन (अशुभ दर्शन)। इन परीष्ठोंको सहन करनेवाले मोक्षमार्गके पथिकोंका अपने मार्गसे स्वल्पन या व्युति नहीं होती।

लोकरुद्धिकी दृष्टिसे गुमोपयोग ही चारित्रिका पर्याय है। 'व्रतविधानसंग्रह'-(पृ० ५९)में वताया गया है कि चारित्रिगुद्धिके लिये मनुष्यको चाहिये कि वह—'ओं ह्रीं असि आ उ सा चारित्र शुद्धिव्रतेभ्यो नमः' इस मन्त्रका अधिकाधिक जप करे।

जैनदृष्टिसे चारित्रमीमांसाकी सारभूत वातोंमें विशेष विचारणीय तथ्य ये हैं कि जीवनमें कौन-कौन-सी प्रवृत्तियाँ हेय हैं, इनका मूल बीज क्या है तथा हेय प्रवृत्तियोंको अङ्गीकार करनेवालोंके जीवनकी परिणति क्या होती है, हेय प्रवृत्तियोंका त्याग शक्य हो तो वह किन उपायोंसे सम्भव है, हेय प्रवृत्तियोंके स्थानपर किस प्रकारकी प्रवृत्तियाँ अङ्गीकार की जायें और उनका जीवनमें क्या परिणाम आता है? चारित्रिगत ये सब विचार जैनदर्शनकी सर्वथा अलग परिभाषा और साम्प्रदायिक पद्धतिके कारण आपाततः किसी भी अन्य दर्शनसे साम्य नहीं रखते। पर वौद्ध, सांख्य एवं योग-दर्शनके सूक्ष्म अन्येताको यह ज्ञात हो जाता है कि जैन चारित्रमीमांसाका विषय चारित्रप्रधान उक्त तीनो दर्शनोंके साथ थोड़ा-बहुत एवं अद्भुत रूपसे साम्य रखता है।

चारित्रशीलकी विजय

आन्तेन्द्रियेण दान्तेन शुचिनाचापलेन वै। अदुर्वलेन धीरेण नोत्तरोत्तरवादिना ॥
अलुधेनानृशंसेन ऋजुना ब्रह्मवादिना। चारित्रतन्परेणैव सर्वभूतहितात्मना ॥
अस्यः पद्म विजेतव्या नित्यं स्वं देहमाश्रिताः। मानक्रोधौ च लोभश्च मानमोहौ मदस्तथा ॥

'चारित्र निर्माताको चाहिये कि संयतेन्द्रिय, मनोनिष्ठही, पवित्र, चञ्चलनारहित, सबल, धैर्यशील, निरन्तर वाद-विवाद न अरनेवाला, लोभहीन, दयालु, बहुवादी, सदाचार-प्रायण और सर्वभूतहितैपी वनकर सदा अपने ही शरीरमें रहनेवाले काम, क्रोध, लोभ, मान, मोह और मद—इन छः शत्रुओंको अवश्य जीते।'

जैन-आगमोंमें चरित्र-निर्माणके मूल

(लेखक—मुनि श्रीसुमेगमलनी)

चरित्र शब्द व्यक्तित्वकी आन्तरिक बनावटके अर्थमें प्रयुक्त होता है। जिससे व्यक्तित्वका निर्माण हो, उसे चरित्र कहा जाता है। चरित्रकी मित्तिपर ही अत्यागका भव्य भवन घटा किया जा सकता है। चरित्रहीन व्यक्ति अध्यात्मका रसायनादन करी नहीं कर सकता।

जैन-आगमोंमें चरित्र-ममवन्धी मूल व्यापकत्वपरमें प्राप्त होते हैं। सभी धर्म चरित्रप्रधान हैं। एक दृष्टिसे धर्म ही चरित्र है और चरित्र धर्म है। धर्मकी व्याख्या करते हुए जैन आचार्योंने कहा है—‘आत्मशुद्धिसाधनं धर्मः’—जिससे आत्माकी शुद्धि होती हो, परग तत्त्वकी अनुभूति होती हो, उसे धर्म कहा जाता है। चरित्रको भी आन्तरिक व्यक्तित्वके निर्माणमें साधनभूत तत्त्व कहा जाता है। नाग-भेदके मिश्र परिणामप्रायः दोनोंके रामान हैं।

चरित्रका व्यावहारिक जीवनपर भी व्यापक प्रभाव पड़ता है। ‘चरित्र’ शब्द धर्म और नीतिके क्षेत्रमें प्रयुक्त होता रहा है। नीतिकाका तात्पर्य आज सच्चे-स्वप्नसे चरित्र ही हो रहा है।

जैन आगम-ग्रन्थोंमें चरित्र-योग्यक वचन वहनेरे हैं। प्रायः ऐसे ही वचनोंपर विचार प्रस्तुत करना ही इस निवन्धका विषय है। ‘उत्तराभ्ययन’ मूलके वीमये अभ्ययनमें आया है कि अहिंसा—विचार, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, आपरिह—इन पाँचोंका अनुशीलन जीवनके लिये जरूरी है। इन्हे यम-नियम कहे या महाव्रत कहे—ये व्यक्तित्व-निर्माणके सहायक मूल हैं। जैन-आगमोंमें अहिंसाको ‘जगन्हितकारिणी’ और सत्यको ‘भगवान्’ वतलाया गया है। ‘उपासकदशाङ्ग’ तथा आवश्यक मूलोंमें गृहस्थ-जीवनमें धर्म करनेवाले व्यक्तिका चरित्र कैसा होना चाहिये—इसका विशद विवेचन शास्त्रकारोंने किया है। चरित्रको लेकर अधिक

नियम और उसके अतिचार भी वतलाये हैं। भगवान् महावीरका कथन था कि गृहस्थ-जीवन चरित्रयुक्त होनेसे ही धार्मिक बनाया जा सकता है। चरित्रके लिये क्षमा, सत्य, मनोप, शील, करुणा, धैर्य, मौहार्द, आदि गुणोंकी अनिवार्यता है। इन गुणोंके आत्मावधानका ही नाम चरित्र है। इन अहिंसा आदि पाँच अणुवतोंके अनुशीलनसे महागुणोंको अपने मानिर जगाया जा सकता है।

भगवान् महावीरने गृहस्थ-जीवनमें रहनेवाले लोगोंके लिये कुछ अतिचार भी वतलाये हैं, अर्थात् जिन्हे करनेसे गृहस्थके धर्मन्युत होनेकी सम्भावना बन जाती है। ये अतिचार गृहस्थके लिये अनाचरणीय हैं। इनसे धार्मिक जीवन धूमिल हो जाता है, व्यक्तिका चरित्रवल दृष्टने लगता है। ये अतिचार इस प्रकार हैं।

कूरतासे सम्बन्धित अकरणीय अनाचार—

१—अपने आश्रित प्राणियोंका—नौकर-चाकर अथवा पशुओंका—क्रोध या लोभके वशीभूत होकर भोजन या पानी बन्द कर देना।

२—किसी भी प्राणीपर क्रोध या लोभके वशीभूत होकर लाठी अथवा अस आदिसे कठोर प्रहार करना।

३—किसी भी प्राणीका क्रोध या लोभके वशीभूत होकर अझ्छेद करना या टाग देना अर्थात् तम लौह-शलाकासे शरीरको टागना।

४—किसी भी प्राणीको लोभ या क्रोधके वशीभूत होकर कठोर बन्धनसे बौधना।

५—किसी भी प्राणीपर क्रोध या लोभके वशीभूत होकर उनकी भगतासे अधिक गार लाडना।

असत्यसे सम्बन्धित अकरणीय अतिचार—

१—विना विचारे किसीपर मिथ्यारोप (कलङ्क) लगाना।

२—किसीकी गुप्त वातको प्रकट करना ।
३—पति-पत्नीमें भेद डालनेके लिये एक-दूसरेकी
गुप्त वात एक-दूसरेमें कहना ।

४—एक-दूसरेको लडानेके लिये मिथ्या उपदेश देना ।
५—झूठा लेख—सौ रुपये देकर हजार लिख लेना
अथवा मिथ्या साक्षी देना ।

अस्तेय कर्मसे सम्बन्धित अकरणीय अतिचार—

१—चुराई हुई वस्तुको खरीदना ।

२—चोरको चोरी करनेमें महयोग देना । चोरको
चोरीके लिये मन्त्रणा देना, उसे आवश्यक सामग्री देना
अथवा चोरको प्रश्नय देना ।

३—राघ्यके नियमोंके विरुद्ध कार्य करना, गज्य-
निपिद्ध वस्तुओंका आयात-निर्यात करना ।

४—कम तौल-माप करना ।

५—वस्तुओंमें मिलावट करके बेचना ।

ब्रह्मचर्यसे सम्बद्ध अकरणीय अतिचार—

१—परखीके साथ एक कमरे-(कक्ष)-में शयन करना ।

२—पर-खीके साथ एकान्तमें आलाप-संलाप करना ।

३—खियोके अङ्ग-प्रथ्यङ्गोको चेष्टापूर्वक देखना ।

४—वासनावर्धक आहार करना ।

५—भुक्त भोगोंका वार-वार स्मरण करना ।

परिग्रहसे सम्बद्ध अकरणीय अतिचार—

१—धन-धान्य-संग्रहकी निर्धारित सीमाका अति-
क्रमण बरना ।

२—अेत्र, मकान, दुकान आदिकी निर्धारित सीमाका
अतिक्रमण करना ।

३—गृहोपयोगी वस्तुओंकी निर्धारित सीमाका अति-
क्रमण करना ।

४—नौकर-चाकर तथा पशुओंके बारेमें बनायी गयी
मर्यादाओंका उल्लङ्घन करना ।

५—सुवर्ण, चाँदी आदिके संग्रह निर्धारित सीमाका
अतिक्रमण करना ।

इनके अतिरिक्त प्राचीन धर्मग्रन्थोंमें चरित्रकी रक्षाके
लिये सात दुर्व्यमनोंका त्याग करना अनिवार्य बतलाया
है । ये सात दुर्व्यसन इस प्रकार हैं—

वृत्तं च मांसं मदिरा च वेश्या-
मृगयार्थनौर्थं परदारसेवा ।

पतानि सप्त व्यसनानि लोके
घोरातिघोरं नरकं नयनि ॥

अर्थात्—१—जुआ, २—मांस, ३—शराब, ४—वेश्या-
गमन, ५—शिकारखेलना, ६—चोरी, ७—परखी-गमन—ये
लोकमें सात व्यसन हैं । इन सबसे घोरातिघोर नरक प्राप्त
होता है । परंतु जो इनमें बच कर रहता है, वह चरित्रिका
अनुशीलन कर अन्यान्यका विकास करता है । मानवीय
दुर्बलताओंपर विजय प्राप्त करा चरित्रशील बना व्यक्ति ही
समाज और राष्ट्रके लिये उपयोगी हो सकता है । अतः
मानवीय दुर्बलताओंपर विजय प्राप्त करनेके लिये
सतर्कतासहित साधनाकी नितान्त अपेक्षा है । तभी चरित्रिका
निर्माण सौषुप्ति और सरलतासे सम्भव है ।

चरित्रशील सुपुत्र

उत्र सुपुत्र वही जो करता, नित्य पिता-माताका मान ।
तन-मन-धनसे सेवा करता, सहज सदा करना सुख-दान ॥
भगवद्भक्त, जितेन्द्रिय, त्यागी, कुशल, शान्त, सद्जन, धीमान् ।
जानि-कुदुम्य-स्वजन-जन-सेवक, भृत-मित हित-वादी, धिद्वान् ॥
धर्मशील, तपनिष्ठ, मनस्वी, मितव्यी, दाता, धृतिमान् ।
पुत्र वही होता कुल-तारक, फैलाना कुलकीर्ति महान् ॥

चरित्रकी परिभाषा

(लेखक—श्रीपरिणार्णनन्दजी चर्मा)

चरित्रकी परिभाषा करते समय मुझे फ्रांसके प्रसिद्ध संत वर्नड (१० सन् १०९१—११५३)की वह उक्ति स्मरण हो आती है, जिसमें उन्होंने कहा था—‘दूसरोंके चरित्रका चित्रण करनेवाला व्यक्ति अपने ही चरित्रका चित्रण करता है।’ निश्चयतः इसका अर्थ यही हुआ कि हम अपने चरित्रसे दूसरेका चरित्र आँकते हैं। पर यह कितनी बड़ी भूल है। अपने जीवनमें, जबतक सौभाग्यसे किसी साधु-संतकी छाया या छाप न पड़ जाय, तबतक हम अपने चरित्रसे बुरी तरह जकड़े हुए हैं। पहाड़ अपनी जगहसे भले हठ जाय, पर व्यक्तिका चरित्र बदलना बड़ा कठिन है।

‘चरित्र’ क्या है? ‘चरित्र’ वैदिक शब्द नहीं है। इसका सूचक प्राचीन शब्द ‘आचार’ ही है। इस पुँलिङ्गीय शब्दका प्राचीन प्रयोग सद्व्यवहार या व्यवहारके अर्थमें होता था। याज्ञवल्क्य, मनु, व्यास आदिने इसका इसी अर्थमें प्रयोग किया है। बौद्धोंने ‘आचार’का अर्थ किया है—‘गुरुद्वारा प्राप्त उपदेशसे सहमत होना।’

ऐसे तो आचार शब्द (आड्+चर्+घञ्)का अर्थ है ‘व्यवहार, चरित्र, शील, विचार इत्यादि। कालिदासने रघुवंशमें (२। १०) इसका प्रयोग किया है—‘आचारलज्जैरिव पौरकन्याः।’ ‘व्यवहार-तत्त्वमें प्रयोग है—‘आचारेणावसन्नोऽपि।’ हाँ, कथासरित्सागरमें चरित्र शब्दका प्रयोग मिलता है—

‘अचिन्त्यं शीलगुप्तानां चरित्रं कुलयोगिताम्।’

इस प्रकार चरित्र और आचार एक ही हैं। आचारका भारतीय धर्मशास्त्रोंमें बड़ा महत्व है। मनुस्मृति- (१। १०९) के अनुसार आत्मानुभूति-जन्य वस्तु आचार है, जिसका पालन करना चाहिये। आचारसे ही धर्मकी उत्पत्ति है—‘आचारप्रभवो धर्मः।’ एक पक्ष कहता है कि श्रुति और स्मृतिके बाद आचारका जीवनमें

तीसरा स्थान है। दूसरा पक्ष कहता है कि लोकसंप्रहर्में आचारका प्रथम स्थान है, द्वितीय व्यवहारका और तृतीय प्रायश्चित्तका। याज्ञवल्क्यने अपनी स्मृतिके इसी प्रकारसे तीन विभाग बनाये हैं।

याज्ञवल्क्यके अनुसार मानव-जीवनकी कार्यप्रणाली आचारमें भी प्रथम स्थानका संरक्षकार है। फिर वेदपाठी ब्रह्मचारियोंके चरित्रके नियम, पठन-पाठन समाप्त होनेपर विवाह तथा पति-पत्नीके कर्तव्य, चारों व्रणोंके कर्तव्य, गृहपतिमें कर्तव्य, विद्यार्थी-जीवनके समाप्तिके बाद कुछ पालनीय नियम, उचित पवित्र भोजन करना तथा निपिद्ध भोजन न करना, वस्तुओंकी धार्मिक पवित्रता, श्राद्ध, गणपतिपूजन, ग्रहोंकी शान्ति कैसे की जाय तथा राजाके कर्तव्य ये उसके बारह आचार प्रकरण हैं। यदि हम अपनेको चरित्रवाला कहते हैं तो अपने भीतर पैठकर सोचें कि हम इनमेंसे कितना पालन करते हैं। हाँ, जो लोग प्राचीन शास्त्रकारोंको मूर्ख समझते हैं, श्राद्ध आदिको पागलपन समझते हैं, गुरुजनोंका आदर एक ढकोसला समझते हैं, उनके लिये ये पङ्कियाँ व्यर्थ हैं।

ऊपर बतलाया जा चुका है कि वर्षा चारोंके अनुसार श्रुति, स्मृति तथा आचार—ये चरित्रकी तीन श्रेणियाँ हैं। श्रुति तो बेड हुए। इनकी जानकारी बिना जीवन निरर्थक है। स्मृतिके अनुसार आचारके तीन अङ्ग हैं—१—देशाचार, २—जात्याचार और ३—कुलाचार। प्रत्येक मानव इनसे बँवा है। हरेक देशकी अपनी जातिगत आचारशीलता भी होती है; जैसे ऐस्किमो जाति (उत्तरी साइबेरियाके निवासी) के एक वर्गमे—घरमें जो बूढ़ा अशक्त हो जाता है, उसे घरसे निकाल देते हैं। पड़ोसी भी नहीं पूछता और भूख-प्याससे पुरुष-स्त्री मर जाते हैं। आज जो घरसे निकाल रहे हैं, कल उनकी भी यही दशा होगी। भारतमें वृद्धजनोंकी सेवा पावन कर्तव्य

है। तीसरा है—कुलाचार। अपने कुलमें जो आचार चला आया हो, उसका पालन करना। इस प्रकार आचारका अर्थ व्यवहार हुआ। इनका पालन न करना चरित्रसे गिर जाना कहा जायगा।

आचारके कुछ मौलिक नियम हैं, जो सभी धर्मोंमें व्याप्त हैं। इदूर्धमने स्पष्ट कुछ मौलिक तत्त्व कह दिये; जैसे—

'अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः'

अहिंसा-त्रैत, सत्यका पालन, किसीका माल न हड्डय लेना, पवित्रतासे रहना तथा अपनी इन्द्रियोंको वशमें रखना इत्यादि। बोहोने भी 'सत्यं वद, धर्मं चर' आदि कहा है। जैन धर्मने भी आचरणके महत्वपूर्ण सिद्धान्त प्रतिगादित किये हैं। उन्हे लोक-व्यवहारके रूपमें कहा है—जैसे क्रोधसे प्रीति नष्ट होती है। अभिमानसे विनयशीलता जाती रहती है। मायामे पड़ा तो मित्रता नष्ट हुई और लोभ सब कुछ नष्ट कर देता है।'

आचार हो या चरित्र, इनके साथ विशेषण नहीं होता। आचार, चरित्र स्वयं विशेषण है। अंग्रेजीमें चरित्रवान् पुरुषके लिये कहते हैं, 'ही इज ऐ मैन ऑव करेक्टर।' जिसका चरित्र गिर जाता है, उसे प्रकट करनेके लिये 'दुश्चरित्र' शब्द बना लिया गया है। अंग्रेजीमें इसका पर्यायवाची एक शब्द भी नहीं है। बुराके लिये 'बैड' शब्द जोड़ दते हैं। आचार या चरित्रके साथ 'सदाचार' या 'सचरित्र', लगानेकी आवश्यकता ही नहीं है।

धर्म-सदाचार और चरित्र—'वर्म'की पहली परिभाषा जैमिनिके सूत्रमें 'मिलती है। उसकी व्याख्या कुमारिल भट्ठने तत्त्रवार्तिकमें की है। 'सदाचार' शब्दका प्रयोग यज्ञवल्क्यस्मृतिमें है—

श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।

सम्यक् संकल्पजः कामो धर्ममूलमिदं स्मृतम्॥

(१।७)

'तत्त्रवार्तिक'में इसका स्पष्ट अर्थ समझाया गया है। श्रुतिके विरुद्ध काम न करना, उनके अनुसार

काम करना, धर्मको समझना तथा इनका पालन किसी कामनासे नहीं, फलकी आकाङ्क्षासे नहीं, पर अपना कर्तव्य समझकर करना, स्वेच्छासे पालन करना—इस प्रकार आचारका पालन करनेवाला शिष्ट कहलायेगा। परम्परागत आचार (देशाचार, जात्याचार जो भी हो) पालन करनेवालेके लिये कुमारिल भट्ठकी सम्मति है—

'यत् परम्पराप्राप्तमन्यदपि धर्मव्युद्धया कुर्वन्ति तदपि स्वर्गर्थत्वाद्धर्मरूपमेव।' (तत्त्रवार्तिक)

धर्मके अतिरिक्त 'परम्परागत (पीड़ी-दर-पीड़ीसे)' प्राप्त प्रथाओंका शिष्टेद्वारा इस बुद्धिसे पालन किया जाना कि वे धर्मके अन्त हैं, वास्तवमें धर्म है, समर्पित है। इससे स्वर्गकी प्राप्ति होती है।'

सदाचारको धर्मसूत्रोंके अनुसार शील, समयाचारिक तथा शिष्टाचार भी कहा गया है। शिष्टाचारका पालन करनेवाला शिष्ट हुआ। आजकल हमलोग शिष्टाचारको केवल व्यावहारिक विनम्रता मानते हैं। समयाचारिकताकी परिभाषा 'आपस्तम्ब-धर्मसूत्रमें निर्दिष्ट है। यहों हरदत्तके (१।१।१) अनुसार—पौरुषेयी व्यवस्थाको 'समय' कहते हैं। इसके तीन प्रकार हैं। वे हैं—(१) विधि, (२) नियम तथा (३) प्रतिपेध। इन तीन प्रकारके आचारोंका पालन 'समय' होता है, इसलिये समयमें उत्पन्न होनेके कारण वे 'समयाचारिक' कहलाते हैं। अर्थात् इस प्रकारके उत्पन्न हुए धर्म-कर्मसे उत्पन्न अभ्युदयनिःश्रेयसका कारण अपूर्व नामक आत्माका गुण धर्म है।'

'पौरुषेयी व्यवस्था समयः। स च विविधः। विधिर्नियमः प्रतिपेध इति। समयमूला आचाराः समयाचाराः। तेषु भवाः सामयाचारिकाः। एवं भूतान् धर्मान्विति कर्मजन्योऽभ्युदयनिःश्रेयसहेतुर्पूर्वाख्य आत्मगुणो धर्मः।'

किंतु देशाचार, जात्याचार तथा कुलाचार—ये देश, काल तथा जातिके अनुसार भिन्न हो सकते हैं। नव

यदि वे रमृति और शास्त्रके विशुद्ध हों, तब भी उनका पालन करना चाहिये। इस सम्बन्धमें स्मृतिकारोंमें मतभेद है। एक पञ्चका कहना है कि चिरकालसे चला आनेवाला और अविकांशको मात्य आचारका पालन धर्म-विशुद्ध नहीं समझना चाहिये। पर आचार्य बृहदरपनिका मत है कि ऐसे आचारके पालनमें लोग प्रायधित्त या दण्डके भागी नहीं होते—‘अनेन कर्मणा नैति प्रायधित्त-दण्डार्हकाः’

मनुने आचार तथा शीलमें बेट किया है। शील नैतिक गुण है। शीलवान् वह है, जिसमें नैतिक गुण हो। हमलोग शीलवान् अच्छका प्रयोग केवल विनम्र पुरुषके लिये करने हैं। मनु आदिकी पर्वामारक अनुसार विद्याध्रम, देवमत्ति, पितृमत्ति आदि नैतिक गुण है। जो इनका पालन करता हो, वह शीलवान् है, शीलयुक्त है। अब गहा आचार। वह परम्परागत होता है। आचार भारतीय-परम्परामें सत्य, अहिंसा, अस्तेय आदि हैं। इनका पालन न करना आचार या चारित्रहीनता होगी। आचारवाला शिष्ट ही शिष्टाचारी हुआ। शिष्टकी व्याख्या ‘वसिष्ठधर्मसूत्रमें’ की गयी है। उसके अनुमार मार्य-युक्त कामनाथोंमें रहित व्यक्ति ही शिष्ट है—‘शिष्टः पुनरक्तामन्मा।’

आचार धर्मका अङ्ग है, वह निर्विवाद है। हमारे धर्मके गूढ़में बेद है। गातम-वस्त्रमूलमें स्पष्ट कहा गया है कि—‘वेदाऽखिलो धर्ममूलम्।’ (१।१)

किन्तु धर्म क्या है, यह प्रश्न मी उचित है। मनु तथा याज्ञवल्क्यने बतलाया है कि ‘श्रुति, स्मृति, सदाचार और आत्माको प्रिय, यह चार प्रकारका साक्षत धर्मका लक्षण कहा गया है’—

श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः स्वम्य च प्रियमात्मतः।

एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद् धर्मस्य लक्षणम्॥

(मनु० २।२, याज्ञव० १।७)

शङ्का होगी कि अपनेको, अपनी आत्माको प्रिय लगानेवार्ता वाल यदि आचार है तो हत्या करना या चोरी

करना जिसे प्रिय हो, वह मदाचारी है। पर आत्माको हत्या या चोरी प्रिय नहीं हो सकती। उसे तुकम अच्छा लगे, वह आमतत्वको न जाननेवाला ही कहेगा। आत्माको अनुचित वस्तु प्रिय हो नहीं सकती। एक भक्त कहता है—

‘देहयुद्धया तु दासोऽस्मि जीवयुद्धया व्यदंगकः।
आत्मयुद्धया च मेवाहमिति मे निश्चिना मनिः ॥

अर्थात्—‘शारीरकी दण्डिमें प्रमो ! मे आपका दम हूँ। जीवकी दण्डिमें अंश हूँ। अपमार्को ओरमें ममा गया हूँ—आत्मापरमात्मा एक है वही मेरा निश्चिन मन है।’ इन्हीं यदि बुरा वस्तु अपनेको प्रिय है, तो वह केवल मनोविकार है। आत्माको प्रिय नहीं है। प्रश्न हो सकता है कि ‘परम्परागत’ आचार क्या होगा ? मनुने इस ‘सदाचार’को व्याख्या कर दी है। उनके अनुभाव—‘वेदार्दी सुस्वती और दृष्टर्दीके बीचमें जो भूमि-भाग है, वह देवताओंमें बनाया गया ब्रह्मावत् कहलाता है।’ इस देवताके अन्तरालमें जो चारों धर्मोंके गोपका आचार है, वही सदाचार है—

सरस्वतीदृष्टद्वन्द्वे देवतावैर्दन्तरम् ।

तदेव निर्मितं देवं ब्रह्मावर्तं प्रचक्षते ॥

नस्मिन् देवे य आचारः पारम्पर्यक्रमागतः ।

वर्णानां सान्तगालानां सदाचारः न उच्यते ॥

चरित्रका निर्णय—ब्रह्मावर्तके रहनेवालोंका चरित्र तथा रहन-सुहनका पूरा व्यंगा हमें इतिहास-पुराणों नया स्मृतियोंमें मिलता है। भागवत, पद्मपुराण आदिने सदाचारकी व्याख्या कर दी है। फिर जहाँ शङ्का हो वहाँ युधिष्ठिरका यशको दिया गया उत्तर याद रखना चाहिये। यशेन पूछा था कि धर्मका तत्त्व क्या है ? युधिष्ठिरने कहा था कि ‘धर्मका तत्त्व वड़ा गड़ा है। महापुरुष जिस मार्गसे चले वही पथ है।’ यह भी ध्यान रखना होगा कि महापुरुष या साधु-संत संसारके मोहब्बन्धन आदिसे बहुत ऊपर उठ गये हैं। उनके लिये नित्य-

नैमित्तिक कर्मका वन्धन नहीं होता। उन्होने जो कहा है, वह करो। गौतमने अपने धर्मसूत्रमें स्पष्ट किया है कि साधु-मंतके कार्योंका अनुकरण न करो। अस्तु।

जब चरित्रकी परिभाषा उल्लिखी मालूम पड़े तो सावृग्नतों तथा विद्वानोंकी बाते सुनकर अपना चरित्र उसी ढंगसे बदला ही हमारे कल्याणके लिये आवश्यक है। तैत्तिरीय उपनिषद्‌का वाक्य है—‘अथ ते यदि कर्म-चिचिकित्सा स्यात्। ते तत्र व्राह्मणाः समर्पितिः... अलूक्षाः स्युः। यथा ते तत्र वर्तेन्न, तथा तत्र वर्तेन्नः।’ (१।१२)

कवीरके अनुसार दूसरेकी पीड़कों जानेवाले, उसे हरनेका प्रयास करनेवाले असली साधु हैं और इसके विपरीतवाले चिर्वर्मी—

कविरा स्मौर्द्धं पीर है, जो जाने पर पीर।
जो पर पीर न जानर्द्धं, मो काफिर बे पीर॥

तीर्थकर महावीरने कहा था कि जीवोंकी रक्षा करना ही धर्म है—‘जीवणां रक्षणं धर्मो’। एक महावाक्य है कि साधु वह है, जो दूसरेकी सम्पत्ति या वैभवको देखकर प्रसन्न हो तथा दुष्ट वह है, जो दूसरोंकी विपत्ति देखकर प्रसन्न हो—

‘साधवः परसम्पत्तौ खलाः परविपत्तिपु।’

जोशिया लिट्टल पिकार्ड नामक एक अमेरिकन शिक्षकने (जन्म १८२४) लिखा था कि ‘यह बड़ी बातक भूल होगी कि यदि हम यह सोचे कि बिना धार्मिकताके चरित्र बन सकता है। चरित्र-निर्माणके लिये अनिवार्य तत्त्व है—धर्म, नैतिकता तथा ज्ञान। पिकार्डके ही समकालीन थे—अमेरिकन अम्रेजी अध्यापक अस्टिन फेल्पस। उन्होने लिखा है कि ईश्वरने मानवकी रचना इसलिये की कि वह महान् चरित्रवान् बने। प्रसिद्ध लेखक एमर्सनके अनुसार चरित्र द्युद्विसे कहीं अधिक महान् है। अमेरिकन पादरी हेनरी

बार्ड बीचरने (१११८-१८८७) बड़े महत्त्वकी बात कही है कि ‘ओई व्यक्ति जीवनभर सफल हो सकता है, पर मरनेके समय वह विल्कुल खोगवा तथा निकम्मा होगा। एक व्यक्ति जीवनभर असफल और पराजित हो सकता है, पर मरनेके समय वह अपने अन्तरमें साम्राज्यका खामी होगा। मनुष्यकी सम्पत्ति, वैभव, शक्ति, उसके भवन, धन, समाजमें आदरके पदमें नहीं हैं, ये सब वास्तवमें उसके भीतर हैं जो उसका तात्त्विक चरित्र ह, अच्छा चरित्र है। यदि उसे अच्छा धर्म-पुरुष बनना है तो वह अपने भीतर उच्चतम चरित्रका राजा बने।’

आस्टन ओ मेलीने लिखा था कि अच्छा चरित्र एक फुटवालकी तरह है। जितना ऊचं फेंको, जमीनपर गिरकर उतना ही ऊपर उछलेगा। पर लैंकिक मान-मर्यादा एक अंडेकी तरह है। उसे जितना ऊपर फेंको, जमीनपर गिरते ही उतना ही जल्दी नष्ट हो जायगा। राष्ट्रपति रूजेवेल्टकी पत्नीने कहा था कि ‘चरित्रका निर्माण जन्मसे शुरू होकर मृत्युतक होता रहता है।’ जेफरसेन डेविसके अनुसार यदि युरु जवानीमें ही मर्यादा, मच्चाईको अपने चरित्रका आधार नहीं बना दिया गया तो गान्धके चरित्रमें सदा कमजोरी रहेगी। डेविसने यह बात आजके सौ वर्ष पहले कही थी। यियोडोर उलजेने (१८०२-१८८९) लिखा है कि यह संसार धनसे नहीं, चरित्रमें शासित होता है। नैतिकता और दुद्धिमत्ता दोनों मिलकर संसारका उद्घवत्तम चरित्र बनाने हैं।

पहले लिखा जा चुका है कि आचारमें परम्परागत व्यवहार भी आते हैं। तन्त्रवार्त्तिकके अनुसार एव दृहस्पति तथा नारदसूत्रिके अनुसार यदि जात्याचार अथवा लोकाचारके प्रतिकूल पड़े—शास्त्र-विधिसे विरोध होता हो

तो सच्चित्रिताकी ओर पहले ध्यान देना पड़ेगा। आपस्तम्भने इसे स्पष्ट कर दिया है कि धर्मशास्त्रमें सभी वाते नहीं आ सकतीं—ऐसा कुछ शास्त्रकारोंका मत है। अतएव जो आचार नहीं आ सका है, उसकी जानकारी सभी वर्णोंके स्त्री-पुरुषोंसे करनी चाहिये। कौटल्यका मत है कि जहाँ छोकाचार और धर्मशास्त्रमें भेद प्रतीत हो, वहाँ राजा 'धर्मके अनुसार' निर्णय करे। आचरणके निर्णयमें पूरा तर्क तथा बुद्धिसे काम लेना पड़ेगा, अन्यथा अनर्थ हो सकता है; जैसा अपराकर्म माण्डव्यका उदाहरण है कि उसे अनायास चोर समझ लिया गया था।

आचार अथवा चरित्रसे गिर जानेवालेको प्रायश्चित्त करनेका विधान—गौतम, बौधायन, आपस्तम्भ, वसिष्ठ आदिकी स्मृतियोंमें अथवा विष्णुपुराणमें विस्तारसे मिलता है। गौतम-धर्मसूत्र २५०० वर्ष पुराना माना जाता है। भवदेवभट्टका 'प्रायश्चित्त प्रकरण' या आधुनिक कालमें बंगालमें स्मार्त काशीनाय तकालिंकारका 'प्रायश्चित्त-व्यवस्था-संग्रह' (सन् १८५२ में प्रकाशित) बहुत ही महत्वके मिन्दन हैं। प्रायश्चित्तकी व्याख्या भी भिन्न-भिन्न है। मेधातिथि इसे रूढिके अनुसार नैमित्तिक कार्य मानते हैं। आङ्गिरसके अनुसार 'प्रायस्'का अर्थ तपःसाधना तथा 'चित्त'का अर्थ निश्चय होता है—

प्रायो नाम तपः प्रोक्तं चित्तं निश्चयमुच्यते।
तपो निश्चय संयुक्तं प्रायश्चित्तमिति स्मृतम्॥

सारांश यह कि चरित्रसे गिरनेवालेको निश्चय प्रायश्चित्त करना चाहिये। हम सब गृहस्थोंके लिये अपने धर्मका मूल लक्ष्य याद रखना होगा। महाभारतने धर्मको जीवनका विधान माना है। जो समाजको एक साथ रखे वह धर्म है—

'धारणाद् धर्ममित्यादुः धर्मो धारयते प्रजाः ।'
(महा० ८ । ६९ । ५०)

शान्तिपर्वमें भीष्मने कहा है कि जो कार्य समाजके कल्याणके विपरीत हो और जिसे करनेमें लज्जा या ग्लानिका आभास होता हो, वह कदापि न करे। महाभारत ही यह भी कहता है कि 'सत्य, आत्मसंयम, तपश्चर्या, उदारता, अहिंसा तथा अपने धर्म-(आचरण-)में स्थिरता सफलताके (जीवनमें) साधन है, न कि जाति या कुल (महा० ३ । १८१ । ८२)। हमारे लिये चरित्र, सदाचार, आचारके लिये यही मूल मन्त्र है और हमारे-जैसे मायामोहसे जकड़े हुए लोगोंको तो यह भी याद नहीं रहता कि मृत्यु सामने खड़ी है—

लोग बात बात में करते हैं कल की बात।
कल हो भी सकेगा यह किसी को खबर नहीं—
—राय जैनपुरी

जापानके वर्तमान प्रसिद्ध कवि रासेत्सु लिखते हैं—

हितो हा चिरु तोत्सु हितो हा चिरु
काजे नो उ ए ।

यानी 'एक पत्ता झरता है, एक और पत्ता झरता है हवासे। वृक्षके पत्ते एकके बाद दूसरे झड़ते चले जाते हैं। क्या इसी प्रकार काल भी एक-एक कर हर प्राणीको संसार-वृक्षसे बटोरकर नहीं ले जाता ?'

अस्तु, अपने जीवनका पत्ता झरनेके पहले यदि हम इतना ही कर सके कि 'दूसरेको दुःख न दें, दुष्टके सामने झुकें नहीं, सत्यका मार्ग छोड़े नहीं, यदि इतना थोड़ा भी कर लिया तो बहुत है।'

अकृत्वा परसंतापमगत्या खलमन्दिरम् ।
अनुत्सृज्य सतां वर्त्म यत्स्वत्पमिति तद् वहु ।
(चाणक्यराज० शा० पद० ११२३)

चरित्र-लक्षण एवं परिभाषा

(लेखक—प्रो० डॉ० रेवतीरमणजी पाण्डेय, डी० फिल०)

कुछ लोग व्यक्तिमे रहनेवाले आचरण और उसके सम्पूर्ण कुख्यरूप या गुणसमुदायको समेटकर बोले जानेवाले व्यक्तित्वको एक समझते हैं, किंतु चरित्र एवं व्यक्तित्व एकार्थक नहीं हैं। ठोनोमे पर्याप्त भेद है। चरित्रके अन्तर्गत मात्र ऐच्छिक क्रियाएँ एवं स्वभावजन्य क्रियाएँ आती हैं, जबकि व्यक्तित्वके अन्तर्गत ऐच्छिक, अनैच्छिक सभी क्रियाएँ, मावनाएँ, संवेग एवं सभी प्रकारकी ज्ञान-क्रियाओंका समावेश हैं। व्यक्तित्वके निर्माणमे परिवेश एवं वंशानुक्रमकी महती भूमिका होती है, किंतु चरित्र स्वयंसेव अपना कारण होता है। व्यक्तित्व कार्य-कारण-नियमसे बद्ध है तो चरित्र मुक्त। व्यक्तित्व मनो-विज्ञानका विषय है तो चरित्र नीतिशास्त्रका। इस प्रकार चरित्र ऐच्छिक क्रियाओंकी समष्टि है। जिन व्यक्तियोंमे स्वतन्त्रेच्छाका अभाव होता है, उनमे चरित्र नहीं होता, जैसे पागलोंमे। किंतु उनमे व्यक्तित्व होता है। जिन व्यक्तियोंकी इच्छाशक्ति अत्यधिक विकसित होती है, उनके प्रत्येक कर्म सुविचारित होते हैं; उनमे व्यक्तित्व न होकर चरित्र होता है; जैसे संतोंमे। हमारे यहाँ प्रसिद्ध है—‘सन्तश्चारित्यलक्षणाः।’ साक्षात्कार व्यक्तित्वका होता है, चरित्रका नहीं। व्यक्तित्वका श्रेणीमापन होता है।

चरित्र (Character) एवं आचरण या वृत्त (conduct)मे भी भेद है। चरित्र शब्दकी निष्पत्ति ‘चर्+इत्रै’से होती है, जिसका अर्थ होता है, कर्मका प्रेरक। इसीको (will power) सकल्पशक्ति, इच्छाशक्ति भी कहते हैं। वृत्त शब्दकी निष्पत्ति ‘वृ’ धातु-वत् प्रत्ययसे होती है। हम इसे ‘चयन’ कह सकते हैं। वृत्त या आचरण ही ऐच्छिक कर्म

(conduct) है। ‘वृत्तं यत्नेन संरक्षेत्’ इसीको व्यापकरूपमे कहा गया है।

चरित्र आचरणका अभ्यन्तर पक्ष है तो आचरण चरित्रका बाह्य पक्ष है। आचरण दो प्रकारके होते हैं—सदाचरण (Right Action), दुराचरण (Wrong Action)। सत्कर्मोंको करते-करते जब अभ्यास पड़ जाता है, तब उन्हे सद्गुण (Virtue) कहा जाता है। सद्गुणका कर्ता सद्गुणी कहा जाता है। इसी प्रकार असत्कर्मोंको करते-करते जब अभ्यास पड़ जाता है, तब उसे दुर्गुण (vice) कहते हैं। दुर्गुणोंके कर्ताको दुर्गुणी कहते हैं। सदाचरण करनेवाला सदाचारी और दुराचरण करनेवाला दुराचारी कहा जाता है। सदाचारी चरित्रशील होता है।

भगवद्गीता १६। १के अनुसार, सद्गुण निम्न हैं, इन्हे दैवी सम्पदकी संज्ञा दी गयी है—अभ्य, मन-शुद्धि, ज्ञान और योगमे स्थिति, दान, दया, यज्ञ, स्वाध्याय, तप, ऋग्युता, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग, शान्ति, निष्कपटता, प्राणियोंमे दया, अस्तेय, मृदुता, लज्जा, चचलताका अभाव, तेज, झूमा, धैर्य, शौर्य, अद्वेष, अनभिमान आदि। गीता-(१६। ४)के अनुसार दम्भ, अतिमान, क्रोध, निष्पुरता और अज्ञान ही आसुरी सम्पद है। आसुरी सम्पत्तवाला सदाचारी नहीं होता।

दैवी सम्पद अथवा सद्गुणोंसे मोक्षकी प्राप्ति होती है; जबकि आसुरी संपद अथवा दुर्गुणोंसे बन्धन होता है—

‘दैवी संपद्विमोक्षाय निवन्धायासुरी मता।’
(गीता १६। ५)

१—सगमलाल पाण्डेय, नीतिशास्त्रका सर्वेक्षण, पृ० ७८ २—‘अर्तिल्धूसूखनसहचर इत्रै’से इत्र प्रत्यय होता है।

—(पाणिनिसू० ३। २। १८४)

अन प्रदेश उत्तरा हे विसंगति निष्ठाम् । अस्य नीतिः
ह जयता आनन्दा । गाः हमि इति तो तो नीतिर्वाच
अपेक्षा आनन्दा ही नीतिक निष्ठाम् विद्या तेऽ
नारीये । गम्भीर व्याप्तिं तो कला मात्रा तो एक
ह, अतः गम्भीर व्याप्ति को वर्णना तो एक
मात्रा—ऐसी वस्तु नहीं है । अतः प्रदेश व्याप्ति
वस्तु ये भद्रानन्दा नीति वा वस्तु व्याप्ति वा न
नहीं ह । यह ऐसी वस्तु न होती तो अनीति, व्याप्ति
आदिकार्य न वस्तु पाते । अतः नीतिक निष्ठाम् विद्या
क्लान्तिका आनन्दा ह, न तो नीति ॥

भावनाय परिष्यत्वं नीतिः, विष्टिके, विषय वद्या
हो है—पहले भाव, गति, गत, अनुभव वा कुछ
ही नीतिक निष्ठाम् विषय जला जाता ह । इसी
नीतिका नीतिक निष्ठाम् विद्या ही गत—

न द्यायनेन परित्येन वित्तेन न वन्नुभिः ।
प्राप्यथक्षिते धर्मं योऽनूचातः स तो महान् ॥
(महाभागत ३ । १५ । २२)

‘अ आयुसे’ न त्रुत्यासे, न धनमेन वन्धुन्त्वा तो
धर्मका वान होता है । अस्यायने यही धर्म वन्धया तो
कि जो हमें केवलाही है, तो तो महान् है ॥

वादमे विद्या का केवलतको भी नीतिक निष्ठाम्,
विषय नीति व्याप्ति विद्या गता । कुछ वृत्त-आनन्दा ही
ही नीतिक निष्ठाम् विद्या मात्रा गता । वादमेनसे
अनुमोदनवाक्य ह—

‘वृत्तेन भवत्यार्थः न धनेन न विषया ॥
थौर भी—

नुजं यत्तेन सरथेद् वित्तमेति च याति च ।
श्रीणो वित्ततः श्रीणो वृत्ततरु होतो एतः ॥

गहभारतमे वृत्त या शीघ्र वृहत् कर दिया गया
है । श्रीठ ऐश्विक कर्मके आनन्दा पश्च एवं गाद पश्च
दोनोंका भमन्नय करता है । इस प्रकार यह श्रीणो एवं
कर्म दोनों हैं । यह चरित्र एवं वृत्त दोनोंका गोल है ।

प्राप्यथक्षिते धर्मं विद्या ॥ ३ । २५ । २३ ॥ तो यह
दृष्ट व्याप्ति विद्या व्याप्ति विद्या ही नीति विष्टिक
वा विष्टिक विद्या है, वृत्त विद्या है, विष्टिक
विद्या है, वृत्त विद्या है ॥ २५ ॥

उपायात्मि विष्टिक विद्या ॥ ३ । २६ ॥
अपि धर्मे च धर्मसं विष्टिक विद्या ॥

तोऽपि विष्टिक विद्या ॥ ३ । २७ ॥ २८ ॥
प्राप्य विष्टिक विद्या ॥ ३ । २९ ॥ ३० ॥
तोऽपि विष्टिक विद्या ॥ ३ । ३१ ॥

धर्मः विष्टिक विद्या वृमं वर्त विद्या विष्टिक विद्या ॥
विष्टिक विद्या विष्टिक विद्या विष्टिक विद्या ॥

तोऽपि विष्टिक विद्या ॥ ३ । ३२ ॥ ३३ ॥
(३३) के अनुसार विष्टिक विद्या ही वृमं वर्त
विष्टिक विद्या है, विष्टिक विद्या है, विष्टिक
विद्या है, विष्टिक विद्या है, विष्टिक विद्या है, विष्टिक
विद्या है, विष्टिक विद्या है ॥ ३३ ॥

विष्टिक विद्या विष्टिक विद्या विष्टिक विद्या ॥
विष्टिक विद्या विष्टिक विद्या विष्टिक विद्या ॥

तोऽपि विष्टिक विद्या विष्टिक विद्या विष्टिक विद्या ॥
विष्टिक विद्या विष्टिक विद्या विष्टिक विद्या ॥
(३४) विष्टिक विद्या विष्टिक विद्या विष्टिक विद्या ॥

विष्टिक विद्या विष्टिक विद्या विष्टिक विद्या ॥
विष्टिक विद्या विष्टिक विद्या विष्टिक विद्या ॥
(३५) विष्टिक विद्या विष्टिक विद्या विष्टिक विद्या ॥

तोऽपि विष्टिक विद्या विष्टिक विद्या विष्टिक विद्या ॥
विष्टिक विद्या विष्टिक विद्या विष्टिक विद्या ॥
(३६) विष्टिक विद्या विष्टिक विद्या विष्टिक विद्या ॥

विष्टिक विद्या विष्टिक विद्या विष्टिक विद्या ॥
विष्टिक विद्या विष्टिक विद्या विष्टिक विद्या ॥
(३७) विष्टिक विद्या विष्टिक विद्या विष्टिक विद्या ॥

विष्टिक विद्या विष्टिक विद्या विष्टिक विद्या ॥
विष्टिक विद्या विष्टिक विद्या विष्टिक विद्या ॥
(३८) विष्टिक विद्या विष्टिक विद्या विष्टिक विद्या ॥

यथा चतुर्भिः कनकः परीक्षयेते
निर्घण्यच्छेदनं तापताडनैः ।
तथा चतुर्भिः पुष्टपः परीक्षयेते
शुतेन शोलेन कुलेन कर्मणा ॥

वाणिक्यका यह निर्णय समझौतावारी लगता है। तार्किक विश्लेषणसे आचरण अथवा वृत्त हा नैतिक निर्णयका विषय हो सकता है।

‘जो शूद्र इन्द्रिय-उमन, सत्य तथा धर्मसे प्रगतिशील हैं, उसको मैं ब्राह्मण मानता हूँ; क्योंकि वृत्तसे ही लोग ब्राह्मण होते हैं—’

यस्तु शूद्रो द्वे सन्ये धर्मे च सततो स्थितः ।
तं ब्राह्मणमहं मन्ये वृत्तेन हि भवेद् द्विजः ॥
(महाभारत ३ । १८ । ७५)

वस्तुतः ये गुण ही शीलका निर्माण करते हैं। कुल आदिसे चरित्रका अविनाभाव सम्बन्ध नहीं है।

वृत्तकी सम्यक् रक्षा करनी चाहिये। अग्रेजीकी कहावत प्रसिद्ध है—धन गया तो मानो कुछ नहीं गया, क्योंकि धन तो आता-जाना रहता है। हाँ, स्वास्थ्य (गिर) गया तो अवश्य कुछ चला गया, किंतु यदि चरित्र या शील नष्ट हो गया तो फिर सब कुछ चला गया—‘वृत्ततस्तु हता हतः ।’

इसलिये धनका अपेक्षा स्वास्थ्यकी ओर उससे भी बढ़कर चरित्रका रक्षा करनी चाहिये। चारित्र्यशाल व्यक्ति शालीन होता है और वह सर्वत्र विजय पाना है। चरित्र स्वयं अनुपम उपलब्धि है।

चरित्र, आचार और धर्म

(लेखक—डॉ० श्रीगणेशार्थजी तिवारी)

हिंदीमें ‘चरित्र’ और ‘आचार’या ‘आचरण’ लगभग समान अर्थमें व्यवहृत होते हैं। लोग कहते हैं—उसका चरित्र अच्छा नहीं है, उसका आचार या आचरण या चरित्र भला नहीं है। अग्रेजी शब्द कैरेक्टर (Character)का पर्याय चरित्र माना जाता है। कैरेक्टरके दो अर्थ हैं—चाल-चलन और पात्र या चरित्र। शेक्सपियरके ‘मर्चेण्ट आफ वेनिस’ नाटकमें शाइलाक एक अनाचारी चरित्र है।

चरित्रका अर्थ आचार, चाल-चलन, कथा-कहानी, जीवन-चरित्र एवं आत्म-चरित्र भी है। ‘महावीरचरितम्’ ‘उत्तर रामचरितम्’ आदिके रूपमें चरित्रका अर्थ कथा, जीवन-चरित्र या इतिहास है। चरित्रका सम्बन्ध मनुष्यके समग्र जीवन एवं व्यवहारसे होता है।

रामचरितमानस गोस्वामीजीका प्रसिद्ध काव्यप्रत्यय है, जिसमें रामके सम्पूर्ण जीवनका व्यापार है।

संस्कृत और हिंदीमें आचार या सदाचार शब्दको अधिक मान्यता प्राप्त हुई है। प्रतिदिन जीवनमें हम मनुष्यके आचारको देखते हैं, आँकने हैं और उम्पर टीका-टिप्पणी करते हैं। चरित्रकी ही तरह आचार भी सदसद-भेदसे दो प्रकारका होता है। व्यक्तिका सद-आचार ही दूसरोंको प्रेरणा देता एवं समाज और राष्ट्रको उठानेमें सहायक सिद्ध होता है।

भारतमें सदाचारको ही वर्म माना गया है। धर्मका अर्थ मजहब, रिट्रिजन (Religion) या सम्प्रदाय नहीं है। मनुस्मृतिका मत है—‘आचारः परमो धर्मः ।’ महाभारतका कथन है—‘आचारः प्रथमो धर्मः ।’ वसिष्ठस्मृतिका भी उद्घोष है—‘परमाचारो हि धर्मः ।’ महाभारतमें व्यासजीने धर्मका लक्षण आचार ही माना है—‘आचारलक्षणो धर्मः ।’

मगवद्गीतामे कहा गया है—

यद्यदाचरति श्रेष्ठः नन्देवेनगो ज्ञनः।
स यत्प्राणं कुरुते लक्ष्मस्तदनुवर्तने॥

(३ । २)

श्रेष्ठ पुरुष जंगा आचरण करता है वैमा ही दूसरे मनुष्य भी करते हैं। श्रेष्ठ पुरुषद्वारा किये कर्म-ममुदायको प्रमाण या उदाहरण मानकर इतर जन पर्छे चक्षते हैं। सदाचार और दुराचारके दो उक्त उदाहरण हैं—
(१) व्रेतायुगीन राम और (२) गवण। राम धर्म या सदाचारके उदाहरण है तो गवण अधर्म या दुराचारका। लङ्घावले रावणका अनुगमन करते थे। रावणके आचारको सामने रखकर जीवनरथवो बढ़ा रहे थे तो अयोध्यावासी रामके सदाचारी जीवनके पीछे चल रहे थे। रामने राज्यका त्याग किया तो भरत क्यो प्रहण करे? विष्णुपुराणमें महर्षि पराशर कहते हैं—

श्रूयतां पृथिवीपाल सदाचारास्य लक्षणम्।
सदाचारवता पुंसा जितौ लोकाद्युभावपि॥

(३ । ११ । २)

साधवः क्षीणदोपास्तु सच्छदः साधुवाचकः।
तेपामाचरणं यत्तु सदाचारः स उच्यते॥

(३ । ११ । ३)

‘सदाचारम् सद् शब्द सज्जन या साधुका वाचक है। मज्जन पुरुषोंका आचरण ही सदाचार है।’ सज्जन या साधु पुरुष कौन है? जो दोपो या त्रुटियोंसे बचकर चलता है। आचारके आधारपर पुरुषोंके दो वर्ग हैं—सदाचारी और कदाचारी। साहित्य, शास्त्र और धार्मिक प्रंयोगमें सदाचारीकी प्रशंसा की गयी है और कदाचारीय दुराचारीकी निंदा। मनुस्मृतिमें कहा गया है कि धर्म कोई पुरुष सब प्रकारके लक्षणांसे हीन हो, किंतु श्रद्धाद्य हो, ईर्ष्याद्य न हो और सदाचार-सम्बन्ध हो तो वह शाश्वतीय है तथा वह सौ वर्षोंतक जीता है।—

सर्वलक्षणर्हनोऽपि यः सदाचारवान्नरः।
अद्वन्नोऽनस्यद्वच शतं वर्षाणि जीवति॥

(मनुस्मृति ७३)

इसके माय ही दुराचारीकी निंदा करते हैं मनु महाराज कहते हैं कि—

दुराचारो हि पुरुषो लोके भवति निन्दितः।
दुःखभागी च सततं व्याधिनोऽल्पायुरंव च॥

(मन० ८ । ८५७)

‘दुराचारी पुरुष संसारमे निन्दनीय बनता है, वह दुःख भोगता है, मदा रोगसे घिरा रहता है तथा अन्याय होता है।’ विष्णुपुराणकारका तो यहाँतक मत है कि यह पृथ्वी सदाचारी पुरुषोंके ऊपर ही इकी हृदृ है—

ये कामक्रोधलोभानां वातरागानगोचरं।
सदाचारस्थितास्तेपामनुभावैर्धृता मही॥

(वि० पु० ३ । १२ । ४२)

यह बात सत्य भी है। दुराचारी पुरुषोंके कदाचार दंश, समाज जातिको हानि ही पहुँचाते हैं। संसार गुण दोपमय है। अतः थोड़े-बहुत कदाचार सदा रहते ही हैं। किंतु जब इनकी संख्या बढ़ जाती है तो समाज और देश त्रस्त तथा पीड़ित हो जाता है, पृथ्वी व्याकुल हो जाती है। संस्कृत और हिन्दी-साहित्य इस प्रकारके वर्णनोंसे भरा पड़ा है। गोस्वामी तुलसीदासजीने दुराचारसम्बन्ध मनुष्योंका लक्षण गिनाते हुए उन्हें राक्षसोंकी संज्ञा दी है—

कामरूप खल जिनस अनेका। कुटिल भशंकर विगत विवेका॥
कृपा रहित हिंमक सब पापी। वरनि न जाहिं विस्त्र परितापी॥
जेहि विधि होइ धर्म निर्मुला। यो सब करहि वेड प्रतेकूला॥
जेहि जेहि देस धेनु द्विज पावहिं। नगर गाँव पुर आगि लगावहिं॥
सुभ आचरन करहु नहिं होइ। देव विष्र गुरु मान न कोइ॥
नहिं हरिभगति जग्य तप ग्याना। सपनेहु सुनिध न वेद पुराना॥

वरनि न जाइ अनीति धोर निमाचर जो करहि।

हिसापर अति प्रीति तिन्दके पापहिं कवन मिति॥

बाढ़े खल वहु चोर जुआरा । जे लंपट पर धन पर डारा ॥
मानहिं मातु पिता नहिं देवा । माधुन्ह सन करवावहिं सेवा ॥
जिन्ह के यह आचरन भवानी । ते जानेहु निसिचर सब प्रानी ॥

गोस्वामीजीका उद्घोष वहत ही महत्त्वपूर्ण है कि
जिन मनुष्योंमें ये दुराचार भी हों, वे निश्चय राक्षस हैं ।
जो हिंसा करनेमें नहीं सकुचाते, पर-दारा-परवनका
अपहरण करते हैं; जो चोर, तस्कर, जुआरी हैं; जो
माता-पिता, पूज्य पुरुषोंको नहीं मानते; जो नगर,
गाँव, पुर, मन्दिर, धरमे आग लगानेमें नहीं संकोच
करते हैं, जो निष्कर्षण, क्रूर, कुटिल, लंपट, स्वार्थ-
मूर्ति, अभिमानी, देपी और दूसरोंके हितकी उपेक्षा
करनेवाले हैं, वे सभी राक्षसों समान हैं ।

गोस्वामीजी पुनः उत्तरकाण्डमें मनुष्यरूपमें राक्षसों
का अङ्गन करते हुए कहते हैं—जिसमें निम्न आचरण
दिखायी दे, उन्हे राक्षस समझ लेना चाहिये—

खलन्ह हृदय अति ताप विसेपी । जरहिं सदा पर सम्पति देखी ॥
जहँ कहुँ निन्दा सुनहिं पराई । हरपहिं मनहुँ परी निधि पाई ॥
काम क्रोध मड़ लोभ परायन । निर्दग्ध कपटी कुटिल मलायन ॥
वयरु अकारन सब काहू सो । जो कर हित अनहित ताहू सो ॥

‘देह-धरे मनुजाट’से गोस्वामीजी अपना मन्तव्य
सुस्पष्ट कर देते हैं । मनुजादका अर्थ है, मनुष्योंको
खानेवाला, अर्थात् राक्षस । ये चाहे दूकान करें या
व्यापार, उद्योगरत हो या उच्च अधिकार प्राप्त,
वडे पछित हो या वडे धनी, पर कामी, कोधी,
तस्कर, ब्रगचारी, ज्ञानग्रन्थोंकी हँसी उड़ानेवाले, देश,
समाजके हितका ध्यान न करे, परदोह, परदार,
परवन, परनिंदामें लीन रहते हैं तो नरभक्षी राक्षस
ही है ।

गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं कि जब ऐसे
दुराचारियोंका दुराचार अर्थात् अधर्म वढ़ जाता है, तब
किसी-न-किसी रूपमें भगवान्‌का अवतरण होता है ।
जब भी दुराचारकी, जो अधर्म है, मात्रा बढ़ जायगी—

तो उस शक्तिको मंसारमें आना पड़ता है जो सबका
नियन्त्रण करती है । वह राम, कृष्ण, दुर्गा, परशुराम
आदि किसी भी रूपमें आकर दुर्घटन और शमन
करनी है । दुराचार अधर्म है, मदाचार धर्म है । सदाचार
अर्थात् धर्मकी जब हानि होती है, तब भगवान्‌को
कोई विभूति अवतरित होती है । गोस्वामीजी कहते हैं—
जब जब होइ धरम कैहानी । बाढ़हिं असुर महा अभिमानी ॥
करहिं अनीति जाइ नहिं वरनी । सीढ़हिं विप्र धेनु सुर धरनी ॥
तब तब धरि प्रभु विविध मरीरा । हरहिं कृष्णनिधि मज्जन पीरा ॥

भगवद्गीतामें भगवान् कृष्णका भी कथन है—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजास्यहम् ॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥

(४) ७-८)

‘अर्जुन ! जब धर्मकी हानि होती है तो मैं उसके
उत्थानके लिये अपनी शक्ति भेजता हूँ । सदाचाररत
साधुओंके रक्षार्थ और दुराचारलीन दुष्टोंके विनाशार्थ
तथा सब जनोंके धर्मचार-स्थापनार्थ मैं युग-युगमें
किसी-न-किसी रूपमें प्रकट होता हूँ ।’

सद-आचारके अपरिमित रूप हैं । इनमें कुछ प्रमुख हैं—प्रणाम करना अथवा हाथ मिलाना, मृदुभाषण,
विनय, दूसरेसे यथा समय उसका दृःख पूछना, किसीको
मार्ग बता देना, गिरेको उठा देना, अंधेरेमें किसीको
प्रकाश दिखाना, किसी वीमारको अस्पताल पहुँचा देना,
अन्न-धनसे यत्किञ्चित् जरूरतमंदकी सहायता कर
देना, सप्तरामश देना, दान देना, किसी तस्कर, हिंसकसे
किसीकी रक्षा कर देना, अन्यायीको दण्ड दिलाना,
किसीको विद्या देना या विद्याध्ययनमें सहायता देना,
भूखेको भोजन और प्यासेको पानी देना, जो कहा उसे
करना, समयपर पहुँचना, अपना कार्य तन-मनसे पूर्ण
करना, वस्तुमिश्रण स्थान न करना, न करने देना, सत्य

बोलना आदि। शास्त्रकारोंने इनमेंमे कुछ गाथवत मामाजिक आचारोंको प्रमुखता देकर कहा है कि ये धर्म हैं। मनु महाराजने ऐसे दस आचारोंको गिनाकर उन्हें धर्मका अङ्ग बतलाया है—

**धृतिः धर्मोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
श्रीर्विद्या सत्यमकोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥**
(मनु० ६। ९२)

‘धृतिः, श्रमा, दम, चोरी न करना, तनमनकी पवित्रता, इन्द्रिय-निग्रह, बुद्धिपूर्वक कार्य-सम्पादन, विद्या, सत्य, कोध न करना—ये सब धर्मके दस अङ्ग हैं।’ याज्ञवल्क्यस्मृतिमें आचारोंकी मंद्या नाँ बतायी गयी हैं और उन्हे धर्मका साधन माना गया है—

**अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
दानं दमो दया धान्तिः सर्वेषां धर्मसाधनम्॥**

मनुके पाँच गुण—धृति, सत्य, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रहके साथ अहिंसा, दान-दयाको रखकर धर्मके साधन गिनाये गये हैं। वामनपुराणके अनुसार निम्नमूल्यित गुण आचार-धर्मके अन्तर्गत हैं—

**स्वाध्यायो ब्रह्मचर्यं च दानं यज्ञमेव च।
अकार्यायमनायासो दयाहिंसाश्रमादयः॥
जितेन्द्रियत्वं शौचं च माङ्गल्यं भक्तिमन्त्रयते।
धर्मोऽयं मानवः स्मृतः॥**
(वा० पु० ११। २३-२४)

‘स्वाध्याय, ब्रह्मचर्य, दान, यज्ञ, अकृपणता, सरलता, दया, अहिंसा, श्रमा, जितेन्द्रियता, शौच, सबकी मङ्गलभावना, ईश्वर-भक्ति—ये ही मनुष्यके धर्मके अन्तर्गत हैं।’

विष्णुपुराण इन सठाचार-अङ्गोंको और बताता है। अतः तदनुसार धर्मके अन्तर्गत श्रमा, दया, सत्य, दम, शौच, दान, इन्द्रियनिग्रह, अहिंसा, गुरुसेवा, तीर्थयात्रा, सरलता, निर्लोभता, देव-ब्राह्मण-पूजन, अद्वेष्यको गिनाया गया है—

धर्मा सन्ध्यं दया शौचं दानमिन्द्रियस्यमः।
अहिंसा गुरुश्चृणा तीर्थानुग्रहणं दयाः॥
आर्जवं लोभशून्यत्वं देवब्राह्मणपूजनम्।
अनभ्यस्या च तथा धर्मः सामान्य उच्यते॥
(वि० पू० ८। ६६-६७)

‘किसीसे शाश्रुता न करना, निर्लोभता, दम, प्राणियोंपर दया, तप, ब्रह्मचर्यसे रहना, मन्त्र बोलना, दया, धृति—ये धर्मके मदाये आचार माने गये हैं।’

ऊपरके मध्यी आचारोंको धर्मका अङ्ग माना गया है, किन्तु कुछ मनीषियोंने एक-एक धर्माचारको प्रश्न दिया है। महर्पि बालमीकि धर्मका सुन्दर लक्षण बताने दृष्ट कहते हैं—जो कार्य परिणाममें अनर्थमय न हो, और प्रीति उपजानेवाला हो, वही धर्म कहा जाना है—

**फलनोऽपि च यत्कर्म नान्येनानुवाद्यते।
केवलप्रीनिहेतुत्वात्तद्धर्म इति उच्यते॥**
(वा० रामा० २। ५६८)

एक धर्म विशिष्ट धर्म या परम धर्म कहकर सठाचारके विशिष्ट करणीय कार्यको उल्लिखित किया गया है—

१-अहिंसा परमो धर्मः।

(महा० अनुशा० २१८, तथा महावीर)

परमधर्म श्रुति विद्वित अहिंसा ॥ (तुलसीदास)

२-धर्म एको मनुष्याणां सहायः परिकीर्तिः।

(विष्णुपुराण ३२६। ९)

धर्म तो एक ही है, वह है मनुष्योंकी नहायता करना—संघेषपात् कथ्यते धर्मों जनाः कि विस्तरेण वा। परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्॥

(महाभारत)

‘विस्तारसे क्या लाभः संक्षेपमे सभी मनुष्योंके लिये एक धर्म बताता हूँ। वह है—परोपकार; परोपकार पुण्यके लिये और परपीडा पापके लिये होता है। और भी—

श्रुति कह परम धरम उपकारा ॥ (तुलसीदास)

परहित मरिय धर्म नहिं भाई। पर पीडा मम नहिं अधमाई ॥

(तुलसीदास)

३-सत्यं चद । धर्मचर । (तैत्तिरीय २। ११। १)

‘सत्यमेकपदं ब्रह्म सत्ये धर्मः प्रनिष्ठितः ॥’
(वा० रा० २। १०। ७)

धर्म न दुमर सत्य समाना । आगम निगम पुराण ब्रह्माना ॥
(तुलसीदास)

सत्य बोलना, परहितनिरत रहना, मनसा-वाचा-
वर्गणा हिंमासे विरत रहना, दूसरोंसे द्वेष, दोह न
करना, इन्द्रियोंके वशों न रहना, लोभ-राक्षसको

गर्दन-सवार न होने देना, नियमवद्धता, स्वराष्ट्रप्रेम,
घोर श्रम, पवित्रता आदि सदाचार हैं । इन्हे ही धर्मका
अङ्ग भाना गया है । जो सदाचारी है, वही धर्मस्य है ।
महाभारतकार ठीक ही कहते हैं—आचारप्रभवो धर्मः ।
आचारमें ही धर्मकी उन्नति होती है । आचार और
चरित्र मूलनः अभिन्न हैं और धर्म है लोक-परलोकका
उक्तप्रसाधक—अन्युदय एव तिःप्रेयस-सम्पादक ।

चरित्र-निर्माण

(लेखक—डॉ० श्रीमोतीलालजी गुप्त, एम० ए०, पी-एन्स० डी०, टी० लिट०)

‘चरित्र-निर्माण’सम्बन्धी तत्त्वोपर विचारनेके लिये
चरित्रके स्वरूप, उसके विभिन्न प्रकार और उन्हे
विवित्त, निर्मित करनेके उपायोपर चिन्तन आवश्यक
है । चरित्रके अन्तर्गत, व्यक्तिगत चरित्र, सामाजिक
चरित्र, दैहिक, आर्थिक एवं राजनीतिक चरित्र सभी
मग्नीत हो जाने हैं । इन सभीको मिलाकर व्यक्तिका
पूर्ण स्वरूप बनता है और इनके पृथक्-पृथक् तथा
मामूलिक निर्माणमें व्यक्तिको पूर्णता प्राप्त होती है ।

भारतवर्षमें व्यक्तिके निजी चरित्रपर अधिक
बल दिया जाता है और उसीके आवारपर उसको
चरित्रवान् अथवा चरित्रहीनकी संज्ञा प्रदान की जाती
है । यदि कोई व्यक्ति अपने घरमें, परिवारमें अथवा
समाजमें कट्टा-कट्टा रहता है और किसी अन्य
व्यक्तिसे सम्बन्ध नहीं रखता तो उसे चरित्रवान् कहा
जाता है और यदि किसी प्रकार धनिष्ठता प्रदर्शित
करता है तो उसे चरित्रहीन माना जाता है तथा उसी
आवारपर समाज, परिवार, घर एवं आस-पासमें उसका
आठर-सम्मान या अपमान होता है । यही किसी व्यक्तिकी
चरित्र-सम्बन्धी विशेषता मानी जाती है और उसमें
पूर्णताका निर्माण करना अर्थात् अपनेतक ही सीमित
रखना चरित्र-निर्माण कहा जाता है । प्रसिद्ध

लोकोक्ति भी है कि ‘हा पका सच्चा और लौगोऽक्वा पका’ ।
इसमें भी दूसरे अर्धांशपर अधिक बल दिया जाता है ।
किंतु हमारी परिसापाके अनुसार यह व्यक्तिके एक
रूपका—चरित्रके एक अंशका मूल्यांकन है और इसे
पूर्णरूपसे चरित्र-निर्माण कहनेमें संकोच होता है । पूर्व
और पश्चिमकी विचारधारामें यही प्रमुख अन्तर है ।
इसका स्पष्ट रूप समाजकी विभिन्न इकाइयोंमें देखा जा
सकता है । इसी एक आदर्शको आधा अङ्ग मानकर
हमारे देशके कुछ लोग पश्चिमपर आरोप लगाते हैं कि
वहाँके लोग निनान्त असम्य और चरित्रहीन हैं तथा
हमारे देशमें चरित्र-निर्माणकी उत्तम परम्परा अनादि कालसे
रही है एवं अब भी है । परन्तु इसका सम्बन्ध निराकरण
इस बातसे हो जाता है कि यह चरित्रका किलना भी
उपयोगी क्यों न हो, एक अङ्ग सात्र है और हमें उसके
पूरे स्वरूपपर विविध पश्चोसे विचार करना चाहिये
तथा चरित्र-निर्माणकी पूरी क्रियापर ध्यान देना चाहिये ।

चरित्रके वैयक्तिक मूल्यांकनके अतिरिक्त और भी
कई ऐसे पहलू हैं, जिनसे चरित्रको मापा जा सकता है ।
सामान्यतः मापन-क्रियाकी पूर्णता दृष्टिगोचर होती है ।
वस्तुतः मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और उसके
जीवनका अधिकांश भाग समाजके विशेष प्रसङ्गमें

लगता है। वह समाजके अंदर कार्य करता है, उसना जीवन समाजसे प्रभावित होता है, तथा अनेक अवगतियोंपर वह समाजको गति प्रदान करता एवं उसे विविध दिशाओंमें उन्मुख करता है। अतः ममाजमे व्यक्तियों सम्पर्क जिस प्रकारका होता है, उसी प्रकार निरन्तरनिर्माण होता है या यों कहिये कि ममाजकी विविध प्रक्रियाएँ उसका चरित्र निर्मित करती हैं और उक्तीके आधारपर व्यक्ति अपने चरित्रका स्वप्न अभियक्षित करता है।

चरित्रको अन्य पक्षोंमें देखा जा सकता है और उसीके आधारपर उसकी उन्मम, मन्यम और निम्न कोटियोंमें गणना होती है। मनुष्य अपने जीनमें समाजके विभिन्न अङ्गोंका परिचालन करता है और उसीके आधारपर अपनी विविध दशाएँ प्राप्त करता है। कोई भी मनुष्य चरित्रान् हो सकता है, समाजमें उस्योगी भूमिका निभा सकता है, परंतु अनेक दशाओंमें उसे धर्महीन, धर्माचित पव्यं अवार्मिक होनेके विशेषण प्राप्त हो सकते हैं। यदि कोई व्यक्ति भगवान्‌पर विधाम न करे, देवी-देवताओंको न माने पव्यं निर्मित परम्पराओंका उल्लङ्घन करे तो उसे एक विशेष प्रकारका अनुयोगी व्यक्ति माना जाता है और उसके चरित्रको वह पूर्णता प्राप्त नहीं होती, जिसकी समाजमें आवश्यकता है। अत व्यक्तिको धर्मके मार्गका ध्यानपूर्वक अनुगमन करना चाहिये और इस बातका ध्यान रखना चाहिये कि समाजमें कौन-कौन-से गुण अपेक्षित हैं। मनुष्यको जिन विविध मार्गोंका अनुसरण करना होता है, उनमें विधियन्, परिचालन ही चरित्रकी पूर्णताका समावंश है, और चेता इसी बातकी होती चाहिये कि मार्ग कितना भी कठुनाक-कीर्ण क्यों न हो अपनी राहपर चलने रुना है तथा अप्रिय घटनाओंसे उलझनेमें बाज़ुर्नीय योग्यताका परिचय देना चाहिये।

चरित-मापके और कई प्रकार हैं, पर आधुनिक-कालमें अधिक प्रचलित राजनीतिक मापदंड है।

जो इस मापदंडपर यह उन्मम है उसीको विजयश्री उपलब्ध होती है तथा चरित्रान् व्यक्तियोंमें उसे ही शीर्ष ध्यान प्राप्त होता है। राजनीतिक शृण्डि आजके युगमें चत्त्र-गनन और चत्त्र उद्धरीकरण अधिक प्रचलित हैं और प्रमेज नेताओं द्वारा उस कला पूरा ध्यान रहता है कि उसके चरित्र-हननस्थि प्रक्रिया किसी प्रकार प्रचलित न हों। जो द्वैग उस कियाके लिया हो जाने हैं, उनका चरित्र नी भए नहीं होता, उनका राजनीतिक पव्यं भावृजनिय जीवन भी नामम प्रे जाता है। जो द्वैग उस पक्षमा अनुमान लगाने हैं, उनके नाममें कई व्यक्तियों ऐसी आती हैं जिन्हें न केवल मज़गतामें करना पड़ता है, बन्धि प्रयेक ददभद्रोंके द्वारा उन्हें उनका पड़ता है। नेता होनेसे पूर्व कुछ वापरे और जियामक्षता जननामें प्रति प्रदर्शित करनी होती है और यदि उन वायदोंको अवश्य उस किशा-कलामको पूरा नहीं किया तो अवननिके दर्शन करने होते हैं तथा लोगोंमें नेताका विद्याम हट जाता है। जुनात लक्ष्यनेमें पूर्व पक्ष स्थान घोषणा हस बनमी करनी होती है कि जूनाव विस आधारपर लड़ा जा रहा है और गनदानाओंके प्रति विस उन्नादायित्वको पूरा करनेकी जान है। यदि भगवान्‌की कृपामें सफलता प्राप्त हो जानी है तो न विनियार्थ होता है कि किये गये चायदांको पूरा किया जाय और उम प्रवास अपने चरित्रकी रक्षा की जाय। यदि जुनवि जीननेके बाद उस और ध्यान नहीं दिया जाता तो चरित्र दो कौटुम्बका हो जाता है और भविष्यके लिये किर कोई आशा नहीं रह जाती। अतः सर्वजनिम जीनमें अवतारित होनेमें पूर्व ईमानदारीकी पूरी आवश्यकता है और इसीपर चरित्रका बनना-विगड़ना संभव होता है। यदि भगवत् छृपासे जुनावके पश्चात् किसी भावृजनिक पदको मुजोभित करनेका अवसर आये तो चरित्रको और भी सँभालना चाहिये। यदि गच्छणमदलमें स्थान मिले तो चरित्रकी रक्षा सर्वोपरि कार्य है। मन्त्रिमण्डलमें प्रवेश

लेनेसे पूर्व कुछ प्रतिज्ञाएँ, संविधान और जनताको पूर्ण करनी पड़ती हैं तथा भगवान्‌को साक्षी बनाया जाता है। यदि प्रभु-कृपासे संविधानकी रक्षा होती है और सार्वजनिक जीवनमें सफलता मिलती है तो चरित्रकी उत्कृष्टता खतः प्रतिपादित होती जाती है और यदि उनसे विपरीत स्थितिका सामना करना पड़ा तो चरित्र धूमिल होता जाता है। अतः चरित्रको नापनेका एक प्रमुख मापदण्ड राजनीतिक जीवन भी है। इसी प्रकार शैक्षिक, पारमार्थिक आदि जीवन हैं जिनका विधिवत् पालन करना चाहिये।

इस प्रसङ्गमें एक शब्द 'निर्माण' आता है। वह यथापि निर्माणकारी प्रभुके हाथ है, परंतु व्यक्तिविशेष भी इस ओर अपनी क्रियात्मकता प्रदर्शित कर सकता है। इसमें

सबसे अधिक उपयोगी व्यक्तिकी ईमानदारी है और यदि विभिन्न क्षेत्रोंमें ईमानदारीके साथ अपने कर्तव्यका निर्वाह किया जाय तो बहुत अंशोंमें चरित्रकी रक्षा सम्भव है। कुछ भी असावधानी होनेपर दोष-वृत्तिका आना सम्भव है। चरित्र-निर्माणका एक सुगम मार्ग है कि सावधानीसे अपनी शक्तिसे परिस्थितियोंका सामना किया जाय तथा किसी भी स्थितिमें लोभ अथवा मोहके वशीभूत होकर मार्गच्युत न हुआ जाय। यह चरित्र-निर्माणकी एक सामान्य प्रक्रिया है और अपेक्षा की जाती है कि सभी विचारशील लोग इस ओर सजग रहेगे। अन्य देशोंमें ईमानदारी व्यवहारका एक लक्षण बन गयी है। वहाँ कुछ दृष्टियोंसे हमें चरित्रकी गिरावट दिखायी दे तो भी कुल मिलाकर वहाँ उदात्त चरित्रके दर्शन होते हैं।

चरित्र-निर्माण क्यों और कैसे ?

(लेखक—श्रीराजेन्द्रविहारी लालजी)

भारतीय धर्मग्रन्थ धर्म या सदाचारकी महिमा गते हुए कभी नहीं थकते। मनुस्मृतिका आदेश है कि जिस प्रकार दीमक वल्मीकिका संचय करती है, उसी प्रकार परलोकमें सहायताके लिये किसी भी जीवको पीड़ा न देते हुए धीरे-धीरे धर्मका संचय करे; क्योंकि परलोकमें माता-पिता, पुत्र, स्त्री और जाति सहायताके लिये नहीं रहते, केवल धर्म ही रहता है। वाल्मीकीयरामायणके अनुसार 'धर्मसे सम्पत्तिका उद्भव होता है, धर्मसे सुखकी प्राप्ति होती है और सदाचारसे मनुष्य सब कुछ प्राप्त कर लेता है।' महाभारतमें भी कहा गया है कि सदाचारसे सुख मिलता है। शास्त्रोंमें यह भी बताया गया है कि मनुष्य पाताल, खर्ग या कर्हीं और जाकर छिप जाय पर उसके किये हुए पाप और पुण्यके फल उसे खोजकर मिल जाते हैं। वस्तुतः रामायण और महाभारत—दोनों प्रकारान्तरसे सदाचार-संहिता ही हैं।

धर्मका सच्चा अर्थ भी सदाचार है। मनुस्मृतिके अनुसार समस्त कर्तव्योंका ठीक-ठीक, उचित समयपर, उत्साह तथा कुशलतापूर्वक सम्पादन करना धर्म या सदाचार है। गीतामें भी धर्म और कर्तव्य शब्द सदाचारके लिये हुए प्रयुक्त हैं। कर्तव्यमें मनुष्यके सारे जीवनोपयोगी काम आते हैं, चाहे वे धार्मिक हो या सांसारिक।

धर्मके चार चरण—भारतीय ऋषि-मुनियोंने धर्मके सत्य, शौच, तपस्या और दान—ये चार चरण या स्तम्भ बताये हैं। किंतु प्रचलित विचारधाराके अनुसार धर्मका सार-तत्त्व पूजा, पाठ, ध्यान, जप या कथा-कीर्तन ही है। इन्हीं धार्मिक क्रियाओंसे सारे पाप धुल जाते हैं तथा सुख-सम्पत्ति और मोक्षतककी प्राप्ति हो जाती है। ध्यान, जप और नामस्मरणसे मनुष्य खतः और अनिवार्यरूपसे पवित्र और मोक्षका अधिकारी बन

जाता है, बल्कि इन क्रियाओंमें इतनी प्रबल शक्ति है कि उनका अवलम्बन लेनेवालेके पास पाप फटक भी नहीं सकते। इस प्रौढ़ विद्वासके फलस्वरूप जीवनमें सदाचार, देशभक्ति, परोपकार और संयम आदि-जैसे सद्गुणोंका स्थान प्रायः गौण हो जाता है।

धर्मका बैल जिसे चलनेके लिये चार पैरोंकी आवश्यकता है, केवल आधे चरणपर बड़ा भी कैसे रह सकता है। जब ध्यान, जप तथा कीर्तन सारे पार्णोंको भस्म कर देते हैं और ये भगवत्प्राप्तिका एकमात्र उपाय हैं तो परोपकार, संयम, देशसेवा और कर्तव्यपालनमें समय बरबाद करनेसे क्या फायदा? यह आजका बाद है, तर्क-प्रधान लोगोंका विचार है। उनका कहना है कि इसी कारण हमारे देशमें चरित्र या सदाचारका बहुत ह्रास हो गया है। नैतिक मूल्य प्रतिदिन गिरते जा रहे हैं। प्राचीनकाल्योंके देखिये तो हिन्दू राजा परस्पर लड़ते ही रहते थे और विदेशी आक्रमणकारियोंसे मिलकर अपने ही भाइयोंसे विद्वासघात करते थे। स्वतन्त्रता पानेके बाद आचरणमें सुधार होनेके बजाय और भी गिरावट आ गयी है; अनाचार, भ्रष्टाचार, चोरवाजारी, अनुशासनहीनता, अराजकता-जैसी बुराह्योंका बोलबाला है; क्योंकि चारित्र्यकी प्राचीन परम्परा धूमिल हो गयी है।

उपासना और सदाचार—निःसंदेह आराधनाका जीवनमें बड़ा महत्व है। किंतु यह कहना कि आराधना ही जीवनका सर्वस्त्र है और उसके सिवा सारे काम निर्यक हैं, आज समाजके लिये कुछ हानिकारक हो रहे हैं। आराधनाके साथ संयम, परोपकार और सेवा मिलनेसे ही जीवन धन्य होता है। वास्तवमें इन चारोंमें विरोध न होना चाहिये; क्योंकि इनके बदेश अलग-अलग हैं। किंतु यदि एककां

इस तरह बदाया जाय कि बाकी सब अनावश्यक और नगण्य बन जायें तो मनुष्यका जीवन अधूरा और पंगु ही रह जायगा। जीवनमें संतुलन नहीं हो सकेगा, अतः इन सबको प्रश्न्य देना जीवनका लक्ष्य होना चाहिये।

यह एक सामान्य सिद्धान्त है कि जब अच्छे लोग, अच्छे सिद्धान्त, अच्छी संस्थाएँ और अच्छे विचार परस्पर सहयोगसे काम करते हैं तो समाजका बड़ा कल्याण करते हैं, किंतु जब वे एक दूसरेका विरोध करते लगते हैं, तब बड़ा अनर्थ हो जाता है। हवा, पानी, भोजन और कपड़ा सब ही जीवनके लिये आवश्यक हैं। जब-तक ये एक दूसरेकी सहायता करते हैं, मनुष्यको सुख देते हैं, किंतु यदि वायु या प्राणायामका प्रचार इस तरह किया जाय कि मानव-जीवनमें भोजन, पानी, कपड़ा और मकानकी कोई आवश्यकता नहीं, तो वही हवा अतिमात्रामें जीवनको नष्ट-भ्रष्ट करने लगेगी।

हमारे शास्त्रकार इस खतरेको अच्छी तरह समझते थे। इसके विरुद्ध चेतावनी देनेके लिये उन्होंने कोई कसर नहीं छोड़ा, अनेक दृष्टान्त और सिद्धान्त बताये। किंतु हम उन सबकी अनदेखी करके केवल परम्परागत आराधनाओं ही सुक्षिकी कुञ्जी बताते हैं। हमारी दृष्टिमें दुनियाके काम, परोपकार, आत्मविद्यान, देशभक्ति आदिका जीवनमें कोई विशेष महत्व नहीं रह गया है। यही तो साधनाके वास्तविक स्वरूपके समझनेमें भूल है।

धोर तपस्या या गहरी पूजा या पाठ, अथवा जप, ध्यान करनेवाले, किंतु चरित्रहीन लोगोंकी क्या गति होती है, इसके अनेक दृष्टान्त हमारे धर्मप्रन्थोंमें मिलते हैं। हिरण्यकशिषु, रावण, भस्मासुर आदि राक्षसोंकी कथाएँ यह पुकार-पुकारकर कह रही हैं कि लम्बी और कठोर तपस्या, करने तथा दर्शन और वरदानके पानेपर भी वे सब निन्द्य राक्षस हो गये; क्योंकि उनमें सदाचार और चरित्रका अभाव था तथा उन्होंने अपनी तपोऽर्जित

शक्तिको परहितमें ही नहीं, बरन् पर-पीड़नमें लगाया। आज भी ऐसे लोगोंकी भरमार है, जो सबै-शास्त्र नियमितरूपसे ध्यान, जप या पूजा करते हैं और वाकी समय दुराचारमें लगाते हैं एवं धार्मिक क्रियाओंसे भी अपनी दुर्वृत्तियोका ही पोषण करते हैं।

समाजमें यह विश्वास फैला हूआ है कि ज्ञान, जप, भक्ति और पूजा करनेवाला सदा चरित्रान् होता है। किंतु जब हम तथ्योंकी ओर दृष्टि ढालते हैं, तब हमें इस कठु सत्यको मानना पड़ता है कि ऐसे कुछ लोग दुराचारी भी होते हैं, क्योंकि वे अपनेको सिद्ध महात्मा मान बैठते हैं और अपने आचार-व्यवहारको सुवारनेके लिये कोई प्रयास ही नहीं करते। गोस्वामीजीने भी ऐसा संकेत किया है—

पर त्रिय लंपट कपट मयाने। मोह दोह ममता लपटाने ॥
तेह अमेदबादी ग्यानी नर। देखा मैं चरित्र कलिजुग कर ॥

(मानस ७ । १०० । १)

कलियुगके ये बनावटीलोग समाजका अहित करते हैं—
भाषु गण अरु तिनहूँ बालहि । जे कहुँ सत मारग प्रतिपालहि ॥

गीता ७ । १६के अनुसार भक्त चार प्रकारके होते हैं—आर्त, अर्थार्थी, जिज्ञासु एवं ज्ञानी। ये सभी उठार तथा चरित्रान् भी होते हैं। यहीं 'मायाद्वारा हरे हुए ज्ञानवाले और आसुरी खभानको धारण किये हुए नीच, पापाचारी और मूढ़ोंकी भी बात आयी है—जो ईश्वरको नहीं भजते। इसके विपरीत 'निष्कामभावसे श्रेष्ठ कर्मोंका आचरण करनेवाले जिन पुरुषोंका पाप नश्त हो गया है, वे राग-दंष्रादि दृष्टरूप मोहसे मुक्त हुए और दृढ़ निष्कामवाले पुरुष ही मुझ भगवान्को सब प्रकारसे भजते हैं' (गी०७)। सार्वत्र यह कि सदाचारी

बोगोंकी पूजा ही वास्तवमें पूजा है। दुराचारियोंकी पूजा तो केवल दोग है और वह उन्हें दुर्गतिसे नहीं बचा सकती।

भागवतमें भगवान् कपिलन् स्थारूपसे कहा है—
कि मैं आत्मारूपसे सदा सभी जीवोंमें स्थित हूँ,
इसलिये जो लोग मुझ सर्वभूतस्थित परमात्माका अनादर
करके केवल प्रतिमामें हैं। मेरा पूजन करते हैं, उनकी
वह पूजा खाँगमात्र है। मैं सबका आव्या, परमेश्वर
सभी भूतोंमें स्थित हूँ; ऐसी दशामें जो मोहवश मेरी
उपेश्वा करके केवल प्रतिमाके पूजनमें ही लगा रहता है,
वह तो मानो भूतमें ही हवन करता है। जो भेद-दर्शी
और अभिमानी पुरुष दूसरे जीवोंके साथ वैर बाँधता है
और इस प्रकार उनके शरीरमें विद्यमान मुझ आत्मासे ही
देव करता है, उसके मनको कभी शान्ति नहीं मिल
सकती। जो दूसरे जीवोंका अपमान करता है, वह
वहुत-सी घटिया-ब्रह्मिया सामग्रियोंसे अनेक प्रकारके
विधि-विधानके साथ मेरी मूर्तिका पूजन भी करे तो भी मैं
उससे प्रसन्न नहीं हो सकता' (स्कन्ध ३)।

भक्तोंका वर्णाकरण—भागवतमें नारद मुनिने श्रीब्रह्मदेवजीसे कहा है कि 'जो प्रन्येक चेतन या जड वस्तुमें ईश्वरकी उपस्थितिका अनुभव करता है, उसका ही रूपान्तर देखता है और सब वस्तुओंको ईश्वरका ही अश समझता है, वही पूर्ण भक्त है तथा भगवान्के उपासकोंमें सर्वश्रेष्ठ है। जो अपनेको समस्त प्राणियोंमें और समस्त प्राणियोंको अपनेमें—परमेश्वरमें स्थित देखता है, वह सर्वोच्च भक्त है। जो केवल मन्दिरमें ईश्वरकी पूजा करता है, किंतु अन्य प्रकारकी पूजा करनेवालोंके प्रति सहनशील नहीं है और सर्वत्र ईश्वरकी सत्ता नहीं देख पाता, वह प्रारम्भिक कोटिका भक्त है' (११ । २ । ४५-४८)।

चरित्र ही धर्मका प्राण है। चरित्रहीन मनुष्य भगवान्का प्यारा या जीवन-मुक्त तो न्या होगा, वह तो

पशुके समान हैं, वल्कि पशुसे भी गया-ब्रीता है। आसुरी चरित्रवाला व्यक्ति ही असुर होता है न कि भक्त, ज्ञानी या योगी।

आध्यात्मिकताके मूल सिद्धान्त—सारी सृष्टि प्रकृतिके तीन गुण-प्रभावो—सात्त्विक, राजस और तामसमें रुद्ध हैं। सत्त्वादि गुण भगवान्‌की शक्ति या मायाके हैं, इसलिये वडे रहस्यमय हैं।

सत्त्वगुणसे ज्ञान उत्पन्न होता है और मनुष्य ऊपरको उठता है। रजस्से लोभ पैदा होता है और रजस्को अपनानेवाला बीचमेंही चक्कर काटता रहता है। तमोगुणसे प्रमाद, मोह, अज्ञान पैदा होते हैं और तमोगुणीको पतनकी ओर ले जाते हैं।

ये तीनों गुण ही सृष्टिमें फैली हुई सारी विभिन्नताके कारण हैं। विश्वमें ऐसा कोई प्राणी नहीं जो इन तीनों गुणोंसे सर्वथा मुक्त हो। मनुष्यके सारे काम, भाव और विचार इन गुणोंसे प्रेरित तथा ओतप्रोत होनेके कारण सात्त्विक, राजसिक या तामसिक होते हैं।

तो क्या पूजा, ध्यान, जप, संकीर्तन-जैसे धार्मिक कार्य सदैव और अनिवार्यत्वसे सात्त्विक नहीं होते? क्या वे भी तीन प्रकारके होते हैं? यद्यपि समाजमें तो यही विचार फैला हुआ है कि यह भव काम सदा सात्त्विक अर्थात् पावन और मङ्गलकारी होते हैं, किंतु गीता, भागवत तथा अन्य शास्त्रोंने इन सभीके तीन भेद बताये हैं—सात्त्विक, राजसिक और तामसिक।

रामचरितमानसकोही लीजिये। गोदामीजीकी चेतावनी है कि कलियुगमें सारा धर्म तामस हो जायगा—

तामस धर्म करहिं नर जप तप ब्रत मख दान।
देव न वरपहिं धरती बण् न जामहिं धान॥

गीतामें इसकी विशद व्याख्या है, जिसके अनुसार सारे धार्मिक कार्य यज्ञ और तपके अन्तर्गत आते हैं। पूजाको शरीरका तप, खाद्याय, भजन और जपको वाणीका तप और ध्यानको मनका तप बतानेके बाद—इन तीनों प्रकारके तपोंको तीन वर्गोंमें विभाजित किया है (१७ । १४-१६) ।

उपर्युक्त तीनों प्रकारके तप, जिन्हे साधक अगाथ श्रद्धाके साथ निष्कामभावसे करता है, सात्त्विक कहलाते हैं। जो तप सत्कार, मान और पूजा प्राप्त करने या दिखावेके लिये किये जाते हैं और जो अस्थायी या क्षणिक हैं, वे राजस कहे गये हैं। भ्रान्त बुद्धिसे, स्वयंको यातना देकर या दूसरोंके अनिष्टके लिये किया गया तप तामस कहा गया है (१७ । १७-१८) ।

इन भावोंके श्लोकोंको ध्यानसे पढ़नेसे यह पता चलता है कि जीवनको सात्त्विक बनाने या भगवान्‌की ओर ले जानेमें निर्णायिक तत्त्व पूजा, ध्यान या जपके साथ आचार-व्यवहारका भी हाथ है। पूजा तभी सात्त्विक बनती है, जब उसके साथ निष्काम भाव हो। उदाहरणार्थ यदि किसी भक्तका जप या नामस्मरण तामस है तो वह प्रतिदिन दस माला और फेरकर अपने-आपको सात्त्विक नहीं बना सकता। वह तमोगुणसे निकलकर सत्त्वगुणमें तभी प्रवेश कर सकेगा, जब वह अपनेको और दूसरोंको पीड़ा पहुँचाना छोड़कर लोक-कल्याणके कामोंमें लग जाय। इसी तरह यदि कोई साधक अपनी मान, बड़ाई, पूजा तथा भगवद्वर्णन और वरदान प्राप्तेके लिये ध्यान करता है तो उसे ध्यान करनेके साथ निजी स्वार्थको छोड़कर दूसरोंकी भलाईके कामोंमें अपनेको समर्पित करना होगा। वह भगवान्‌के बताये मार्गसे चलेगा, तभी वह लक्ष्यतक पहुँचेगा।

शास्त्रोमें एक और भी सार्वभौम सिद्धान्त मिलता है जो मानवके समस्त कर्मोंपर लागू होता है—चाहे वे धार्मिक हों या सांसारिक । भगवन्में एक स्थानपर भगवान् कृष्णने कहा है—जो भी काम मेरे लिये या फलेच्छा छोड़कर किये जाते हैं, वे सात्त्विक हैं । जो काम फलेच्छा रखकर किये जाते हैं, वे राजसी हैं और जो पर-पीड़नके लिये किये जाते हैं, वे तामसी होते हैं । गीतामें भी यही शिक्षा दूसरे शब्दोंमें दी गयी है (८ । २३-२५) ।

दैवी और आसुरी गुणोंका भेद समझानेके लिये गीतामें तो एक पूरा अव्याय ही दिया है और उसमे यह स्पष्ट कर दिया है कि दैवी सम्पदा मुक्ति दिलानेवाली और आसुरी सम्पदा बौधनेवाली होती है (१६ । ५) । आसुरी सम्पदाके लोगों अर्थात्—अहंकार, वल, घमंड, कामना और क्रोधादिके परायण एवं दूसरोंकी निन्दा करनेवाले पुरुष अपने और दूसरोंके शरीरमे स्थित मुश्त अन्तर्यामीसे द्वेष करनेवाले होते हैं । ऐसे द्वेष करनेवाले, पापाचारी और कूरकर्मी नराधमोंको बारम्बार आसुरी योनियोमें ही गिरना पड़ता है (१६ । १८-१९) ।

जीवनमें पूजा, ध्यान, जप, कीर्तन आदिका बड़ा महत्व है । उनसे अनेक लाभ हैं । उनका स्थान कोई दूसरा काम नहीं ले सकता । किंतु उनके साथ धर्म और नैतिकताको भी महत्व देना है ।

उपर्युक्त सारे नियम भगवान्‌के बनाये हुए हैं, अटल, अमिट, शाश्वत और सार्वभौमिक हैं । हम उनकी अनदेखी कर सकते हैं, अपने प्रवचनों और पुस्तकोंसे उनका वहिष्कार कर सकते हैं; किंतु वे नियम तो सदा-सर्वदा (यद्यपि चुपके-चुपके और धीरे-धीरे) अपना काम करते ही रहेंगे । कोई दुराचारी, परपीड़क या कामचोर व्यक्ति बहुत पूजा या जप करके देखावटी

समाधि तो लगा सकता है, भगवान्‌के राजसिक और तामसिक दर्शन भी कर सकता है (जैसा राचण, दुर्योधन, कंस आदिने किया), कुछ सिद्धियों भी प्राप्त कर सकता है, किंतु सत, भगवान्‌का प्यारा या जीवन-मुक्त कदापि नहीं वन सकता ।

चरित्रकी कस्तौटी—अब यह विचारना है कि चरित्रकी कस्तौटी क्या है ? चरित्रका निर्माण सदाचार तथा वहृत-से सद्गुणोंको अपनानेसे होता है—जैसे सत्य, अहिंसा, दया, मैत्री, समता, निर्भयता और निरभिमानिता । वैसे दैवी गुणोंकी सूची बहुत लम्बी है, किंतु यदि सच्चरित्रकी कुज्जीको एक शब्दमें रखा जा सके तो वह शब्द है निस्खार्थता, निरपेक्षता या निःस्वृहता, जिसका अर्थ है सारे कर्तव्योंका तत्परतासे पालन करना, किंतु दूसरोंकी भलाईके लिये, न कि अपने किसी निजी लाभ या पुरस्कारके लिये ।

इसी वातको दूसरे शब्दोंमें यो कह सकते हैं कि परोपकार वर्मका सार है । गोसामी तुलसीदासजीका कथन है—

परहित वस लिङ्ह के मन माही । तिन्ह कहुँ जग दुर्लभ कहु नाही ॥
परहित सरिय धर्म नहिं भाई । परपीडा सम नहिं अधमाई ॥
निर्नय सकल पुरान बेड कर । कहेँ तात जानहिं कोबिड नरा ॥

विलक्षुल यही विचार एक दूसरे भक्त कविने यो व्यक्ति किया है—

चार वेद छः शास्त्रमें वात मिली है दोय ।

दुख दीन्हे दुख होत है सुख दीन्हे सुख होय ॥

भक्त नरसी मेहताने अपने प्रसिद्ध (तथा गौवीजीके प्रिय) भजनमें बताया है—

वैष्णव जन तो तेने कहिए, जो पीर पराई जाने रे ।

भगवान् कृष्णने भी यही सारगर्भित उपदेश किया है—‘सब प्राणियोंमें केवल उन्हींका जीवन सार्थक हैं जो अपने जीवन, धन, ज्ञान और वचनद्वारा दूसरोंकी

भलाई करते हैं। 'पहाड़से यह शिक्षा प्रहण करनी चाहिये कि तुम्हारे सारे काम दूसरोंकी भलाईके लिये हों और तुम्हारा सारा जीवन दूसरोंके लिये हो।' श्रीकृष्णके इसी उपदेशकी प्रतिवनि आधुनिक युगके महान् वैज्ञानिक आव्यन्स्टाईनके इन शब्दोंमें मिलती है—'मनुष्य यहाँ (संसारमें) दूसरे मनुष्योंके लिये ही आया है।'

यहाँपर यह प्रश्न स्थामार्थिक है कि समाधि, भगवद्-दर्शन या मोक्षकी कामनासे की गयी साधना वास्तवमें सात्त्विक है या नहीं। परम्परागत विचारधाराके अनुसार यह सब साधना पारलौकिक हैं और इसलिये शुभ और सात्त्विक हैं। सच तो यह है कि ये साधनाएँ नितान्त परमार्थिक हैं, किंतु जब कोई व्यक्ति उन्हें अपने ही लिये चाहता है तो वे सात्त्विक नहीं, बल्कि राजसिक हो जाती हैं। उन्हींके मनमें भगवान् वास करते हैं—

जाहि न चाहिभ कबहुँ कछु तुम्ह सन सहज सनेह ।
दसहु निरंतर तासु मन सो राउर निज गेह ॥

स्थामी विवेकानन्दने भी बिल्कुल यही बात कही है—'चाहना करना प्रेमकी भाषा नहीं है। भगवान्की भी पूजा मोक्ष या किसी अन्य पुरस्कारके लिये करना नीच काम है।' और भी जोरदार शब्दोंमें उन्होंने बताया है कि 'अगर तुम अपनी ही मुक्ति चाहते हो तो नरकमें जाओ। तुम्हें तो दूसरोंके मोक्षके लिये प्रयत्नशील होना चाहिये और यदि ऐसा करनेसे तुम्हें नरकमें भी जाना पड़े तो वह श्रेयस्त्र है; इससे कि अपने मोक्षकी खोज करते हुए तुम्हें खर्ग मिल जाय।

विराट् स्वरूपका शृङ्खर—सामान्य मनुष्य पूजा-पाठमें थोड़ा-सा ही समय लगा सकता है। उसका अधिकांश समय तो सांसारिक कामोंमें ही लगता है—विशेषकर जीविकोपर्जनके कामोंमें। साधारण साधक-जनोंका विश्वास है कि सांसारिक काम पूजामें और इस-

लिये भगवत्प्राप्तिमें बाधक है, किंतु सच तो यह है कि दुनियाका कोई कार्य सांसारिक नहीं, सभी धार्मिक हैं, भगवान्की आराधना है और भगवान्से मिलनेके साधन हैं। तभी तो भगवान्ने गीतामें कहा है—'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।' फिर सांसारिक कामोंके बिना जीवनका निर्वाह भी नहीं हो सकता और जीवनके बिना किसी प्रकारकी साधना नहीं हो सकती। इसलिये सांसारिक कार्य, लोकसंप्रहके काम, दूसरोंकी भलाईके काम—सारे ध्यान, जप और भजनके आधार हैं। वे मनुष्यको केवल जीवित ही नहीं रखते, केवल भगवान्की पूजा करनेकी क्षमता ही नहीं प्रदान करते, वे स्वयं परमात्माकी पूजा हैं और पूजा भी भगवान्के किसी छोटे या साधारण रूपकी नहीं, वरन् सर्वश्रेष्ठ विराट् रूपकी।

गीतामें बार-बार इस बातपर जोर दिया गया है कि परम पुरुष परमेश्वरकी ही आराधनासे शान्ति और मुक्ति मिल सकती है, न कि अन्य देवताओंकी पूजासे (७ । २०, ९ । २५)। दूसरी ओर यह भी बताया गया है कि सब कुछ, सारी सृष्टि ही परमेश्वरकी ही है (७ । १९)। भगवान्के सिवा कुछ है ही नहीं, परमेश्वरसे अलग न कोई पदार्थ टिक सकता है, न बन ही सकता है। सारा संसार, सृष्टिकी हर चीज परमात्मासे ओतप्रोत है, उसकी मूर्ति है, उसका छोटा रूप है।

इन सिद्धान्तोंका प्रत्यक्ष प्रमाण देनेके लिये भगवान् कृष्णने अर्जुनको अपना विराटरूप या विश्वरूप दिखाया था। विश्वरूप-दर्शनकी विशेषता यह है कि इस रूपकी अर्जुनने 'रूपमैश्वरम्' (११ । ३), संजयने 'परमं रूपमैश्वरम्' (११ । ९) बताया। इसका अर्थ यह हुआ कि सृष्टि या संसार ही भगवान्का सर्वश्रेष्ठ रूप है, जिसमें सभी देवी-देवता, सभी अवतार, सभी संत और दैगम्बर, सभी पदार्थ और प्राणी-

सम्मिलित हैं। जब भगवान् कृष्ण अपनी अथवा परमपुरुषकी आराधनापर जोर देते हैं तो उनका आशय यही है कि उनके वरिष्ठतम् खरूप, अर्थात् विश्वकी पूजा की जाय, तभी मनुष्यका सर्वतोमुखी विकास हो सकता है। विराट् खरूपमें भगवान् कृष्ण सदा और सर्वत्र, किंतु परोक्षरूपसे विराजमान हैं। इसलिये परम्परागत तरीकोंसे उनकी पूजा तो करनी ही चाहिये, किंतु वाकी समयको सभी जीवोंकी सेवामें, विशेषकर मनुष्यमात्रकी सेवामें लगाना चाहिये। गीताके प्रसिद्ध वाक्य—‘सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च, (८।७)का भी यही तात्पर्य है। ध्यान, जपसे वैकुण्ठ-निवासी भगवान्की सेवा तथा कर्तव्यपालनसे घटघटवासी परमेश्वरकी पूजा होती है। यह दोनों ही प्रकारकी आराधना मनुष्यके लिये आवश्यक है। दोनोंके मेलसे ही गीताका नित्ययोग या सततयोग बनता है और उसीसे मनुष्य चरित्रवान् बन सकता है।

हम भगवान् कृष्णकी धातुकी बनी मूर्तिकी पूजा बड़े चावसे करते हैं; उसे स्नान कराते हैं, उसपर छूल चढ़ाते हैं, उसका शृङ्गार करते हैं, उसकी आरती उतारते हैं। यह सब बहुत अच्छा है, किंतु उनकी जीती-जागती विराट् और श्रेष्ठतम् मूर्ति, अर्थात् संसार जो सदा हमारे साथ है, जो हमारा पालन-पोषण करता है, जीवनको सुखमय बनाता है और हमसे भी सेवाकी आशा करता है, उस विश्वरूपकी हम अव्वेलना करते हैं, तिरस्कार करते हैं और उसको अपने कमों तथा निक्षियतासे पीड़ा पहुँचाते हैं। दूसरे शब्दोंमें सुदूर खर्गमें रहनेवाले भगवान्की तो हम ध्यान, जप भजन आदिद्वारा पूजा करते हैं, किंतु उसके चैतन्य और विराट्-खरूपकी हम तनिक भी परवाह नहीं करते। यही अनैतिकता, अधर्म, चरित्रहीनता और पापका मूल कारण है।

विष्णुसहस्रनाममें भगवान्का सबसे पहला नाम विश्व है। विश्व ईश्वरका सर्वप्रथम नाम ही नहीं, उनका मर्यादेष्टु और परमाराव्यस्वरूप भी है। इसी गूढ़ तत्त्वको समझानेके लिये भगवान् कृष्णने गीतामें अर्जुनको अपना विराट्-रूप दिखाया। इसलिये प्रत्येक मनुष्यको चाहिये कि सारी सृष्टिको, विशेषकर मानव-मात्रको सदा कृष्णमय और कृष्णस्वरूप देखे और उसीके अनुरूप सबसे प्रेम, मैत्री और आदरपूर्वक उचित व्यवहार करे। तभी श्रीकृष्णकी मूर्तिका पूजन वास्तविक सात्त्विक पूजन होगा।

परमेश्वरकी परम्परागत पूजासे बचे हुए सारे समयको उनके विराट् रूपकी अर्चना, बन्दना, शृङ्गार तथा आरतीमें अर्पित करना चाहिये। मानव-शरीर और उसके ऊपर भारतकी पुण्य भूमिमें जन्मको भगवान् कृष्णका महान् वरदान समझकर हम सदा उनका आभार मानें और उनका गुणगान करते रहें। साथ-साथ हमारा यह भी कर्तव्य है कि अपने देशकी, इसकी भूमिकी, इसके प्रत्येक पदार्थ और जीवकी, इसके सेतों, कारखानों, दफतरों, नगरों और बाजारोंकी प्रेमपूर्वक सेवा करे, उन्हें सेवारे, सजाएँ, सुन्धारित और उन्नत करे। विशेष आवश्यकता यह है कि हम अपने देशवासियों और सारे राष्ट्रको ज्ञान-विज्ञानो सलकमों तथा सद्गुणों-जैसे आभूषणोंसे अलंकृत करें। भगवान्के विराट्-रूपकी यही सच्ची उपासना और शृङ्गार है।

जो सज्जन सदाचारी और सेवापरायण हैं, जिनके मन, वाणी और कर्म एकरूप हैं, वे ही विराट्-भगवान्के सच्चे आभूषण हैं और वे ही उनको प्रिय हैं।

सबका एक ही ध्येय—सब धर्मों, प्रन्थों और सम्प्रदायोंका एक ही उद्देश्य होता है या कम-से-कम होना चाहिये कि अधिक-से-अधिक संस्थामें सत्पुरुष और महापुरुष, अच्छे गृहस्थ, अच्छे नागरिक, अच्छे प्रशासक,

अच्छे वैज्ञानिक, इंजीनियर और डॉक्टर तथा अच्छे नेता वनावें जिनके द्वारा नेक, सुव्यवस्थित, प्रगतिशील और सुखी समाजका निर्माण हो।

स्वामी विवेकानन्दने लिखा है—‘वह समय आनेवाला है, जब संसारके प्रत्येक नगरकी हर गलीमें संत धूमेंगे और हम यह समझने लगेंगे कि धर्मका रहस्य केवल इतना ही नहीं है कि पुरानी बातोंको सोचा और समझा जाय, बल्कि उन्हे जीवनमें उतारा जाय और उनसे भी श्रेष्ठतर विचारोंका अन्वेषण, प्रतिपादन और अभ्यास किया जाय।’ सन्तोंके बनानेके लिये प्रशिक्षण होना चाहिये। स्कूलों और कालेजोंका भी यही उद्देश्य होना चाहिये। सज्जनोंको तैयार करनेके लिये प्रशिक्षण वे दे जो ख्यं सदाचारी सच्चरित्र हो।

जैसी बातपर अधिक जोर दिया जाता है, वैसा ही धर्म, व्यक्ति और समाज बन जाता है। यदि हमें देशमें चरित्रका अभाव खटकता है तो हमें सदाचार, कर्तव्य-पालन, संयम, सादगी, ईमानदारी-जैसे दैवी गुणोंपर जोर देना होगा। यह प्रकृतिका नियम है कि सारे प्राणी पतन, त्रिगाड़, गड़वड़ी, अस्त-व्यस्तताकी ओर तो खतः ही आप-से-आप चले जाते हैं, किंतु ऊपर उठने और उन्नति करनेके लिये उन्हे पुरुषार्थ करना पड़ता है। चरित्र-निर्माणकी ओर यदि ध्यान नहीं दिया जायगा तो लोगोंका, समाजका चरित्र गिरता ही जायगा। यदि चरित्रको ऊपर उठाना है, यदि सत्य, ईमानदारी, प्रेम, करुणा-जैसे सच्चे भक्तके लक्षणोंको समाजमें स्थापित करना है तो उसके लिये सभी लोगोंको मिलजुलकर भगीरथ-प्रयास करना होगा। सामाजिक जीवनके प्रत्येक क्षेत्रमें सत्पुरुषों और श्रेष्ठजनोंका कर्तव्य है कि उपदेश और आचरण दोनोंके ही माध्यमसे

उदात्त आदर्श जनताके सामने स्पृश्यत्वसे रखे। यह काम राजनेताओं, प्रशासकों, पूँजीपतियों, शिक्षकों, मिलमालिकों तथा हर विभागके वरिष्ठ अधिकारियों इत्यादि सभीको करना चाहिये। किंतु मुख्यतः यह जिम्मेदारी हैं साधु-संतों, धर्मचार्यों, कथावाचकों तथा अन्य धर्मात्माओंकी। वे ही धर्मके प्रति दायी हैं। धर्म, समाजमें, राष्ट्रमें नैतिक मूल्योंको बनाये रखनेके लिये उन्हें सदा सज्जग और सक्रिय रहना चाहिये। उन्हे हर घर, हर पाठशाला, हर विद्यालय, हर दफ्तर और कारखानेमें सदाचारका प्रचार करना चाहिये और सदा अपने शिष्यों, भक्तो और अनुयायियोंको सन्मार्गपर चलनेके लिये प्रेरित करना चाहिये।

चरित्र-निर्माण केवल एकान्तमें नहीं होता, बल्कि यह घरों, पाठशालाओं, दफ्तरों, कारखानोंमें, जहाँ अनेक लोग साथ रहते और मिलकर काम करते हैं, जहाँ प्रलोभन-आलस्य, संघर्ष, कपड़, और झुंडके अवसर बारबार आते रहते हैं, वहाँ भी हो सकता है। अतः हर गुणको अपनानेके लिये अलग प्रयास करना होगा। कड़ी मेहनत कर परिश्रमी, सच बोलकर सत्यवादी और दान करके परोपकारी बनना होगा। केवल सत्यवादी, ईमानदार या अहिंसक होकर भी कोई मनुष्य परोपकारी नहीं बन जाता। यह भी आवश्यक नहीं कि ध्यान या जन करनेवाला सदाचारी हो या कोई विद्वान् ईमानदार या उठार ही हो। ऐसा कोई महामन्त्र आजतक नहीं मिला, जो मनुष्यको विना प्रयासके सभी सद्गुणोंसे ममन्न कर सके। हमें यह भी अच्छी तरह समझ लेना चाहिये कि चरित्रनिर्माणका काम या सत्त्व-गुणके प्रचारका काम एक-दो दिन या कुछ वर्षोंका नहीं, बरन् सदा-सर्वदाका है। चरित्रको ऊपर उठाना एक बात है, उसे ऊँचे स्तरपर बनाये रखना दूसरी बात है।

चरित्रनिर्माणके लिये जो पुरुषार्थ आवश्यक है, वह निरन्तर चलता रहना चाहिये । चरित्रको उच्च स्तरपर स्थिर रखनेके लिये एक सुट्ट, स्थायी और विश्वव्यापी संस्थाकी आवश्यकता है; क्योंकि ज्यो-ही हम सदाचारकी ओरसे जरा भी प्रमाद करेंगे, त्यो-ही दुराचार चुपके-चुपके से हमारे भीतर घुस आयेगा और हमपर हावी हो जायगा ।

जैसे सदाचार सिखानेका काम समाजके बर्गोंमें विशेषकर साधुओं, मनीषियों और धर्मचार्योंका है, उसी

तरह संसारमें सदाचारोपदेशका काम भारतवर्षका रहा है । हमारे पास ज्ञान, वैराग्य और विवेककी जो अनुपम निधि है, उसका लाभ उठानेके लिये सारा संसार हमारी ओर टकड़की लगाये हैं । दूसरे शब्दोंमें कहे तो शताव्दियोंसे जगद्गुरुका स्थान भारतके लिये पुनः रिक्त है । किंतु हम अब इस पदके योग्य तभी होगे; जब वेदान्त और गीताको ठीक-ठीक समझ ले, उनके अनुरूप लोगोंके चरित्रका निर्माण करे और अपने देशको स्वर्गका नमूना बना ले ।

विभिन्न प्रसङ्गोंमें चारित्र्य

(लेखक—डॉ० श्रीलक्ष्मणप्रसादजी नायक, एम० प० (हिन्दी, राजनीतिविज्ञान), राष्ट्रभाषा-रत्न, एच० टी० टी० सी०, वी० एड०, पी-एच० डी०)

मनुष्य-जीवनमें चरित्रका स्थान बड़े महत्वका है । एक अंग्रेजी कहावतके अनुसार ‘धन चले जानेपर कुछ नष्ट नहीं होता, स्वास्थ्यहानिपर कुछ नष्ट होता है, परंतु चरित्रके नष्ट होनेपर सब कुछ नष्ट हो जाता है ।’

चरित्र एवं जीवनकी परिमापा व्यापक है । अमरकोशमें कहा गया है—‘शुचौ तु चरिते शीलः—शुद्ध आचरणका नाम शील है (३ । २६) । विभिन्न शब्दकोशोंमें शीलके लिये उत्तम स्वभाव, आचरण, करनी, करत्त, चरित्र, जीवन, सदाचार, विनयपूर्वक शिष्ट-शुद्ध वृत्ति, आचरण आदि पर्याय मिलते हैं । निर्दोष, सच्छ, निष्पाप, निष्कलङ्क, पवित्र अथवा उज्ज्वल शुद्ध आचरण शील है । सामान्य अर्थमें वही व्यक्ति चरित्रवान् कहा जा सकता है, जिसकी भावनाएँ मनुष्यत्वसे युक्त हो, जो प्रत्येक कार्यमें दूसरोंके सुख एवं हितका ध्यान रखे तथा प्रत्येक कार्यसे दूसरोंको सुख एवं लाभ पहुँचाये ।

प्राचीन युगोंमें चरित्रपर पूरा-पूरा ध्यान दिया जाता था; क्योंकि मुक्तिकी प्राप्तिके लिये लोकरक्षन भी आवश्यक था । इसकी प्राप्तिके बिना अभीष्ट-

प्राप्ति दुष्कर थी । लोकरक्षना, जनानुराग उच्चकोटिकी नैतिकतासे ही प्राप्त हो सकती है । अतः सभी सम्पदाओंसे वही सम्पदा थी—सच्चित्रिता । इसी सत्यको लेकर ही सभी मनीषियोंने मानवको सच्ची मानवतातक ले जानेका भगीरथप्रयत्न किया है । इसी भावको लक्ष्य कर कठीने कहा था—

सीलवन्त सबते बडो, सबै रतनकी खान ।
तीन लोक की सम्पदा, रही सील मे आन ॥
उन्होने और भी कहा है—

ज्ञानी ध्यानी संयमी, दाता सूर अनेक ।
जपिया तपिया बहुत हैं, सीलवन्त कोई एक ॥

प्राचीन युगोंका समाज निश्चय ही सत्पथगामी ‘शील’-की दृष्टिसे एक आदर्श समाज था; क्योंकि उस समाजमें शीलवन्त व्यक्तिकी मौग थी । आर्यत्व प्राप्त कर लेना किसी भी अर्थमें देवत्वसे कम महत्वपूर्ण न था । ‘अनार्य’, शब्द गालीके तुल्य हो गया था । भगवान् बुद्धने सत्यको ‘आर्य’ विशेषणसे भूषित कर दिया था । यह आर्य सत्य दूसरे सत्योंसे श्रेष्ठ माना गया है । बुद्धके अनुसार आर्यसत्यके चार प्रकार हैं—

१—दुःख—आर्यसत्य ।
 २—दुःख-समुदाय—आर्यसत्य ।
 ३—दुःखनिरोध—आर्यसत्य ।
 ४—दुःख-निरोधकी ओर ले जानेवाले मार्ग—
 आर्यसत्य । आर्यसत्यका अर्थ है—श्रेष्ठ सत्य । सदाचारी,
 धार्मिक आर्यव्यक्ति ही ब्रह्मगवनसमर्थ होता है ।
 महाभारतमें कहा गया है—

यदा न कुरुते भावं सर्वभूतेषु पापकम् ।
 कर्मणा मनसा चाच्चा ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥

(महा० १२ । १७४ । ५२, १७५ । २७)

आर्यधर्मके लक्षणमें मनुने कहा है—

धृतिः क्षमा द्व्योऽस्तेवं शौचमिद्वियनिव्रहः ।
 धीर्विद्या सत्यमकोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥

(मनु० ६ । ९२)

समाजके संरक्षण-हेतु धर्मका आविर्भाव हुआ है ।
 जो धारण कर लेनेपर समाजकी रक्षा करनेमें समर्थ है,
 वही धर्म है । धर्म सार्य माना जाता था । पतञ्जलिने
 योगदर्शनमें कहा है—‘जीवनमें सद्गुणोंकी प्राप्ति
 मोक्ष, निर्वाण अथवा कैवल्यकी प्राप्ति लगातार प्रयत्नों
 एवं प्रयोगोंसे होती है ।’ गीताके अनुसार अनेक जन्मोंतक
 प्रयत्न एवं प्रयोगोंसे ही यह दुर्लभ मोक्ष प्राप्त होता है ।

अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ।
 (गीता ६ । ४५)

जातककथाओंमें उन्नतिके छः द्वार बतलाये गये हैं—

आरोग्यमिच्छे परमं च लाभं

सीलं च बुद्धानुभतं षुतं च ।
 धर्मानुवर्ती च अलीनता च

अथस्स द्वारा पुमुखा छड़ेते ॥५॥

नीरोगता, सदाचार, ज्ञान-बृद्धोंका उपदेश और बहुश्रुतता,
 धर्मानुकूल आचरण एवं अनासक्ति—ये छः अर्थके द्वार हैं ।

* अत्यस्तद्वारजातक ।

+ सीलविमशजातक ।

सीलं किरेव कल्याणं सीलं लोके बनुत्तरम् ।†

शरीर, वाणी तथा मनसे सदाचारके नियमोंका पालन
 करना ही आचार—शील है । भगवान् बुद्धने शीलके
 चार प्रकार बतलाये हैं—‡

१—चातुपरिसुद्धिसील (पातिमोक्षसंवरसील)

२—इन्द्रिय संवरसील ।

३—आजीवनपारिसुद्धि संवरसील ।

४—पञ्चयसनिस्तिसंवरसील ॥६॥

‘धर्मपदमें कहा गया है—‘धर्मपदं कुसलो पुफकमिव
 पच्चेसति’—कुशल गनुष्य भलीभौति उपदिष्ट धर्मके
 पदोंको पुष्टकी भौति चयन करेगा । ‘शील’से प्राप्त
 होनेवाले लाभकी गणना करते हुए भगवान् बुद्धने
 पाटलिपुत्रके उपासकोंको सम्बोधित कर कहा था—

१—पाप-विषयमें लिपि न हों, सदाचारी वना रहे
 और अप्रमादी रहकर कर्तव्यका पालन करनेसे अपार
 भोग-वस्तुओंकी अनायास प्राप्ति होती है । शील-पालनका
 यह पहला लाभ है । २—शीलवान् का सुयश सर्वत्र
 फैलता है । यह दूसरा लाभ है । ३—शीलवान् पुस्त
 निर्भय रहता है । यह तीसरा लाभ है । ४—मरते समय
 शीलवान् अपना ज्ञान नहीं खोता, होशमें रहता है ।

यह चौथा लाभ है । ५—मरनेके बाद सुन्दर गति प्राप्त
 होती है, खर्गमें जन्म प्रहण करता है, यह पाँचवाँ
 लाभ है । ×

चरित्र केवल चरित्रके लिये नहीं है । जीवनको
 ऊपर रहनेके लिये, भौतिक एवं आध्यात्मिक सुखके
 लिये, भय, अशान्ति, अन्याय, दुराचारसे दूर रहनेके लिये
 शील ही एकमात्र शक्ति है जो अमरत्व प्रदान करता
 है । ‘सदाचार ही जीवन है ।’ धर्मपदमें सदाचारकी
 महत्त्वाका वर्णन करते हुए कहा गया है—

* अत्यस्तद्वारजातक । + सीलविमशजातक । ‡ मञ्जिषमनिकाय । ६ धर्मपदं पुष्टवग्मो ॥४॥ । १ ।

× विनयपिटक—राहुल साकृत्यायन १९३५, पृ० २३९

चन्दनं तगरं वापि उपलं अथ वस्सकी।
एतेसं गन्धजातानं सीलगन्धो अनुत्तरो ॥

‘चन्दन, तगर, कमल या जुही—इन सबकी सुगन्धोंसे
सदाचारकी गन्ध उत्कृष्ट होती है।’

‘धर्मचारी सुखं सेति जस्मि लोके परम्हि च ।

धर्मका आचरण करनेवाला इस लोकमें तथा दूसरे
लोकमें सुखपूर्वक रहता है। गोखामी तुलसीदासजीने भी
सत्य एवं धर्मके विषयमें कहा है—

सत्यमूल सम सुकृत सुहाए । वेद पुरान विदित सुनि गाए ॥
धर्म न दूसर सत्य समाना । आगम निगम पुरान वस्त्राना ॥

ऐतरेय-ब्राह्मणमें शीलका महत्व प्रतिपादित करते
हुए कहा गया है कि वैराग्यकी स्थिति तभी पैदा हो
सकती है, जब समाजका प्रत्येक व्यक्ति शीलवान् हो,
वह दुर्गुणों एवं विकारोंसे प्रस्त न हो। किंतु बड़े
दुःखकी बात है कि ऐसे गौरवमय चरित्र-प्रधान देशमें
इस समय दुराचारकी ऐसी हवा फैली है कि हम
सभीकी आँखें कट चुकी हैं, चाहे जो जहाँ भी
है। यह कैसी बुराई है अनर्थकी? ‘धर्मपदमें कहा
गया है—

सेम्यो अयोगुलो भुत्तो नत्तो अग्निसिखूपमो ।
यं चे भुजेत्य दुर्सीलो रद्धपिण्डमज्जसतो ॥
(लोकवग्म १६८ । २)

‘दुराचारी तथा असंयत मनुष्यके लिये राष्ट्रका अन्न
खानेकी अपेक्षा अग्निकी सिखाके समान जलता हुआ
लोहेका गोला खाना श्रेयस्कर है।’ वहीं आगे कहा
गया है कि जहाँ दुराचार है, वहाँ खतन्त्रता
नहीं है—

यस्स अश्वन्त दुर्सीलयं मालुवा सालमिवोततं ।
करोति सो तथतानं न इच्छतीशालमिपाततम् ॥

(अच्चव १६२ । ६)

‘दुराचारी मनुष्य शब्दकी इच्छाके अनुसार कार्य
करता है, जिस तरह मालुवा लता साल-वृक्षको कटनेके
बाव्य कर देती है।’ और भी कहा गया है—

यो च वस्ससतं जीवे दुर्सीलो असमाहितो ।
एकाहं जीवितं सेव्यो सीलवन्तसद्व्याधिनो ॥

‘दुराचारी और असयत रहकर सौ वर्षतक जीवित
रहना निर्यक है। पर सदाचारी और संयत
रहकर एक दिनका जीवित रहना श्रेष्ठ है।’ ऋग्वेदमें
कहा गया है—

‘ऋतस्य पंथां न तरन्ति दुष्कृतः ।’

(१ । ७३ । ६)

जो व्यक्ति जातिसे पतित है, जो संस्कार, कुल,
संगति अथवा किसी भी दृष्टिकोणसे गिर चुका है, वह
सत्यके मार्गको पार नहीं कर सकता। असत्पुरुष-
(दुराचारी)का किया हुआ उपकार भी नष्ट हो जाता
है। इसी बातको बुद्धने इस प्रकार कहा है—

यथा वीजं अग्निस्मिं डहति न विरहति ।
एवं कर्तं असधुरिस्मिं हरहति न विरहति ॥

रहीम कविने भी कहा है—

रहिमन पानी राखिए, बिन पानी सब सून ।
पानी गये न ऊबरे, मोती मानुष चून ॥

भारतीय संस्कृति गौरवमय चरित्रोंसे गढ़ी गयी है,
जो चिर-प्रम्परित विश्व-सम्यताको दिग्दर्शन कराती
रही है। एक विद्वान्के कथनानुसार चरित्रमें सामान्य
आचार, व्यक्तिगत आचार, कुदुम्ब-आचार, जातिपरक
आचार, राष्ट्रपरक आचार, विश्वपरक आचार, विशिष्ट
आचारके अन्तर्गत—वर्णके विशिष्ट आचार, आश्रमके
विशिष्ट आचार, ख्यायोके विशिष्ट आचार, दैनिक आचार,
नैमित्तिक आचार आदि भी प्रावृद्ध हैं। वस्तुतः इन
सभीकी ओर ध्यान दिया जाना आवश्यक है।

चरित्रकी आदर्शभूत चरितार्थता

(लेखक—पं० श्रीसदानन्दजी द्विवेदी, सार्वात्मकाचार्य, आयुर्वेदाचार्य, साहित्यरत्न, एम० ए०, डिप० इन० एड०)

वेदशास्त्रोंके अध्ययन एव सत्पुरुषोंकी सत्संगतिद्वारा मनुष्य विवेक प्राप्त करता है। फिर वह अपनी सत्प्रवृत्तियोंको जाप्रत् कर तदनुकूल आचरण करता है। ये प्रवृत्तियाँ जब जीवनका अङ्ग बन जाती हैं, तब चरित्र-संज्ञासे अभिहित होती हैं। वेदोंके सारतत्त्व 'वेदमाता गायत्री'-महामन्त्रमें भी विवेकके लिये ही प्रार्थना की गयी है—ॐ भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्—। उस सविता देवताके वरेण्य भर्ग प्रकाशका हम ध्यान करते हैं, जो हमारी बुद्धिको (सत्कर्मके लिये) प्रेरित करे। इस चौबीस अश्वरके लघुमन्त्रमें सविता देवतासे बुद्धिको सन्मार्गकी ओर प्रेरित करनेकी प्रार्थना की गयी है। निश्चय ही यह प्रेरणा चरित्रविधायक मन्त्रमेंके लिये प्रार्थित है।

उपनयन-संस्कार एवं गायत्री-मन्त्रका उपदेश पाकर
भारतीय विद्यार्थी गुरुकुलमें प्रवेश करते थे और पूर्ण
ब्रह्मचारी रहकर लगभग पचीस वर्षोंतक आश्रमका पवित्र
जीवन व्यतीत करते थे । चरित्र-निर्माण एवं ज्ञानार्जनके
साथ ही तपःपूत जीवन समाप्त करनेपर उन्हें गृहस्थ-
जीवनमें प्रवेश करनेकी अनुमति मिलती थी । समावर्तनके
ममय वे आजीवन इन कर्तव्योंके पालनके लिये प्रतिज्ञा-
वद्ध होते थे । उनके लिये गुरुके उपदेश थे—“सत्य
बोलो, धर्मका पालन करो । सद्ग्रन्थोंके साम्यायमें प्रमाद
मन करो । सन्यसे कभी नहीं डिगना चाहिये । धर्ममें कभी
प्रमाद न करना, शुभ कर्मसे कभी नहीं चूकना चाहिये ।
वेदोंके पढ़ने और पढ़ानेमें कभी भूल नहीं करनी
चाहिये । दंवकार्यसे और पितृ-कार्यमें कभी नहीं चूकना
चाहिये । माताको देवता मानो; पिताको देवता मानो ।
आचार्यको देवता मानो; अतिथिको देवता मानो । जितने

अनिन्दित (अच्छे) कर्म हैं, उनका सेवन करना चाहिये, इतर अर्थात् निन्दित कर्मोंका नहीं; हमारे आचरणोंमेंसे भी जो-जो अच्छे चरित्र हैं, उन्हींका सेवन तुमको करना चाहिये, दूसरोंका कभी नहीं ।'

विद्यार्थी गुरुकुलमें प्राप्त इन उपदेशोंका पालन
गृहस्थ-जीवनमें करते थे। इससे समाजमें आठर्घ उदाहरण
उपस्थित होता था। फलतः चरित्रपर विद्योप ब्रह्म पड़ता
था। चरित्र-निर्माण व्रह्मचर्य-आश्रमीय जीवनका मुख्य
लक्ष्य था। इसालिये ये विद्यार्थी विश्वासियोंको
चरित्रशिक्षणके लिये लक्ष्याग कर कहते थे—

एतदेशप्रसूतस्य सकाशाद्ग्रजन्मनः ।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेन पृथिव्याः सर्वमानवाः ॥

‘हम देश- (भारत-)मे उन्हन अप्रजन्मा-
 (ब्राह्मण-)से पृथ्वीके सभी लोग अपने-अपने चरित्रिको
 सीखें ।’ (हम चरित्रिके प्रयोक्ता आचार्य हैं ।)

इस सम्बन्धमें तश्शिला गुरुकुलके स्नातक आचार्य चाणक्यका निर्दर्शन अत्यन्त प्रेरणाप्रद है। एक बार उनकी पर्णकुटी (झोपड़ी) पर एक विदेशी उनसे मिळने आया। द्वारपालने उसके आनेकी सूचना दी। आचार्य चाणक्य उस समय मगध साम्राज्यके महामन्त्रीके रूपमें राजकीय कार्यसभ्यादनमें व्यस्त थे। उन्होंने थोड़ी देरके बाद मिलनेकी स्वीकृति दे दी। कुछ देर बाद उन्होंने जलते हुए दीपकको बुझा दिया और एक दूसरा दीपक जलाकर विदेशी यात्रीको बुलाकर बाते कीं। लौटते समय उस यात्रीने मिलनेमें तनिक विलम्ब होनेका कारण जानना चाहा। उसने एक जलते हुए दीपकको बुझाने तथा उसके स्थानपर दूसरा दीपक जलानेका रहस्य भी जानना चाहा। वह अलगसे झोपड़ीमें होनेवाले कार्यकलापको देख चका था।

महामन्त्री चाणक्यने कहा—‘महाशय ! मैं राज्यके आवश्यक कार्योंके सम्पादनमें व्यस्त था और उसे पूरा कर ही मैंने मिलना उचित समझा, अतः थोड़ी देर हो गयी । पहला दीपक राजकीय था, अतः उसका उपयोग केवल राजकीय कामके लिये किया गया । आपसे मिलना यह स्वकीय काम था, अतः मैंने स्वकीय दीपक जलाकर अपना काम किया ।’ आचार्य चाणक्यके इस उत्तरसे यात्री विस्मित हुआ । काश ! आजके पदाधिकारी चाणक्यसे प्रेरणा लेने ।

पुराणोंमें भी चारित्रिक प्रसङ्गोंका उल्लेख करके चारित्र-निर्माणपर बल दिया गया है । महाभारतके ‘शान्तिपर्व’ में वर्णित कपोतदमृतिका आख्यान किनना प्रेरणाप्रद है । शरणागत हुए शत्रु व्याघेको कट-मुक्त करनेके लिये उस कपोतने सूखे पत्ते इकट्ठे किये । आगका प्रबन्ध किया और उसे ठंडकसे मुक्त किया । अन्तमें स्वयं अग्निमें जलकर उसकी भूख भी मिटायी । आतिथ्य सत्कारका यह चरित्र और कहाँ है ?

जटायुने रावणके अनाचारके विरुद्ध संघर्ष किया और अपनी जान गंवायी । बन्दर-भालुओंने दुराचारीके दमनमें भगवान् रामका साथ दिया । इस प्रकार मानवचरित्रसे पशु-पक्षी भी प्रभावित हुए और अपने दिव्य चरित्रोंसे अमर बन गये । रामचरित-मानसके नायकपक्षीय सभी पात्रोंके चरित्र आदर्शभूत थे । प्रतिनायक रावणके सभी पात्र चारित्र्यशक्तिसे रहित थे, अतः वह पराजित हुआ—चरित्रं जयति ।

महर्पि न्यासने श्रेष्ठताका आधार चरित्रको माना है, यक्षने जलके लिये समागत युधिष्ठिरसे श्रेष्ठताका आधार जानना चाहा—

राजन् ! कुलेन वृत्तेन स्वाध्यायेन श्रुतेन च ।
व्राह्मणं केन भवति प्रवृद्ध्यतद् सुनिश्चितम् ॥

राजन् ! यह सुनिश्चित कर बतलाये कि व्राह्मण किससे प्राप्त होता है—कुलसे, चरित्रसे,

स्वाध्यायसे अथवा वहश्वत (अधिक अध्ययन)होनेसे ? युधिष्ठिरने स्पष्ट शब्दोंमें चरित्रकी महत्ता बतलायी और कहा—

शृणु यक्ष कुलं तात न स्वाध्यायो न च श्रुतम् ।
कारणं हि द्विजत्वे च वृत्तमेव न संशयः ॥
वृत्तं यत्नेन सरक्षयं व्राह्मणेन विशेषतः ॥
अशीणवृत्तो न क्षीणो वृत्ततस्तु हतो हतः ॥

यक्ष ! सुनो, श्रेष्ठताका कारण कुल, स्वाध्याय या ख्याति नहीं, निःसन्देह चरित्र ही है । इसलिये यत्नपूर्वक चरित्रकी सर्वथा रक्षा करनी चाहिये और व्राह्मण-(श्रेष्ठ)-को तो विशेष रूपसे, क्योंकि चरित्र क्षीण नहीं होनेपर मनुष्यका कुछ भी क्षीण नहीं होता और चरित्र क्षीण होनेपर तो सब कुछ नष्ट ही समझना चाहिये । स्मृतिकार मनुने धर्मके लक्षण बतलाते हुए कहा है—

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः ।
एतच्छ्रुतिर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम् ॥

वेदोंका अध्ययन, शास्त्रोंका चिन्तन, सदाचारका पालन तथा अपनी आत्माका प्रिय करना—ये चार धर्मके प्रत्यक्ष लक्षण हैं । वेदों एवं शास्त्रोंका अध्ययन सदसद्विवेक उत्पन्न करता है और उससे हम कर्तव्य तथा अकर्तव्यको पहचानकर अपनी आत्माके प्रिय करनेके लिये सत्य, अहिंसा इत्यादि सत्प्रवृत्तियोंका सेवन करते हैं । इस प्रकार धर्म पूर्वं चरित्र एक दूसरेके पूरक बन जाते हैं । विवेक चरित्रकी आधार-शिलापर ही निर्मर रहता है । गोखामी तुलसीदासजीने सत्संगतिको विवेकका मूल कारण माना है—
विनु सत्संग विवेक न होई । राम कृपा विनु सुलभ न सोई ॥

रामकी कृपा होती है तो चरित्रकी मूर्ति संत मिलते हैं और तब फिर विवेक होता है । लगता है चरित्र ही विवेकका जनक है । चरित्रके विना कोई संत हो भी कैसे सकता है ? साधुके चरित्रके सम्बन्धमें गोखामीजी लिखते हैं—

माधुन्तरित सुभ सरिस कपासू। निरस बिसद गुनसय फल जासू॥
जो सहि दुख परछिद् दुरावा। वंदनीय तेहि जग जम पाया॥

वेट-शाखोका स्थाव्याय सत्सङ्घ है। राजपि मनुके विचारमें दुराचारी पुरुष निर्दित, दुखी, रोगी एवं अल्पायु होता है। चरित्रहीन और हिंसक व्यक्ति कभी सुखी नहीं होता। भारतेन्दु हरिचन्दने कहा था—‘शरीरमें चरित्र ही मुख्य वस्तु है, वचनसे उपदेशक और क्रियादिसे कैसा ही धर्मनिष्ठ क्यों न हो, पर यदि उसके चरित्र शुद्ध नहीं हैं तो वह लोगोंमें टकसाल न समझा जायगा।’

अमेरिकाके राष्ट्रपति अब्राहम लिंकनसे किसीने पूछा—
महान्-ता-(महत्ता-) का सर्वप्रधानलक्षण क्या है ?
उन्होंने इट कहा—‘सच्चरिता’। इतिहास लिंकनके इस उत्तरकी पुष्टि करता है। अब्राहम लिंकनका चरित्र राष्ट्रके लिये आदर्श था। संतोंको त्याग एवं चरित्रके कारण ही समाजमें सदैव आदर मिलता रहा। वे समाजको समर्पित होकर ‘महात्मा’ कहलाये। गौतम बुद्ध एवं महावीरने ‘बहुजनहिताय बहुजनसुखाय’ अपनेको न्योछावर कर दिया था। उनके सत्य एवं अहिंसाका सदेश विश्वके कोने-कोनेमें पहुँचाया गया। अद्भुतिमाल-जैसे वर्वर दानवके चरित्र सुधारनेमें उन्हें सफलता मिली। अशोक-जैसे सम्राट् ने उनके विचारोके प्रचारमें अपनेको तथा अपने पुत्र एवं पुत्रियोंको लगा दिया। चरित्रवलपर उन्होंने समाजमें अद्भुत सम्मान प्राप्त किया।

सत्य, अहिंसा, अस्तेय (चोरी नहीं करना),
ब्रह्मचर्य, असंग्रह, बुद्धि, विद्या, अक्रोध, वितृष्णा,
परोपकार आदि सद्गुणोंको जीवनका अंग बनाना ही
तो चरित्र-निर्माण करना है। मात्रहनोंको श्रद्धामयी
दृष्टिसे देखना, आर्थिक शुद्धि अपनाना, परित्रिमकी
सम्पत्तिपर स्त्रिय रखना, सेवाभाव अपनाना, सभीके
साथ स्नेहपूर्ण व्यवहार रखना तथा विश्ववन्धुत्वकी
भावना जगाना ही मनुष्यको देवता बनाना है।

चरित्रकी आभा व्यक्तित्वको निखारती है। मनुष्य सर्वदा स्वार्थके धरातलपर नहीं रह सकता। लोकका सुख-न्दुःख भी उसका अपना सुख-न्दुःख होता है। चरित्रहीन मानव इक्ष्य-निप्रही बनकर निवृत्तिमार्गी भी बन सकता है और इस प्रकार वह इहलैकिक एवं पारलैकिक दोनों सुखोंको प्राप्त कर सकता है। परं चरित्रका सबल चाहिये।

आर्य सम्यताके युगसे लेकर आजतक देशने कितने उत्थान-प्रतन देखे। विभिन्न सम्यताओं एवं संस्कृतियोंमें भारतीय संस्कृतिको प्रभावित किया, फिर भी हम आचरणकी पवित्रताको महत्व देते रहे। ‘आचार-प्रभवो धर्मः’ हमारा सिद्धान्त बना रहा। तभी हमारा धर्म सनातन या शाश्वत कहलाया।

सम्प्रति कुछ लोग चरित्रको छोड़ते जा रहे हैं। भ्रष्ट भोजन, चलचित्रोंका नग्नप्रदर्शन, लङ्घ-विहीन शिक्षा, अंग्रेजी भाषा एवं सम्यताके प्रति आकर्षण तथा स्वार्थ-परताने आज मनुष्यको अन्या बना दिया है। बच्चा माँको ‘भम्मी’ एवं पिताको ‘पप्पा’ कहने लगा है। दुर्बलनाम्रस्त लोगोंको सहायता देनेके बदले उनकी सम्पत्ति हथियानेमें तल्पता देखी जा रही है। आपद-प्रस्त लोगोंको दी जानेवाली सहायता-सामग्री अन्यत्र चली जाती है। राम, कृष्ण, सीता, सावित्री अनुसूयाके देशमें चरित्र उन्नयनकी चिन्ता नहीं है। शिक्षितों एवं अशिक्षितोंका आचरण एक-जैसा हो गया है। चरित्रहीन व्यक्ति समाजमें आज माझा ऊँचा करके चलता है। पथ-निर्देशक ही पथभ्रष्ट हो गये हैं। मनुष्य वैसेके पीछे पागल है। मानव मानवके रक्तका भी प्यासा बन गया है। चारों ओर संवर्ष एवं कलहपूर्ण वातावरणका साम्राज्य है। शिक्षालयोंका वातावरण संवर्षपूर्ण है। बैंजानिक लोक-कल्याणसे अधिक लोक-संहारके उपकरण एकत्र करनेमें लगे हुए हैं। परम्परागत भारतीय परिवार दृटता जा रहा है।

इन विषम परिस्थितियोंसे समाजको बचानेके लिये आदर्शात्मक चरित्र-निर्माणकी अत्यन्त अपेक्षा है। यह तभी सम्भव है, जब शिक्षाप्रणालीमें आमूल परिवर्तन किया जाय और उसे भारतीय परम्पराके अनुकूल बनाकर उद्योगोन्मुखी बनाया जाय; आदर्श और व्यवहारका समन्वय उपस्थित किया जाय; चरित्र-शिक्षा अनिवार्य की जाय।

चलचित्रोंने समाजको पूर्णरूपसे प्रभावित किया है। खान-पान, रहन-सहन सबपर उसका प्रत्यक्ष प्रभाव है। अतः उसमें अपेक्षित सुधार करके उत्तेजक चित्रों-पर प्रतिवन्ध लगा देना चाहिये तथा चरित्रको उन्नत बनानेवाले चित्रोंका प्रदर्शन होना चाहिये। श्रमकी प्रतिष्ठा होनी चाहिये तथा गर्हित कर्म करके धन कमानेवालोंकी सामाजिक उपेक्षा होनी चाहिये। अर्थर्जनकी पुनीत पद्धतिका आदर्श स्थापित हो, तभी स्पर्धावाली धन-लोकुपता समाप्त होगी और तब चरित्र पनपेगा। अर्थर्जनकी होड़ तथा विलासिताकी प्रवृत्ति राष्ट्रिय चरित्र-निर्माणमें बाधक बनी हुई है।

प्राथक्रममें महान् पुंरुषो एवं उत्तम आचरणवाली महिलाओंके जीवन-चरित्रको स्थान मिलना चाहिये।

भ्रष्ट साहित्यके प्रकाशनपर नियन्त्रण रखना होगा तथा सत्साहित्यका प्रचार-प्रसार करना होगा। गंदे साहित्यसे चरित्र गिरता है, गिरता जा रहा है। चरित्र-निर्माण-सम्बन्धी धार्मिक सदग्रन्थो—श्रीमद्भगवद्गीता एवं श्रीरामचरितमानससे दिव्य विचारोंको लेकर चल-चित्रोंद्वारा तथा समाजसुधारक संतोद्वारा प्रचार कराना होगा। माता-पिता अपने बच्चोंको चरित्रशील नागरिक बनानेके लिये अपेक्षित गुणोंके विकासमें हाथ बटायें, तभी देशका अधिक कल्याण होगा। प्रारम्भसे ही पारिवारिक वातावरणको भारतीय परम्पराके अनुकूल तथा शिक्षालयके वातावरणको स्नेहपूर्ण गुरुकुलके अनुरूप बनाकर हम आनेवाली संतानके चरित्रको उत्तम बना सकते हैं। प्रारम्भसे ही बच्चोंको मात्र अर्थोपार्जनकी कामनासे अंग्रेजी सिखलानेपर बल दिया जाता है; इसपर नियन्त्रण करना होगा। अगर माता-पिता उसी अवस्थासे संस्कृत या हिन्दी भाषामें आये सुन्दर विचारोंसे बच्चोंको अवगत कराते तो निश्चय ही देशमें चरित्रबलवाले व्यक्तियोंकी संख्या अधिक होती। चरित्रसे उनका भी जीवन आनन्दमय होगा और राष्ट्रका भी परम कल्याण होगा।

चरित्र-शिक्षाकी दिशा

वाल्यकाल चरित्र-शिक्षाका समुपयुक्त समय है। बालकका चरित्र-निर्माण वाल्यावस्थासे ही प्रारम्भ हो जाता है। चरित्रकी नींव माता-पिताकी संस्कृति होती है और उसकी भित्ति-सामग्री सामाजिक परिवेश होता है। माता-पिताकी संस्कृति जैसी होती है, बालकका चरित्र भी वैसा ही बनता जाता है। दयाशील, सहृदय, सौहार्द-सम्पन्न व्यक्तिका बालक संकोची, विनयी एवं सुशील बनता है, एर प्रू-कुटिल कठोर एवं हृदयकी संतान दुश्शील निर्दयी और निर्मांही निकलती है। अतः यह स्पष्टतः कहा जा सकता है कि यदि आप चाहते हैं कि आपकी संतान सुसंतान बने, सदय, सहृदय और सुसंस्कृत हो तो आप भी वैसे अवदात अनवद्य गुणोंका आत्मावधान कीजिये। संतानोत्पत्ति सोहृदय होनी चाहिये। हमें भावना करनी चाहिये कि हमारी संतान देश-धर्मकी सेवामें तन, मन लगानेवाली और प्रभुभक्त हो। तभी हम चरित्रशील पुत्र-पुत्रियाँ उत्पन्न कर अपना तथा देशका कल्याण और विश्वका मङ्गल कर सकते हैं। चारित्र्यसे युक्त राम-जैसे पुत्र उत्पन्न करनेवाले देशमें 'रावण' उत्पन्न न हो, इसके लिये उक्त दिशाका पथिक बनना चाहिये। पर प्रश्न यह होता है कि क्या हम इस दिशामें बढ़ रहे हैं।

स्वाध्यायसे चरित्रनिर्माण

(लेखक—श्रीनारायण वास्तविकर्जी पटेलके)

‘स्वाध्यायादिष्टेवतासम्प्रयोगः’ (योग : १४८)

अर्थात् ‘वेदादि प्रन्थो एवं प्रणवादिके जपपरायण व्यक्तिको इष्ट देवताका साक्षात्कार होता है ।’ व्यासभाष्य और भोजवृत्तिमें कहा गया है कि इच्छित ईश्वरीय शक्तिके द्वित्र्य प्रभाव रखनेवाले देवता, कृपि और मिह, जो अदृश्य-रूपसे जगत्मे सचार करते रहते हैं, वे सब अभ्यास और वैराग्ययुक्त साधन करनेवालोंको प्रत्यक्ष होकर इष्ट-सिद्धिके लिये मार्गदर्शन करते हैं ।’ सद्ग्रन्थो और मन्त्रालयोंमें नियमपूर्वक पठन तथा श्रवण-मनन, निर्दिष्यासन एवं नाम-जपको स्वाध्याय कहा जाता है । यही सन्सङ्घ है । ऐसे स्वाध्यायीको उसके उद्दिष्ट और प्रभावी चरित्र-निर्माणमें यह तत्त्वज्ञान अलौकिक सहायक होगा । इसमें क्या सद्देह ?

मनुष्यका अपने जीवनको उन्नत और श्रेष्ठ बनाना ही चरित्र है । समुद्रका खारा जल आकाशमें उन्नत होकर अमृततुल्य जीवनप्रद बनता है, परतु उस स्थितिको पहुँचनेके लिये जिस प्रकार रूप्यके प्रकाश और उण्ठाताकी आवश्यकता है, वैमे ही मनुष्यके चरित्र-निर्माणके लिये ज्ञान और पावित्र आवश्यक है । इन दोनोंकी प्राप्ति स्वाध्यायसे होती है । सच पूछे तो मनुष्यका अपना चरित्र बनानेमें न कोई दुःख है और न सुख है । यह उसका एक पवित्र कर्तव्य है, जिसको साहस और निःस्वार्थभावसे तथा भगवत्कार्य समझकर पूर्ण करना चाहिये ।

केवल दीर्घकालतक जीना ही बड़ी चीज नहीं । कालके पृष्ठभागपर अपना विशेष चिह्न छोड़ना चरित्र है । प्रत्येक मनुष्य अपने अट्टका नियन्ता नहीं, वल्कि अपने चरित्रका कलाकार है । चारित्र्य एक हीरा है, जो हर किसी अन्य पत्थरपर लकीर बना सकता है ।

चारित्र्यका ही दूरग नाम व्यक्तित्व है, जिससे वह कोई प्रभावित द्वा जाता है । चारित्र्य व्यक्तिर्थ निर्जी प्रश्नामें बनता है, वह किसीकी देन नहीं । चरित्रनिर्माण व्यक्तिके स्वाध्याय, श्रवण, मनन, निर्दिष्यामन तथा आचारणमें बनता है । शरीरशक्तिमें मन और बुद्धिकी शक्ति निःसंशय बड़ी हड्डी होती है, परतु आभिमान वर्ग इन भवसे बढ़कर होता है । यही उन व्यक्तिका चारित्र्य है, जिसके अगे इतर सारी शक्तियाँ झुक जाती हैं । ऐसी महत्त्वात् शक्तिके निर्माता स्वयं हम ही हैं—

‘आन्मैव स्तान्मनो बन्धुरात्मैव गिपुरात्मनः ॥’
(गीता ६।५)

चरित्र बननेपर कीर्ति उसके पीछे स्वयं आती है । कोई मन्त्र, कान्य, नित्र, कला या साहित्य उस समयतक जाप्रत, भजीव तथा परिणामकारी न होगा, जबतक वे व्यक्तियोंका चारित्र्य बनानेवाल आत्मवल उसके पीछे न हो । यही आत्मवल व्यक्ति, समाज और राष्ट्रको गोरव प्राप्त करा सकता है । वही आत्मोद्धार, समाजोद्धार और जगद्धार करानेमें समर्थ होगा । सेनाका मूल सिपाही और उनका जारी होता है, वैसे ही चरित्रका मूल व्यक्तिका आत्मवल होता है ।

यह सत्य है कि प्रारम्भिक शुगमें इस आत्मवलसे सम्बन्ध भारतीय कृष्ण-मुनियोंने—‘कृष्णन्तो विश्वमार्यम् से ललकारकर जगत्को चरित्र-वलके पाठ पढ़ाये । परंतु आज मारतीयोंकी तथा आर्य-स्कृतिका गुणगान करनेवालोंकी अथवा अन्य देशोंकी स्थिति देखनेपर दुःख होता है । आज सर्वत्र अनाचार, दुःख, दारिद्र्य, पाखण्ड, छल, कपट, दैन्य, नैराश्य तथा भयका वातावरण फैल गया है और अशान्ति, दैन्य और अन्यायका साम्राज्य

फैलता जा रहा है। अर्थ तत्त्वज्ञान और दर्शनशास्त्रोंका प्रदत्त वह आत्मबल तथा जगत्के सुख-समृद्धिका वह मूल स्रोत चरित्र-निर्माण कहों दृस हो गया? और क्यों? ऐसी स्थितिमें विश्व-कल्याणका विचार करनेवाले 'कल्याण' मासिक पत्रने वर्ष १९८३ ई० के विशेषाङ्क चरित्र-निर्माणके रूपमें प्रकाशित करनेका जो सकल्प किया है, वह हर प्रकार समयोचित स्तुत्य और अभिनन्दनीय है।

यदि भारतवर्षपर ही विचार करे तो उसकी सर्वाङ्गीण अवनति और दारयका कारण, अन्यदेशीय विद्वान् तथा यहाँके कुछ पदवीधर पण्डित जो केवल पाश्चात्य पण्डितोंके विचारको ही दुहरानेमें अपनेको कृतवृत्त्य मानते हैं, यह वतलाते हैं कि भारतके वेदान्त-शास्त्रने ही यहाँकी जनताको निरुत्साही, विरक्त, दैवतारी, हतबल, आलसी, ढोगी और भिखारी बना दिया; उसीके फलखरूप भारत हीन-दीन बना और दूसरोंकी दासतामें फँस गया; अतः यह वेदान्त-दर्शन सर्वतोपरि निरुपयोगी और त्याज्य है। ऐसा बुद्धिमेद उनकी नरफसे बुद्धि-पुरःसर किया जा रहा है अथवा उनकी मान्यता ही वैसी है, यह तो हम नहीं कह सकते, परन्तु इस प्रकारके विचारोंको योगशास्त्रमें 'अविद्या' नाम दिया गया है। सत्यको असत्य, दुःखको सुख, मलिनको निर्मल, नाशवान्नको अविनाशी समझना 'अविद्या' है। यही अविद्या भविष्यके सारे दुःखपरम्पराका मूल हुआ करती है। वस्तुतः वेदान्तदर्शन आत्मिक बल प्रदान करनेवाला, पुरुषार्थके लिये प्रेरित-प्रबृत्त करनेवाला तथा व्यक्तिके चरित्र-निर्माणका मार्ग वतलानेवाला है। इसके साध्याय, श्रवण, मनन, निदिध्यासन और आचरणसे प्रत्येक व्यक्ति आत्मोद्धार, समाजोद्धार और जगदुद्धारतक साध्य कर सकता है। परन्तु हमारे वेदान्तशास्त्री पण्डित केवल वेदान्त वाक्योंको रखते रहनेमें ही कृत-कृत्यता मानते हैं। उसके अर्थको आमसात् करनेका

प्रयत्न नहीं करते, तब मनन, निदिध्यासन और आचरण तो दूर ही रहा। वेदान्त विषयपर विद्वत्ताप्रचुर व्याख्यान करना ही वे पर्यात समझते हैं और इसे एक जीविका समझते हैं। इसीलिये कहा गया है—'कलौ वेदान्तिनो भान्ति फालुने घालका इव।'

ऊपर वेदान्तशास्त्रकी आत्मोद्धार, समाजोद्धार और जगदुद्धार करनेकी क्षमता वतलायी गयी है तथा उसका मूल आत्मज्ञान और चरित्र-निर्माणमें समर्थ होना वतलाया गया; वह केवल कहने-सुननेकी बात नहीं, वल्कि हम जब चाहे, तब उसका प्रयोग कर उसकी सत्यताका अनुभव कर सकते हैं। वेदान्ततत्त्व आचरणमें लानेसे सद्यः प्रतीतदायी सिद्ध होता है।

वेदान्त आत्मशक्ति जाप्रत् करनेका उपाय वतलाता है; यही चरित्र-निर्माणका मार्ग है। आत्मबल सब प्रकारके बलोंको जगाता और बढ़ाता है। वही सभी अलौकिक और दैवी कार्योंका मूल है। प्रत्यक्ष प्रयोग करके आत्मशक्तिको प्रकट करनेवाला तत्त्वज्ञान वेदान्त है। यह वेदान्त मनुष्यका चरित्र किस प्रकार बनाता है और यह साधकको आत्महित, समाजहित और विश्वहित साधनके योग्य किस प्रकार तैयार करता है, अब यह देखना चाहिये।

वेदान्तदर्शनका मुख्य और प्रसिद्ध सिद्धान्त है—'जीवो ब्रह्मैव नापरः'। प्रत्येक जीवात्मा परमात्माका अंशरूप कहा जाय तो उसकी सदैव यही इच्छा होगी कि वह परमात्मा-जैसा ही सत् अर्थात् सदाके लिये पूर्णरूप कायम रहे, चित् अर्थात् सारी चेतन-शक्तिका मूलस्रोत बने और आनन्दरूप अर्थात् सदा प्रेमास्पद आनन्दरूप बने। ऐसा बन जाना उसका आत्मोद्धार, समाजोद्धार और जगदुद्धार है।

१—सत्से आत्मोद्धार—हर-एक संसारी जीव अपने दुखोंको बतलाने हुए कहता है कि कोई बात मेरी

इच्छाके अनुसार नहीं होती। मेरा वस किसीपर नहीं चलता, मेरा शरीर ही मेरे स्वाधीन नहीं है। मैं दुःखी जी रहा हूँ, इत्यादि-इत्यादि। इसपर वेदान्तदर्शन कहता है, तू अपने आपको प्रथम जान ले—'Know thyself' तब तुझे ज्ञात होगा कि यह शरीर और उसके सारे अङ्गोंमेंसे कोई भी 'तू' नहीं है। यह बात स्थयं तेरे ही कहनेसे सिद्ध होती है। 'मेरा हाथ', 'मेरा शरीर', 'मेरा मन', 'मेरी बुद्धि', 'मेरे प्राण' इत्यादि तेरे शब्द क्या बताते हैं? 'मेरा धोड़ा' कहनेसे स्पष्ट होता है कि 'तू' स्थयं धोड़ा नहीं, अपितु उस धोड़ेका तू मालिक और धोड़ेसे अलग है।' इसी दृष्टिसे 'मेरा शरीर' कहनेसे स्पष्ट है कि आप स्थयं शरीर नहीं, वल्कि आप उसके मालिक और स्वामी हैं। देह और उसकी सारी ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ, मन-बुद्धि इत्यादि सारे-के-सारे आपके सेवक हैं। आप उन सबके स्वामी और वे आज्ञाकारी सेवक।' ऐसे विनम्र, तत्पर और सद्गुणी सेवकोंकी आपको शिकायत न होनी चाहिये। आप उन सबके अकेले ही स्वामी हैं, कोई अन्य है, भी नहीं। फिर उनकी शिकायत कैसी? इन सारे आपके सेवकोंमें अनेक सद्गुण हैं, विचार करके देखिये।

१—यह सारे सेवक केवल आपकी ही आज्ञा मानते हैं।

२—हुकुम होते ही तत्काल काममें लग जाते हैं।

३—कामके होते ही फौरन आपको इच्छा देते हैं।

४—उन्हें अपने कामके सिवा दूसरा काम करने भी नहीं आता।

५—एक दूसरेके काममें ढाकल नहीं देते।

६—काम करनेमें अपना कोई स्वार्थ नहीं साधते।

७—अपना काम दूसरोंको नहीं सौंपते।

८—आपसमें एक दूसरेसे नहीं झगड़ने इत्यादि-इत्यादि।

ऐसे स्वामिभक्त, निरल्स, तत्पर और सद्गुणी सेवकोंकी आपको शिकायत न होनी चाहिये। परंतु फिर भी आपके इच्छानुसार काम नहीं हो रहा हो तो उसका दोष इन सद्गुणी सेवकोंपर हरणिज लादा नहीं जा सकता। फिर दोष कहाँ है?

दोष तो स्थयं आपका ही दीवता है। जब आप इन्द्रियको हुकुम देते हैं, तो तत्काल वह अपने काममें लग जाती है। परंतु उसका काम पूर्ण होने भी नहीं पाता कि वीचमें ही आप कोई दूसरा हुकुम दे देते हैं अथवा उसका काम किसी दूसरेके सुपुर्द कर देते हैं। वह आज्ञातत्पर सेवक काम छोड़नेपर मजबूर हो जाता है। इसी कारण आपका हर काम अधूरा रह जायगा, इच्छानुसार न होगा। अतः प्रत्येक मनुष्यको सर्वप्रथम यह निश्चय कर लेना चाहिये कि मैं शरीर या नाम-रूपादि और कुछ नहीं, केवल आत्मा हूँ। सम्पूर्ण शरीर और उसकी सारी-की-सारी इन्द्रियों और शक्तियोंका स्वामी हूँ। अब मेरी कोई इच्छा अपूर्ण नहीं रहेगी और हर काम होकर रहेगा।

मान लीजिये कि आप यहाँ बैठे हैं और अपने पाँवको हुकुम देते हैं कि बाजार चलो। आप कुछ मत कीजिये। एक ही काम आपको करना होगा; वह यह कि अपने दिये हुए हुकुमको न बदलें। देखिये, पाँव आपको बाजार पहुँचाये विना न रहेंगे। यही हाल सारे शरीरका है।

इस सामित्र अविकारके साथ-ही-साथ आपसर एक जिम्मेदारी भी आयेगी कि नित्यशः इन सेवकोंकी हाजिरी और परेव भी लिया करें; जिससे ये सारे निरोगी, कार्यक्षम और सशक्त बने रहें। इन्हे योग्य सहाय (आहार विश्रान्ति आदि) देकर सुस्थितिमें रखें, वरना ये निरुपयोगी और आलसी बनेंगे। गीताका बचन है—

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावयोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥ (६।१७)

इस प्रकार आप शरीरके केवल जाग्रदवस्थाके ही नहीं, स्वप्न और सुषुप्तिके भी स्वामी बने रहेंगे। एक दिन नहीं, युग-युगान्तरतक स्वामी बने रहेंगे। वाल्य, तारुण्य, वृद्धत्वकालमें—जैसा आपका स्वामित्व कायम रहते आया है, उसी प्रकार मृत्युके पश्चात् भी आपका स्वामित्व सदाके लिये कायम रहता है—त्रिभ्वस्त्रूप आत्मा एकरूप कायम रहेगा।—‘अयमात्मा ब्रह्म’

२-चित्तसे समाजोद्धार—ऊपर बतलाये हुए प्रकार-से जब कोई व्यक्ति अपने आत्मा और स्वामी होनेका निश्चय करके उसका आचरण करने लगे तो वह जैसा बनना चाहता है, अपने शरीर, मन, बुद्धि और सारी इन्द्रियोंको वैसा ही बना लेता है। तब ब्राह्म जगत्‌की सारी वस्तुएँ भी उसके समीप आकर सम्बन्धित हो जाती हैं और वैसे ही गुणवाली हो जाती हैं; या यो कहिये कि /उस व्यक्तिके खमालके सदृश और समान गुणवाले पदार्थ ही उसके अतराफ जमा होकर एक समाज बना लेते हैं तथा भिन्न गुणोंके डिटर पदार्थ कतराकर भाग जाते हैं। इस प्रकार ब्राह्म भी उस व्यक्तिके अनुकूल बन जाता है। कारण उस व्यक्तिका अन्तर्यामी आत्मा और ब्राह्म जगत्‌का चालक आत्मा दोनों एक हैं। फिर तो वह पूर्ण समाज भी सामर्थ्यवान् बन जाता है।

शङ्का—जब ये दोनों आत्मा एक हैं तो इनमें कभी अनुकूलता और कभी विरोध क्यों? गाय दूध देती है, शेर उसे फाड़कर खा जाता है। तब एकत्र कहाँ रहा?

समाधान—लेखक पुरुष तो एक ही है, उसीने सफेद, कागज पर काली, स्याहीसे काम लेकर लेखन-कार्य किया। लेखन-कार्यकी पूर्तिके लिये ये देखो पदार्थ एक-दूसरेके अनुकूल हैं, परंतु अन्य समयमें विरोधी। साधक उनकी अनुकूलतासे ही काम लेगा। विरोध-गुणसे उनका सरक्षण रखेगा। इस युक्तिसे व्यक्तिको समाजमें कैसे रहना चाहिये, यह ब्रात अहिंसा, सत्य,

अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह—इन यमोंके द्वारा सिखायी गयी है। यम समाजके तथा शौच, समाधान, तप, साध्याय, ईश्वर-प्रणिधान व्यक्तिके जीवन-ग्रापन करनेकी पद्धति सिखानेके उद्देश्यसे बतलाये गये हैं। ऐसा योगी अथवा साधक पुरुष जगत्‌के पुण्यकर्ताओंसे आनन्द, दुःखी लोगोंपर दया और पापकर्ताओंसे उपेक्षाका व्यवहार करके जगन्मित्र बनकर समाजहितको साधता है। यह आत्मा तो अभेदरूप है; क्योंकि उसके कोई अलग-अलग हाथ-पाँव-जैसा स्वगत भेद नहीं है। उस-जैसी कोई अन्य सजातीय वस्तु भी नहीं है। सभी वस्तुएँ उसीसे सम्बन्ध रखती हैं, अतः कोई विजातीय भेद भी नहीं है। इन ब्रातोंका ज्ञान और निश्चय हो जानेपर वह पुरुष समाजसे एकरूप होकर समाज-का उद्धारकर्ता बन जाता है—‘एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म’।

३-आनन्दसे जगदुद्धार—अब यहाँ इस आत्माके आनन्दरूपको देखिये। आत्मोद्धार और समाजोद्धारके साधनेपर साधकको ज्ञात हो जाता है कि इच्छा, श्रद्धा और प्रयत्नके चाढ़ होनेपर इच्छित जगत्‌की उत्पत्ति होती है। इच्छा और श्रद्धाके कायम रहनेपर उस समय-तक उसका अस्तित्व भी कायम रहता है। श्रद्धा कम हो जानेपर उसका नाश आरम्भ हो जाता है और इच्छाके लुप्त हो जानेपर उसका विनाश हो जाता है। तब इस सारे हमारे इच्छित जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति और लय आत्माके अधीन नहीं तो और क्या है? यह सब समझकर वेदान्ती कहता है—

‘ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः।’
(गंकराचार्य)

‘फिर मैं जनककी तरह राजा हुआ तो क्या, तुलाधार वैश्य बनूँ तो क्या? मैं कोई-सा धंधा कर लूँगा। मैं आत्मा और नित्य-तृप्त आनन्दसरूप हूँ।’

पुत्रार्थी या धनार्थी प्रपञ्च करते हैं, मुझे क्या करना है? सर्वेच्छा रखनेवाले यज्ञ करते हैं, मुझे स्वर्गसे क्या

मतलब ? कीर्ति चाहनेवाले वाद-विवाद करते हैं, मे क्यों कहूँ ? नीरोगी शरीर चाहनेवाले रनान-भोजनादि करते हैं, मुझे भी उद्योग करनेके लिये कार्यक्रम देह चाहिये, मे भी स्नान-भोजनादि करूँगा । शरीरकी इन्द्रिय आदिको सज्ज रखनेके लिये नियमितस्तपसे आसन-प्राणायामादि करता हूँ । लोग मुझे हँसाए, मुझे उनके हँसनेकी कोई परवा नहीं । पुण्यसच्चार्य लोग तीर्थ-क्षेत्रोंको जाने हैं, मे भी सतानेके सहवासकी इच्छामे नहो जाऊँगा । परतु मेरे जानेका उद्देश्य अलग है—

तीर्थे तीर्थे जायते साधुवृन्दः
वृन्दे वृन्दे तत्त्वचिन्तानुवायः ।
वादे वादे जायते तत्त्ववोधो
वोधे वोधे भासते चन्द्रचूडः ॥
(ग्रन्थाद्यस०)

कुछ लोग सशोधनकार्य, प्रथलेखन, आधिकार आदि करते हैं; मे भी जगत्के कल्याणके हेतु खानायामे प्राप्त शक्तिके अनुसार वैसे ही कार्य करूँगा । लोग मेरी स्तुति करेंगे, परंतु मुझे उनकी स्तुतिसे कोई सम्बन्ध नहीं । मेरा उद्देश्य केवल विश्वकल्याण है । लोग मेरी सादगीका मजाक उडायेंगे, उडाने दो । यह शरीर-स्नान भोजनादि करता है । मेरी वाणी भजन-कीर्तनादि करती है, इन्हें करने दो । मेरा बुद्धि ध्यानयोगका साधन करती है, ठीक है । इन सबमें मेरे मान-अपमानका प्रश्न कहो है ?

लोग 'मेरी तरफ' तो ध्यान ही नहीं देते तो वे मेरी स्तुति या निन्दा कहाँसे कर सकते हैं ? व्यवहारी लोग मेरे धनकी चर्चा करते हैं, वह मेरी चर्चा नहीं होती । कर्मठ लोग तन-मनको देखते हैं, वे मुझे नहीं देखते । पण्डित लोग बुद्धिको परखते हैं, मुझे नहीं परखते । ऐसे इन लोगोंसे मै वाद-विवाद क्यों करूँ ? इन लोगोंके प्रश्नोत्तर या वाद मानो दो वहरोंका विवाद है । कोई किसीका सुन नहीं सकता । अन्ततोगच्छा दोनों थक

जायेंगे । ऐसा निर्वक परिश्रम मे क्यों कर ? अल्पना में गवाह रहेंगा । दूसरोंका ज्ञान मुनूँगा परना ज्ञान गुनाऊँगा ।

आनन्दवाद- इन दोनोंका नया परिवर्कके मुख्यका इच्छा करते हैं, फ़ाणि ते इनका ही ज्ञान स्वते है । जब कोई योगी या त्रृप्त पुरुष, जो मिह शिक्षिको पढ़ै त्रुका हो, ऐसे अब लोगोंका दीन आ जावे तो उसे नी गामाभ्यजनो-जना इत्योंका नया परिवर्कमें लाभप्रद होनेवाला आनार-न्यकर ही करना पड़गा । परन्तु यह ऐसा ज्ञानी पुरुष मुमुक्षु, यात्रक अथवा मिह पुरुषकी मण्डलमें आवे तब उसे चालिये के यद्यपि लोगोंके गेंग कैसे व्यर्थ, मिथ्या और दृग्यार्थवनार्थी है, उसका सद वर्णन करे । अस्याने आंग बेगम्यआ महत्त्व दनाकर शुह आमज्ञानका ध्यान करे । यही चरित्र-निर्माणका पाठ होगा, जिसका उद्देश्य विद्यकल्पाण है ।

तात्पर्य यह कि चरित्रवान् पुरुष जगत्के एक प्रेमी वाप-जैसा है, वेसा ही उसका वर्तन होता है । वह अपने शिशुपुत्रको खिलाता है । यदि वन्चा भी उसे खिलाने लगे तो भय खाता भी है । अज्ञानी वालकके गारनेपार मी कोव नहीं बहता; अन्यत्रा मानो वह एक समय आर कुछल शिक्षक है, जो हाँट बगासे सुलभ और बड़े तर्मामि कठिन अव्याप्तिनाली गाया बोलता है । इस कारण कोई उसे अल्पज नहीं समझेगा । यदि ऐसा कोई समझे भी तो वह शिक्षक परवाह नहीं करता । चारित्र्यसम्बन्ध पुरुष भी ऐसा ही है । जो खुदको पूर्णतया जानता है, वह जीवन्मुक्त है । इस प्रकार चरित्र-निर्माणके उद्देश्यसे जो कोई व्यक्ति वेदान्तदर्गनके अनुसार प्रयत्नशील होगा, उसे कालका वन्धन भी न रहेगा—

द्याच्चावसरः कथित् कामादीनां मनगपि ।
आसुत्तेरासृतः कालं नयेद् वेदान्तचिन्तया ॥
'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति'

चरित्र-निर्माणके चौबीस सूत्र

(अवधृत दत्तात्रेयद्वारा इङ्लिंग)

(लेखक — कुंवर श्रीकृष्णकुमारमिहंजी)

श्रीमद्भागवत महर्षि व्यासरचित लोकोत्तर कल्याणकारी कृति है। महात्मा गान्धीको उनके इच्छीस दिनोंके ऐतिहासिक उपचार-कालमें पूज्य महामना प० मठमनोहनमाल्लभीयके मुखसे भागवतके कुछ अश सुननेका अवसर मिला था और उन्होंने उद्घार प्रकट किया था कि ‘भागवत एक ऐसा ग्रन्थ है जिसे पढ़कर धर्मरस उन्पन्न किया जा सकता है। जिन्होंने महात्मा गान्धीकी रचनाओंका अध्ययन किया है वे जानते हैं कि गान्धीजी ‘धर्म’ का अर्थ ‘करणीय कार्य’ अथवा ‘योक्तमङ्गलकारक चारित्रिक उपादानोंका समन्वय’ लगाते थे।

उसी श्रीभागवतमें राजा यदुका अवधृत-शिरोमणि दत्तात्रेयसे अचानक भेट होनेका प्रसङ्ग आता है। दत्तात्रेयजीके व्यक्तिन्वसे अभिभूत होकर राजा यदुने उनकी करवद्द स्तुति की और कहा—‘क्षमान् ! आप कर्त्तव्यनके अभिमानसे रहित हैं। मे देख रहा हूँ कि आप कर्म करनेगे समर्प विद्वान् और निपुण हैं। मसारके अधिकतर लोग काम और लोभके दावानलसे जल रहे हैं। परंतु आपको देखकर ऐसा माल्लम होता है कि आपतक उसकी आँच भी नहीं पहुँच पाती। आप कृपापूर्वक इमका रहन्य बतलाइये।’

सासारिक कर्मांकी गहनतासे पूर्णतया अवगत ब्रह्मवेत्ता दत्तात्रेयजीने राजा यदुसे जो कुछ कहा, वह चरित्रोत्थानकी दृष्टिसे अनुपम और सर्वया उपादेय है। दत्तात्रेयजीने यदुको बतलाया कि उन्होंने अपने जीवन-यापन-क्रममें पञ्चभूतों तथा छोटे-बड़े ग्रागियोंकी स्वभावगत चेष्टाओंमें कुछकी उपयुक्ताको लक्ष्य किया और उन्हे तत्काल प्रहण कर लिया। इस प्रकार उन्होंने अपना जीवन सँवारनेमें सफलता प्राप्त की।

आज जब संसार चारित्रिक पतनकी ओर टूटगतिसे अप्रसर हो रहा है और प्राणिमात्र इसके दुष्परिणामस्वरूप विनाशके कागरपर आ खड़े हुए हैं तो दत्तात्रेयजीद्वारा इङ्लिंग चौबीस सूत्रोंकी ओर वरवस ध्यान चला जाता है। प्रतिश्वरण दुर्दान्त कालसे हमारा रामायिक साक्षात्कार होना चला जा रहा है; उसमें अपने उद्वारके लिये इन सूत्रोंका अधिकल भावसे प्रहण करना अनिवार्य हो गया है। तो आइये हम उन्हे समझे।

दत्तात्रेयजीने पृथ्वीको देखकर धर्य और क्षमा-जैसे गुणोंकी महत्ता समझ ली और इन दोनों गुणोंको अपने चरित्रिका अङ्ग बना लिया। देखते तो सभी हैं, परंतु दृष्टव्य कार्य-व्यापारका गूढ़र्थ दत्तात्रेयजीकी ही समझमें आया। पृथ्वी अपनी आतीपर अहोरात्र विचरनेवाले और उसपर अनेक आधान करनेवाले किसी प्राणीसे बदला कभी नहीं लेनी; न तो अपना धारज खोती है, न कभी कोध ही करती है। दत्तात्रेयजीकी समझमें यह बात आ गयी कि प्राणीके अस्तित्वकी सार्थकता इसीमें है कि वह दूसरोंका हित करनेमें सदा-सर्वदा संलग्न रहे। क्षमाके लिये तो पृथ्वी अद्वितीय आदर्श ही है। आदर्श चरित्र श्रीरामके लिये—‘क्षमया पृथिवीसमः’ कहा गया है।

वायुकी गति सर्वत्र है। सद्-असद्—सभी प्रकारकी वस्तुओंसे उसका समर्प होता है, पर वह किसीके प्रति आसक्त नहीं होती। गन्ध भी वायुका गुण नहीं है, वायु तो मात्र उसकी बाहक है। निरासक, निर्लिप्त रहते हुए गतिशील रहना ही वायुके समान हमारी नियति होनी चाहिये।

आकाशकी अखण्डताका मर्म प्रहण करते हुए मानवके लिये उचित है कि वह जीवन एवं जगत्को

टुकड़ोंके रूपमें नहीं देखे । अखण्डताका अर्थ यह हुआ कि मनुष्य अपनेको क्षुद्र सीमाओंमें न बैधे ।

जलकी भाँति शुद्धिकारक, स्निग्ध और शीतल रहकर अपने समर्पकमें आनेवाले सभी प्राणियोंको इन गुणोंसे युक्त करनेका हमारा ध्येय होना चाहिये ।

अग्निकी भाँति शुभ कर्मोंको उत्तेजित करने तथा अशुभ कर्मोंको भस्म कर देनेकी हमारी प्रवृत्ति होनी चाहिये । दत्तात्रेयजीको यह बात समझमें आयी ।

चन्द्रमाकी घटती-बढ़ती कलाओंको देखकर यह स्पष्ट हो जाता है कि कालक्रममें एकरूपता अथवा एकरसता नहीं है । जन्मसे लेकर मृत्युपर्यन्त जीवधारियोंके आकार और शक्तिमें जो वृद्धि और हास परिलक्षित होता है, उसे समझनेके लिये चन्द्रमाको देखना चाहिये और साधनकी न्यूनता या वृद्धिके अनुसार सतत कार्यरत रहना चाहिये । घटती-बढ़तीको समान धर्मके रूपमें लेना चाहिये ।

सूर्य जैसे जलको सोखकर समयपर पुनः उसे ग्राणियोंके कल्याण-हेतु वर्धके रूपमें दान कर देता है, उसी प्रकार ग्रहणकी सार्थकता तभी है, जब गृहीत वस्तुके ल्यागकी प्रवृत्ति भी साथ ही जुड़ी रहे । दत्तात्रेयजीने उपर्युक्त दोनों तथ्योंको चन्द्र और सूर्यके माध्यमसे हृदयझम किया । हमें भी हृदयझम करना चाहिये । तभी चरित्रिकी शृङ्खला बढ़ेगी ।

एक कवृतरको अपने पारिवारिक मोह-जालमें पड़कर अपने प्राण गँवाते देखा तो दत्तात्रेयके ध्यानमें यह बात आयी कि अतिशय लिप्ततासे विवेकबुद्धि नष्ट हो जाती है; अतः आत्यन्तिक मोहसे बचनेमें कल्याण है । मोह-ममतासे सर्वथा नहीं तो उसकी आत्यन्तिकतासे तो बचना ही चाहिये ।

अजगर-जैसे आलसी प्राणीसे अवधृताचार्य दत्तात्रेयजीने सत्तोष-वृत्तिकी सीख ली । समुद्रको देखकर

उन्होंने सदा गुरु-गम्भीर, अविचलित रहनेका भाव अपनाया । समुद्रका गम्भीर भी उदात्तचरित्र श्रीरामकी गम्भीरताका उपमान बना है—‘समुद्र इव गम्भीर्यै’ ।

फिर दत्तात्रेयजीने पतिङ्गेको दीप-शिखापर आकृष्ट होकर जलते-मरते देखा तो वे जान गये कि विषय-भोगोंके चाकचिक्यपर लपकनेसे विनाश निश्चित है । अतः वह त्याज्य है ।

मधुप-वृत्तिसे भी दत्तात्रेयजीने सीखा कि भौरोकी तरह जहाँ भी उपादेय कल्याणकारी तत्व मिले, उन्हे बटोर लेना चाहिये । उन्होंने देखा कि अतिशय संचयके कारण भौरोंका मधु लुट जाता है । उसी तरह धोर कार्यपणसे वयोरा धन भी वस्त्रोंके हाथ लग जाता है, संचयकर्ताकी काम नहीं आता । मधुसंग्राहकोद्वारा सथल उतारे गये मधुरसके भोगका पूर्वाधिकार अतिथियों-अभ्यागतोंको मिलता है । अतः अपने चरित्रके निर्माणमें अतिवस्तु-संग्रह नहीं करना चाहिये ।

हाथी-जैसे विशाल जीवको विषय-भोगके क्षणिक सुखकी आशामे वन्धनग्रस्त होते देख ऐन्द्रिक वासनाओंके ल्यागकी शिक्षा दत्तात्रेयजीको मिली । ऐन्द्रिय-वासना अतिमात्रमे विष बन जाता है । गोखामीजीने कहा है—

‘तुलसी राम न पाइये, भये विषय-जल मीन’

कर्णेन्द्रियको प्रिय, मधुर ध्वनि सुनकर उसकी ओर आकृष्ट होनेवाले हिरण सहज ही शिकारीके बाणसे विन्द्र हो जाते हैं; अतएव ऐन्द्रिक सुखकी छलनासे बचनेकी एक और शिक्षा दत्तात्रेयजीको मिली ।

जिहाको वशमें न रखनेके कारण मछली कँटेमें लगे मकोड़ेकी ओर लपकती है और अपने प्राण गँव बैठती है । खाद-लोलुपतासे बचकर आत्मरक्षा करनेकी सीख दत्तात्रेयजीको इस प्रकार मिली ।

मांसका टुकड़ा चोंचमें दबाकर उड़ता कुरर पक्षी अन्य समर्थ पक्षियोद्वारा लगातार छीन-झपड़ाका दुःख

सहता रहा। त्रस्त होकर जैसे ही उसने अपने मुँहका ग्रास नीचे गिराया कि उसे मानसिक शान्ति मिल गयी। सुख-शान्तिकी कुंजी अपग्रहसे है; दत्तात्रेय-जीने कुरर पक्षीसे यह मन्त्र सीखकर गौठ वाँध ली। गीता कहती है—‘त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्।’

राग और विरागका भेद तो विदेह-नगरीकी वेश्याने विस्तारसे बताया। रूपका व्यापार करनेवाली उस वाराङ्गनाको अन्ततः इन्द्रियोंका संयम करनेपर ही शान्ति मिली, सच्चा सुख मिला। जब वेश्याको सयत हो जानेपर शान्ति मिल जाती है तो साधारण व्यक्तिको निराश होनेका कोई कारण नहीं है। पर चरित्र सवेर बनाया जाय तो उत्तम हो। साँझमें चरित्र क्या बनेगा।

वरपक्षके लोग एक कुमारी कन्याको देखने गये। परिवारके लोग उस समय बाहर गये थे। अतिथि-परायणा कुमारी उनके सल्कार-हेतु अपने आँगनमें बैठकर जब ओखलमें चावल कूटने लगी तो उसकी कलाईकी चूड़ियों बजने लगीं। आवाज बाहर न जाय, यह विचारती हुई कन्याने अपनी दोनों कलाईयोंमें एक-एक चूड़ी छोड़कर बाकी सब तोड़ डाली। सूहमदृष्टा दत्तात्रेयजीके मनमें विचार आया, बहुसंख्यकका एक स्थानपर क्रत्र होना कलह-कोलाहलका कारण बनता है। भीड़ अनथका मूल हो जाती है। भीड़की कोई आचारसंहिता भी नहीं है। अतः व्यक्तिका चारित्र साधनीय होता है।

बाण बनानेवाले एक कारीगरको आत्मकेन्द्रित होकर अपने काममें तल्लीन और सामनेसे धूम-धामके साथ निकलती राजाकी सवारीकी ओरसे लापरवाह देखा तो दत्तात्रेयजीने तन्मयताकी कीमत आँक ली। ऐसी अवस्थामें सत्त्वगुणका उदय होनेके साथ ही रजोगुण और तमोगुणका क्षय स्वतः हो जाता है, यह बात सहज ही उनके सामने प्रत्यक्ष हो गयी। इसकी साधना मनोनिप्रहसे हो सकती है।

सॉपको निःशब्द सरकते देखा तो मौन रहनेके गुण स्पष्ट हो गये। बहुत कम बोले, यथाशक्ति किसीकी

सहायता न ले और पिछलगुओंसे बचकर स्वान्तःसुखाय विचरण करे, दत्तात्रेयजीने सर्पसे यह शिक्षा चटपट ग्रहण कर ली।

मकड़ेको जाल बुनते-विगाड़ते देखा तो दत्तात्रेयजीको जन्म-मरणके चक्र और माया-मोहके ताने-वानेका समरण हो गया। दैहिक नश्वरताके साथ ही सर्वनियामक शक्तिके मूलाधार परमात्माकी लीलाकी झलक उन्हे मिल गयी। अतः अहंमूलक अहंकारको और जड़चादको परिहेय समझ लिया। इस तथ्यको समझनेसे जीवनको संयत करनेकी प्रेरणा मिलती है।

आत्माका परमात्मामें समाहित होने—एकाकार होनेकी प्रक्रियाका उदाहरण दत्तात्रेयजीको भृङ्गी कीटके कार्यकलापोंमें मिल गया। भृङ्गी जिस प्रकार एक नाम-रूपहीन कृमिको अपने विलमे कुछ समयतक बन्दकर उसे अपने ही-जैसा बना देता है, उसी प्रकार परमतत्त्वका एकान्त चिन्तन करनेसे मनुष्य भी तद्रूप हो जाता है। ब्रह्मका विवर्त विश्व तत्त्वतः ज्ञात हो गया।

अब दत्तात्रेयजीने स्वयं अपने शरीरको ध्यानसे दंखा और पाया कि उनकी इन्द्रियों अपने-अपने अभीष्ट पदार्थोंको लेकर आपसमें बराबर खींचा-तानी करती रहती हैं। आसक्ति और अहंकारके झंझाकात अलगसे झँकझोरते हैं। शरीर नश्वर तो है ही। ऐसी स्थितिमें प्रमाद त्याग-कर मनुष्यको अविनश्वर तत्त्वकी खोजमें प्रवृत्त होना चाहिये। संकुचित सार्थका त्याग करते हुए सार्व-कालिक परमार्थमें मनको केन्द्रित करना चाहिये, जिसके अन्तमें है शाश्वतशान्ति एवं मुक्ति। जीवनके चारित्र्यकी यह सीढ़ी बहुत ऊपरकी है।

परम तत्त्वज्ञानी दत्तात्रेयजीने राजा यदुके सामने सारे तथ्य इस प्रकार सँजोकर रखे कि मानव-जीवनके उद्देश्य तथा आदर्श जीवन-यापनके लिये सर्वाधिक उपर्युक्त आचरण-पद्धति आडनेकी तरह उनके सामने झलक उठी।

आजतक इस देशमे ओर अन्यत्र भी, जितने चिन्तक, विचारक और मनीषी हुए हैं, सवने इन्हीं साखान् तथोको किसी-न-किसी रूपमें दुहराया है। सारांश यह है कि मनुष्यको अपनी सभी ज्ञानेन्द्रियोंको इस प्रकार खुला रखना चाहिये कि दृष्टव्य वरतुओ और घटनाओंमें निहित मार अनायास दिखायी पड़े। तभी उसका उपयोग वह अपने चारित्रिक उन्नयनके लिये कर सकता है।

आज अपने यहाँ सर्वोपरि आवश्यकता इम वाल की है कि शिक्षिक सुख देनेवाल विषय-वामनाओंको व्यागकर अपने भीतर पल रहे अहंकारकों उपेक्षित किया जाय। एवं स्वार्थके स्थानपर परमार्थका वरण किया जाय। वर्तमान कालमें सर्वज्यापीं चारित्रिक स्वतन्त्रको गेकरेके लिये हमें अपि उत्तात्रेयद्वाग उद्घाटित चौबीस मूरोंका राहरा लेना चाहिये। हमारा महल इसामें निहित है। इन शिक्षाओंका मनन कर हम माझल्य प्राप्त कर सकते हैं।

राष्ट्रिय चरित्र

(लेखक—डॉ० श्रीवेदप्रकाशजी शासी, पृम० ए०, पी-एच० डी०, डी० लिट०, डी० एस०-सी०, गाहित्यायुर्वेद-रत्न, विद्याभास्कर, आयुर्वेदवृहत्पति)

मानवजीवन सर्वाधिक दुर्लभ है। अनेक जन्मोंकी संचित साधना और उस साधनद्वारा प्राप्त प्रभुकृपाके फलस्वरूप ही जीव इसे प्राप्त करता है। यद्यपि श्रुतिमें 'असृतस्य पुष्टाः' तथा श्रीमद्भगवद्गीतामें 'मैवांशो जीवलोके' आदि वाक्य जीवको ईश्वरीय अश प्रतिपादित करते हैं, तथापि चौरासी लाख योनियोंके अन्तर्गत जन्म लेनेवाले जीवोंमें गानव ईश्वरके जितना निकट और अनुद्धृप है, उतना अन्य जीव नहीं है। भगवान्‌के सब विशिष्ट-अवतार मनुष्यस्वरूपमें ही हुए हैं। इसीलिये भागवतमें—'दुर्लभो मानुषो देहः' आदि वाक्यों द्वारा मानव-जन्मका स्तवन किया गया है। गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीने तो इसे 'मायन धाम मोच्छ कर द्वारा' ही प्रतिपादित किया है। इस जन्मकी श्रेष्ठता इतनी प्रशस्त होते हुए भी इसकी स्थिति आवास और जन्म दोनों ही दृष्टियोंसे देव और दानवके मध्य रखी गयी है; अर्थात् निवासकी दृष्टिसे दंब-समूहके आवास मर्यालोकके ऊपर एवं दानव-समूहके आवास मर्यालोकके नीचे परिणित किये गये हैं तथा सान-सात ऊर्ज अधस्तन लोकोंके मध्य मानवको इस दृष्टिसे स्थान

दिया गया है कि यदि वह उत्तम कर्म करता रहे तो उर्ध्व देवलोकोंको प्राप्त करें और अधम कर्मोंका आचरण करे तो दानवोंके आवासभूत निभन्नलोकोंमें जाकर अपने कर्मोंका भोग भोगें; क्योंकि दंवताओंको भी पुण्य क्षीण हो जानपर गर्यलोकमें जन्म लेना पड़ता है— 'श्रीणे पुण्ये मर्यलोकं विशन्ति, (गीता) । अतः मनुष्यजन्म मगवदनुग्रहका ही फल है। मर्यलोकमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण भारतवर्षकी महिमा प्रायः सभी पुराणोंमें प्रतिपादित हुई है। इस उत्तरामें जन्म लेनेवालों-की प्रशंसा ख्ययं देवताओंके मुखसे भागवतकारने इस प्रकार करायी है—

अहो अर्माणं किमकारि शोभनं

प्रसन्न पृष्ठं स्विदुत स्वयं हरिः ।

यैर्जन्म लघ्वं चृष्टु भारताजिरे

मुकुन्दसेवौपर्यिकं स्पृहा हि नः ॥

(५। १९। २१)

जिन लोगोंने भारतवर्षमें भगवान्‌की सेवाके योग्य मनुष्यजन्म प्राप्त किया है, उन्होंने ऐसा क्या पुण्य किया है अथवा उनपर ख्ययं श्रीहरि ही प्रसन्न हो गये हैं? इस परम सौभाग्यके लिये तो हमलोग भी

तरसते रहते हैं। विष्णुपुराणमें इसमें भी बहकर इस भूमिका महत्त्व इस रूपमें प्रतिपादित हुआ है कि—

गायन्ति देवाः किल गीतकानि
धन्यास्तु ते भारतभूमिभागे ।
स्वर्गापवर्गास्पदहेतुभूते ।
भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात् ॥
कर्मण्यसंकल्पिततत्कलानि
संन्यस्य विष्णौ परमात्मभूते ।
अद्याप्य तां कर्ममहीमनन्ते
तस्मिंस्त्वयं ये त्वमल्लाः प्रयान्ति ॥

(२।३।२४-२५)

उन्नता भी निरन्तर यही गान करते हैं कि जिन्होने सर्व और अपवर्गके मार्गभूत भारतमें जन्म लिया है तथा जो इस कर्मभूमिमें जन्म लेकर अपने फलकांशासे रहित कर्मोंको भगवान् श्रीविष्णुको अर्पित करनेसे निर्मल होकर उन अनन्तमें ही विलीन हो जाते हैं, वे मनुष्य हम देनताओंकी अपेक्षा कहीं अधिक वडभागी हैं।

भारतवर्षकी इसी विशेषताके कारण भगवान् नरनारायणने इसे अपनी तपोभूमिके रूपमें स्थीकार किया है। ‘भग’ शब्दकी पूरक छहों विशेषताओं तथा आत्मस्वरूपका ज्ञान करनेवाले इस भारतके सम्बन्धमें श्रीमद्भगवतमें यह वर्णन प्राप्त होता है कि—

‘भारतेऽपि वर्षे भगवान्नरनारायणाऽथ आकल्पन्त-
मुपच्छित्तर्थमज्ञानवैराग्यैश्वर्योपशमोपरमात्मोपलभन-
मनुग्रहायात्मवनामनुकम्पया तपोव्यक्तिगतिश्चरति’
(५।१९।९) ।

इस विशेषतासे सम्बन्ध इसी भारतकी देन है—

आचार और चरित्र। आचारका सम्बन्ध वाह्याचरणसे है तथा चरित्रका सम्बन्ध स्वभावगत गुणों- Basic characteristics से। आचरणद्वारा हम अपनी विशेषताओंका प्रभाव इतर सामाजिकोपर डालकर एक ओर उन्हें अपनी ओर आकृष्ट करते हैं तथा दूसरी ओर उन्हें भी अपने समान

वनानेकी प्रेरणा देने हैं एवं चरित्रिगत विशेषताओंद्वारा हम अपने विचार और दृष्टिकोणको उदात्त बनाने हैं। चरित्रके अन्तर्गत अग्रलिखित विशेषताओंका समावेश किया जाता है। मौन—विविव प्रकारकी जानकारी होनेपर भी चुप रहना, अपने जानका प्रदर्शन न करना, क्षमा—प्रतिकारकी सामर्थ्य होनेपर भी अपराधीके प्रति क्षमापूर्ण दृष्टिकोण अपनाना, दानशालता—दूसरे अभाव-प्रस्तजनोंको इच्छिन वस्तुका दान देकर भी आत्मप्रशंसासे दूर रहना, विषय-वासनासे दूर रहना, धर्ममें आस्था रखना, शास्त्र और लोक-व्यवहारका पूर्ण ज्ञान रखना, विनयशील रहना आदि। महर्पि याज्ञवल्क्यने अहिंसा, सत्य, अस्तेय, शांति, इन्द्रियनिग्रह, दान, दया, दम और शान्तिको चारित्रिक विशेषताओंमें परिगणित किया है और इन्हीं विशेषताओंको धर्मका साधन प्रतिपादित किया है—

अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियं निग्रहः ।

दानं दया दमः शान्तिः सर्वेषां धर्मसाधनम् ॥

(याज्ञवल्क्यस्म० ५। २२)

‘अहिंसा—मन, वचन, कर्मसे किसी प्राणीको दुःख न देना, सत्य व्यवहार रखना, दूसरोंकी वस्तु न चुराना, पवित्र रहना, इन्द्रियोंको वशमें रखना, सत्यात्रको सात्त्विक दान देना, प्राणिमात्रपर कृपाभाव रखना, मनको वशमें रखना, सहनशील होना; ये नीं गुग सर्वसाधारणके लिये धर्मके साधन हैं।’

अहिंसाकी व्यवस्था पात्र-अपात्रके भेदसे की गयी है। निरपराध प्राणियोंकी हत्या करनेवाले अनतायी व्यक्तियोंके लिये अहिंसा धर्मके पालनका नियेध करते हुए उनके वधकी आज्ञा स्पष्टत शास्त्रमें नीं गयी है—

इन्द्र ! जहि पुमांसं यातुधानसुत विषयम् ।

मायया शासदानम् ॥ (ऋग० ७। १०४। २५)

‘जो व्यक्ति छलपूर्वक समाजका नाश करनेवाले हो और जो यातुधान निरपराध मनुष्योंको दुःख देते हों, उनका नाश कर’ आततायीकी परिमापा शुक्रने इस प्रकार की है’—

**अग्निदो गरदद्वचैव शख्यपाणिधनायहः ।
क्षेत्रदारहरद्वचैव विद्यादाततायिनः ॥**

आग लगानेवाला, विद्य देनेवाला, शख्य लेकर अपने ऊपर चढ़ आनेवाला, धन लटनेवाला, पराई जमीन दबानेवाला, खियोंका अपहरण करनेवाला—ये आततायी हैं ।

भारतके प्राचीनकालका इतिहास इस वातका साक्षी है कि तत्कालीन नरेश स्वयं चरित्रवान् होते थे और अपनी प्रजाओं अपने आदर्श चरित्रसे अपने समान ही बनानेका प्रयत्न किया करते थे और इसीके परिणाम-स्वरूप ‘यथा राजा तथा प्रजा’ की उक्ति प्रचलित हुई थी । इसका चरमोत्कर्ष महाकवि कालिदासने अपने रघुवंशमें राजा दिलीपके चरित्रमें इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

**प्रजानां विनयाधानाद्रक्षणाद् मरणादपि ।
स पिता पितरस्तासां केवलं जन्महेतवः ॥ (३ । २४)**

‘अर्थात् राजा दिलीप अपनी प्रजाओं समुचित शिक्षा देने, उसकी रक्षा करने उसका पालन-पोषण करने, उसे भयसे विमुक्त करनेके कारण उसके सच्चे पिता थे, उसके जन्मदाता पिता तो केवल जन्म देनेवाले कारणमात्र थे ।’

इस लोकको सुखमय तथा परलोकको कल्याणमय बनानेकी दृष्टिसे मनुष्यमात्रके लिये निम्नलिखित आचार-विचारोंके पालनका विधान किया गया है

सत्यं बद्, धर्मं चर, स्वाध्यायान्माप्रमदः, देव पितृकार्याभ्यां च न प्रमदितव्यम् । मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव, अतिथिदेवो भव, अद्यया देयम् । (तैत्तिरीय० ७ । १३ । १-४)

‘अर्थात् सदा सत्य बोलो, धर्मका आचरण करो, प्रमादरहित होकर यथाविकार धर्मग्रन्थोंको पढ़ो । देवपूजा और पितृकार्यमें (श्राद्धादिमें) प्रमाद मत कर । माता, पिता, गुरु तथा अतिविकी सेवा करो एवं श्रद्धापूर्वक दान दो । (शुक्र)

इसके साथ ही निम्नलिखित वातोंसे दूर रहनेका निर्देश भी शास्त्रोंने दिया है—

१—अश्वेमी दीव्यः । (ऋग्वेद १९ । ३४ । १३) जआ मत खेलो ।

२—न परस्त्रियसुपेयात् । (तैत्तिरीय० १ । १ । ८ । ९) परस्त्रीका सङ्ग न करो ।

३—मा हिंसीः पुरुषान्पश्यन्त्य । अर्थव० ६ । २ । २८ । ५) मनुष्य और पशुओंको मन, कर्म, वाणीसे कष्ट न दो ।

४—मा गामनागामदिर्ति वधिष्ठ । ऋग्वेद । ६ । ८७ । ४) निरपराध, उपकारी गौकी हिंसा न करो ।

५—न मासः समझनीयात् । (तैत्तिरीय० १ । १ । ९ । ७) मास न खाओ ।

६—न सुरां पिवेत् । (तैत्तिरीय० १ । ९ । ७) मध्यपान न करो ।

७—मा गृधः कस्यस्विद्धनम् । (यजुर्वेद १ । ४५) पराये धनका लालच न करो ।

इसके साथ इन-इन वातोंको सर्वैव स्मरण रखनेका निर्देश मनुष्यमात्रके लिये शास्त्रोंमें दिया गया है—

‘कतो सर । कतो सर ॥ (यजुर्वेद १ । ४५) भाव यह कि यज्ञादि कर्मोंको स्मरण रखो । अपनी सामर्थ्य एवं दूसरेके उपकारको याद रखो । साथ ही—दमस्तपः । शमस्तपः । दानं तपः । यज्ञस्तपः । ब्रह्म भूर्भुवः स्वव्रेष्ट्वैतदुपास्वैतत्तपः । (तैत्तिरीय० १० । ८) ।

अर्थात् 'वाह्य इन्द्रियोक्ते वशमें रखना तप है। सुप्राप्तको दान देना तप है। यज्ञ करना तप है। भूर्भुवः स्वः तीनो लोक ब्रह्ममय हैं—यह समझकर सब जीवोंका हित करना चाहिये; क्योंकि यही सबसे बड़ा तप है।'

चरित्र और आचार कितना महत्त्वपूर्ण है, स्कन्द-पुराण आचार-खण्डके आधारपर उसके सम्बन्धमें यह कहा जा सकता है—

आलोच्य सर्वशास्त्राणि विचार्य च पुनः पुनः ।
इदमेकं सुनिष्पन्नं सदाचारो हरिप्रियः ॥
सदाचारो हि सर्वार्हो नाचारात् विच्युते पुनः ।
तस्मात् विप्रेण सततं भाव्यमाचारशालिना ॥
विद्वेपरागरहिता अनुतिष्ठन्ति यं मुने ।
विद्वांसः तं सदाचारं धर्मसूलं विदुद्युधाः ॥
श्रुतिस्मृतिभ्यामुदितं स्वेषु कर्मपु निषितम् ।
सदाचारं निषेवेत् धर्मसूलमतन्द्रितः ॥
दुराचाररतो लोके गर्हणीयः पुमान् भवेत् ।
व्याधिभिश्चापि पूयेत् सदाल्पायुः सुदुःखभाक् ॥
यस्मिन् कर्मण्यन्तरात्मा कियमाणे प्रसीदति ।
तदेव कर्म कर्तव्यं विपर्ययं न तत् क्वचित् ॥

सामान्य स्थितिमें आचारकी जो सीमाएँ निर्धारित की गयी हैं, विशेष स्थितिमें देश, काल, अवस्थाके अनुरूप उन्हे उचित अंशतक परिशोधित किया गया है, जिससे प्रत्येक दशामें व्यक्ति स्वधर्मकी रक्षा कर सके। हमारे सनातनधर्मकी यही सबसे प्रमुख विशेषता है कि इसमें किसी भी वातको सर्वथा और सर्वदा ही पाप या पुण्य नहीं बताया गया है; वल्कि परिस्थितिके अनुसार ही एक सीमानक उसका औचित्य स्थिर किया गया है; जैसे—सत्य बोलना परमधर्म है, परंतु यदि कोई कसाई अपने सामनेसे भागी हुई गौके भागनेकी दिशा जानना चाहे और आप उसे सत्य-सत्य बता दें तो आप भी गोहिसा पापके भागी बनेंगे। इस स्थितिमें सत्य कथनकी अपेक्षा मौनावलभ्वन श्रेयस्कर होगा।

वेदादि शास्त्रोंमें धर्म-संकटके समय मनुष्यके करणीय कर्तव्योंका निर्णय किया गया है। रामायण, महाभारत एवं पुराणादि ऐसे समयमें स्वधर्म (कर्तव्य) निर्णयोंमें विशेषतः सहायक सिद्ध होते हैं। इसीलिये 'धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायाम्' अर्थात् धर्मका रहस्य अतीव गूढ़ है—ऐसा कहा जाता है। निम्नलिखित बाते परिस्थितिके अनुसार उचित मानी गयी हैं—

१-गोकुले कन्दुशालायां तैलचक्रेभ्युन्नयोः ।
अमीमांस्यानि शौचानि स्त्रीणां च व्याधितस्य च ॥
(१८९)

२-गोदोहने चर्मपुटे च तोयं
यन्त्राकरे कारुकशिलपहस्ते ।
स्त्रीवालबृद्धाचरितानि यान्य-
प्रत्यक्षदृष्टानि शुचीनि तानि ॥२२८॥
३-प्राकाररोधे भुवनस्यदाहे
सेनानिवेशो विप्रमप्रदेशो ।
आवास्य यज्ञेषु महोत्सवेषु
तेष्वेव दोषा न विकल्पनीयाः ॥
(अत्रिं स्मृ० २३०)

४-चर्मभाण्डस्तु धराभिस्तथा यन्त्रोदधृतं जलम् ।
आकरोदगतवस्तूनि नाशुचीनि कदाचन ॥
(अत्रिंस्मृति २२६)

अर्थात्—'गोशालामें, भड़भूजे अथवा हलवाईकी दुकानपर, तेल निकालनेके यन्त्रमें, गन्नेका रस निकालनेके यन्त्रमें, स्त्रियों और रुग्णके विषयमें शौचाशौचका विचार यथासम्भव ही रखना चाहिये। दूव दूहनेके पात्रमें, धी आदि डालनेके लिये चर्मनिर्मित कुप्पे आदिमें, कूपसे जल निकालनेके लिये चर्मनिर्मित चड़समें, कोल्हू आदि यन्त्रोंमें, कारखानोंमें निर्मित होते हुए द्रव्योंमें तथा खी, बाल्क और बृद्धोंके आचरणके एवं नेत्रोंके लिये अप्रत्यक्ष पदार्थोंमें पवित्र दृष्टि ही रखनी चाहिये; अर्थात् वे सब पदार्थ पवित्र ही हैं। इसी प्रकार जब शत्रुने नगरका घेरा डाल रखा हो, मकान जल रहे हो, छावनीमें तथा इसी प्रकारके

अन्यान्य विप्रम स्थानोमे, अपूर्ण यज्ञोमे तया विवाहादि उत्सवोके समय दोषोका विशेष व्यान नहीं रखना चाहिये। मथ ही वह भी ज्ञातव्य है कि चर्मनिर्मित कुप्पेमे डाला हुआ वृत आदि द्रव्य, वाराहूपमे जब अन्य पात्रमे उल्टे जायें। तब वह पात्र अपवित्र नहीं होता तया नालिका यन्त्रद्वारा ग्वीचा हुआ जल (परिस्तुत सलिल) आसवादि भी अपवित्र नहीं होते तथा खानोसे निकली हुई वस्तुएँ भी अपवित्र नहीं होतीं। स्पर्शास्त्रके सम्बन्धमे भी शास्त्रीय दृष्टिकोण द्रष्टव्य है—

देवयात्राविवाहेषु यज्ञप्रकरणेषु च ।
उत्सवेषु च सर्वेषु स्पृष्टास्पृष्टं त विद्यते ॥
(वृत्तपराग्रस्मृ० ६। २९७)

अर्यात् देवयात्राओमे, विवाहोमे, यज्ञादिके अवसरपर तथा इसी प्रकारके अन्यान्य महोल्लसो, सम्मेलनादिमे दृष्टित भनुप्पके स्पर्शका दोप नहीं होता।'

बैठनेके आमन, कुसी, रेल-मोर्च आदिकी मीट, सोनेके स्थान, रेल आदिके वर्ष, जलयान, वायुयान, नाव, घास-फूस आदि चीजें, कुते आदि दुष्ट जीवों अथवा चाणडाल, पतित मनुष्यो आदिसे स्पृष्ट वस्तुएँ वायु लगनेमात्रसे युक्त हो जाती हैं—

आसनं शयनं यानं नावमपि तृणानि च ।
चाणडालपतितस्पृष्टं मारुतेनैव शुद्धत्वति ॥
(वौवायन धर्मस्मृ० १। ५। ६२)

आचारमे तय और दानका विशेष महत्व है। तप तीन प्रकारका होता है—शारीरिक, भौतिक और मानसिक। देवता, व्राह्मण और गुरुकी पूजा करना तथा शौच, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा शारीरिक तप है। मनमे विश्वोभ उत्पन्न न करनेवाला सत्य, प्रिय और हितकारी वचन बोलना, वेदोका अध्ययन करना, विभिन्न शास्त्रोका अध्याय ज्ञाना वाचिक तप है। प्रसन्न मन, सौम्य ख्याव, मौन, सयमशीलता और

भावगुद्धि मानसिक तप है (भगवद्गीता २७। १४-१६)।

दानके सम्बन्धमे कहा गया है कि श्रद्धासे दें, अश्रद्धासे न दें, भय, लज्जा अथवा श्री आदि निमित्तमे देना चाहिये—

श्रद्धया देयम् । अश्रद्धया देयम् । श्रिया देयम् ।
हिया देयम् । भिया देयम् । सम्प्रदा देयम् । (शुनिः)

पानी बांड नावमें घरमें बांड दाम ।
दोनों हाथ उल्लेखिये वही मज्जनको कास ॥ (रहीम)

भारतीय स्त्रियोंके अनुमान द्विजमात्रको यज्ञोपवीत वारण करना चाहिये। प्रन्धियुक्त शिखा धारण करना चाहिये, अपने सम्प्रदायके अनुमान निलक धारण करना चाहिये और भूलकर भी लगी (तहमद) आदि नहीं पहनना चाहिये। कहा है—

सदोपवीतिना भाव्यं सदा वद्धिश्वेत च ।
विशिखो व्युपवीतश्च यन् कुरोनि न तत् कृतम् ॥
(कान्यायन-स्मृति)

उर्ध्वपुष्टिं सृग्र धार्यं भस्मना तु चिपुण्डकम् ।
मुक्तकक्ष्मा महाध्रमः । (विगिष्ठस्मृति)

इन सबसे पण्पिष्ठ भारतीय मस्त्रियोंका आधार है आचार अथवा चरित्र। चरित्रिकी इसी विशेषताके कारण भारत धनादिकालमे विश्वके गुरु पदपर अविद्वित रहा है। भगवान् मनुने उमके चरित्रिकी इन्हीं विशेषताओंको परिलक्षित कर अखिल विश्वको इसी देशमे उपन्न अग्रजन्माओंसे अपने-अपने चरित्रिकी शिखा लेनेका परामर्श दिया है—

एतदेशप्रसूतस्य सकाशाद्यजन्मनः ।
स्वं स्वं चरित्रं शिष्येन पृथिव्यां सर्वभास्तवाः ॥
(मनुस्मृति २। २०)

आचार, विचार अथवा नारित्रिक दृष्टिये सम्बन्ध अग्रजन्माओंके देश अथवा भारत राष्ट्रके चरित्रिकी आज क्या दशा है—इसर उपर्युक्त चारित्रिक विशेषताओंके परिज्ञानके पश्चात् दृष्टिपात ज्ञानेपर जो चित्र सामने

आता है, वह इतना भयावह है कि एक मिहरन-मी अनायास जरीर अथवा तन-मन दोनोंको अकलीर जाता है। क्या कोई भी मारतीय भावनाका व्यक्ति विना व्ययित हुए है?

भारत एक महान् राष्ट्र है। इसकी गोरवमयी नीव इतिहासके वर्णिम तथ्योपर आधृत है। इसका अतीत जितना प्रकाशमय रहा है, चरित्रकी दृष्टिमें वर्तमान उनना ही अन्वकारावृत्त-सा दृग्मोचर होता है। शाश्वत मूल्य आज प्रभातकालीन तारकोकी स्थितिमें जा पहुँचे हैं। चरित्रका जितना अब उन आज भारतमें हुआ है, उनना सम्भवतः अन्यत्र कही नहीं। चारों ओर भग्नाचार, आपावापी, लट-खसोउ, मिलावट, उकोच आदिका बाजार, इस प्रकार गम है कि किसी भी चरित्रवान् व्यक्तिके लिये इस वातावरणमें सौंस लेना कठिन हो गया है। धर्मकी निरपेक्षताने इस स्थितिको विशेषतः उभारा है। विश्वका कोई भी धर्म हो, वह चरित्रके उज्ज्वल पक्षको विशेषतः प्रश्रय देता है और विभिन्न द्वाग्नोद्वारा प्रन्येक व्यक्तिको चरित्रवान् वननेकी दिशामें प्रेरित करता है। बड़ जीवनकी नश्वरता, परलोकके दण्डका भय आदि दिखाकर व्यक्तिको सम्मानपर मिर रहनेकी प्रेरणा देता है। पर आज यह धूमिल है।

आजका मानव इस शाश्वत सत्यको मुलाकर स्वयको अजर-अमर मानने लगा है। आज भारत अपनी सुपुष्ट चरित्र सम्पत्ति-सम्पन्न परम्पराको मुलाकर रूप, अमेकिं आदिकी सम्यताके पीछे पागल हो रहा है। कभी साम्यवाद उसे आकर्षित करता है, कभी समाजवाद। वह भूल गया है कि साम्यवाद रूपकी नहीं, स्वय भारतकी देन है, इससे बढ़कर भला साम्यवादमें हो ही क्या कि—

यावद्भियेत जठरं तावत् सत्यं हि देहिनाम् ।
अविकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हन्ति ॥

(श्रीमद्भा० ७ । १४ । ८)

परन्तु राष्ट्र करे भी तो क्या? यथा राजा तथा प्रजाकी उक्ति उसपर पूर्णतः चरितार्थ हो रही है। शासक ही जब चरित्रहीन हो तब प्रजा केंसी होगी—इसकी कल्पना सहज ही की जा सकती है। भगवान् राम और श्रीकृष्णके नहीं, केवल चन्द्रगुप्तके कालको ही ले तो सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि हमारे चरित्रका क्रितना हास हुआ है। लोक-गिरण-हेतु न्याय-मन्त्री शिशुपालद्वारा निरहुआ अपराधी राजा चन्द्रगुप्तको प्राण-दण्डका भजा देना और उसकी स्वर्णमूर्तिको यह कहकर फौसीपर लटकाना कि ‘राजा ईश्वरका अव इह है, उसे दण्ड देनेका अविकार भी ईश्वरको ही है, केवल लोकमें सर्वादाका राजके लिये उसकी मूर्तिको फौसीपर चढ़ानेका दण्ड दिया जाता है’—इस बातका प्रमाण है कि न्यायके प्रति राजा-प्रजामें क्रितनी आस्था थी। परतु आज इस आदर्शको भुलाया जा चुका है। आज न्याय-गति अन्यथा हो चली है। जब अतिपिय शासक ही असामाजिक तत्त्वोंको सरक्षण दे रहे हो, अपने पदके प्रभावमें न्यायको विरीद रहे हो तब न्याय कैसे चल सकता है और गण्डिय चरित्रका विकास कैसे समव है। शासकगणका चरित्र आदर्श हो तो कोई कारण नहीं कि रामरात्रि ही राष्ट्रमें न आ जाय, क्योंकि—

यद् यदाचरनि श्रेष्ठस्तत्त्वेवेनरो जनः ।
स यत् प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥
(श्रीमद्भगवद्गीता ३ । २९)

चाणक्यके कालमें भारतमें घोरमें ताला नहीं लगाया जाता था। उसी समय चीनी यात्री हुनसौंगने भारतकी यात्रा की थी। उसकी यात्राके एक प्रेरणाप्रद प्रसंग की चर्चा कुछ विद्वानोंने की है। यह प्रसङ्ग कुछ इस प्रकार है—

उस समय भारतकी राजधानी पाटलीपुत्र (पटना) थी। वर्मा, श्रीलका, वॉगलांडेग, पाकिस्तान, काबुल,

कांधार सब भारतके ही अंग थे । यात्रा करते हुए हैनसांग पाठ्लीपुत्र पहुँचा और तभी उसके मनमें भारत-जैसे विशाल देशके प्रधानमन्त्री महामति चाणक्यके दर्शनका विचार आया । वह गंगा-तटपर एक धाटपर जा पहुँचा । वहाँ बैठे-बैठे वह किसी उपयुक्त व्यक्तिसे प्रधानमन्त्रीके आवासका पता-ठिकाना पूछनेका विचार करने लगा । अनेक व्यक्ति वहाँ स्थानार्थ आये और स्थानकर चले गये, परन्तु वह किसीसे अभिप्रेत विप्रय पूछनेका साहस न जुटा सका । देखते-देखते एक जरा-जीर्ग कृष्णवर्णीय ब्राह्मणको छोड़कर सारा धाट रिक्त हो गया । वह ब्राह्मण भी जब स्नान, सन्ध्यादिसे निपट धोती धोकर घड़ा भर चलनेके लिये तैयार हुआ तब यात्री हैनसांगने सामने पहुँच हाथ जोड़कर कहा—‘महाशय ! मैं आपके देशके लिये सर्वथा अपरिचित हूँ और आपके देशके प्रधानमन्त्रीके दर्शन करना चाहता हूँ । कृपया मुझे उनके आवासतक पहुँचनेका मार्ग निर्दिष्ट कीजिये ।’

बृद्ध ब्राह्मणने धैर्यपूर्वक उसके कथनको सुना और अपने साथ आनेके लिये कहा—‘आगे-आगे बृद्ध ब्राह्मण और पीछे-पीछे हैनसांग नगरको एक ओर छोड बनकी ओर जानेवाली पगड़ंडीपर बढ़े । हैनसांगके मनमें शंका उभरी कि कहीं वह गलत स्थानपर तो नहीं ले जा रहा है ? परन्तु वह बिना उसे व्यक्त किये उसके पीछे-पीछे चलता रहा । थोड़ी दूरपर एक कुटियाके द्वारपर पहुँचकर ब्राह्मण रुका और द्वार खोलकर भीतर प्रविष्ट हुआ । हैनसांग बाहर ठहरकर यह विचार करता हुआ उसकी प्रतीआ करने लगा कि वह बाहर आयेगा और उसका मार्गदर्शन करेगा । परन्तु जब ब्राह्मण बाहर नहीं आया तब हैनसांगने आवाज लगायी और कहा—‘महाशय ! क्या मेरी याचना भूल गये ? तत्काल बृद्ध ब्राह्मणने कुटियाके बाहर आकर अतीव विनीत भावसे मस्तक झुकाकर कहा—‘नहीं ! बन्धु ! मैं भूला नहीं हूँ,

इस कुटियामें भारतका प्रधानमन्त्री चाणक्य आपका स्वागत करनेके लिये प्रस्तुत है ।’ यात्रीने अकचकाकर उसे देखा और डरते-डरते उसकी कुटियामें प्रविष्ट होकर देखा कि साधारण-सी कुटिया है, जिसमें एक ओर जलका घड़ा रखा है, दूसरी ओर उपलों-समिधाओंका ढेर है । नमक आदि पीसनेके लिये सिल-बड़ा रखा हुआ है । एक बॉस कपड़े सुखानेके लिये ऊपर टैंगा हुआ है और एक चटाईके सामने चौकीके ऊपर लिखने पढ़नेकी सामग्री तथा दीपाधार रखा हुआ है । आतिथेयके आग्रहपर वह चटाईपर जा बैठा; परन्तु बार-बार उसके मनमें यही आता रहा कि हो-न-हो वह किसी पागलके घर आ गया है । परन्तु उसी समय सौभाग्यसे चन्द्रगुप्त अपने कुछ सैनिकोंके साथ वहाँ पहुँचा और गुरुके चरणोंमें दण्डवत् लेङ्कर प्रणाम किया और आनेका उद्देश्य बताया ।

बृद्ध ब्राह्मणने, जो वास्तवमें चाणक्य ही थे, उनसे कहा—‘वृपल ! तुम सायंकाल आना, तब तुम्हारी समस्यापर विचार करेंगे; अभी तो यह देखो, एक विदेशी अपने देशके अतिथि बनकर पवारे हुए हैं, इन्हे साथ ले जाकर ससम्मान राजकीय अतिथिशालामें ठहराओ और जब ये पूरी तरह आराम कर चुकें, तब कल सायंकाल इन्हें मेरे पास लाओ । तब हम इनसे चर्चा करेंगे । चन्द्रगुप्तने गुरुदेवके आज्ञानुसार उस विदेशी यात्रीको राजकीय अतिथिशालामें ठहराया और दूसरे दिन सायंकालके समय जब सूर्यास्त हो चुका था, तब उसे साथ लेकर गुरुकी कुटियापर पहुँचे । वहाँ जाकर देखा महामति चाणक्य गम्भीर भावसे एकाग्र होकर कुछ विचार करते हुए लिख रहे हैं । सामने दीपक जल रहा है । दोनों मौन भावसे सामने चटाईपर जा बैठे । कुछ समय पश्चात् कार्य समाप्त कर चाणक्यने दृष्टि ऊपर उठायी और आगन्तुकोंको शाचिक सम्मान देते हुए जलता हुआ

दीपक बुझा दूसरा दीपक जला दिया और हेनसांगको सम्बोधितकर पूछा—‘कहो मित्र ! कैसालगा यह देश ?’ ‘बहुत ही विचित्र’—हेनसांगने उत्तर दिया । ‘क्या विचित्रता देखी आपने ?’

सबसे पहली तो यही कि ‘एक जलते हुए दीपकको बुझाकर दूसरा दीपक जलाना क्या कम विचित्र बात है ? क्या इस पहलीका अर्थ समझानेका कष्ट करेगे महामति चाणक्य ? जिसके बुद्धि-बलका डंका विश्वमें बज रहा है, वह व्यक्ति एक जलते दोपकको बुझा दूसरा दीपक जलाये यह कुछ समझमें नहीं आया ।’

चाणक्य विदेशी यात्रीका कथन सुन मुस्कराये और गंभीर खरमें बोले—‘वन्धु ! मैने एक दीपकको बुझाकर दूसरा दीपक सोच-समझकर ही जलाया है । बात सामान्य है, पर तुम समझ नहीं सकोगे । वास्तवमें जब आपलोग आये तो मैं राजकार्य कर रहा था । अतः उस समय जिस दीपकके प्रकाशमें मैं कार्य कर रहा था उसमें राजकोषका तेल जल रहा था । परंतु अब जो बात-चीत होगी, वह हमारी निजी होगी, इसीलिये मैने राजकोषसे सम्बद्ध दीपकको बुझाकर अपनी कमायीके तेलसे जलनेवाला यह दीपक जलाया है ।’

यह सुनते ही हेनसांग दंग रह गया । वरवस उसके मुखसे निकल पड़ा कि क्यों न ऐसा देश महान् और विश्वगुरु हो, जिसका प्रधानमन्त्री इतना जागरूक तथा देशके धनके अपव्ययके प्रति पूरी सावधानी वरतनेवाला हो । यह है उस समयके राष्ट्रके मन्त्रीका आदर्श चरित्र ।

पर आज या स्थिति है, इसका कठु अनुभव उन सबको यक्किचितरूपमें है ही जिनका जरा-सा भी सम्पर्क राजकीय कार्यालयोंसे रहा हो ।

जहाँ प्रचीनकालमें नागरिक अपनी आयका छठा अंश चुपचाप ईमानदारीके साथ किसी तालाव, कूप

आदिके पास रख आते थे वहाँ आज सही आयको छिपानेके लिये उन्हे अनेक उपाय खोजने पड़ते हैं । आयकर-विभाग झूठे और सच्चे दोनोंको एक नजरसे देखनेमें विवश है और उन्हे चोर समझता है । आज-कलके देन-लेन-कर्ममें नियुण व्यक्ति कुछ ‘दे-लेकर’ आसानीसे जब मुक्ति पा लेते हैं, तब दूसरोंको भी प्रेरणा देते हैं; परिणामस्थलम भ्रष्टाचार दोनों दिशाओंमें पनपने लगता है जो देशकी, राष्ट्रकी समृद्धिके लिये अभिशाप है । आज शिक्षाके क्षेत्रतकमें दोप आ गये हैं । त्रिना निश्चित राशि दिये प्रवेशतक सम्भव नहीं रहा है । योग्यतानुक्रमसे केवल गिने-चुने व्यक्तियोंको हो प्रवेश मिल पाता है । अपनी रुचिके विषयमें प्रवेश पा लेना प्रतिभाशाली छात्रोंके लिये भी दुर्लभ हो गया है । फिर राष्ट्रमें योग्यतम, योग्यतर ही नहीं, योग्य व्यक्तियोंकी कमी क्यों न होगी ? आज मूर्खता पनपती जा रही है ।

चिकित्सालयोंमें कैसी व्यवस्था है; कैसी चिकित्सा होती है, यह भी किसीसे छिपा नहीं है । हर पगपर पैसेकी बात होती है और जो नहीं दे पाता, वह कितनी उपेक्षाका शिकार होता है, यह कोई भी भुक्तभोगी बता सकता है । प्राणरक्षक दवाइयोंकी दुर्लभता हो गयी है । आतुरोंकी शिक्षिति चिन्तनीय है ।

खाद्यान्नों और किरानेमें कितनी मिलावट की जाती है, यह सबपर प्रकट है । कई स्थानोंपर तो चावलके आकार-प्रकारके पत्थर काटकर चावलोंमें मिलाये जानेके लिये तैयार किये जानेकी भी बात कही जाती है । दूध, धी, तेलमें क्या कुछ मिलाया जाता है, ईश्वर ही जाने । परिणामतः ऐसे नये-नये रोगोंकी सृष्टि हो रही है जिनका नाम भी आयुर्वेदमें उपलब्ध नहीं है । नकली औषधियोंके कारण इनकी वाढ़को रोक पाना और उपचार कठिन हो रहा है । कैसी विप्रम स्थिति है ।

नकली कारत्सु, नकली टिकट, तस्करी जमाल्योरी, वूसखोरी आदि भ्रष्टचारके कारण राष्ट्र खोखला होता जा रहा है। उसे ढेवने हृषि यह सुनिश्चितरूपसे कहना पड़ता है कि इसका कारण चरित्रका अभाव ही है। चरित्र धर्मका अनिवार्य अग है, अतः यदि राष्ट्रको सशक्त और समृद्ध बनाना है तो हम धर्मको किसी-न-किसी रूपसे अगीदृत, आत्मापित करना होगा, अच्छाई और बुराईके अन्तर्को स्पष्ट करना होगा अपकार-परोपकारके दृष्टिकोणको प्रशस्त करना होगा। इसी प्रकार प्रतिभाका सम्मान करना होगा और इन सबके लिये ईश्वर तथा ईश्वरीय दण्ड, स्वर्ण-नरकके भयकी पुनः प्रतिष्ठा करना होगा। अच्छे कार्यके लिये पुरस्कार तथा परवीड़क निष्पा कार्योंके लिये दण्डका विभान करना होगा। तर्मा हम अपने राष्ट्रको सच्चा गणतन्त्र, सम्म न्यायप्रिय राष्ट्र सिद्ध कर सकनेमें सफल हो सकेंगे। आयुर्वेदमें 'वस्थ' की परिभाषा इस प्रकार दी गयी है—

प्रसन्नात्मेन्द्रियग्रामो स्थिरधाः स्वस्यमुच्यते
हमें भी सर्वप्रथम आदर्श चरित्र-सम्पन्न बनाकर राष्ट्रको स्वस्थ बनाना है, अतः हमें निष्प्रापूर्वक सद्गुणोंको

प्रोत्साहित आर दुर्गुणोंको निष्पारित करना होगा। अपने व्यवहारमें सत्यता, मयमर्शीलता, उठारता, परोपकारिता, सर्वाधिकता, परदृग्वकानना, दानशीलता, गुणप्राप्तिता आदिको लाना होगा; तर्मा हम अपने गढ़को आदर्श राष्ट्र बना सकेंगे। आज तो जो मिथि चल रही है वह महाकवि कालिदासकी दृभ अनुग्रह-मिद्र मृक्तिका समरण करती है कि—

अयोग्या यत्र पूज्यन्ते पूज्यपूजाव्यनिक्रमः ।
त्रीणि तत्र प्रजायन्ते दुर्भिक्षं मरणं भयम् ॥

भारत अनादिकालमें विश्व-गुरु रहा है, आज भी हमारे 'हरे गम हरे कृष्ण' का नाड़ विश्वमें गूज रहा है। अणुभयसे सत्रस्त मानव भोगमें विरत हो योगका आश्रय लेने भारतकी ओर उन्मुख हो रहे हैं। अत हमें मी आजकी विस्तारताद्वारा राजनीतिको एक मर्यादामें मर्यादित कर चारित्रिक विकासकी ओर अधिक ध्यान देना चाहिये। इसके फलवस्त्र हमारा राष्ट्र निश्चय ही पुनः शीर्षस्थ म्यानपर आमद हो सकेगी उचित दिशा-नर्देश देनेमें सफल हो सकेगा—

श्रीमता तदनुष्ठेयं महत्वं येत वर्तते ।

राष्ट्रके प्रति हमारा चारित्रिक दायित्व

यद्यपि 'दश' आर राष्ट्र, पर्यावरणाचारो गच्छ है, पर आज राष्ट्रमें प्रयोग विश्वप्रस्तुपमें व्यतन्त्र देशके लिये किया जाता है। विश्वमें शासनकी गततन्त्र प्रभृति अनुकूल हातमें प्रचलित रहा है आज आज भी न, परन्तु सम्प्रभु अप्रजातन्त्रप्रणाली अपेक्षाकृत वहुभान्य है। प्रजातन्त्रका व्यक्तिनिष्ठ एक महान दायित्व राष्ट्रके प्रति होता है जिस हम अभीतक इस वर्षमें सभ्यकरूपमें सुव्यवस्थित न कर सके। वह दायित्व है, राष्ट्रिय चरित्रका आदर्श उत्कर्ष। हम अनेक हृदयपर हाथ रखकर पूछें कि क्या हम राष्ट्रकी सम्पत्तिकी स्वमध्यत्तिवत रक्षा करते हैं? क्या हम राष्ट्रव्य गौरवके अनुरूप देशमें तथा विदेशोंसे व्यापार-व्यवहार करते हैं? क्या हम वर्णाश्रम-धर्मवाले इस धर्मग्राण देशमें धर्मनीतिके अनुसार चल रहे हैं? क्या हम वर्त्याण राज्यके अनुस्तुप अपने अधिकार एवं कर्तव्योंका इमानदारीसे निर्वाह कर रहे हैं। हमारा आजका आचरण अन्यत्रके नतिक आचरणसे ऊचा है? क्या हम अपने राष्ट्रके प्राचीन गौरवको समुख रखकर छुल, दम्भ, द्वेष, पास्त्रण्ड, झट, हिसा-प्रतिहिसा, वेईमानी आदि दुर्गुणोंसे बचे हैं और क्या हम राष्ट्रके गौरव एवं वल्लको गिरानेवाले, उत्कर्ष, अन्याय, अत्याचार, भ्रष्टचार, जमाल्योरी चोरवाजारी, प्रमृति अर्नातिक आचारांसे बचे एवं समाजको बचाये हुए हैं? यदि आपका हृदय कहता है कि 'नहीं' तो सोचिये कि हम कहें जा रहे हैं? और, यह हमारे राष्ट्रके चरित्रिक उत्थानका या पतनका हेतु होगा? फिर आप यदि अपने देशको अपना राष्ट्र कहते-मानते हैं तो आपका उत्तर-दायित्व आपको राष्ट्रिय चारित्र्यकी दिशामें सुतरा प्रवृत्त करा देगा पर फिर भी प्रश्न है कि क्या हम अपने राष्ट्रिय चरित्रके उत्कर्षके लिये इच्छुक, लालायित, प्रयासशील हैं? यदि हों, तो निर्दिष्ट पद्धतिपर चलिये। राष्ट्रके प्रति अपना चारित्रिक दायित्व किंवा कर्तव्य पूर्णतः मैगालिये।

चरित्र-निर्माणकी शाश्वत उपयोगिता एवं सामयिक उपादेयता

(लेखक—निम्नार्काचार्य गोस्वामी श्रीललितकृष्णजी महाराज)

गर्वर्थक 'चर' धातु और 'इत्र' प्रत्ययके संयोगसे निष्पन्न 'चरित्र' शब्द चरित्र एवं वृत्त अर्थात् छन्द या पद्य अर्थका दोतक है—'वृत्तं पद्ये चरित्रे च', (अनेकार्थसंग्रहकोश) । वृत्त शब्द 'वृत्तु वर्तने' धातुसे निष्पन्न होता है । यहाँ अनेकार्थक-कोशकारोने चरित्रको 'वृत्त' कहा है । पद्यको भी 'वृत्त' कहा जाता है । चरित्रमें भी पद्यवत् सुनियोजित व्यवहार होता है । स्वच्छन्द या स्वेच्छाचारमय जीवनसे चरित्रका हनन होता है । सुनियोजित जीवनर्चर्या ही चरित्र है, वही मानवकी सही गति है, उसीसे परलोकमें सुगति सम्भव है ।

चरित्रकी सँभाल सद्विचार और सदाचारकी परिविमें ही हो सकती है । प्रायः शास्त्रोंमें इन्हे ही ऋत और सत्य कहा गया है । ये सृष्टिके समय ब्रह्माको तपसे प्राप्त हुए थे । ब्रह्माको सृष्टिकी सामर्थ्य तपसे ही प्राप्त हुई है । अनादिकालका सृष्टि-प्रवाह जड़-चेतनका छन्दोमय वृत्त ही है । सृष्टिके समस्त कार्यकलाप अनादिकालसे एकसे ही चले आ रहे हैं । दिन, सप्ताह, पक्ष, मास, वर्ष, युग, मन्वन्तर, कल्प आदि कालानुसार एवं खतः स्वभावानुसार घटित होते रहते हैं, रञ्जमात्र भी उनमें कोई परिवर्तन नहीं होता । समस्त जड़-चेतन कालकी गतिमें छन्दोमयरूपसे अनुस्थूत है । वैष्णवाचायेने इसीलिये चिदचित् और काल—इन तीन तत्त्वोंको ही स्वीकार किया है । इन्हीं तीनोंका वृत्तान्त निगमागमपुराणेतिहासोंमें संकलित है । इन चिरंतन सत्योका विचार कर वर्तव्य करना ही ऋत तथा सत्य है; और वही चरित्र है ।

पुराणोंके सृष्टिक्रममें कर्दम ऋषिका दिव्य चरित्र आता है । जीवन-गतिके संचालनके लिये वहाँ उनके विवाहकी चर्चा आती है । आदिराज मनुने

उनके अन्तिम विवाहके अवसरपर अपनी कन्या देवहूतिको उन्हें समर्पित करते हुए प्रार्थना की थी—

ब्रह्मासुजत्स्वमुखतो युष्मानात्मपरीप्सया ।
छन्दोमयस्तपोविद्यायोगयुक्तानलम्पदान् ॥
(श्रीमद्भा० ३ । २२ । २)

ब्रह्माजीने अपनी आकाङ्क्षा-(सृष्टिविस्तारकी इच्छा)-की पूर्तिके लिये अपने मुखसे आप ब्राह्मणोंको प्रकट किया है, आप लोगोंका वेदज्ञानमय जीवन तप, विद्या, भक्तियोगसे सम्पन्न तथा वासना रहित है । वेदविज्ञानमय जीवन तप, ज्ञान और भक्तिसे ही संभलता है । तपका जो खरूप भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें अर्जुनको बतलाया है, वह अनूठा है । वहाँ शारीरिक, वाचिक, मानसिक ये त्रिविध तप कहे गये हैं । देव, द्विज, गुरु और विद्वज्जनोंका सत्कार, पूजन करना, पवित्र रहना, इन्द्रियोंमें सरलता रखना, ब्रह्मचर्यका पालन करना, हिंसा न करना ये शारीरिक तप हैं । इसी प्रकार अनुद्रेगकर, सत्य, ग्रिय, हितकर वाणी, बोलना शास्त्राभ्यास और मन्त्रजय करना वाणीके तप हैं । मनको प्रसन्न रखना, मौनभावसे मनको शान्त रखना, भावोंको शुद्ध रखना मानस-तप हैं (गीता १७ । १४—१६) । प्राणिमात्रसे सौहार्द रखते हुए सारे विश्वको भगवद्-रूप मानते हुए व्यवहार करना सही ज्ञान है । इससे मनुष्य कष्ट नहीं पाता, ऐसा भगवान् श्रीकृष्णने उद्घवजी-से कहा था—

सर्वभूतसुहृद्भान्तो ज्ञानविज्ञाननिश्चयः ।
पश्यन् मदात्मकं विश्वं न विपद्येत वै पुनः ॥
(श्रीमद्भा० ११ । ७ । १२)

भक्तियोगसे सम्पन्न तप और ज्ञान हो तभी वे लाभकर हैं । 'योगयुक्तान्' विशेषणका यही तात्पर्य है; जैसा कि भगवान् उद्घवसे स्पष्ट कहते हैं—

मन्मायामोहितधियः पुरुषः पुरुषर्पम् ।
 श्रेयो वदन्त्यनेकान्तं यथाकर्म यथारचि ॥
 धर्ममेके यशश्चान्ये कामं सत्यं दमं शमम् ।
 अन्ये वदन्ति स्वार्थं या ऐश्वर्यं त्यागभोजनम् ॥
 केचिद् यज्ञतपोदानं ब्रतानि नियमान् यमान् ।
 आद्यन्तवन्त एवां लोकाः कर्मविनिर्मिताः ।
 दुःखोदकास्तमोनिष्ठः शुद्रानम्भः शुचार्पिताः ॥
 धर्मः सत्यदयोपेतो विद्या वा तपसान्विता ।
 मद्भक्त्यापेतमात्मानं न सम्यक् प्रपुनाति हि ॥

(श्रीमद्भा० ११ । १४ । ९-११, २२)

मेरी मायासे मोहित बुद्धिवाले पुरुष अपनी रुचि और कर्मानुसार अपने कल्याणका मार्ग अपनाते हैं। कोई धर्म, कोई यश, कोई काम, कोई सत्य, दम, शमका आश्रय लेते हैं, कोई ऐश्वर्य-भोगका तो कोई त्याग, यज्ञ, दान, तप, नियम, यमको महत्व देते हैं। किंतु ये साधन शाश्वत शास्त्रिके नहीं हैं। कर्मको आसक्ति परिणामतः प्राप्त होती है। इनसे शुद्र आनन्द मिलता है। ये तमोनिष्ठ और अन्तमें पथात्तापकारी दुःखदायी सिद्ध होते हैं। धर्म, सत्य, दयावान्, विद्या और तपसे सम्पन्न व्यक्ति भी जबतक मेरी भक्तिसे युक्त नहीं होता, तबतक पूर्णरूपसे पवित्र नहीं होता।

इस भगवन्द्वाक्यसे निश्चित होता है कि चरित्र-निर्माणमें तप आदि साधन तभी सहयोगी हैं, जब उनमें भक्ति-भावनाका भी पुट हो। भक्तिके अलाल्को तप आदिसे सिक्ख किया जाय तो चरित्र-वृक्ष पुष्टि और फलित हो सकता है। उक्त भगवन्द्वचनसे यह भी निश्चित होता है कि भगवद्भक्तिके विना मानव-चरित्रका उत्पान सम्भव नहीं है। इसीलिये शुकदेवजीने निर्णय किया—

स वै पुंसां परो धर्मः यतो भक्तिरथोक्षजे ।

‘जीवका परम कर्तव्य है कि वह अधोक्षजकी भक्तिमें संलग्न हो जाय।’ जागतिक सृष्टिप्रवाहमें जो कुछ भी विद्युत हो रहा है उसमें एकमात्र कालं ही कारण है।

वही एकमात्र इसमें प्रत्यक्ष सत्य है, जैसा कि भगवान् का वचन है—

शानं विवेको निगमस्तपश्च
 प्रत्यक्षमैतिष्यमथानुमानम् ।
 आद्यन्तयोरस्य यदेव केवलं
 कालश्च हेतुश्च तदेव मध्ये ॥
 (श्रीमद्भा० ११ । २८ । १८)

‘ज्ञान, विवेक, निगम, तप, प्रत्यक्ष, इतिहास और अनुमान—सभीसे यही प्रमाणित होता है कि आविर्भूत-तिरोभूत होनेवाले इस जगत्में केवल काल ही सत्य है।’

कहनेका तात्पर्य यह है कि अचित् तो परिवर्तनशील है, चित् अदृश्य है। एकमात्र कालका परिणाम ही प्रत्यक्ष परिलक्षित होता है। काल इस विश्वका कारण है, अचित् कार्य है, चित् कर्ता है। ये तीनों सत्य, रज, तम—इन तीन गुणोंके अनुसार जिस महान् शक्तिके द्वारा ज्ञात और ज्ञात हो रहे हैं, वह चौथी वस्तु ही परम सत्य है—

विवानमेतत् त्रियवस्थमङ्ग
 गुणवत्यं कारणकार्यकर्तुं ।
 समन्वयेन व्यतिरेकतश्च
 येनैव तुर्येण तदेव सत्यम् ॥

यह भागवतके इस श्लोकसे निश्चित होता है। मायारचित गुणोंकी आसक्ति छोड़कर जगन्नियन्ता तुरीय तत्त्वकी भक्ति कर अपने मनके मैलको सच्छ करते रहना चाहिये। इस रहस्यको भगवान् उद्घवको बतलाते हैं—

तथापि सङ्घः परिवर्जनीयो
 गुणेषु मायारचितेषु तावत् ।
 मद्भक्तियोगेन द्वेषेन यावद्
 रजो निरस्येत मनः कपाचः ॥
 यथाऽमयोऽसाधुचिकित्सितो नृणां
 पुनः पुनः संतुदति प्ररोहन् ।
 एवं मनोऽपरक्षवक्षावर्कर्म
 कुर्यांगिनं विच्छ्रिति सर्वंसङ्गम् ॥

‘मायारचित् गुणोंकी आसक्ति छोड़नी चाहिये, वह मेरी भक्तिसे ही सम्भव है। उसीसे मनके मैल सच्च होते हैं। जैसे कि ठीक दंगकी चिकित्सा न होनेसे रोग पुनः-पुनः अंकुरित हो जाता है, वैसे ही भक्तिरहित तप आदि साधनोंसे मनका मैल पूर्णतः सच्च नहीं होता।’

इस विवेचनसे जगत् और जीवकी गतिका यथार्थ चित्रण हो गया। मायाकी आसक्ति चरित्रिका हनन करती है और भगवान्‌की भक्ति चरित्र-निर्माण करती है, यह भी निर्णय हो गया। इसलिये मनुष्यको भगवद् भक्तिके आश्रयसे अपना उद्धार करना चाहिये और निर्भय होकर जीवन-यापन करना चाहिये। कपिलमुनिका भी उपदेश है—

तस्मान् कार्यः संत्रासो न कार्यण्यं न सम्भ्रमः ।
बुद्ध्वा जीवगतिं धीरो मुक्तसङ्गश्चरेदिह ॥
(श्रीमद्भा० ३ । २१ । ४७)

‘मनुष्यको जीवनमें हताशा न होना चाहिये, न घबड़ाना चाहिये और न व्याकुल होना चाहिये। जीवकी चिरन्तन गतिको जानकर धैर्यके साथ अनासक्त होकर जीवनयापन करना चाहिये।’ प्रश्न होता है कि क्या किसी सम्प्रदाय-विशेषमे दीक्षित होकर ही भक्ति करनी चाहिये अथवा भक्तिका कोई सामान्य मार्ग भी है जो कि सामान्य व्यक्तिके लिये ग्राह्य हो। यह तो सम्भव नहीं है कि प्राणिमात्र किसी सम्प्रदाय या धर्ममें समिलित हो ही जाय। पर चरित्रोत्थान तो प्राणिमात्रके लिये आवश्यक है। इसका समाधान भी हमें श्रीमद्भागवतमें भगवान् कपिलके निम्न वचनमे मिल जाता है—

न युज्यमानया भक्त्या भगवत्यखिलात्मनि ।
सद्वशोऽस्ति शिवः पन्था योगिनां ब्रह्मसिद्धये ॥
(श्रीमद्भा० ३ । २५ । १९)

प्राणिमात्रके अन्तर्यामी परमात्माकी भक्ति चरित्रोत्थान-का कल्याणमय मार्ग है। उसके अतिरिक्त कोई दूसरा मार्ग नहीं है। इस कथनका तात्पर्य जीवमात्रके कल्याणकी

भावना ही भक्ति है, किसीको किसी प्रकारका कष्ट प्राप्त न हो—ऐसा आचरण करना ही भक्ति है। ऐसा करनेवाले ही महान् हैं। वे स्वयं कष्ट उठाकर भी लोगोंकी भलाई करते हैं—

तितिक्षवः कार्षणिकाः सुहृदः सर्वदेहिनाम् ।
अज्ञातशत्रवः शान्ताः साधवः साध्युभूषणाः ॥
(श्रीमद्भा० ३ । २५ । २१)

‘जो सहनशील, प्राणिमात्रसे प्रेम करनेवाले, दयालु और काम-कोधादि अपनी दुर्भाविनाओंसे रहित शान्त परोपकारी है, वे ही महान् हैं।’

यही चरित्रिका मापदण्ड है, पर यह ईश्वरकी सत्ता मानकर ही सहीरूपसे सम्भव है, जबतक यह नहीं माना जायगा कि जीवमात्रका अन्तर्यामी ईश्वर है, तबतक उक्त धारणा नहीं बनती। भक्तिका यह सामान्य रूप है। यह किसी भी संभ्रदाय या धर्ममें आवद्ध नहीं है। इस मार्गमें विकार-राहित्य, अहंकार-शून्यता होती है। अतः त्रिगुणात्मक प्रकृतिका आश्लेष भी सम्भव नहीं है। मनुष्य जगत्‌मे रहता हुआ भी निर्द्वन्द्व और सुखी रह सकता है—

प्रकृतिस्थोऽपि पुरुषो नात्यते प्राकृतैर्गुणैः ।
अविकारादकर्तृत्वान्विरुद्धुर्गुणत्वाज्जलार्कवत् ॥
अथ मां सर्वभूतेषु भूतात्मानं कृतालयम् ।
अर्हयेद्वानमानाभ्यां मैत्र्याभिन्नेत अध्युषा ॥
(श्रीमद्भा० ३ । २७ । १, २९ । २७)

‘उक्त प्रकारके आचरणसे मनुष्य प्रकृतिमें रहता हुआ भी प्राकृत गुणोंमें आसक्त नहीं हो सकेगा; क्योंकि उसके विचारोंमें विकार नहीं होगा, कर्तृत्वाभिमान नहीं होगा, गुणोंकी वृत्तियोंका आश्लेष नहीं होगा। ऐसे चरित्रवान् व्यक्तिको सदा ऐसा ही विचारना चाहिये कि प्राणिमात्रमें भगवान्‌का निवास है। अतः बिना किसी भेदभावके समीसे मित्रताका भाव रखते हुए सभीका समादर करते रहना चाहिये।’

इस विस्तृत विवेचनसे निश्चित हो जाता है कि सुखी जीवनके लिये चरित्र-निर्माणकी शाश्वत उपयोगिता है। आजके परिवेशमें यह उपयोगी नहीं है—ऐसा कोई भी बुद्धिमान् नहीं कह सकता। विधाताने सृष्टि की, समस्त जीवोंके निर्माणके बाद भी उसे संतोष नहीं हुआ, उसने जब मानवको बनाया और उसमें व्यापक विवेकपूर्ण दृष्टिकोण स्थिर किया तो उसे वडी प्रसन्नता और संतोष हुआ—

तैस्नैरतुष्टदयः पुरुषं विधाय

ब्राह्मवद्यंकविषयं सुदमाप देवः ।

(श्रीमद्भा० ११ । ९ । ३८)

इस दत्तात्रेय मुनिके वाक्यमें निश्चित होना है कि विधाताने मनुष्यका निर्माण ही चरित्रवान् द्वारा दृष्टिमें किया है; अतः चरित्रवान् होनेमें ही मानवकी मानवता है। चरित्रहीन मानव दानव यन जाता है। अतः चरित्रकी उपयोगिता निर्विवाद है। इस, उसकी गावना भक्ति-मूलक होनी चाहिये ।

शास्त्रो एवं मनीषियोंकी दृष्टिमें चरित्र-निर्माणकी महत्ता

(लेखक—डॉ० श्रीउमाकान्तजी 'कपिल्यजः' एम० ए०, पी-एन० टी०, काशीरल)

सदाचारण या सद्वरिता ही पुरुषकी श्रेष्ठताकी कसाँटी है। श्रेष्ठ पुरुष जो व्यवहार करते हैं, वही सदाचार कहा जाता है। सदाचारको वसिष्ठस्मृति (१ । ४) तथा मनुस्मृति आदिमें 'आचार' शब्दसे भी निर्दिष्ट किया गया है। इसकी महत्ता मनुस्मृतिके निम्न श्लोकमें भी द्रष्टव्य है—

आचारः परमो धर्मः शुत्युक्तः स्मार्त एव च ।
तसादस्मिन् सदा युक्तो नित्यं स्यादात्मवान् द्विजः॥
(१ । ६८)

यहाँ श्रुति तथा स्मृतिसे समर्थित होनेपर ही आचारको अनुसरणीय कहा गया है। भगवान् शंकराचार्यने आचारको चरित्रिका पर्याय खीकार किया है—

चरणं चारित्रमाचारः शीलमित्यर्थात्तरम् ।

(ब्रह्मसू० ३ । १ । ९ पर शाक्तभाष्य)

चरित्रहीन अथवा आचारहीन व्यक्तिकी इहलौकिक और पारलौकिक स्थितिका वर्णन करते हुए भारतीय धर्म-प्रन्थोमें स्पष्ट उल्लेख है कि पठङ्गोसहित अधीत वेद भी आचारहीनको पवित्र नहीं कहते और वे मृत्युकालमें उन्हें उसी प्रकार छोड़ देते हैं, जैसे पंख निकल आनेपर पक्षी बोसलेको छोड़ देते हैं—

आचारर्थानं न पुनन्ति वेदा

यत्पर्यधीनाः सह पठ्भिरह्नः ।

चन्द्रांस्येनं मृत्युकाले त्यजन्ति

नीरं शकुन्ता इव जतपक्षाः ॥

(मीकिनी०, महामा० ५ । ३६ । ४८, ४९ । ५०,
वसिष्ठधर्म० ६ । ३, देर्वाभाग० १२ । २ । १, वृद्धोगी-
यागवल्क्य० ८ । ७१ इत्यादि)

वस्तुतः मनुष्यकी सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कसाँटी है—

उसका स्वर्णका चरित्र। मनुष्य स्वयं अपने चरित्रके अनुसार ही प्रतिविम्बित होता है। पाश्वात्य विचारक वेकनने ठीक ही कहा है—'Style is the man himself'. अतः मनुष्य स्वयं अपने चरित्रिका दर्पण है।

चरित्र वह अनमोल रत्न है, जो समाजमें मनुष्यको प्रतिष्ठित करता है। यदि कोई व्यक्ति धनी हो, शक्ति-शाली हो एवं उच्च शिक्षित भी हो तो भी चरित्रस्त्री पूँजीके अगावमें वह कुछ भी नहीं है। चरित्रवान् मनुष्य पृथ्वस्तवकनी तरह है, जो सभीको सुवासित करता है।

चरित्रवान् व्यक्ति सागरकी तरह गम्भीर, वसुधाकी तरह धर्यवान्, सूर्यसदृश तेजस्सी, चन्द्रवत् शीतल,

१— चरण, चारित्र, चारित्र्य, आचार और शील पर्यायवाचक शब्द हैं।

पुष्पवत् कोमल एवं ब्रजवत् कठोर होता है। अनेक विपत्तियोंसे घिरकर भी वह अपने कर्तव्य-पथसे उस विशाल वटबृक्षकी तरह विचलित नहीं होता, जो प्रचण्ड वायुसे प्रताङ्गित होकर भी मिथीके कठोर किनारोंकी तरह लहरोंके प्रवाहमें प्रवाहित नहीं होता।

‘दम, दान एवं यम—इन तीनोंके पालनको हमारी पुरातन वैदिक संस्कृति अत्यधिक महत्व देती रही है। इन तीनोंमें भी विशेषतः दम (इन्द्रिय-दमन) भारतीय तत्त्वार्थदर्शी पुरुषोंका सनातनधर्म है। इन्द्रिय-दमन आत्मतेज और पुरुषार्थको बढ़ानेवाला है। दमके अभ्याससे तेज बढ़ता है एवं दमका प्रयोग चरित्र-निर्माणका महत्वपूर्ण अङ्ग है। इसका आभिक उन्नति तथा ज्ञानसे गहरा एवं धनिष्ठ सम्बन्ध है तथा यह शारीरिक, मानसिक एवं चरित्र-निर्माणसम्बन्धी तीनों उन्नतियोंका कारण है।

वैदिक साहित्यमें जितेन्द्रियता-(ब्रह्मचर्य-)का अङ्गुत महत्व प्रतिपादित है। ऋग्वेदमें दो ब्रह्मचर्य सूक्त हैं तथा अर्थवेदके ग्यारहवें काण्डका पाँचवा सूक्त ‘ब्रह्मचर्य-सूक्त’ है। इसमें २६ मन्त्र हैं। वहाँ ब्रह्मचर्यको ही जगत् तथा विश्व-संचालन-कार्यका आधार माना है—

ब्रह्मचारी स दायार पृथिवीं द्विं च।
(अर्थव० ११।५।१)

वृद्धगौतमस्मृति-(३।१६)में कहा गया है कि ब्रह्मचर्यसे आयु, तेज, वल, प्रज्ञा, लक्ष्मी, विशाल यश, परम पुण्य तथा भगवत्कृपा-प्रसाद, प्रीतिकी प्राप्ति होती है—

आयुस्तेजो वलं वीर्यं प्रज्ञा श्रीश्च महायशः।
पुण्यं च मत्प्रियत्वं च हन्यते ब्रह्मचर्यया ॥
(३।१६)

वस्तुतः जितेन्द्रियता ही चरित्रवल है। जो मनुष्य काम, क्रोध, लोभ, मोह एवं मदवश विचलित नहीं होता, निःसंदेह वही चरित्रवान् है। सच्चरित्रा उत्तम

कायों और भावोंकी प्रेरक शक्ति है, अतः इसमें सभी मानवोंचित गुणों—हृदयका विशालत्व, औदार्य, त्याग, सेवा, क्षमा, शक्ति, विनय, सत्य, ईमानदारी, धैर्य, कर्तव्य-परायणता, आत्म-संयम आदिका समावेश है। ऐसे सर्वगुणसम्पन्न एवं सच्चरित्र मनुष्यकी प्रशंसा उसके शत्रु भी करते हैं—

ॐ उत नः सुभगां अस्त्वैत्येयुर्दस्य कृष्णः ।
स्यामेदिन्द्रस्य शर्मणि ॥

(ऋू० १।४।६)

नेपोलियन वोनार्टकी शिक्षा थी—‘कर्मशील और सदाचारी व्यक्ति’—Be a man of Action and character. अंग्रेज कवि वेल्सने कहा है—‘वही मनुष्य वास्तवमें मनुष्य है, जिसका हृदय निर्दोष और पवित्र है, जिसने जीवनमें वैर्मानी और बुरा कर्म नहीं किया तथा जिसका मन अभिमानसे रहित है’—

The man of upright life,
Whose guiltless heart is free,
From all thoughts of vanity,
Is a real man indeed.

भारतीय धर्मग्रन्थोंमें हृदय-परिवर्तन और चरित्र-निर्माणपर विशेष वल दिया गया है और इन दोनोंसे ही मानवताका उदय माना गया है। प्राचीन भारतीय परम्परामें वही शासन सुखद और श्रेष्ठ समझा जाता था, जिसमें नागरिक जीवन सच्चरित्र-सम्पन्न और सद्गवान्नाओंसे भरा हुआ रहा हो। इसी सम्बन्धमें सुप्रसिद्ध विद्वान् स्पेसरने कहा है—

‘True criterion of good government is not the increase of wealth and population, it is the creation of character and personality.’

‘श्रेष्ठ और सफल शासनका अर्थ सम्पत्ति और मनुष्य-गणनाकी वृद्धि नहीं, प्रत्युत चरित्र-वल एवं व्यक्तिका निर्माण है।’ यजुर्वेदके ऋषिका भी स्पष्ट

उद्घोष है कि जिस राष्ट्रमें या समाजमें ज्ञानी और शारीर परस्पर मिलकर हृते हैं, वह राष्ट्र और वह समाज निश्चय ही पुण्यलोक अर्थात् स्वर्गको जाता है, जहाँ सब प्रकारका सुखश्वर्य विद्यमान है—

यत्र ब्रह्म च धनं च सम्यज्ञौ चरतः सह ।
तं लोकं पुण्यं प्रदेषं यथ देवाः सहानिना ॥

(२० । २५)

‘अर्ववेद’का आदेश है कि राष्ट्र, समाजके निर्माण करनेवालोंको उचित है कि वे अपने शरीर, मन और कर्मसे समाज और राष्ट्रमें समता—एकता स्थापित करें। किसी प्रकार भी परस्पर विरोध खड़ा न होने पावे—

सं वः पृच्यन्तां तन्वः सं मनांसि समु व्रताः ।
सं चोऽर्यं ब्रह्मणस्पतिर्भगः सं वो जर्जागमत् ॥

(६ । ७४ । १, ६)

समता और एकत्वसमन्वित यह वैदिक भावना मानव-जीवनको आदर्शमय (चारित्यशील) बनानेमें मुख्य प्रयोजक है। इस दिव्य भावनाके परिपालनसे चरित्र-निर्माणके क्षेत्रमें जड़ता जड़ती जाती है, चेतनता निखरती आती है, तम हटता जाता है एवं प्रकाश अनावृत होता जाता है। इस संदर्भमें पाश्चात्य विद्वान् रासने ठीक ही कहा है—‘चारित्यशील मानव देवताके ही समान अत्यन्यून गौरव एवं प्रतिष्ठासे विभूषित होता है। उसका परमात्माकी अन्य समस्त कृतियोंपर अविकार होता है।’ (Ground Work Of Educational Theory—P. 115)

चरित्र या सदाचारकी महती आवश्यकता व्यक्तिसे लेकर सामाजिक, राष्ट्रिय और अन्तरराष्ट्रिय जीवनतक है। व्यक्तिगत और सामाजिक—किसी भी धरातलपर चरित्रकी अवहेलना नहीं की जा सकती। व्यक्तिगत जीवनमें मनुष्य जितना स्तन्त्र होता है, सामाजिक जीवनमें उसकी स्तन्त्रतामें उतनी ही वाधाएँ आती

हैं। अतः उसे स्वयंको समिति ही नहीं संयत भी रखना पड़ता है। जीवनमें जो कुछ मिला है, उसका भोग वे ही करने हैं। जो अद्वद्यार्थी, अविवेकी पर्य मुद है और उसका सेवामें मदुपयोग वे जन करने हैं, जो परिणामदर्शी हैं और विद्वान् धोनेके साथ ही विवेशी हैं। जो धन मान-अधिकारका भोगी है, जो बनुओंका लोभी है, जो व्यक्तिगोंका भोगी है और जो मपनाले आवद्ध है, वह चरित्र-निर्माणमें साधनामें सिद्धि प्राप्त नहीं कर सकता। भय, चिन्ता एवं आसक्तियोंसे आवद्ध मनुष्य चरित्र-निर्माणके क्षेत्रमें मिलड़ जाता है। उसके संकल्पमें दद्धता नहीं होती। परंतु जब लोभमें उद्गता, क्रोधमें भ्रमा, हिंसागत अहिंसा एवं द्वेषपर प्रेम तत्काल विजयी होता है तो नमित्र-निर्माणकी पूर्णता सिद्ध होती है। सम्भवतः इसीनिये निमन्त्रितिन वैदिक मन्त्रमें आदर्श मानव (चारित्यशील) बननेका इष्टावाले मनुष्यको पद्मरुत्तियोंपर विजय प्राप्त करनेका आदेश दिया गया है—

उल्लङ्घयातुं शुश्रान्त्कथातुं जहि श्वयातुमुन कोकयातुम् ।
सुपर्णयातुमुन शृभयातुं शशे प्रसृण रक्ष इन्द्र ॥

(शूक्र ७ । १०४ । २२)

‘ओ मनुष्य ! तू साहसी बनकर गहड़के समान ‘मद’ (धमेंड), गीधके समान ‘लोभ’, कोक- (चक्के)के समान ‘काम’, चानके समान ‘भसर’, उद्धकके समान ‘मोह’ और भेड़ियेके समान ‘कोव’को समशक्त मार भगा ।’ ऋग्वेदका एक और मन्त्र यहाँ घ्येय है, जिसमें व्यष्टि-समष्टि-मूलक, सार्वभौम और सार्वजनीन मानवोचित सत्त मर्यादाओंका अत्यन्त सुन्दर नामकरण, वर्गकरण और मानव-साम्य आदर्श पाठ प्रस्तुत किया गया है—

सप्त मर्यादाः कवचस्ततभुस्तासामेकामिद्भ्युरो गात् ।
आयोह स्कम्भ उपमस्य नीले पश्चां विसर्गे धर्वयेषु तस्मै ॥

(१० । ५ । ६)

‘हिंसा, चोरी, व्यभिचार, मद्य-पान, जुआ, असत्य-भाषण तथा पापसहायक दुष्ट—इन्हींका नाम सभी मर्यादा है। इनमें से प्रत्येक मानव-जीवन-धातक है, यदि कोई एकके भी फंडमें पड़ जाता है, तो उसका जीवन नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है, किंतु जो इनसे बचकर निकल जाता है, निःसंदेह वह आदर्श मानव (चारित्र्य-शील) बनकर रहता है।

सम्प्रति इन सर्वदा अनुकरणीय वैदिक मान्यताओंको व्यवहारमें लाकर सबका समन्वय करना आवश्यक है। इसीसे चिरसुख, असीम शान्ति, तथा ‘वसुधैव कुदुम्बकम्’ का यथार्थ अनुभव करनेवाले ज्ञानयुक्त, शील-चालिय-युक्त, धर्मनियन्त्रित, परस्पर विश्वास तथा सहकार्यसम्पन्न मानव-समाजका निर्माण होगा और उससे सुखकी चरम सीमा प्राप्त हो सकेगी।

—२४७४—

चरित्र-निर्माणकी उपयोगिता

(लेखक—भीरवीन्द्रनाथजी, वी० ८०, पल० ८० वी०)

मनुष्यने बुद्धि और विवेकसे जिस उत्कृष्ट कोटिकी जीवन-ग्रणालीका निर्माण किया, उसे चरित्र कहा जाता है। ऐसी जीवन-ग्रणालीकी रूप-रेखा हमें ऋग्वेदकी एक ऋचामें देखनेको मिलती है। उसमें यह कहा गया है कि ‘सबलोगोके संकल्प, निश्चय, अभिग्राय समान हों, सबके हृदयमें संमानताकी भव्य भावना जागरित हो और सब लोग पारस्परिक सहयोगसे मनोनुकूल सभी कार्य करे’। चरित्र-निर्माणकी जो दिशा ऋग्वेदमें निर्धारित है, वह आज भी अपने मूलरूपमें मानवके लिये कल्याणकारी है। मानव-समाजको प्रगतिके पथपर आगे बढ़नेहेतु ऐसे ही उपयोगी गुणोंकी आवश्यकता है। समाजमें सह-अस्तित्वकी भावना जागरित करनेके लिये यह आवश्यक है कि इन नीतियोंका प्रतिपादन धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक स्तरोंपर निरन्तर किया जाता रहे। यजुर्वेदमें निवास, अर्धोपार्जन एवं पराक्रमके क्षेत्रोंमें प्रीतियुक्त, रुचिकर और अन्य लोगोंके कल्याणका संकल्प लेकर एक साथ चलनेका निर्देश इसी उद्देश्यसे

किया गया है^१। समाजका गठन बिना किसी ठोस आधार और निश्चित नीतिके सम्भव नहीं है। दिशाविहीन प्रगतिसे न तो समाज लाभान्वित होता है, न मनुष्यमें चारित्रिक विकास ही हो पाता है। आधुनिक कालमें समाज और व्यक्तित्वका खरूप ऐसा ही (दिशाविहीन ही) निर्मित हो रहा है। आर्थिक प्रगतिके साथ-साथ नैतिक मूल्योंकी प्रगति भी आवश्यक है। नैतिक मूल्योंको तिलाझलि देकर मानसिक या आर्थिक क्षेत्रमें जो भी प्रगति होती है, उसकी कोई दिशा नहीं हुआ करती। ऐसी स्थितिमें चारित्रिक हास अवश्यम्भावी है।

धर्मनीतिके आदि प्रणेता मनु नैतिक मूल्योंके प्रति अधिक जागरूक थे। उनकी यह धारणा थी कि नैतिक मूल्योंका दृढ़तासे पालन किये बिना ऋग्वेद तथा यजुर्वेद-द्वारा प्रतिपादित सामाजिक और आर्थिक प्रगतिकी उत्तमी नीतियों प्रभावी नहीं हो सकतीं। इसी उद्देश्यसे मनुने सत्य, धर्म, आर्यवृत्ति और शौच^२के पालनपर अधिक वल देनेके साथ ही यमोंके पालनको अनिवार्य बताया है।

१—समानी व आकृतिः समाना हृदयानि वः। समानमस्तु वो मनो यथा वः मुसहासति ॥ (ऋ० १० । १९१ । ४)

२—समित सं कल्पेथा सं प्रियौ रोचिष्णु सुमनस्यमानौ । इषमूर्जमभि संवसानौ ॥ (यज० १२ । ५७)

३—सत्यधर्मिवृत्तेषु शौचे चैवारमेत् सदा । (मन० ४ । १७५) ,

४—यमान् सेवेत सततं न नित्यं नियमान् बुधः । (मन० ४ । २०४)

मनु यह भी कहते हैं कि इनके परिपालनमें वाणी, बाहु और उदरपर नियन्त्रण रखा जाना चाहिये, प्रायः यह देखा जाता है कि चरित्र और नैतिक मूल्योंकी उपेक्षा वाणी, बाहु और उदरको संयत न रखनेके कारण होती है। जो व्यक्ति वाणी, बाहु एवं उदरको नियन्त्रित रखनेमें सफल हो जाता है, उसका चरित्र ऊँचा होना है। सभ्यताका विकास आदर्श चरित्रसे ही सम्भव है। जिस समाजमें चरित्रवान् व्यक्तियोंका बाहुल्य है, वह समाज सभ्य होता है। वही उन्नत कहा जाता है।

शास्त्रोंमें चरित्र-निर्माणको आचारका विषय माना गया है। आचारवान् व्यक्ति ही चरित्रवान् होता है। चरित्र और आचारका अभिन्न सम्बन्ध है। व्यापक अथर्वमें चरित्र आचारका एक अंश है, किंतु सामान्य अथर्वमें यह जीवन-प्रणालीका एक पृथक् तत्व है और नैतिकता या नैतिक मूल्योंतक सीमित है। इस विषयमें भी मनुका मत सुस्पष्ट है। वे आचारको परम धर्म घोषित करते हुए कहते हैं कि अपनी उन्नति चाहनेवाले द्विजको नित्य आचारसे युक्त रहना चाहिये^५। वे आगे कहते हैं कि आचारहीन द्विज वेद अर्थात् ज्ञानका फल नहीं प्राप्त कर सकता। ज्ञानका फल आचारवान्‌को ही प्राप्त होता है^६। कहनेका तात्पर्य यह है कि ज्ञानकी उपयोगिताका पता उसके व्यवहृत होनेपर ही चलता है। उस ज्ञानकी कोई उपयोगिता लोकमें नहीं है, जिसका पालन मनुष्य न कर सके। तोड़-मरोड़कर

ज्ञानका ग्रार्थसिद्धिहेतु पालन करना भी उचित नहीं है। ज्ञानके माध्यमसे उपार्जित धर्म मुनियोंद्वारा आचारित होनेपर ही समाजद्वारा अनुकरणीय होता है, अतएव सभी तपस्याओंका मूल द्वेषसे आचार महान् है^७। इससे यह भी स्पष्ट है कि आचारके पालनसे न केवल पालनवार्ता लाभान्वित होता है, बरन् उसका अनुकरण करके समाजके अन्य लोग भी लाभान्वित होते रहते हैं। जब आचारवान् व्यक्तियोंके आचार या चरित्रका अनुकरण समाजके अधिकांश लोगोंद्वारा किया जाने लगता है तब वह समाज सभ्य हो जाता है। ऐसा समाज दूसरे समाजोंके लिये अनुकरणीय होता है।

मनुके राज्यकालमें भारतवर्षका चरित्र उज्ज्वल और महान् था। यही कारण है कि उन्होंने अन्य देशवासियोंको भारतीयोंसे अपने-अपने चरित्रकी शिक्षा प्रहण करनेकी संस्तुति की थी।^८ ऋग्वेद भी कहता है कि विश्वको आर्य बनानेका दायित्व भारतवासियोंपर^९ है। वैदिक शब्दावलीमें आर्य चरित्रवान् व्यक्तियोंका सूचक है। प्राचीनतम कालमें अधिकतर भारतवासी चरित्रवान् और सर्दाचारी थे। अतएव इन्हे 'आर्य' कहा जाने लगा। मनुने अनार्यताके लक्षणोंमें निष्ठुरता, कूरता और निष्क्रियता गिनाया है।^{१०} इन दोपोसे रहित अर्थात् कोमलहृदय, दयावान् और कर्मर्शील व्यक्ति 'आर्य' है। इससे भी स्पष्ट है कि आयता चारित्रिक गुणोंका सूचक अथवा पर्याय है। किसी व्यक्तिका चरित्र दूसरोंके लिये तभी अनुकरणीय हो सकता है, जब उसके भीतर आर्यत्वके गुण हों।

५—वाग्वाहूदरसवतः। (मनु० ४। १७५)

६—आचारः परमो धर्मः श्रुत्युक्तः स्मार्त्त एव च। तस्मादस्मिन् सदा युक्तो नित्यं स्यादात्मवान् द्विजः ॥ (मनु० १। १०८)

७—आचाराद्विन्युतो विप्रो न वेदफलमश्नुते। आचारेण तु संयुक्तः सम्पूर्णफलभाग्भवेत् ॥ (मनु० १। १०३)

८—एवमाचारतो द्विष्टा धर्मस्य मुनयो गतिम्। सर्वस्य तपसो मूलमाचारं जग्यहुः परम् ॥ (मनु० १। ११०)

९—एतदेशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः। स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥ (मनु० २। २०)

१०—इन्द्र वर्णन्तो अपुरः कृष्णन्तो विश्वमार्यम्। अपञ्जन्तो आराव्यः ॥ (ऋ० ९। ६३। ५) ११—अनार्यता निष्ठुरता कूरता निष्क्रियात्मा । (मनु० १। ५८)

चरित्र मानव-समुदायकी अमूल्य निधि है। इसके अभावमें व्यक्ति पशुवत् व्यवहार करने लगता है। आहार, निद्रा, भय और मैथुनकी वृत्ति सभी जीवोंमें विद्यमान रहती है, मनुष्यमें धर्म अर्थात् आचारकी ही एक विशेषता होती है, धर्महीन अर्थात् चरित्रहीन मनुष्य पशुके समान है।” चरित्रहीन मनुष्यमें मनुष्यत्व नहीं रह जाता। अतएव यह आवश्यक है कि व्यक्ति अपने जीवनमें उन यम-नियमोंका पालन नित्यप्रति करता रहे, जिनका सम्बन्ध उसके चरित्रसे है। मनु इसपर बल देते हुए कहते हैं कि ‘नियमोंका पालन नित्य न कर सकनेपर भी यमोंका पालन सदा करे; अन्यथा व्यक्ति नीचे गिर जाता है।’^{१३} जिन यमों और नियमोंकी ओर मनुने संकेत किया है, उनका विस्तृत विवरण पातञ्जल्योगदर्शनमें देखनेको मिलता है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिह्रको यम^{१४} कहते हैं और शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय तथा ईश्वर-प्रणिधानको नियम^{१५} कहते हैं। मनुने यमोंके पालनको इसलिये अनिवार्य घोषित किया कि इनके पालनसे व्यक्तिका चरित्र समाजमें ऊँचा उठाता है। व्यक्ति पवित्र, संतोषी, तपशील, स्वाध्यायी और ईश्वरको माननेवाला ही क्यों न हो, यदि वह अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी न करना), ब्रह्मचर्य तथा अपरिह्रका व्यवहारमें पालन नहीं करता

वर्यवा इनके विरुद्ध व्यवहार करता है तो निश्चिन्त-सूपसे उसका चरित्र नीचे गिरता है और वह दूसरोंके लिये अनुकरणीय नहीं रह जाता। जो व्यक्ति नियमतः नित्य उक्त पौँचों यमोंका पालन करता रहता है, उसका चरित्र महान् होता है।

महर्षि पतञ्जलिद्वारा प्रतिपादित योगके पाँचों नियमोंके पालनकी भी व्यावहारिक जीवनमें बड़ी उपयोगिता है। हॅ० उनके विभिन्न समय निर्धारित हैं। महर्षि पतञ्जलिने नियमोंके पालनकी उपयोगितापर भी अपने विचार विस्तारसे प्रकट किये हैं; वे इस प्रकार हैं—शौचके पालनसे व्यक्तिमें शारीरिक पवित्रताके प्रति रुचि विकसित होती है।^{१६} साथ-ही-साथ अन्तःकरण-की शुद्धि, प्रसन्नता, चित्तकी एकाग्रता, इन्द्रिय-विजय और आत्मदर्शनकी योग्यता आती है^{१७} एवं संतोषसे उत्तम सुख प्राप्त होता है।^{१८} तपसे मन शुद्ध होता है और शरीर तथा इन्द्रियोंपर नियन्त्रण स्थापित होता है।^{१९} स्वाध्यायसे इष्टदेवताका साक्षात्कार अर्थात् दर्शन होता है।^{२०} दूसरे शब्दोंमें जिस देवताको लक्ष्य करके तपस्याद्वारा ज्ञानार्जन किया जाता है, उसके दर्शन होते हैं; और अन्तः प्रणिधानसे (साष्ट्र दण्डवत् एवं सर्वसमर्पणकी भावनासे) समाधिकी सिद्धि होती है।^{२१} इष्टदेवका दर्शन हो जानेपर ही व्यक्ति अपनेको उसे समर्पित करके समाधि

१२—आहारनिद्राभयमैथुन च सामान्यमेतत् पशुभिन्नराणाम् ।

धर्मो हि तेषामधिको विशेषो धर्मेण हीनाः पशुमिः समानाः ॥ (भर्तृहरि, नारायण आदि)

१३—यमान् सेवेत सतत न नित्य नियमान् बुधः । यमान् पतल्यकुर्वाणो नियमान् केवलान् यजन् ॥

(मनु० ४ । २०४)

१४—पातञ्जल्योगदर्शन (२ । ३) । १५—व्यही २ । ३२ ।

१६—शौचास्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः । (उसीका २ । ४०)

१७—सत्वशुद्धिसौमनस्येकाग्रयेन्द्रियजयात्मदर्शनयोग्यत्वानि च । (उसीका २ । ४१)

१८—स्तोपादनुत्तमसुखलाभः । (पातञ्जल्योगदर्शन २ । ४२)

१९—कायेन्द्रियसिद्धिरुद्धिक्षयात्तपसः । (उसीका २ । ४३)

२०—स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः । (उसीका २ । ४४)

२१—समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात् (उसीका २ । ४५)

लगानेमें सफल हो सकता है। यह नियमोंके पालनकी अन्तिम स्थिति है। जिस व्यक्तिको इष्टदेवका दर्शन हो जायेगा, वह कदापि हिंसा आदि दुर्गुणोंमें नहीं फँस सकता। ऐसा प्रतीत होता है कि गृहस्थ-जीवनमें नियमोंके पालनकी कठिनाइयोंकी दृष्टिसे मनु नियमोंके पालनमें उदार हैं। कुछ भी हो चरित्र-निर्माणमें यमों और नियमोंका पालन समानरूपसे उपयोगी है। इतना ही नहीं, इनका दृढ़तासे पालन करनेपर व्यक्ति देवत्व-को प्राप्त कर सकता है। यही कारण है कि ऋषियों-मुनियोंको समाजमें देव-तुल्य स्थान प्राप्त है।

सामाजिक अनुशासन बनाये रखनेके लिये भी चरित्र-निर्माणकी आवश्यकता है। सामाजिक अनुशासन-की भावना व्यक्तिमें तभी जाप्रत् होती है, जब वह मानव-प्राणियोंमें ही नहीं, बल् सभी जीवधारियोंमें अपनी आत्माका दर्शन करता है।^{२२} समस्त प्राणियोंमें अपनी आत्माका दर्शन करनेवाला व्यक्ति कभी कूर नहीं हो सकता। दूसरोंको कष्ट न देनेवाला व्यक्ति सामाजिक अनुशासन बनाये रखनेके साथ-ही-साथ अपना परलोक भी उज्ज्वल बनाता^{२३} है। यह सुनिश्चित है कि उज्ज्वल परलोक या भविष्यकी कामना ही व्यक्तिको चरित्रवान् और शिष्ट बननेका मार्ग प्रशस्त करती है। यही कारण है कि भारतीय दर्शनमें चरित्रको परलोकसे सम्बद्ध किया गया। परलोक विगड़नेके भयसे व्यक्ति चरित्र-निर्माणके प्रति सजग रहता है। चरित्रको परलोकसे सम्बद्ध मान लेनेपर सभी प्रकारकी चरित्र-हीनता अशुभ फलदायिनी हो जाती है—भले ही समाजमें उसके लिये दण्डकी व्यवस्था न हो।

इस प्रकार हम देखते हैं कि दो प्रकारकी भावनाएँ व्यक्तिको चरित्र-निर्माण-हेतु प्रेरित करती हैं—प्रथम आत्मज्ञान और द्वितीय परलोककी सिद्धि। मनुके अनुसार आत्मज्ञानी व्यक्ति सत्यासत्य और सब कुछ अपनी आत्मामें देखनेके कारण अधर्ममें (अनीनिमें, अनाचारमें) मन नहीं लगाता है।^{२४} व्यक्ति जो भी कार्य इस संसारमें करता है उसका साध्य आत्मामें अवस्थित सभी देवता करते हैं।^{२५}

जो व्यक्ति इस तत्त्वको जानता है, उसे इस वातकी कल्पना रहती है कि अशुभ कर्मोंके कारणकारक फलसे बचना कठिन है। इससे वह चरित्रहीनतासे विरत रहनेकी चेष्टा करता है। आत्मज्ञानसे अनभिज्ञ व्यक्ति चरित्र और दुरचरित्रमें विमेद न कर सकनेके कारण चरित्रहीनताका कार्य करनेमें हिचकता नहीं है। ऐसी स्थितिमें विधिके माध्यमसे चरित्रहीनतापर कावृ पाना कठिन होता है।

चरित्र मानव-जातिकी वह विशेषता है, जो मानवताके रक्षा-हेतु करना आवश्यक है। यह एक शाश्वत धर्म है। इसका केवल धर्म-विशेष या सम्प्रदाय-से ही सम्बन्ध नहीं है, प्रत्युत यह सार्वकालिक एवं सार्वदेशिक है। इसका दृढ़तासे प्रतिपादन किये विना मानवताकी रक्षा सम्भव नहीं है, सामाजिक स्तरपर ही मानवताकी रक्षा सम्भव होनेके कारण चरित्र-निर्माणपर बल देना नितान्त आवश्यक है। इसे प्रभावी बनानेके लिये शास्त्रोंद्वारा प्रतिपादित आचरण तथा व्यवहारका मार्ग ही सर्वोत्तम है।

२२—एवं यः सर्वभूतेषु पश्यन्यात्मानमात्मना । (मनु० १२ । १२५)

२३—परलोकसद्वार्थं सर्वभूतान्यपीडयन् ॥ (मनु० ४ । २३८)

२४—सर्वमात्मनि सम्पश्येत्सञ्चासञ्च समाहितः । सर्वं ह्यात्मनि संपश्यन्नाधमे कुरुते मनः ॥ (मनु० १२ । ११८)

२५—आत्मैव देवताः सर्वाः सर्वमात्मन्यवस्थितम् ॥ (मनु० १२ । ११९)

आयुर्वेदमें चरित्र-निर्माणकी महत्ता एवं उपादेयता

(लेखक—वैद्यरत्न श्रीप्रद्युम्नाचार्यजी निलोकर)

तपःपूत विशुद्धबुद्धि त्रिकालदर्शी महर्पियोंने तथा विद्वान् आचार्योंने चरित्र-निर्माणको प्रधानता प्रदान की है; कारण, देशका वैभव एवं गौरव चरित्रपर ही प्रतिष्ठित है—

नात्मार्थं नापि कामार्थमयं भूतदद्यां प्रति ।
(चरकसंहिता)

इस सूक्त्यनुसार उन्होंने मानवमात्रके कल्याणार्थ शाश्वत सुखैकसाधनभूत सञ्चरित्र-निर्माणोपादेय सदाचार एवं पालनीय नियमोंका निर्देश दिया है। 'शब्दरत्नावली'के अनुसार स्वभाव, चरित, चरित्र—ये शब्द परस्पर पर्यायवाचक हैं ।

चरित्रं द्विविधं प्रोक्तं सदसल्लक्षणात्कम् ।

सत् और असत्के भेदसे चरित्र दो प्रकारका है। इनमेंसे प्रथम पूर्वजन्मार्जित कर्मोंसे प्राप्त और श्रुति-स्मृति-पुराणादि प्रतिपाद्य एवं निर्दिष्ट परिपालनीय; दूसरा, नियमाचारसे संस्कृत । 'गुणातिशयाधानं संस्कारः' (चरकटी०) कहा जाता है। वैदिक संस्कारसे विशिष्ट गुणोंका निर्माण होता है, अतः सञ्चरित्र-निर्माणमें संस्कार भी आवश्यक हैं ।

दुरुचाररतो लोके गर्हणीयः पुमान् भवेत् ।
(स्कन्दपु०)

चरित्रहीन व्यक्ति व्यवहारमें घृणाका पात्र होता है और देश एवं देहको नष्ट-भ्रष्ट करता है तथा सदाचार-सम्पन्न मानव विश्ववन्द्य होता है। वह देश एवं देहका गौरव तथा वैभव बढ़ाता है—

सदाचारो हि सर्वाहों नाचाराद् विच्छुतः पुनः ।
तस्मान्मरेण सततं भाव्यमाचारशालिना ॥
(स्कन्दपु०)

सञ्चरित्रका निर्माण सदाचारसे होता है और सदाचार सद्गम्माचरणसे । श्रुति-स्मृति-पुराणादिप्रतिपाद्य स्व-स्व कर्मनुष्ठान ही मानवमात्रका कर्तव्य है—

श्रुतिस्मृतिभ्यासुदितं स्वेषु कर्मसु निष्ठितम् ।
सदाचारं निषेवेत धर्मसूलमतन्द्रितः ॥
(स्कन्दपुराण)

व्यवहारका यह नियम है कि वह केवल व्यक्तिका चरित्र ही प्रधान गुण मानता है और चरित्रकी प्रशंसा करता है; इतर गुणोंका मूल्य व्यवहारकी ढांचे प्रायः नगण्य ही है—

सर्वस्य हि परीक्ष्यन्ते स्वभावा नेतरे गुणाः ।
अतीत्य हि गुणान् सर्वान् स्वभावो मूर्ध्नि वर्तते ॥
(हितोपदेश, मित्रलाभ)

अतः मानवमात्रका प्रथम कर्तव्य है कि वह श्रुति-स्मृति-पुराणादिप्रतिपाद्य एवं निर्दिष्ट सदाचारका नियमपूर्वक परिपालन करे और अपना चरित्र उच्चकोटिका निर्मित करे । यह सञ्चरित्र-निर्माण-कार्य आर्षप्रणीत भारतीय शिक्षा-दीक्षासे ही सम्भव है। सञ्चरित्र-निर्माणार्थ आयुर्वेदशास्त्रकारोंने परिपालनीय महत्वपूर्ण नियमाचरणका निर्देश दिया है; वह मननीय एवं आचरणीय है। धर्म-सूल सदाचारके परिपालनीय महत्वपूर्ण नियम ये हैं—

हिंसास्तेयान् यथाकामं पैशून्यं परुषानृते ।
सम्भिन्नालापव्यापादमभिद्या द्विग्विपर्ययम् ।
पापं कर्मेति दशाथा कायवाङ्मानसैस्त्यजेत् ॥
(अष्टाङ्गहृदय स० स्था० अ० २ श्लोक २१-२२)

१—हिंसा—प्राणिमात्रका वध, २—स्तेय—चौर्य कर्म, ३—अगम्यगमन—ये तीन प्रकारके निन्द्य कायिक कर्म हैं। १—पैशून्य—परनिदा करना, २—परुष—कठोर एवं मरुस्पर्शी वचन बोलना, ३—अनृत—

असत्य भाषण, ४—मन्महनालाप—परस्पर भेदक
एवं कलहमूलक भाषण—ये चार प्रकारके
वाचिक नित्य कर्म हैं। १—व्यापाठ—परनिष्ट-
चिन्तन, २—अभिधा—पर-द्रव्यादि हरण करनेकी इच्छा,
३—दीग्विपर्यय—श्रुति-स्मृति-पुराण-प्रतिपाद्य अनुष्ट्रेय
विषयमें अविश्वास—ये तीन प्रकारके मानसिक नित्य कर्म
हैं। इस प्रकार दशविधि निन्दनीय एवं पाप कर्मोंका
परित्याग ही चरित्र-निर्माण करनेका प्रशस्त मार्ग
है। यह नियम मानवमात्रके लिये सदैव परिपालनीय
एवं धर्मशास्त्राचार्य-सम्मत है। इसके अतिरिक्त
आयुर्वेदाचार्योंने भी सदैवाचरणीय नियमोंका निर्देश
दिया है—

अचृत्तिव्याधिशोकार्तननुचर्तेत् शक्तिः ।
(अष्टाङ्गहृदय सूत्रस्थान अध्याय २, श्लोक २३)

जीवनोपायहीन, व्याधिग्रस्त, शोकावृल व्यक्तिकी
यथाशक्ति सहायता करनी चाहिये—

अर्चयेद्वेषगोचिपबृद्धवैद्यनुपातिथीन् ।

‘देवद्विज, गो, वृद्धत्रयी (वयोवृद्ध, ज्ञानवृद्ध,
तपोवृद्ध), जनहितरक्षक, शासक एवं अतिथिका
सम्मान करना चाहिये। किसी समय भी गृहागत एवं
अर्थार्थी व्यक्तिसे कठोर भाषण और उनको निराश
नहीं करना चाहिये।’

विमुखान्नार्थिनः कुर्यान्नावमन्येत नाक्षिपेत् ।
आत्मघत् सततं पद्येदपि कीटपिणीलिकम् ।
(वही २४)

जीवमात्रको अपने समान ही समझना चाहिये एवं
उनको उपेक्षा तथा हेय दृष्टिसे नहीं देखना चाहिये।

उपकारप्रधानः स्यादपकारपरेत्प्यरौ ।

‘अपकार-प्रधान शत्रुका भी उपकार हा करना
चाहिये।’

आर्द्धसंनानना त्यागः कायवाद्यनेतसां श्वः ।
स्वार्थयुज्जिः परार्थेषु पर्याप्तमिति सद्वनम् ॥
(अष्टाङ्गहृदय १ । २ । ४६)

‘उदार एवं विशाल अन्तःकरणसे उत्साहित रहकर
यथाशक्ति सत्प्राप्तको दान देना, कार्यिक, वाचिक एवं
मानसिक कार्य संयमपूर्वक करना तथा इतर व्यक्तियोंके दृष्टि
कार्यको अपना ही कार्य समझकर उनकी कार्यपूर्निमें सहायता
करना चाहिये।’ इस उच्च कोटिके भारतीय जन-चरित्रको
दृष्टिगत करके ही भारतेतर (पादचात्य) देश-
वासियोंने हमसे ही शिशा-दीक्षा प्रहण की थी और
भारतको गुरुवत् सम्मान दिया था। इस विषयमें
भारत-गौरव-निर्दर्शक यह पद्ध दृष्टि है—

एतदेशप्रसूतस्य सकाशाद्यजननः ।
स्वं स्वं चरित्रं शिश्वेन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥

परंतु यह दैवद्विलिपित है कि पादचात्य शिक्षा-
दीक्षासे प्रभावित एवं भोग्नित भारतीय ही विश्वमान्य
भारतीय संस्कृति, सम्यता एवं सदाचारको स्मृति-
वाद्य एवं विस्मृत करके कुमारगका समाश्रय ले एवं
अन्धानुकरण कर रहे हैं—

पादचात्यशिक्षादीक्षायाः प्रशावान्मोहमागताः ।
भारतीया भारतत्वं विस्मृत्य कुपथंगताः ॥
(स्वरचित्र)

मैं अत्यन्त नम्रतापूर्वक भारतके शासक एवं इसके
कर्णधारसे निवेदन करता हूँ कि वे आपप्रणीत भारतीय
शिक्षा-दीक्षापर विशेष बल देकर भारतका उच्चकोटिका
चरित्र विश्वके समक्ष प्रस्थापित करनेका प्रधान कार्य
सम्पन्न करें। सत्-शिक्षासे ही सत्-चरित्र बनता है—

आलोच्य सर्वशास्त्राणि विचार्य च पुनः पुनः ।
इदमेकं शुनिष्पन्नं चरित्रं देशपोपकम् ॥
(लिङ्गपुराण उत्तरसद्धके आधारपर)

वैदिक सदाचार

(लेखक—डॉ० श्रीनन्दकिशोरजी गौतम (उपाध्याय) 'निर्मल' एम० ए०, पी-एच० डी०, सा० आयुर्वेदाचार्य)

समस्त विश्वमे ऐसा कोई देश नहीं, जिसमें धर्मकी कोई स्थिति न हो। सर्वथा जातिविशेष अथवा सम्प्रदायविशेषको लेकर कुछ धार्मिक ग्रन्थ विद्यमान हैं। इस प्रकार सभी धर्मोंके हजारों ग्रन्थ उपलब्ध हैं। किंतु संसारके मूर्धन्य विद्वानोंने इस वातको एक मतसे स्वीकार किया है कि वेद जगत्‌के प्राचीनतम सर्वविद्यानिधानके ग्रन्थ हैं। राजपिं मनुने वेदके महत्वको प्रतिपादित करते हुए स्पष्ट ही उद्घोष किया है कि—

वेदोऽस्तिलं धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम् ।
आचारद्वैव साधूनामात्मनस्तुप्रिव च ॥
(मनुस्मृति २ । ६)

धर्मचिकीर्षुओंके लिये वेद समस्त धर्मोंके मूल हैं। साथ ही स्मृतियों, शील, महापुरुषोंका चरित्र आदि भी धर्मचिकीर्षुके लिये अनुसंधेय हैं। इस वातको प्रायः सभी निर्विवाद स्वीकार करते हैं कि सदाचारसे रहित मानवका कहीं कोई मूल्य नहीं है। वस्तुतः जिसने अपने आचरणको नष्ट कर दिया, वह तो नष्ट ही हो गया—‘वृत्ततस्तु हतो हतः।’ सदाचारके महत्वका प्रतिपादन करते हुए ही भारतीय धर्मके प्रथम मर्यादा-व्यवस्थापक मनुने आचारको ही प्रथम धर्म माना है—‘आचारः प्रथमो धर्मः।’ फिर उन्होंने धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, पवित्रता, संयम, बुद्धिमत्ता, विद्वत्ता, सत्य और क्रोध न करना आदि उसके अङ्गस्तरूप बताये हैं—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्दियनिग्रहः ।
धीर्विद्या सत्यमकोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥
(मनुस्मृति ६ । ९२)

पर चिन्त्य है कि इस कराल कलिकालमें आधुनिक लोग ईश्वरकी सत्ता तथा उपासनाकी वात भी स्वीकार नहीं करते, फिर सदाचारकी तो वात ही क्या? प्राचीनकालमें भारतवासियोंमें चरित्रकी वह उत्कृष्ट शक्ति थी, जिसके

कारण यह देश समस्त विश्वका गुरु था और इस भूमण्डलपर विश्वके इतर देश इस देशरत्नसे ही चरित्रकी शिक्षा लेते थे—

पतद्वेशप्रसूतस्य सकाशाद्यजन्मतः ।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥
(मनुस्मृति २ । २०)

वर्तमान शिक्षापद्धतिमें धार्मिक शिक्षा तो दी ही नहीं जाती है, सदाचारकी शिक्षाकी ओर थोड़ा ध्यान दिया जाता है। पर सायं-प्रातः प्रभुका गुणगान, संध्यावन्दन, गुरुजनोंका चरणस्पर्श इत्यादि सदाचरण उनके लिये आवश्यक कर्तव्य हैं जिन्हें अपने जीवनको सफल बनानेके लिये यदि वे इनका पालन करें तो जीवन सार्थक हो सकता है; क्योंकि सदाचारके बिना किसी भी जाति, देश अथवा राष्ट्रका उत्थान असम्भव है।

व्यक्ति जाति, देश अथवा राष्ट्रकी इकाई है। मानवजाति मननशील व्यक्तियोंका एक समुदाय है। अतः सभी व्यक्ति यदि अपने-अपने आचरणके विषयमें सावधान हो जायें तो सारी मनुष्यजाति ही निष्पाप एवं सुखी हो सकती है। आयुर्वेदमें शरीर, बुद्धि और आत्माके संयोगको व्यक्तित्व कहा गया है। अतः जबतक चित्त ज्ञानयुक्त नहीं, शरीर स्वस्य नहीं और आत्मा निर्मल नहीं, तबतक मनुष्य सुखी नहीं हो सकता। महाकवि कालिदासने भी—‘शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्’—शरीर धर्मका प्रथम साधन है—यह कहकर शरीर तथा मन दोनोंका स्वस्य होना आवश्यक बताया है। आयुर्वेदका यह सूत्र सदा स्मरणीय है—

पथ्याशी व्यायामो ह्योपुजितात्मा नरो न रोगी स्यात्
अर्यात्—‘पथ्यसे रहनेवाला, व्यायाम करनेवाला और ब्रह्मचारी मनुष्य रोगी नहीं होता।’ अर्थवेदमें कहा गया है—

अप्राचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या ।
तस्यां हिरण्ययः कोशः स्वर्गो ज्योतिपावृतः ॥
(अथर्व० १० । २ । ३१)

देवोकी नगरी अयोध्या ८ चक्रों एवं ९ द्वारोंकी है । उसमें हम ज्योतिस्तरूप परमात्माका दर्शन करते हैं; अतः इसकी हमें कभी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये ।

मनुष्यमें बुद्धि ही एक ऐसी वस्तु है, जिसके द्वारा उसका विकास होना सम्भव है । ऋग्वेदका कथन है—

अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः सखायो
मनोजवेष्यसमा वभृुः ।
आद्ध्रास उपकक्षासउत्वे हृदा इव
स्नात्वा उत्वे दहरने ॥
(ऋग् ० १० । ७१ । ७)

समाजमें देखा जाता है कि मनुष्योंका आकार-प्रकार तो प्रायः समान है, किंतु बुद्धिमें महान् अन्तर है ।

व्यक्ति बुद्धिके अनुसार ही ज्ञानसरोवरमें गोते लगा सकता है । अतः बुद्धिको प्रत्यान मानकर ऋग्विने उसकी श्रेष्ठताके लिये संध्या तथा स्वाच्यायादि नित्य कर्मोंकी योजना बनायी । अब भी द्विजलोग प्रतिदिन तीन बार संध्योपासन कर सूर्यदेवसे याचना करते हैं कि वे हमारी बुद्धियोंको सन्मार्गकी ओर प्रेरित करें—‘धियो यो नः प्रचोदयात् ।’ स्वत्थ मनुष्य भी आत्मविकासहीन, चोर, डाकू, असत्यवादी और कूरकर्मा हो सकता है, किंतु सदाचारी और धर्मात्मा ऐसा नहीं । मनुष्य जब कोई भी अनुचित कार्य करनेके लिये उद्यत होता है, तब उसे न करनेके लिये उसके अन्तःकरणमें एक ईश्वरीय प्रेरणा होती है । इससे स्पष्ट होता है कि आत्मा निर्मल है । शास्त्रोंमें आत्मशुद्धिके बहुतेरे उपाय बताये गये हैं, किंतु सत्य उनमें सर्वोपरि है । एक बार बोला गया असत्य भी आत्माको मलिन बना देता है और उस असत्यको छिपानेके

लिये कई बार असत्य बोलना पड़ता है । इसलिये वेद भगवान् ने कहा है—‘सदाचारसे हीन मानव अन्वकारावृत्त लोकोंको प्राप्त होता है—

असूर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः ।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥
(यजु० ४० । ३)

पापोंसे मनुष्य कैसे बचे इसका भी बड़ा सल उपाय वेदमें प्रस्तुत है—

यथा सूर्यों सुच्यते तमस्परि
रात्रि जहात्युपश्च केतूर् ।
एवाहं सर्वं दुर्भूतं कर्त्रं कृत्याहृता
कृतं हस्तीव रजो दुरितं जहामि ॥
(अथर्व० १० । १ । ३२)

‘जिस प्रकार सूर्य अन्वकारसे मुक्त होता है, रात्रि उपाकालीन प्रकाशको छोड़ देती है, हाथी धूलको झाड़ देता है, उसी प्रकार मैं भी सब पापोंके कृत्यसे सम्बद्ध हिंसक कर्मोंका त्याग करता हूँ ।’

वाल्कका पहला विद्यालय उसका परिवार होता है । प्रारम्भिक जीवनमें उसपर जो संस्कार पड़ जाते हैं, उन्हींपर उसका जीवनभवन निर्भित होता है । मनुष्यका अविक समय परिवार या घरमें ही व्यतीत होता है । यदि परिवार या घरमें शान्ति न हो तो कोई भी सुखी नहीं रह सकता । अतः परिवारमें जीवन व्यतीत करनेकी कुशलता मानवके लिये आवश्यक है । हम देखते हैं कि परिवारके मुखियाका सम्बन्ध उसके माता-पितासे, भाई-बहनोसे, पली तथा संतानसे कैसा होता है ? यदि परिवारके नेताका परिवारके साथ कुशलतापूर्वक व्यवहार न होतो वहाँ शान्तिका दर्शन दुर्लभ रहेगा । इसी बातको ध्यानमें रखकर अथर्ववेदमें कहा गया है कि—

सहृदयं साम्मनस्यमविद्वेषं कृपोमि वः ।
अन्यो अन्यमभि हर्यत् वत्सं जातमिवाङ्ग्या ॥
(अथर्व० ३ । ३० । १)

‘आपके हृदय तथा मन द्वेषभावसे रहित होकर समभावको प्राप्त रहे । आपलोग आपसमे इस प्रकार स्लेहका प्रदर्शन करे, जैसे गाय अपने बन्सके लिये दिखाती है । मैं आपलोगोंके लिये सामनस्य कर्म करता हूँ ।’

इसी सूक्तमे अप्रिम मन्त्रोंमे पुत्र, कल्पत्र तथा भाई-बन्धुओंके कर्तव्योंका भी उपदेश दिया गया है—

अनुव्रतः पितु पुत्रो मात्रा भवतु संभन्नाः ।
जाया पत्ये मधुमत्तो वाचं वदतु शान्ति वाम् ॥
मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन् मा स्वसारमुतस्वसा ।
सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदतु भद्रया ॥

(अथर्व० ३ । ३० । २-३)

‘पुत्र माता-पिताका अनुगत हो, पल्नी पनिके साथ मीठी वाणी बोलकर मधुर व्यवहार करे’—‘चचने का दरिद्रता’ (मधुर बोलनेमे कंजसी क्या) इसको ध्यानमें रखकर हमे सबके साथ सदृश्यवहार करना चाहिये ।

जब हम अपने परिवारको छोड़कर बाहर जाते हैं तो समाज समने आता है । इस समाजमें स्वदेशी-प्रदेशी, सहधर्मी-विधर्मी, सुहृद्-मित्र, तटस्थ, गुरु, अतिथिजन सभी आते हैं—यद्यपि परदेशियोंकी अपेक्षा खदेशियोंमें परस्पर स्लेहाधिक्यका होना स्थाभाविक है । यहाँ भोजन-विषयक श्रुतिका उपदेश देखने योग्य है—

समान प्रपा सह वोऽन्नभागः
समाने योक्त्रे सह वो युनजिम ।
सम्यञ्चोऽग्निं सर्पर्यतारा
नाभिमिवाभितः ॥

(अथर्व० ३ । ३० । ६)

यहाँ वेद हमें खान-पान तथा यज्ञादिमे एक साथ मिलकर ही कर्म करनेका उपदेश देता है । वह भी समरणीय है कि वेद दुष्टोंके प्रति प्रेमोपदेश नहीं है । दुष्ट तो प्रताड़नीय एवं संहारणीय ही बताये गये हैं । इस विषयमे अर्थवेद ६५-६७ सूक्तोंमे सम्यक् प्रतिपादन करता है ।

सुष्ठि संसरणशील है । इस धराधामपर केवल मनुष्य ही नहीं, अपितु अगगित, प्राणी रहते हैं । हम उनकी उपकारी और अपकारी ये दो श्रेणियों कर सकते हैं । उपकारी पशुओंकी प्राप्ति और रक्षाके लिये वेदमन्त्रोंमें वहुत-सी प्रार्थनाएँ दिखायी देती है; जैसे—

स नः पवस्व शं गवे शं जनाय शमर्वते ।
शं राजव्योपधीभ्यः ॥

(साम० ३० १ । २ । ३)

‘ईश्वर हमारे गाय, अश्व आदि पशु और ओषधियोंके कल्याणकारक वने ।’

किंतु अर्थवेदके चतुर्थ काण्डके तृतीय सूक्तमें सिंह, सूकर तथा सर्पादि हिंसक जन्तुओंके विनाशके लिये भी आदेश दिये गये हैं । अतः सार यही है कि उपकारी पशुओंकी रक्षा की जानी चाहिये और हिंसक पशुओंको दूर कर देना चाहिये । प्राचीनकालसे ही भारतीय गृहस्थजन दरिद्रतासे द्वेषकर सुखको चाहनेवाले रहे हैं, अतः वैदिक साहित्यमे इस प्रकारके उपदेश प्राप्त होते हैं—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिज्ञाविषेच्छतः समाः ।

(यजु० ४० । २)

शतहस्त समाहर सहस्रहस्त सं किर ।

(अथर्व० ३ । २४ । ५)

इन सूक्तियोंका अभिप्राय यह है कि ‘मनुष्य जन्वतक जीवित है कर्ममे संलग्न रहे और उत्साहके साथ धनोपार्जन कर दसगुने उत्साहके साथ उस धनको लोकोपकारक कार्योंमें खर्च कर दे ।’ वेदमें धूतादिके द्वारा अर्थर्जिनकी निन्दा की गयी है—

अर्थर्जी दीव्यः कृपिमित्कृपस्व

वित्ते रमस्वे वहुमन्यमानः ।

(ऋग० १० । ३४ । १३)

तेन त्यक्तेन भुज्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्वनम् ।

(यजु० ४० । १)

‘मनुष्यको अर्थोपार्जन व्यापार तथा कृपि आदि सत्कर्मोंसे करना चाहिये न कि चरित्रनाशक धूतादि दुर्ब्यसनोंसे ।

गृहस्थ अपने ही परिश्रमसे उपर्जित द्रव्यका भोग और त्याग करे, दूसरोंके द्रव्यकी बाज़ा नहीं करे, अपने द्वारा उपर्जित द्रव्यसे केवल अपने परिवारका ही भरण-पोषण न करे, अपितु विपत्तिग्रस्त अन्य व्यक्तियोंकी सहायता भी अवश्य करे। वेदके मतमे वह व्यक्ति पापीकी श्रेणीमें ही गिना जाता है, जो केवल अपना ही भरण-भोषण करता है—

नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाद्यो भवति केवलादी ।
(ऋग् ० १० । १७ । ६)

संक्षेपमें वैदिक सदाचारका सार तो यही है कि हमें इस प्रकारका उद्योग करना चाहिये जिससे हमारे शरीर खस्थ रहें, बुद्धियाँ समुज्ज्वल रहें तथा हमारी आत्मा निर्मल रहे। परिवारके जनोंमें हमारा स्नेह रात-दिन बढ़े।

मानव-समाजमें कोई भी केवल जन्म लेनेमात्रसे ऊँचा और नीचा न समझा जाये, अपितु सभी मनुष्योंके साथ धर्मपूर्वक और प्रीतिपूर्वक व्यवहार किया जाना चाहिये। उपकारी प्राणियोंका वध सर्वथा त्वाज्य है और अपकारी प्राणी दण्डके या अरण्यके भागी हैं। मनुष्योंको जीवनयात्राके लिये धनादिका उपार्जन न्यायानुकूल साधनोंसे करना चाहिये, पापपूर्ण साधनोंसे नहीं। यह संसार दुःखरूप नहीं है, अपितु अपने आत्मविकासका विशाल क्षेत्र है। इस प्रकार मानव शुभकर्मोंका आचरण एवं चराचरमें व्याप्त उस परमपिता परमेश्वरका चिन्तन करता हुआ लोकयात्राको पूर्ण करे। इसीमें जीवनका सफल्य है। यही चरित्रिकी वास्तविकता है।

वेदोंकी चरित्र-शिक्षाके सप्त सोपान

(लेखक—डॉ० श्रीसियाराम सक्सेना 'प्रबर')

व्यक्तिका समाजसापेक्ष सर्व-हितकारी आचरण उसका सञ्चरित्र है। चरित्रिको क्रम-क्रमसे उच्चतर बनानेकी प्रक्रिया 'चरित्र-निर्माण' है। यह चरित्र-निर्माण मनुष्यकी कर्मशीलताको विश्व-हितोनुसुख होनेकी अपेक्षा रखता है। 'कृष्णवन्तो विश्वमार्यम्' मन्त्रका एवं वेदके प्राकृत्यका भी यह एक विशेष उद्देश्य है। वेदोंमें शाश्वत सत्यका स्फुरण है। मन्त्रद्रष्टा ऋषियोंने उसे अपनी आलेक्षित बुद्धिमें ग्रहण किया था। ऋषिको 'कवि' भी कहा गया है। कवि वे द्रष्टा हैं, जो दिव्य सत्यका श्रवण करते हैं—'कवयः सत्यश्रुताः' (ऋग्वेद ५ । ५७ । ८)। जो सद्गुरु सुनायी देती है, साक्षात् अनुभूतिका विषय बनती है, वह है श्रुति। ऋषि, कवि, श्रुति और मन्त्रके इन अर्थोंसे स्पष्ट है कि ये सत्यके परम संधान हैं। इस सत्यको 'महाभारत'में

धर्मका और आचरणका अर्थात् चारित्रिका मूलवा कहा गया है। * सत्य त्रिकालमें एकरस रहता है। निर्विकार और परिवर्तन-हीन शाश्वत तत्त्वका नाम सत्य है। इस दृष्टिसे सत्य परमात्माका नाम है। यह सत्य या परमात्मा कूटश्च—अविकारी रहते हुए अनेक रूपोंमें व्यक्त होता है—'रूपं रूपं प्रतिरूपो वभूव ।' विश्वमें जो कुछ भी व्यक्त है, उसके मूलमें अव्यक्त परमतत्त्व 'सत्य' या 'परमात्मा' ही है। इन्द्रादि विश्वकी संधारक महान् शक्तियाँ भी उसी एक अद्वय परमात्माके रूप हैं—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहु-
रथो द्विव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् ।
एकं सद्विप्रा वहुधा वदन्त्-
न्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥
(ऋ० १ । १६४ । ४६)

* न सत्याद् विद्यते परम् ॥ (महाभारत, शात्रिपर्व १०९ । ४) सर्वं सत्ये प्रतिष्ठितम् ॥ (वही १६२ । ५)

परमात्माको सत्, चित् और आनन्दमय कहा गया है। उनके 'सत्' तत्त्वकी अनुभूति हमें प्रतिष्ठा अर्थात् अवस्थानके रूपमें होती है। श्रुतिमें प्रतिष्ठाको 'ब्रह्म' कहा है। 'चित्'की अनुभूति ज्योतिके रूपमें होती है। ज्योतिके तीन खरूप होते हैं, नाम, रूप और कर्म। ये पदार्थोंका भेद-धोतन करते हैं, वस्तुओंका पृथक्-पृथक् रूपमें परिचय करते हैं; अतः ये प्रकाश (ज्योति) हैं। 'आनन्द'की अनुभूति यज्ञ-रूपमें होती है। यज्ञ अर्थात् विश्वहितका सहज कार्य। यज्ञके दो खरूप हैं—अन्न और विकास। श्रुतिमें अन्नको भी 'ब्रह्म' कहा है। अन्न विकासका मूलाधार है, अर्थात् वह उपचय-अपचयकी समन्वित किया है। नाम, रूप और अन्न सत्यके प्रकट रूप हैं। श्रुतियोंमें कहा गया है—'प्रतिष्ठा वै सत्यम्', 'नाम-रूपे सत्यम्। आशय यह कि ये तीनों (नाम-रूप-अन्न) सत्यसे अर्थात् अव्यय पुरुषसे आविर्भूत हुए हैं—

यः सर्ववृः सर्वविद् यस्य ज्ञानमग्नं तपः।
तस्मदेतद् ब्रह्म नामरूपमन्नं च जायते॥

जगत्में प्रकट सत्यके इन खरूपोंकी—नाम, रूप और अन्नकी—उपासना करना, अर्थात् यज्ञके—सर्वहित-कारिणी कियाओंके—अवाधरूपसे होनेमें इनके सहायक बननेकी प्रक्रियामें सहकारी होनेकी प्रेरणा प्राप्त करना वैदिक चारित्र्य-शिक्षाका मूल सूत्र है। तात्पर्य यह कि वेदके चारित्र्यविधानका मूलाधार (नीव) 'सत्य' है; छाजन 'सत्य' है और अलंकरण भी 'सत्य' है। वेदोंकी चरित्र-शिक्षाका सर्ववृ भी यही 'सत्य' है। अन्य समस्त गुण सत्य-संजात और इसीके धारक होनेपर चारित्र्यके अङ्गभूत हो जाते हैं।

इस सत्यके दो रूप हैं—निरपेक्ष (परम) सत्य और सापेक्ष सत्य। निरपेक्ष सत्य अपने-आपमें पर्युर्ण है,

१—ऋतं च सत्यं चाभीद्वात् तपसोऽध्यजायत। ऋक् ० १०। ११०। १, २—सत्यं च ऋतं च चक्षुपः। ३—तथा इस प्रकार—'अनुतात् सत्यमुपेमि'। ४—अद्वा भगव्य मूर्धनि। अद्वया विन्दते वसुः। ५—दिवमाद्वृतं तपसा तपस्वी। तपसा युजा विजति शत्रून्।

उसकी पुष्टिके लिये किसी अन्य तत्त्वकी विचारणाकी अवश्यकता नहीं। वही विधान और वही विवेय है। सापेक्ष सत्य जीवनकी अपेक्षामें व्यवहार्य बनता है, जीवनका सम्बन्ध धारण-पोषण उसका संप्रेरक है। ये क्रमशः 'सत्य' और 'ऋत' कहलाते हैं। ये दोनों ही तपस्यासे उपलब्ध होते हैं।' सत्य और ऋत दो नेत्र हैं, जो मनुष्यको देखने-पहचाननेकी शक्ति देते हैं; उसे विवेक-सम्बन्ध करते हैं। सत्यकी प्राप्ति एक उपलब्धि है। सत्य श्रद्धासे प्राप्त होता है—'अद्वया सत्यमाप्यते॑', श्रद्धा खर्य एक तपस्या है। श्रद्धा दिव्य गुणोंमें सर्वोपरि है, समस्त उपलब्धियाँ श्रद्धासे ही होती हैं और दानादिक समस्त कर्मोंमें श्रद्धालू मनुष्यका सदा कल्याण एवं प्रिय होता है। श्रद्धा जगत्की धारिका है। श्रद्धा-जैसे दिव्य गुणोंको तपसे प्राप्त करके ही जीव ऊपर (दिव्यलोकको) उठता है तथा इस लोककी भी समस्त वावाओंको दूर कर लेता है।' श्रद्धासे प्राप्त सत्यसे विश्वका संधारण होता है। अतः कहा है—भूमि सत्यसे ही टिकी हुई है—'सत्येनोत्तमिता भूमिः। (ऋ० १०। ८५। १, अर्थ १४। १। १०) व्यक्तिः भी मनुष्यका परिक्षण सत्य वचनसे ही होता है। इसी लिये कहा जाता है—'सा मा सत्योक्तिः परिपातु विश्वतः॑' (ऋ० १०। ३७। २) अतः सत्पुरुषको अपनी वाणी सत्यमयी करनी चाहिये—'वाचःसत्यमर्शीमहि।' (यजु० ३९। ४) एतदर्थं अपने मनोरथो और संकल्पोंको सत्यनिष्ठ करना होगा। सत्यके ऐसे संवानपर विश्वकी समस्त सम्पदाएँ न्योछावर हैं—'संकिर सत्या वाजयः।' जीवनके प्रत्येक आचार-व्यवहारमें सत्यका अनुसरण होना चाहिये। यही 'ऋत' का मार्ग है। सज्जन उपा देवीके समान ऋत पथपर

चलते हैं—‘ऋतस्य पञ्चानमन्वेति साधुः । (ऋ० १० । १२ । ३) ऋतके धारणसे पाप नष्ट होने हैं^६, अतः सज्जन सप्तारके अनृतसे ऊपर उठकर सत्यपर पहुँचता है—‘अहमनृतात् सत्यमुपैमि ।’ वह योलचाल-व्यवहारमें सत्य-प्रायण रहता है, अनृतसे लिस नहीं होना-ऋतका यह मार्ग जीवनको भरल और सुखावद बनाता है—‘सुगा ऋतस्य पञ्चाः ।’ इस प्रकार सत्य, ऋत, श्रद्धा और तपस्यासे मनुष्य पवित्र बनता है। ऋषिकी प्रार्थना है कि पवित्रकारी देव, मुस्त्र बुद्धि, शक्ति, जीवन और अनापद्के लिये पवित्र करें। वैदिक ऋषि भगवान्-से प्रार्थना करते हैं—‘हमें पवित्र बनावें, हमारे मन, वाणी, नेत्र, आयु सबमें पवित्रताका मंचार हो ।’ हमारा भौतिक जीवन अनृत, असत या मिथ्यावसे आबृत है। इस अनृतको हटाकर सत्यका संवरण करना है—‘असनो मा सद् गमय ।’ सरस्वतीकी कृपासे सत्य-दर्शन, सप्तकल्प, सद्गाव और सक्तियाका प्रवाह बढ़ता है—

चोदयित्री सूनृतातां चेतनी सुमतीनाम् ।
‘यद्य दधे सरस्वती । (ऋक् ० १ । ३ । ११)

यही सच्चा जीवन है। इस सत्य-जीवनके लिये सचेत और सक्रिय रहना वैदिक चरित्र-निर्माणका प्रथम सोपान है। चात्तिय-शिश्रामालिकाका सुमेरु है—परमात्मा-(सत्य-) का ज्ञान। सत्यका ज्ञान हो जानेपर सत्योपलब्धिकी कामना एक सहज उपक्रम है। ‘विद्’ धारु जानने और प्राप्त करने दोनों अर्थोंमें है। परमात्माको ठीकसे जान लेना उसे पा लेना है। प्राप्ति भावाश्रित होनेपर साक्षिघ्यलक्ष्मी हो जाती है। अतः जब हमारा मन भक्तिमावसे आप्लावित होता है,

६-ऋतस्य धीर्तिर्वज्जिनानि इन्ति ।-ऋक् ० १ । २३ । ८

७-पवमानः पुनादु मा कृत्वे दक्षाय जीवमे । अथो अग्निष्ठातात्ये ॥ ८-थर्व ० ६ । ११ । २

८-देव सवितः मा पुनीहि विश्वतः ।-ऋ० ११ । ४३, यात्तंदो पुनीहि माम् । पुनन्तु मा देवज्ञाः । मनस्त आप्यायताम् । बाक् त आप्यायताम् । चक्षुस्त आप्यायताम् ॥

✽

तब हम परमात्माके सानिध्यके आकाश्ची होते हैं। सत्य या परमात्माके सानिध्यमें इन वैदिक चरित्र-शिश्रामा द्वितीय सोपान है। इससे हमारे अन्तःकाण और कर्म मन सत्यको ममर्पित हो जाते हैं, उनकी सत्ता अपने लिये नहीं, परमात्माके लिये हो जाती है।

परमात्माके सानिध्यमें पहुँचनेके लिये साधना करना आवश्यक है। यह साधना वैयक्तिक स्तरपर और मामानिक स्तरपर—दो नारोपर होती है। व्यक्तिगत साधनामें व्यक्ति सत्यकी ज्योतिको अपनेमें धारण करता है। ज्योतिर्निय परमात्माका अग्निः नामसे जाना गया है। वेद अर्द्धने हैं कि अग्निका ना ‘सत्यः’ है। अग्निकी, प्रकाशकी, ज्ञात्यकी उपलब्ध करना और उसकी उपासना करना परमात्माके सानिध्यमें रहना है (ऋ० १० । ७५ । ५)। यह चरित्रके उदार्त्तकरणका प्रमुख साधन है। सत्यकी ज्योतिको धारण करनेपर मनुष्य ‘आर्यः’ हो जाता है। यह आर्य-ज्योति वह अनन्दमय विश्वास है, जो देवाके साथ मनुष्योंकी सुखद समन्तरीय मित्रता स्थापित करता है। सत्य-ज्योतिसे युक्त होना ‘अमरता’की प्राप्ति है (ऋ० १० । ४३ । ४)।

ज्योतिर्धारणकी कामना ही ‘धी’ या मननमयी ‘सुमति’ है। धी वह समझ है, जो प्रत्येक वस्तुका ग्रन्थप निर्धारित करती है और उस वस्तुको वैचारिक व्यवस्थामें उचित स्थानपर रखती है। धीके द्वारा हमारे विचारोंकी क्रिया निर्दिष्ट होती है। इससे मनका सत्य-चेतनाके साथ अवाध संसर्ग होता है। अतः चरित्रको उदाच, उच्छ्वल और विश्वश्रेय-साधक ननानेवालेके लिये ‘धी’ का धारण अत्यन्त आवश्यक है। यही कारण है कि वेदोंमें मननशीलता या धीकी धारणा-

पर बारंबार बल दिया गया है। गायत्रीमन्त्रमें भी ज्योति- (भर्ग-) के धारण करनेकी प्रार्थना है।

सत्य-ज्योतिसे युक्त होना ही आध्यात्मिक युद्धमें विजय-प्राप्ति है; क्योंकि सत्यसे ही चतुष्पाद धर्म पुष्ट होता है। अश्वमेधयज्ञका आध्यात्मिक भाव है—अश्व अर्थात् आवेगमधी प्राण-शक्ति और मेधका अर्थ हैं—कामोपभोगोक्ती अभिलाषा एवं ऐसे ही अन्य आवेगोंसे भी प्राण-शक्तिको परमान्माके प्रति समर्पित कर देना। इस समर्पणसे 'प्राणमय' पुरुष खय अश्वमेध अर्थात् ज्योतिर्मय दृष्टा बन जाता है; क्योंकि यज्ञकी अनिश्चक्षिप्राणिक स्तरपर अन्तर्दृष्टि प्राप्त करती है—

यो मे इति प्रचोचत्यश्वमेधाय सूर्ये।
ददहन्ना संनि यते ददन् मेधासृतायते ॥
(ऋक् ० ५ । २७ । ४)

'जो मुझे अपनी सहमतिसे प्रत्युत्तर देता है, वह अश्वमेधयज्ञके इस ज्ञान-प्रदीप दाताके लिये प्रकाशपूर्ण स्तुतिश्वचनके द्वारा उसकी जीवन-यात्राके लक्ष्यकी उपलब्धि प्रदान करे और सत्यके अभिलाषीके लिये मेधाशक्ति प्रदान करे' (वेदरहस्य, उत्तर ० १२०) ।

श्रीअरविन्दके विचारसे जीवन एक अश्वके समान है। हमारी शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक शक्तियाँ सरपट ढौड़ती हुई हमारे जीवनको दिव्यताके क्षेत्रमें आगे बढ़ाती हैं और ऊपर चढ़ाती हैं। सत्य-ज्योति धारण ही आर्यत्व है। 'आर्य' (या अर्य)का अर्थ है— यज्ञकर्ता। यज्ञके तीन प्रमुख अर्थ हैं—(१) श्रम करना या संघर्ष (प्रयत्न) करना, (२) आरोहण करना और (३) यात्रा करना। आर्य मानवीय निर्बलताओंको, अवचेतनकी तिमिरपूर्ण भौतिक क्रियाओंको हटाकर उसके स्थानपर दिव्य कार्योंकी प्रतिष्ठा करनेके लिये संघर्ष करता है, भरपूर प्रयत्न और परिश्रम करता है, फिर वह 'स्वः' की उच्चतम चोटियोपर आरोहण करता है और असीम सत्तामें प्रवेशके लिये आध्यात्मिक

यात्रा करता है। सभी सत्कर्म ईश्वरके प्रति एक हैं। यज्ञहृतिकी समस्त कर्म-प्रक्रिया इसीके द्वारा मात्र होती है। ईश्वरको समर्पित सत् कर्म ही यथार्थतः यह है। सतत यज्ञनिरत रहनेका स्वभाव बनाना चरित्र-विवानका लृतीय सोपान है। इस प्रकार दान या त्याग करनेसे अनन्तकी प्राप्ति होती है। इससे जीवन उच्चत होता है। इस कर्मके योगसे अनन्तता, अमरत्व और पारमात्मिक आनन्दकी प्राप्ति होती है और प्रकृतिके बन्धनसे उद्घार होता है, मुक्ति होती है। यज्ञ एक सहज शाश्वत कर्म है। यह आत्माकी पवित्रताका, दिव्यताका प्रकाशन है, उद्ग्रोधन है। वेद बतलाते हैं कि प्रतकी दिव्य क्रियाएँ ही शुद्ध सत्कर्म हैं। वैदिक कर्म-विधान 'अज्ञान' नहीं, आत्म-ज्ञानकी आधारशिला है। कर्मके दो रूप हैं। आत्म-प्रसादकी भावनासे किये जानेवाले कर्म 'यज्ञ' हैं, और आत्म-दर्शनके विचारसे किया हुआ आन्तरिक कर्म 'योग' है। यज्ञ आत्म-समर्पण या आत्म-बलिदान है, जो अपने भूत, वर्तमान और भविष्यमें अर्जित और अर्ज्य सर्वस्वको अमृतमय परमात्माको लक्ष्य कर तपोऽग्निमें हविरुपमे क्षित करता है।

सर्वहितभावना वेदमें 'भद्रम् शब्दद्वारा व्याख्यात हुई है। भद्रभावनाका आधार 'ऋत' है और ऋतसे ही इसका विकास भी होता है। कहा है—'अद्या ऋग्ने क्रनो-भद्रस्य दक्षस्य साध्योः। रथीर्मृतस्य वृहतो वभूव। 'अग्ने । त् सुखमय संकल्पका, सिद्ध करनेवाले विवेकका, विशाल सत्यका रथी होता है।' (ऋ० ४ । १० । २)। इस मन्त्रमें 'क्रतु' और 'दक्ष' अर्थात् बल और ज्ञानको, अथवा संकल्प और विवेकको वृहत् सत्यकी पूर्णताको साधक कहा गया है। क्रतु संकल्प-शक्ति है और दक्ष विवेक शक्ति। सञ्चारित्र्यमें इन दोनोंका योग रहता है। भद्र भावनाकी अभिव्यक्ति 'सौमनस्यमें होती है। परस्पर साथ रहने और एक-दूसरेके विचारोंका आदर करनेसे

| सायणादिके अनुसार यहाँ ५ । २७ । ४-६में यज्ञ नहीं भरतकुलमें उत्पन्न अश्वमेध नामका राजर्षि अभिग्रह देहीति……।, यथा—'अस्मै अश्वमेधाय राजर्षये मे महा देहीति……।'

सौहार्द बढ़ना है । द्वंप्रहित व्यवहार और मधुर वाणीसे सौहार्दमें वृद्धि होती है । पिता-पुत्र, माता-पुत्र, पति-पत्नी, भाई-बहन सब समनस्क होकर भद्र व्यवहार करें (अर्थव०२ । ३० । १-३) । भद्रता हमारे जीवन-व्यवहारमें घुल-मिल जानी चाहिये ।

‘सौमनस्य’ प्रेम-मूलक है । प्रेमके अधिपति ‘मित्र’ सकल्प देव हैं, मित्र हमारी सकल्प-शक्तिको उद्बुद्ध करते हैं, जिससे हम द्वेषके अवरोधोके पार हो जाते हैं (ऋ० ५ । ९ । ६) । प्रेम दिव्य आनन्दका प्रवाह है तथा प्रेम वैश्व-आनन्द है । प्रेमके दो खरूप हैं श्रेयस् और प्रेयस् । सब विषयोंसे स्वतन्त्र आन्तरिक आनन्द-तत्त्वका नाम ‘श्रेयस्’ है और वह आनन्द जो आत्माको पदार्थों और प्राणियोंसे हर्ष तथा सुखके रूपमें मिलता है ‘प्रेयस्’ है । प्रेयस् आनन्दका वहि:प्रवाह है । किंतु प्रेयस्के मूलमें भी श्रेयस् ही रहता है और खय श्रेयस् सत्य एवं ऋतके संस्पर्शसे, विश्व-प्रेमसे प्राणान्वित होता है ।

तैत्तिरीय श्रुति श्रेयके विषयमें कहती है कि ‘इसके शीर्ष स्थानपर प्रेम है ।’ उसमें प्रेमके लिये ‘प्रिय’ शब्द है । प्रियमें आत्मिक और वैष्णविक दोनों सुख हैं । मित्र देव इस दिव्य भोगको हमारी पहुँचके भीतर लाते हैं । मित्रके विवानसे आत्मा अपने विषयोंमें तृप्ति प्राप्त करती है । ऐसा आत्मा अवश्य, अजेय और अपाप-विद्ध रहता है ।’ ऐसे आनन्दकी उपलब्धिके लिये प्रेममय बनना, विश्वके प्रति प्रेम-भावना जागरित करना वैदिक चरित्र-निर्माण-शिक्षाका चतुर्थ सोपान है ।

९—इमग्नो मन्त्रः समितिः समानो । समान मनः सह चित्तमेयाम् (३) । यथा वः सुसहासति (४) । ऋक् १० । १९१ । ३-४ । १०—तसाद् वा एतसाद् विश्वानमयाद्योऽन्तर आत्माऽदनन्दमयः । तेनैप पूर्णः । स वा एष पुरुषबिष्णि एव । तस्य पुरुष विधतामन्वय पुरुषविधः । तस्य प्रियमेव गिरः ॥ (त० २ । ५ । १) ११—प्रस मित्र मत्तो अस्तु प्रयस्वान् यस्त आदित्य शिष्ठति त्रतेन । न हन्यते न जीयते त्वेतो नैनमंहो अस्त्वेत्यन्तितो न दूरात् ॥ (ऋ० ३ । ५९ । २) १२—शूरबेद दद्यम मठलका १९१ वौं सूक्त, वथ—संगच्छ तदद्यं सं वो मनादि जानताम् ॥ समानी व अकृतिः समाना हृदयानि वः । समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ॥ १३—नुमान् पुमार्दं परिपातु विश्वतः ॥ (ऋ० ६ । ७५ । १४) याश्र पश्यामि याश्र न तेषु सुमति कृषि ॥ (अर्थव० १७ । १ । ७)

भद्र भावना, प्रेम और सौमनस्यमें मनुष्यमें समन विश्वके प्रति अपनत्य जाग जाता है । ‘वसुर्यैव कुद्धम्यकम्’की भावना इह हो जाती है । वैदिक ऋषियोंने मानवगत्रके कल्याण और योगक्रमके लिये प्रार्थना की है । वैदिक प्रार्थनाएँ कुछ इस प्रकार की हैं—‘हमारी यही कामना हो कि इस सब परस्पर मित्र-दृश्यसे देखें (यजुः ३६ । १८) । इस परिवित-अपरिवित सभी मनुष्यों-(प्राणिमात्र)-के प्रति सद्गावना रहें (अर्थव० १७ । १ । ७) । हम ऐसे ही कार्य करें जिनसे मनुष्योंमें परम्पर सुमति और सौमनस्यका विस्तार हो (वही ३ । ३० । ४) । प्रत्येक मनुष्य दूसरे मनुष्यकी सब प्रकारसे रक्षा और सहायता करे (वही ७ । ७५ । १४) । हमारी भावना यही रहनी चाहिये कि विश्वमें सूर्यव शान्ति रहे । सूर्य और दिशाएँ हमें जान्ति दें (वही ७ । ३५ । ८) । वायु और मेघ भी सुखगय रहें (यजुः ३६ । १०) । युलोक, अन्तरिक्षलोक और भूलोक सबमें शान्ति रहे । जल, औपचिं, वनस्पति, विश्वदेव, ब्रह्म और सब कोई शान्तिमय हो और विश्वव्याप शान्ति मुझे भी प्राप्त हो । (वही ३६ । १७) ।

यह भद्रभाव, दूसरे शब्दोंमें हमारा विश्व-प्रेम या समाजप्रेम, ‘अहिंसा’के रूपमें चरितार्थ होता है । अहिंसा चाँच यमोंमेंसे प्रथम है । ‘मा हिंसेथाः’ वेदका एक प्रमुख सूत्र है । सौमनस्यः^१ विश्व-वन्धुत्वः^२ और विश्व-

शान्ति^{१४} के भावोंके द्वारा वेद अहिंसा एवं प्रेमका प्रसार करते हैं। इन भावोंसे युक्त होना वैदिक चारित्र्य-विधानका पञ्चम सोपान है। सत्यके विपरीत असत्य है। सत्य प्रकाश-रूप है, असत्य तिमिररूप। अन्धकार अज्ञानका नाम है। अतः असत्य पाप-तापका आमन्त्रक है। सत्यसे सद्गुण जन्मते हैं, असत्यसे दुर्गुण और दुर्व्यसन। पूर्णार्कका कथन है—‘सद्गुण स्वास्थ्य है और दुर्व्यसन रोग।’ किंतु यह ध्यान रहना चाहिये कि व्यसनोंके विरोध या वैपरीत्यका नाम सद्गुण नहीं है, प्रत्युत व्यसनोंको और प्रवृत्तिका न जाना सद्गुण है। सच्चारित्र्यके आधारभूत सद्गुण धनात्मक (स्वीकारात्मक) प्रवृत्तियाँ हैं, ऋणात्मक (नकारात्मक) नहीं।

वैदिक चरित्र-शिक्षाका षष्ठ सोपान है—हृदय, चित्त, मन, वाणी, नेत्र, आयु सबका निष्पाप होना। इनमेंसे किसीमें भी पापका प्रवेश न हो, पाप इनसे दूर हट जायें और हम दुरितोंसे बचे रहें। ऋषि प्रार्थना करते हैं—‘हे पवित्रताकारी देव ! मुझे बुद्धि, भक्ति, जीवन और आपत्ति-निवारण-(आत्म-रक्षा-) के लिये पवित्र कीजिये—

पवमान ! पुनातु मा कत्वे दक्षाय जीवसे ।
अथो अरिष्ट तातये ॥ (अर्थवृ ६ । १९ । २)

हम पापी न बने और ईश्वरके समक्ष निष्पाप हो ।
पवित्रतासे आयुकी वृद्धि होती है। दीर्घ-जीवनके लिये

आयुको—अपने सम्पूर्ण आचरण और क्रिया-कलाप-को—पवित्र बनाओ।^{१५} निष्पाप रहनेके लिये चारित्रिक दोषोंसे बचना आवश्यक है। दोष अनेक हैं, पर उनमें काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह, मत्सर ये छः मुख्य हैं। इनके अतिरिक्त हिंसा, उग्र कठु वचन, ईर्ष्या-द्वेष, कर्म-हीनता, यश-हीनता, भय आदि बहुत-से दुर्गुण हैं, जिन्हे हटानेके लिये वेदका अनुशासन है।^{१६} जीवनको सन्मार्गपर आरूढ़ रखनेके लिये वीरताका भाव भी आवश्यक है। हमारी ऐहिक-आमुष्मिक प्रगतिके बाधक अनेक तत्त्व हमे सत्पथसे विचलित करनेको तत्पर रहते हैं। ऐसी दशामें हमे भयभीत और उद्धिन नहीं होना चाहिये। वेदका निर्देश है—‘मा भैः। मा संविच्छयाः’ (यजु० १ । २३)। बुलोंके और पृथिवी, तथा सूर्य और चन्द्रमा अपने कर्तव्य-पालनमें न तो डरते हैं, न किसीसे हिंसित और बाधित होते हैं, उसी प्रकार मेरे प्राणोंको निर्भय रहना चाहिये।^{१७} शूर-वीर होना वाह्य एवं आन्तरिक शत्रुओंपर विजय प्राप्त करनेके लिये भी आवश्यक है। शूरताके छः उपादान हैं—तेज, वीर्य, बल, औज, मन्त्र (अनीतिपर क्रोध) और सहम (विरोधोंपर विजय पानेकी) सामर्थ्य एवं साहस। इन्हें धारण करना चाहिये। वैदिक प्रार्थना है—

तेजोऽसि तेजो मयि धेहि वीर्यमसि वीर्यं मे
धेहि वलमसि वलं मे धेहि योजोऽस्योजो मयि धेहि
मन्त्युरसि मन्त्युं मे धेहि सहोऽसि सहो मयि धेहि ।
(यजु० १९ । ९)

१५—श न सूर्य उरुवक्षा उदेतु, श न नश्तस्यःप्रदिशो भवन्तु ॥

(ऋू० ७ । ३५ । ८)

१५—अपैतु सर्वमतः पापम्। एनो मा निगाम्। आरे खाम दुरितानि परासुब । परो पैहि ननस्पाप । अनागतो अदितये स्याम। ऋू० ५ । ८२ । ६ । १६—आयुः पवत आयवे । १७—मा गृवः (लालच मत कर) ईश्वर । उप० । मा रिष्यत (हिंसा मत करो) सा० पू० ४ । ६ । ३ तथा उ० ११ । २ । ५ (१), नि मृगोनुदस्य (हिंसकको निकाल दो ।) मा वयं रिषाम (इस किसीकी हिंसाके पात्र न वर्तें)। सा० उ० ७ । ३ । ७ (१) जम्भयाताअनप्नसः (कर्महीन नष्ट होते हैं)। मा नो द्विषत कश्चन (हमसे कोई द्वेष न करे)। मा नो मर्ता अभिद्रुढ़ (मनुष्य परस्पर द्वेष न करें)। उग्र वचो अपावधीः (कठोर वचन त्याग दो)। सा० पू० ४ । १ । २, अध्यजियो हतवर्चावति (यज्हीन पुरुष तेजहीन होता है)। गृहा मा विभीति (गृहस्यो ! डरो मत) यजु० १ । २३, १८—यथा चौश्र पृथिवी च न विभीतो न रिष्यतः। एवमे प्राण मा विभेः। यथा सूर्यश्च चन्द्रश्च न विभीतो न रिष्यतः। एवा मे प्राण मा विभेः॥ ३ ॥ (अर्थवृ २ । १५ । १, ३ ।)

आगोग्य परम बल है। धर्म, धर्म, काम और मोक्ष सबका मूल कारण आगोग्य है। अतः हमें चाहिये कि नीतोग रहे और अपने शरीरको सुदृढ़ बनायें—‘अस्मा भवतु नस्त्वनुः’—हमारे शरीर पुष्ट रहे और हम पूर्ण आशुप्य प्राप्त करें। हमारी वाणी, प्राण, नेत्र, कान, बाल, दौत और ब्राह्म सोग-हीन रहे तथा ऊरुओंमें ओज, जंघाओंमें वेग और पैरोंमें प्रतिष्ठा (दृढ़ता) रहे (अर्थव० ९। १२)। हम पूर्ण आशु सी वर्षतक स्वस्य रहते हुए जियें, देखें, सुनें, बोलें और अदीन रहें। हमें पगश्चित् न होना पड़े (यजु० १६। १४)।

मनुष्यता मनुष्यमें भवते ऊँचा है।” पृथ्वीपर उसका उन्नप्त पद है।” मनुष्य सृष्टिकर्ता परमेश्वरके अव्यन्त गमीप है।” अतः हमें मनुष्यताका गंभीर बनाये रखना चाहिये और मनुष्यताका सम्मान करना चाहिये। मनुष्य-जीवनका चरम लक्ष्य आनन्दकी प्राप्ति है। आनन्द एक मिश्रानुभूति है, जो सत्-चित्तसे सर्वव संयुक्त रहती है। अतः हमें यजके द्वाग—आग-निर्माणके द्वाग—चेतनकी अगरताकी ओर उद्गोदन और प्रवाह सरना” चाहिये। यह वैदिक चरित्र-शिक्षाका सम्पूर्णानन्द है।

व्रह्म-सूत्रमें चारित्र्य-चर्चा

(लेखक—पद्मश्री हॉ० श्रीकृष्णदत्तजी भारद्वाज, शास्त्री, आचार्य, एम० ए०, पी-एच० डी०)

कृष्णद्वैपायन महर्षि वेदव्यासने अपने व्रह्मसूत्रके पुरुषार्थविकरणमें कर्मकाण्डके प्रकाण्ड पण्डित एवं समर्थक महर्षि जैमिनिके मतका उपन्यास करते हुए आचारकी महिमाका प्रस्त्रायापन किया है—‘आचारस्तद्दर्शनाद्’ (३। ४। ३)।

इस सूत्रके भाष्यमें आचार्य शकरने वृहदारण्यक उपनिषद्के—‘जनको ह वैदेहो यदुद्वित्तिणेन यदेनेजे’ (३। १। १) ‘विदेहके शासक महाराज जनकने एक ऐसा यज्ञ किया, जिसमें वहूत-सी दक्षिणा दी गयी थी’—इस वाक्यको उद्धृत किया है। इससे यह सिद्ध होता है कि जनकजी, जो उच्चकोटिके ब्रह्मवेत्ता थे, यज्ञ भी किया करते थे। सारांश यह कि जब जनकके समान परमादरणीय ज्ञानी व्यक्ति भी यज्ञ किया करते थे, तब हम लोगोंको अपने आव्यासिक विकासके लिये उनके इस सदाचारसे अवश्य शिक्षा प्रहृण करनी चाहिये।

जैमिनिजीके मनमें जीवके लिये कर्म ही प्रवान है और व्रद्धविद्या गौण है अथवा कर्म अहंकार है और व्रद्धविद्या अद्वा है; किन्तु व्रह्मसूत्रके प्रणेताको व्रद्धविद्याका ही प्रावान्य अभिन्नत है। उनके मनमें व्रद्धविद्याके द्वारा ही परम-पुरुषार्थ अर्थात् अवर्गकी प्राप्ति होती है। कर्म विद्याका सहायक है। सर्वापेक्षाविकरणमें सूत्रकाने मानवको वेदारण्यन, यज्ञ, दान और तपस्या करते रहनेकी स्पष्ट शब्दोंमें अनुमति दी है। व्रद्ध-साक्षात्कारमें शास्त्रोक्त सभी साधनोंकी अपेक्षा है—‘सर्वापेक्षा च यज्ञादित्युतेरश्ववत्’ (३। ४। २६)।

इसपर भाष्यकार आचार्य शकरने वृहदारण्यक उपनिषद्के—‘तमेन वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदि-पन्ति यजेन दानेन तपसा नाशकेन’ (४। ४। २२)—इस वचनको उद्धृत किया है। इसका यह भाव है कि परमात्मा वेद-प्रवचन, यज्ञ, दान और तपस्याके द्वारा

१९—यशा विश्वस्यभूतस्याद्मस्मि यशस्तमः ।—(अर्थव० ६। ६०। ३)

२०—अद्यमस्मि सद्मान उत्तरो नाम भूम्याम् । (अर्थव० १२। १। ६५)

२१—मनुष्यः प्रजापतेनैदिषः । (शत० नां० १। ६। २। ६)

२२—सूत्योर्मासूत गमय । (शृङ्गा० ३। २। २)

जाना जा सकता है; क्योंकि ये सत्कर्म चित्तके शोधक हैं। गीता-(१८ । ५) में श्रीभगवान्‌का भी एतद्विषयक उपदेश है—

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमैव तत् ।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषणाम् ॥

यज्ञ, दान और तपके कर्तव्य करने ही रहना चाहिये, ये मनीषियोंको पवित्र करनेवाले हैं।

निय यज्ञ पञ्चविध हैं—ज्रस-यज्ञ (स्वाध्याय), देव-यज्ञ (अग्निहोत्र), पितृयज्ञ (श्राद्ध-तर्पण), मनुष्य-यज्ञ (अतिथि-सत्कार) और भूत-यज्ञ (गौ आदिको ग्रास-दान)—

बलिकमस्वधाहोमस्वाध्यायानिधिसत्क्रियाः ।

भूतपित्रमरज्ञमनुष्याणां महामखाः ॥

(याज्ञवल्य-स्मृति ३ । ५ । १०२)

दान यथाशक्ति सभी कर सकते हैं। यदि धनी व्यक्ति प्रस्तुर धनके दानद्वारा मनःशान्ति प्राप्त कर सकते हैं तो साधारण व्यक्ति जलपान कराकर और मधुर चचनोद्वारा वैसा लाभ ले सकते हैं। मनुका वचन है—

तृणानि भूमिरुदकं वाक् चतुर्थीं च सूनुता ।

एतान्यपि सतां गेहे नोच्छिघन्ते कदाचन ॥

आसन, स्थान, जल और चौर्थी सुन्दर वाणी—ये चारों तो सज्जनोंके यहाँ किसी भी अतिथिके हिये सदा प्रस्तुत रहते हैं।

त्रिविध तपका निर्देश श्रीभगवान्‌ने स्वयं गीतामें विशदरूपेण कर दिया है (द्रष्टव्य अध्याय १७, स्लोक १४, १५, १६)। शमद्माध्यिकरणमें भगवान् द्वैपायनने साधकको शान्ति, मनोनिग्रह, उपराम, सहनशीलता और एकाग्रताको बनाये रखनेका अभ्यास करनेकी सम्मति दी है—‘शमद्मात्युपेतः स्यात्तथापि तु तद्विधेस्तदङ्गतया तेषामप्यवश्यानुष्ठेयत्वात्’ (३ । ४ । २७)। इसपर अपना विवरण प्रस्तुत करते हुए भाष्यकारने बृहदारण्यक उपनिषद्‌के ‘तस्मादेवंवित् शास्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वात्मग्ने

वात्मानं गच्छेत्’ (४ । ४ । २३)—इस वचनको उद्धृत किया है। विहितत्वाधिकरणमें व्यासजीने साधकको अपने आश्रमके कर्तव्योंको करते रहनेका विधान किया है—‘विहितत्वाध्याश्रमकर्मापि’ (३ । ४ । ३२)। अग्निहोत्राधिकरणमें अग्निहोत्र आदिक नित्य और नैमित्तिक कर्मोंको करते रहनेका आदेश है—‘अग्निहोत्रादितु तत्कार्यैव नहर्शनान् । (४ । ६ । १६)।

ये सत्कार्य ब्रह्मज्ञानकी प्राप्तिमें सहायता करते हैं। आचार्य रामानुजने लिखा है—‘विद्यास्या-कार्यायैव हि विदुषोऽग्निहोत्राद्यनुष्ठानम् ।’ (श्रीभाष्य)।

ब्रह्मसूत्रके अन्तमे साधनपादमें योगदर्शनके समान ही आसन, प्राणायाम, धारणा, ध्यान, निदिध्यासनके द्वारा परमात्मसाक्षात्कारकी विधि निर्दिष्ट है। इस प्रक्रियमें शुद्ध ब्रह्मचर्यका मूलस्थान है। इसके साथ अनवरत बेदान्तचिन्तनका भी निर्देश है। कहा गया है कि उत्थानसे शयनतक और साधनारम्भसे जीवनतक इनका चिन्तन करते हुए कामादिके लिये लेशमात्रका अवसर नहीं देना चाहिये—

आसुप्तेरस्तुतेः कालं नयेद्वेदान्तचिन्तया ।

दद्यान्नावसरं किञ्चित् कामादीनां मनागपि ॥

उपर्युक्त विवरणसे यह स्पष्ट हो जाता है कि आन्यात्मिक विकासके लिये, ब्रह्मसाक्षात्कारके लिये, किंवा श्रीपुरुषोत्तम भगवान्‌के सानिध्यकी प्राप्तिके लिये प्रत्येक साधकको अपने आश्रम-धर्मका पालन, नित्य और नैमित्तिक यज्ञोंका अनुष्ठान, यथाशक्ति दान एवं त्रिविध तपका अभ्यास करते रहना चाहिये। ऐसे सभी गुण चरित्रमयी मालाकी मङ्गलमयी मणियाँ हैं।

चारित्यकी उदात्तता जीवनकी मङ्गलमयी चरितार्थतामें ही उपयोगिनी होती है। ब्रह्मसूत्रमें इसकी चर्चा इसी रूपमें है।

श्रीवैखानसकल्पसूत्रमें चरित्र-निर्माणके मूल सूत्र

(लेखक—श्रीचल्पलिल भास्कर रामकृष्णमाचार्युलु, एम० ए०, बी०एड०)

भारतीय संस्कृतिका मुख्य लक्ष्य है—जीवमात्रको आनन्दकी प्राप्ति कराना। इसकी दृष्टिमें जड़-चैतन्यरूप समस्त सृष्टिके सभीमें भगवान्‌की व्याप्ति है तथा सभीमें भगवत्प्राप्तिका समान अधिकार है। जन्म-मरण-रूप संसारचक्रमें जीव पत्थर, पेड़, पक्षी, जानवर, मानव आदि किसी भी रूपसे अपने प्रारब्धके अनुसार जन्म पा जाता है। इन सभीमें मानव-जन्म अत्यन्त दुर्लभ है—‘जन्तूनां नरजन्मदुर्लभमिदम् ।’ इस अलभ्य नर-जन्मको भगवत्प्राप्तिके साधनके रूपमें बनानेके लक्ष्य-को रखकर ही सभी भारतीय शास्त्र प्रवर्तित हुए हैं।

भारतीय वाक्यमें कल्पसूत्रोंका विशिष्ट स्थान है। कल्पसूत्र मानवको सुशिक्षित, धर्मबद्ध जीवन-निर्माणके विधान-निरूपण करनेमें प्रशृत हैं। इनमें ‘वैखानस-कल्पसूत्र’की अपनी निजी विशेषता यह है कि इसमें अत्यन्त अल्प वचनोंमें—गृहा, धर्म, और श्रौतसूत्र सम्मिलित हैं। इसकी दूसरी विशेषता यह है कि यह वैदिक विष्णु-पूजा-विधिका निरूपण, सगुणाराधनाका भी निर्देशक है। केवल इसी सूत्रमें भगवान्‌की प्रतिमा-राधनाके विधानका निरूपण किया गया है। वैखान-सागम इसी कल्पसूत्रके आधारपर प्रवर्तित है। वस्तुतः वैखानसागमका निर्देश ‘भगवच्छात्र’ नामसे शास्त्रोंमें पाया जाता है। इस विशिष्ट कल्पसूत्रमें सूचित चरित-निर्माण-सम्बन्धी अंशोंका परिचय दिव्यात्रसे किया जाता है।

श्रीवैखानसगृहसूत्रमें संस्कारोंद्वारा बहुदुर्लभ इस मानव-शरीरको भगवदाराधनयोग्य बनानेका मार्ग प्रशस्त हुआ है। उन संस्कारोंका कम इस प्रकार पाया जाता है—‘ऋतुसंगमनगर्भाधानपुंसवलसीमन्तविष्णुबलि-जातकमौत्याननामकरणान्तश्चासागमनयिष्ठ-

वर्धनचौलोपलयनपरायणब्रतवन्धविसर्गोपाकर्मसमा-वर्तनपाणिग्रहणार्नात्यष्टादशसंस्काराः शरीरस्य ।’
(वै० गृहसूत्र, प्रश्न १, खण्ड १, सूत्र २)

इसमें (१) ऋतुसंगमन, (२) गर्भाधान, (३) पुंसवन, (४) सीमन्त, (५) विष्णुबलि, (६) जातकर्म, (७) शश्योत्थान, (८) नामकरण, (९) अन्नप्राशन, (१०) निष्क्रमण (११) पिण्डवर्धन, (१२) चौल, (१३) उपनयन, (१४) पारायण- (१५) व्रतवन्ध, (१६) विसर्ग, (१७) उपार्कम, समावर्तन और (१८) पाणिग्रहण—इन १८ संस्कारोंका निरूपण हुआ है। इस प्रकार जन्मसे लेकर विवाह-तक सभी कर्म संस्कारयुक्त होते रहनेके कारण वे मानव-जीवनको सुसंस्कृत बनानेमें तथा चरित्र-निर्माणमें विशेष योग-प्रदान करते हैं। इन संस्कारोंके अतिरिक्त मानवके जीवनको धर्मपथसे सुबद्ध करनेके लिये आवश्यक अंशोंका निरूपण किया गया है।

सदाचार-क्रम वैखानसधर्मसूत्रके द्वितीय प्रश्न (गृहसूत्रके नवम प्रश्न)में निरूपित है—‘धर्म्य सदाचरम्’ (वै० सू० ९। ९। १)।

इस खण्डमें शौचाचार-विधि, नवम प्रश्नके (धर्मप्रश्नके २ के) दशम खण्डमें आचमन, प्राणायाम, गायत्री-जप, अभिवादन-क्रम तथा आशीर्वचन-क्रम निरूपित हैं। यदि कोई अभिवादन करनेपर आशीर्वाद नहीं देता है तो उसको अभिवादन नहीं करने का शासन है—‘अनाशीर्वादी नाभिवन्द्यः ।’ वर्णधर्म, आश्रमधर्म, विशेष धर्म जो चरित्र-निर्माणके मूलस्तम्भ हैं, इनका विवरण धर्मसूत्रोंमें किया गया है। इनमें आहारनियम, वाङ्नियमसे ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यासीके धर्म विशदरूपसे सूचित हैं। इन आश्रमोंके

अवान्तर भेद भी हैं, जिनका विवरण 'कल्याण' के 'सदाचार-अङ्ग' के ? ८६वे पृष्ठपर प्रकाशित 'वैखानससूत्रमें वर्णाश्रम-धर्मरूप सदाचार' लेखमें दिया गया है। इस प्रकार मान्व-चत्रिनि-निर्माणमें वैखानसकल्पसूत्रके गृह्ण, धर्म-विभागोंमें अत्यन्त आवश्यक नियमोंका उल्लेख किया गया है। चरित्रनिर्माताको उनसे लाभ उठाना चाहिये।

कल्पसूत्रोंमें अनेक देवता आराव्य बताये गये हैं। उनकी पूजा-आराधना अमूर्तरूपसे ही वर्णित है। उन देवताओंसे श्रीविष्णुकी विशेषता दिखाकर विष्णुकी प्रतिमाराधना करनेका आदेश न केवल गृहस्थोंको, अपितु भिक्षु-(सन्यासी-) को भी स्पष्टतासे व्यवस्थित रूपमें दिया गया है। भगवान्‌की आराधनाके लिये आवश्यक अर्चक, आचार्य तथा भक्तोंके लक्षण वैखानस और आगमसे वर्णित हैं, जो सभीके लिये उपादेय हैं। परमपद-प्राप्तिके लिये साधना करनेके विधानका विवरण भगवान् मरीचिमहर्षिकृत 'विमानार्चनकल्प' ग्रन्थके 'तत्त्वोपदेशपटल'में वर्णित है—'तस्माद्भगवन्मायया मोहितत्वाद् भगवन्तं समाश्रित्य भक्त्या नारायण-मुपासीत । तदुपासनात् सोऽपि भक्तवत्सलत्वाद् भक्ताजुकम्पया स्वमायां विमोचयति । तत आत्मा सम्यक् ज्ञानं प्रविशति । पश्चादाश्रमधर्मयुक्तो भगवदराधनं करोति । तदाराधनेन संसारार्णव-निमग्नो जीवात्मा परमात्मानं नारायणं पश्यति ।'

(पटल ८८)

जीव भगवान्‌की मायासे मोहित होनेके कारण भगवान्‌का आश्रय लेकर भक्तिसे 'नारायण' की उपासना करे। इस उपासनासे भगवान् अपनी मायासे उसका (भक्तका) सर्वथा विमोचन करते हैं और उसे ज्ञानकी प्राप्ति करते हैं। उसके बाद आश्रमधर्मके अनुसार भगवदराधना करनेसे जीव परमात्मा नारायणका दर्शन

करता है। उसके बाद पुनरावृत्तिरहित परम पदको प्राप्त कर लेता है। वैखानसकल्पसूत्रके अनुसार इस आराधनाके चार अङ्ग होते हैं। ये हैं—जप, हृत, अर्चन तथा ध्यान। इनमें अर्चन अन्युत्तम कहा गया है—'तेष्वर्चनं सर्वार्थसाधनं स्थात् ।'

(पटल ८९)

अपने घर या देवालयमें प्रतिमा आदिको वैदिक मार्गसे पूजा करे तो वह अर्चन है—'गृहे देवायतने वा वैदिकेन मार्गेण प्रतिमाद्विषु पूजयेत्तदर्चनम्' (पटल ८९)। उक्त आराधनाके 'व्यान'-के अंशके विवरणके रूपमें 'अष्टाङ्गयोग'का निरूपण किया गया है। 'योग' शब्दका विवरण इस प्रकार दिया गया है—'जीवात्मपरमात्मनोर्योगो योग इत्यामनन्ति' (पटल ९०)।

जीवात्माका परमात्मासे संलग्न होना योग कहा गया है। योगाधिकारीको २० गुणोंसे युक्त होना चाहिये, जो आदर्श मानवमात्रके लिये उपादेय हैं। ये हैं—पारिभाषिक रूपमें यम तथा नियम। इनका विवरण इस प्रकार दिया गया है:—यस—'तेषु यमः अहिंसा सत्यम् अचौर्य गृहस्थस्य स्वदारनिरतिः, अन्येषाम् सर्ववैयुतुलत्वागो दया आर्जवं द्वान्तिः धैर्यं मिताशनं शौचमिनि यमगुणा दशाधा भवन्ति'। (पटल ९०)

नियम—'नियमस्तु तपःसंतोषास्तिवयं दानं विष्णुपूजा वेदार्थग्रवणं कुत्सित्कर्मसु लज्जा, गुरुपदेशोश्चद्वा मन्त्राभ्यासो होम इति यमगुणा दशाधा भवन्ति' (पटल ९०)।

इस प्रकार जीवकी परम पद-प्राप्तिकी साधनाके अङ्गके रूपमें मानवके चरित्र-निर्माणके लिये आवश्यक सभी अंशोंका निरूपण वैखानस भगवद्ग्रन्थमें किया गया है, जिनमें यम-नियमोंका पालन अनिवार्यतः चरित्रगठनमें उपादेय है। अत. चरित्र-निर्माणके लिये हमें वैखानस-कल्पसूत्रानुसार आचरण करना चाहिये।

रामचरितमानस और चरित्र-निर्माण

(लेखक—डॉ० श्रीरामचरणलालजी शर्मा, एम० ए० पा०-एन० डी०)

चरित्र मनुष्यके सम्पूर्ण व्यक्तिगतको प्रकट करता है। इसमें समस्त मानवोचित गुणोंका समावेश हुआ है। सरल शब्दोंमें मनुष्यकी आदतोंके समूहको 'चरित्र' कहा जाता है। आदतें सत् और असत्के भेदसे दो प्रकारकी होती हैं। इसी आधारपर चरित्र भी द्विविध माना गया है—उत्तम चरित्र और निकृष्ट चरित्र। उत्तम चरित्रमें हृदयकी निर्मलता, उठारता, कर्तव्यपरायणता, आत्मसंयम, वचन-पालन, सत्यनिष्ठा आदि समस्त सद्गुण समाविष्ट रहते हैं। समस्त असद्गुण या दुर्गुण निकृष्ट चरित्रके घोतक होते हैं।

संसारमें उत्तम चरित्रका बड़ा महत्व है। किसी भी समाज, जाति, देश या राष्ट्रकी उन्नति सञ्चरित्र मानवोंपर ही निर्भर करती है। निकृष्टचरित्र व्यक्ति महत्व-हीन होता है। वह मानव-समाज एवं देशको कलङ्कित कर उन्हे पतनकी ओर उन्मुख कर देता है। आज हमारे समाज एवं राष्ट्रपर निकृष्ट चरित्रका भरपूर प्रभाव दृष्टिगोचर हो रहा है। इसीलिये हमारा राष्ट्रिय वातावरण झूठ, सशय, ईर्ष्या, स्वार्थ, इश्वत, चोर-वाजारी, छल, कपट, बेर्इमानी आदि अनैतिक तत्त्वोंसे दूषित हो गया है। समाजमें अत्याचार, दुराचार, बलात्कार और भ्रष्टाचारका बोलबाला है। समाजका हर व्यक्ति आज इनसे अत्यधिक क्षुब्ध एवं त्रस्त है। बेर्इमानी हमारे जीवनकी नीतिपद्धति बन गयी है। आज हमारे राष्ट्रिय चरित्रका पतन हो रहा है।

राष्ट्रको पतनके गर्तमें गिरनेसे वचानेके लिये आज हमें उत्तम चरित्रवान् नागरिकोंकी बड़ी आवश्यकता है।

रामचरितमानस ऐसे समयमें उत्तम चरित्रवान् नागरिकोंका निर्माण करनेमें योग दे सकता है। उत्तम अथवा आदर्श चरित्र-निर्माण करनेकी दृष्टिसे रामचरित-

मानस-जैसा अनुपम और अद्वितीय प्रनथ संसारमें कोई दूसरा नहीं है। यह मानवके चरित्रको ऊँचा उठानेमें, पारिवारिक आदर्शोंकी स्थापना करनेमें, समाज-के लिये मान्यताप्रद विधानकी सृष्टि करनेमें तथा राष्ट्रिय चरित्रके मालिन्यको दूरकर उसे आलोकित करनेमें पूर्णतः सक्षम है। इसके मध्ये प्रमुख पात्र—श्रीराम, लक्ष्मण, भरत, हनुमान्, सीता आदि लोकानुप्रेरक उत्तम एवं आदर्श चरित्रकी साकार एवं सजीव प्रतिमाएँ हैं। इनमें भी मर्यादा पुनरोक्तम श्रीरामका चरित्र सर्वाधिक प्रशस्त और प्रेरक है। उनका चरित्र मानवताके पावन-पुनीत एवं उज्ज्वल धरातलपर प्रतिष्ठित है। एक मानव, एक कुटुम्बी, एक मित्र और एक जननायकके रूपमें उनका चरित्र, उनका आदर्श अनुकरणीय है। उनका मानवरूप अखण्ड आत्मविश्वास, अनासक्ति, कर्तव्यनिष्ठा, स्वावलम्बन, शौर्य आदिसे समुज्ज्वल एवं मणित है। कुटुम्बिरूप वडोके प्रति श्रद्धा एवं सम्मान, छोटोके प्रति स्नेह-क्षमा आदि सद्गुणोंसे आलोकित है। आज्ञापालन और सेवाभावका जो अनुपम आदर्श उन्होंने प्रस्तुत किया है, वह अत्यन्त स्लाघ्य, ध्येय और मानवमात्रके लिये नितान्त अनुकरणीय है। उनका मित्ररूप सौहार्दसे देदीप्यमान है और उनका जननायकरूप, जन-प्रेम, सामाजिक समता, लोकमत-निष्ठा, अन्याय-प्रतीकार, अत्याचार-दमन, ऊच-नीच मेद-भावरहित वन्य जाति-न्येमसे ओत-प्रोत है। इस प्रकार मानसके नायक श्रीरामका चरित्र उत्तम चरित्रके लिये वांछित सभी सद्गुणोंसे परिपूर्ण है।

रामचरितमानसमें रावणपर श्रीरामकी जो विजय दिखायी गयी है, वह एक प्रकारसे निकृष्ट चरित्र-पर उत्तम चरित्रकी विजय है। दूसरे शब्दोंमें निकृष्ट

चरित्रके समक्ष उत्तम चरित्रिकी श्रेष्ठता प्रतिपादित की गयी है, जो उत्तम चरित्र-निर्माणकी दृष्टिसे अत्यधिक महत्वपूर्ण एवं प्रेरणाप्रद है।

सन्धरित्रिका निर्माण मुख्यतः तीन साधनोके अनुसरण करनेसे होता है, ऐसा विद्वानोका मत है। ये तीन साधन हैं—सत्सङ्ग, स्वाध्याय और अभ्यास। उत्तम आचरणबाले महापुरुषो तथा साधु-संतोका सत्सङ्ग करनेसे सुन्दर चरित्रका निर्माण होता है। सत्सङ्गसे दुर्गुणोका नाश और सद्गुणोका विकास होता है। रामचरितमानसमे सत्सङ्गकी महिमाका उद्घाटन अनेक स्थलोपर हुआ है। एक स्थलपर कहा गया है—‘सठ सुधरहि सत्संगति पाई । पारस परस कुधातु सुहाई ।’ अर्थात्—‘दुष्ट व्यक्ति भी सत्सङ्ग पाकर सुधर जाते हैं, जैसे पारसके स्पर्शसे लोहा सुन्दर सोना बन जाता है।’ इतना ही नहीं, रामचरितमानसमे सत्सङ्गकी उत्कृष्टता और कुसङ्गकी निकृष्टताका उद्घाटन संतोके सद्गुणो और असंतोके दुर्गुणोके चित्रणके माध्यमसे भी किया गया है। इस चित्रणका उद्देश्य ही यह है कि लोग असंतोके आचरणोके प्रति धृणा कर उनका त्याग करें और संतोके आचरणोका अनुकरण कर अपने सुन्दर चरित्रका निर्माण करे। चरित्रनिर्माण एवं सत्सङ्गकी प्रेरणा प्राप्त करनेकी दृष्टिसे निम्नाङ्कित पक्षियों, जो संतोके लक्षणोकी प्रतीक हैं, अत्यन्त ही महत्वपूर्ण, ग्राह्य एवं अनुकरणीय हैं—

सम सीतल नहिं त्यागहिं नीती । सरल सुभाव सबहिं सन प्रीती ॥
दभ मान भद करहिं न काऊ । भूलि न देहिं कुमारग पाऊ ॥
जे हरपहिं पर संपति देखी । दुखित होहिं पर विपति विसेखी ॥
सम दम नियम नीति नहिं ढोलहिं । परष बचन कब्रहूं नहिं बोलहिं

सत-महात्माओंने उत्तम प्रन्थोके अध्ययनको भी सत्सङ्गका ही एकरूप माना है। उनकी दृष्टिसे उत्तम प्रन्थोमें प्रयित महान् आदर्शोका सुन्दर चरित्र एवं ऋषि-मुनियोंका पवित्र वाणीका पठन सत्सङ्गके मद्दश

ही लाभदायक एवं कल्याणप्रद होता है। इस दृष्टिसे रामचरितमानस निस्संदेह एक अद्वितीय श्रेष्ठ प्रथ है, जिसमें श्रीराम, लक्ष्मण, भरत, हनुमान्, सीता आदि आदर्श-गात्रोका परम पवित्र चरित्र प्रथित है तथा भारद्वाज, वाल्मीकि, अत्रि आदि महर्षियोंकी पावन एवं पुनीत वाणी मुखरित है।

उत्तमचरित्र-सूजनके लिये सद्ग्रन्थोका अध्ययन नितान्त आवश्यक है। श्रीरामचरितमानस विश्वके सभी सद्ग्रन्थोमे मूर्धन्य है—यदि ऐसा कहे तो अत्युक्ति न होगी। यह सभी उत्तम एवं पवित्र गुणोंका आगार है। इसके अध्ययन मनन एवं चितनसे उत्तम चरित्रके लिये विश्वित सभी गुण उपलब्ध हो सकते हैं।

उत्तम चरित्र-निर्माणके लिये सद्गुण तो किसी भी अच्छी पुस्तकमे मिल सकते हैं, किंतु अपने अन्दर उत्तम गुणोके विकासके लिये अभ्यास अपेक्षित है। अभ्याससे तार्पण है कि जो वाते हमने पढ़ी है, जिनका हमने मनन एवं चितन किया है, उनको हम प्रतिदिनके व्यवहारमें लायें। नित्य-निरन्तर व्यवहारमें लानेसे अभ्यासबश दुर्गुण दूर हो जायेगे और उनके स्थानपर सद्गुणोंकी स्थापना हो जायगी। अतएव श्रीरामचरितमानसके अध्येताको चाहिये कि वह मानसमे वर्णित सद्गुणोंका नित्य निरन्तर अभ्यास करे। निश्चित हो उसका चरित्र सुन्दर बन जायगा। मानसका पाठमात्र करनेसे कोई लाभ नहीं होगा, जबतक कि उसमें निहित सुन्दर संदेशोंको जीवनमे नहीं ढाला जायगा।

उत्तम चरित्रिका सूजन कोई साधारण कार्य नहीं है। यह मानव-जीवनकी सर्वोच्च साधना है, कठोर तपस्या है, अग्निपरीक्षा है। पूर्वोक्त तीन साधनोके अतिरिक्त सुन्दर चरित्र बनानेके लिये कठितप्य अन्य वाते भी आवश्यक होती हैं, जिनमें सत्यका अनुसरण करना प्रमुख है। श्रीरामचरितमानसके नायक श्रीराम सत्यका अनुसरण करनेके कारण ही आदर्श एवं मर्यादा पुरुषोंतम कहलाये।

सत्यका पालन करनेमें व्यक्तिको घोर कष्टोंका सामना करना पड़ता है; यहाँतक कि कभी-कभी प्राणोंकी आजीतक लगा देनी पड़ती है। मानसमें महाराज दशरथ इसके प्रत्यक्ष उदाहरण है। सत्यका पालन करनेके लिये भयकी भावनापर नियन्त्रण आवश्यक होता है। भयके कारण हम सत्य नहीं कह सकते और जब सत्य नहीं कह सकते तो चरित्रका विकास भी नहीं हो सकता। भयके कारण ऊँचे आदर्श और स्वस्थ भावनाएँ नहीं पनप सकतीं। भयसे आत्मवल दुर्बल हो जाता है जिसने व्यक्ति जो कुछ सुधार अपनेमें लाना चाहता है उसे नहीं कर पाता। इस भावनापर नियन्त्रण पानेकी प्रेरणा हम श्रीराम, लक्ष्मण, हनुमान् और सीताके चरित्रोंसे प्राप्त कर सकते हैं।

चरित्रनिर्माणके लिये वचन और कर्मकी एकरूपता भी आवश्यक है। इसकी प्रेरणा मानसके नायक श्रीरामसे लेनी चाहिये। मानसकी निम्न पङ्क्तियोंमें वचन और कर्मकी एकरूपता दृष्टव्य है—

सुनि सुग्रीव मैं मारिहुँ वालिहि पुक्षि वान ।
व्रह्म रुद्र सरनागत गए न उवरिहि प्रान ॥

और वचनका पालन करनेके लिये—

बहु छल वल सुग्रीव करि हिय हारा भय मानि ।
मारा वाली राम तब हृदय माँझ सर तानि ॥

चरित्रकी उदाचतामें वचन-पालन एक महान् गुण है। जो व्यक्ति अपने वचनका पालन नहीं करता वह चरित्रशील नहीं बन सकता। वचन और कर्ममें एक रूपता चाहिये।

स्पष्ट है कि श्रीरामने सुग्रीवसे वालीको एक ही वाणसे मारनेके लिये कहा था और उसे एक ही वाणसे मार दिया। डतना ही नहीं, सुग्रीवसे मित्रता करते समय उसे जो 'वचन' दिया था……‘सब विधि घटव काज मैं तोरे’ उसे भी पूरा किया और आजीवन मित्रताका निर्वाह किया। इसीप्रकार श्रीरामकी कथनी और कहनीमें अन्यत्र भी

एक-रूपता पायी जाती है। लक्ष्मणके वचन और कर्ममें भी एकरूपता मिलती है, जो चरित्र-निर्माणकी दृष्टिसे प्रेरक एवं प्राण है। लक्ष्मणद्वारा मेवनादका वय करनेका पण करना और उसे मार डालना इसका प्रमाण है।

रामचरितमानसमें नारी पात्रोंमें भगवती सीताका चरित्र महिलामात्रके लिये सर्वोत्तम आदर्श एवं अनुकरणीय है। उनका चरित्र असाधारण पातिव्रत, त्याग, शील, क्षमा, धर्म-परायणा, विनप्रता, निर्भीकता, सेवा, संयम, साहस आदि दिव्यगुणोंका ज्योति-पुष्ट है। मानसके अन्य नारी पात्रोंमें, जिनका चरित्र अनुकरणीय है उनमें देवी कौसल्या, सुमित्रा, उर्मिला, माण्डवी और सती शिरोमणि अनसूयाके नाम उल्लेखनीय हैं। यदि आज की पाश्चात्य सभ्यतामें दृढ़ी महिलाएँ भगवती सीता और सती साव्य अनसूयाकी भाँति मनसा, वाचा, कर्मणा पातिव्रत धर्मका पालन करना ही अपना कर्तव्य मानें तो समाजमें, देशमें ‘यथ नार्यस्तु पूज्यन्ते’ गूँजने लगे।

रामचरितमानसमें वैसे तो स्थल-स्थलपर उत्तम चरित्र-सृजनहेतु संकेत एवं संदेश मिलते हैं, किंतु लङ्घ-काण्डमें धर्मरथके मिस मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामने विभीषणको विजय प्राप्तिका जो उपाय वतलाया है, वह सर्वोत्तम चरित्रकी सृष्टि एवं मानवजीवनकी सफलताके लिये अत्यन्त ही उपयोगी है। वह है धर्मरथका रूपके—

सौरज धीरज तेहि रथ चाका। सत्य शील दद ध्वजा पताका ॥
बल निवेद दम परहित जोरे। छमा कृपा समता रुजु जोरे ॥
हैस भजनु सारथी सुजाना। बिरति चर्म संतोष कृपाना ॥
दान परसु त्रुधि सक्ति प्रचंदा। वर विग्यान कठिन कोदंडा ॥
अमल अचल मन त्रोन समाना। संयम नियम सिलीमुख नाना॥
कवच अमेड विप्र गुरु पूजा। एदि सम विजय उपाय न दूजा॥
सखा धर्ममय अस रथ जाकें। जीतन कहूँ न कतहुँ रिपु ताकें॥

महा अजय संमार रिपु जीति मकड़ सो बीर।
जाके अस रथ होइ इ झुनझु सच्चा मति धीर ॥

अर्थात्—‘श्राता और वीरता जिस रथके चक्के (पहिये) हैं, सत्य और शील दृढ़ पताका है, बल, विवेक, दम और परहित जिनके घोड़े हैं, जो क्षमा, कृपा और समताकी रस्सियोंसे बँधे हैं, ईश-भजन जिनका सारणि है, वैगायरूपी ढाल और संतोषरूपी कृपाण जिसके पास है, जो दानरूपी फरसा, बुद्धिरूपी शक्ति और विद्यारूपी धनुषसे युक्त है, अमल और अचल मन ही जिसका कवच है, संयम और नियमरूपी वाण जिसके पास है, उसके लिये कोई भी शत्रु जीतनेको शेष नहीं रहता। वह अपराजेय और सर्वजयी होता है।

मानवमें मानवताका संचार करनेके लिये कैसा सुन्दर रूपक-संदेश रामचरितमानसमें तुलसीने प्रथित किया है। यह दिव्य संदेश मानवको सच्चा संत बनानेमें समर्थ

है। यदि मनुष्यमें ये सभी गुण समाहित हो जावें तो निश्चित ही उसका चरित्र सर्वोक्तुष्ट और आदर्श बन जावेगा। आज हमें ऐसे ही चरित्रान् लोगोंकी आवश्यकता है। ऐसे ही लोग हमारे समाज और राष्ट्रमें ब्यास बुराइयोंको दूरकर उन्हे समृद्ध एवं शक्तिशाली बना सकेंगे।

श्रीरामचरितमानसका यदि सच्चे मनसे और सच्ची लगनसे चिंतन, मनन और अनुशीलन किया जाय तो हमारे देश-वासियोंमें मानवता, राष्ट्रियता एवं विश्व-बंधुताके लिये वाजिछत सभी नैतिक गुणोंका प्रचार-प्रसार हो जायेंगे। चरित्रनिर्माणके क्षेत्रमें तुलसीकी यह अमर कृति जो योग दे सकती है, वह विश्वकी कोई अन्य कृति नहीं। इसका योगदान शाश्वत एवं चिरंतन है।

चरित्रकी महत्ता

(लेखक—डॉ० श्रीजयमन्तजी मिश्र)

चरित्रका अर्थ होता है—खमाव, व्यवहार, आचरण अथवा जीवनका वह कार्य जिससे मानवकी योग्यता, मानवता, कर्तव्यपरायगता आदिका धोतन होता है। इसी अर्थमें चरित, चारित्रि, चारित्र्य आदि शब्दोंका भी प्रयोग होता है। अंग्रेजी भाषाके विहेनियर, कन्डक्टर, कैरेक्टर, आदि शब्दोंसे भी इसी अर्थका बोध होता है।

भौवादिक गत्यर्थक ‘चर्’ धातुसे करणमें ‘इर्व’ प्रत्यय करनेपर ‘चरित्र’ शब्द निष्पन्न होता है। अतः चरित्र

शब्दके व्युत्पत्तिलघ्य अर्थके साथ व्यावहारिक अर्थका पूर्ण सामज्जस्य है।

विश्वका इनिहास साक्षी है कि चारित्रिक सद्गुण होनेपर ही कोई व्यक्ति महापुरुष होता है। ऋषि-मुनि, शिष्ट, आस, साधु-संत-महात्माके धर्मशाखानुकूल सदाचरण ही सच्चरित्र हैं और ऐसे सच्चरित्रवाले पुरुष भी सच्चरित्र (—सत्त्वचरित्रं यस्य असौ सच्चरित्रः) कहलाते हैं। उनकी सच्चरित्रताके लिये मन, वचन और कर्म—इन तीनोंकी पवित्रता और एकरूपता अपेक्षित है।

१—अचिन्त्यं शीलशुपानां चरित्र कुल्योपिताम्। (कथासरित्सागर-३९६)

विहितवहित्र चरित्रमलेदम् (गीतगोविन्द)

२—न कुतूहलिकास्यमनश्चरितं हि महात्मनां श्रोतुम्। (ईर्षचरित)

उदारचरिताना हि वसुष्वैव कुटुम्बकम्। (हितोपदेश १। ७०) उत्तरे रामचरिते भवभूतिर्विद्धिचते।

३—अनृत नाभिवास्यामि चारित्रभ्रगकारणम्। (मृच्छकटिक)

४—चारित्र्यविहीन आब्द्योऽपि च दुर्गतो भवति। (वही) ५—चर् गतौ भक्षणोऽपि। (पा० अष्टा ३। २। ८४)

६—अर्तिलभूसूखवनसहचरहत्रः। (पा० अष्टा ३। २। ८५)

इस एकरूपताके रहनेपर ही^१ व्यक्ति महान्मा होता है। अनेकरूपता आनेसे वह दुरात्मा कहलाता है। अतः सच्चित्रि पुरुषके मनमे जैसा सद्विचार आता है, उसे अभिव्यक्त करनेके लिये वह वैसी ही सत्यवाणीका प्रयोग करता है और वचनके अनुसार ही सद्व्यवहार करता है। इससे उसके चरित्रका निर्माण होता है और वह उस चरित्रके बलपर महान् व्यक्ति बनता है। वह सच्चित्रि महापुरुषकी वाणीके अर्थका अनुसरण करता है। इसके विपरीत लोकाहितके प्रतिकूल असत्य भावणसे चरित्रका पतंन होता है तथा वह अनृतवक्ता समाजमें गर्हित माना जाता है। कोई क्रितमा भी धनवान् क्यों न हो, यदि वह चरित्रहीन है तो दुर्गति पाता है।^२

धृति, क्षमा^३ आदि धर्मके दस लक्षण कहे गये हैं। इनके आचरणसे व्यक्तिकी धार्मिकता प्रकट होती है। ये सभी व्यक्तिके चरित्र-निर्माणमें असाधारण कारण हैं। इनके सदाचरणसे व्यक्ति सच्चित्रि बनकर महान् हो जाता है। ऐसे व्यक्तिमें दैवी सम्पदाएँ आती हैं और वह व्यक्ति जीवन्मुक्त होकर मानव-जीवनका अनित्म लङ्घ प्राप्त करता है। चरित्र-निर्माणके साधक इस मानव-धर्मको श्रीमद्भागवतमें तीस लक्षणोंमें बनलाया

गया है जिनके आचरणसे सुर्वात्मा भगवान् प्रसन्न होते हैं।^४ सच्चित्रिके निर्माणमें दक्ष व्यक्तियोंने ही इस विश्वमें अपना नाम अजर-अमर किया है और यशोमय शरीरको अनश्वर बनाया है।

सर्वश्रीं सीता, मावित्री, अनसूया, मीरा, लक्ष्मीवार्ड आदि सती-शिरोमणि सीमन्तिनियां अपने-अपने चारित्रिक बलपर ही विश्वबन्दनीया हो गयी हैं। सर्वश्रीं शंकर, कुमारिल मण्डन, रामानुज, मत्त, निम्बार्क, वल्लभ आदि आचार्य तथा रामानन्द, कवीर, चंतन्यमहाप्रभु, तुकाराम, ज्ञानेश्वर, पूर्णाय, नामदंव, गोरखनाथ, गुरुनानक, गुरुगोविन्दसिंह, विद्यापति, सूरदास, गोमात्रीमी तुलसीदास, रमेखान, पृथ्वीराज, राणाप्रताप, शिवाजी, वार्जीराव, रामकृष्ण परमहस, विवेकानन्द, महान्मा गान्धी, मदनमोहन मालवीय, निलक, गोवले, नेहरु, रानाडे, राजेन्द्रप्रसाद, ट्रैगोर, उभाय आदि महापुरुष अपने-अपने चरित्रबलपर ही विश्वमें समादरणीय होकर अमर हो गये हैं। अतः चरित्रनिर्माणकी महत्ता खतःसिद्ध है। वर्तमान कालिक सामाजिक अशान्ति भी चरित्रबल तथा ईश्वरात्मवनसे अवश्य दूर की जा सकती है। आज देशमें और भारतीय समाजमें चरित्र-साधनाकी नितान्त आवश्यकता है।

७—मनस्येक वचस्येक कर्मण्येक महात्मनाम । मनस्यन्यद् वचस्यन्यत् कर्मण्यन्यद् दुरात्मनाम् ॥ (हितोपदेश)

८—ऋषीणा पुनराद्याना वाचमर्थोऽनु धावति ॥ (उत्तररामचरित)

९—अनृत नाभिधास्यामि चारित्रभ्रशकारणम् । (मृच्छकटिक, द्रष्टव्य टिप्पणी ३)

१०—(द्रष्टव्य टिप्पणी ४)

११—धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः । शीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशक धर्मलक्षणम् ॥ (मनु० ६ । ९२)

१२—सत्यं दया तपः शौच तितिक्षेश्वा शमो दमः । अहिसा व्रहाचर्यं च त्यागः स्वाध्याय आर्जवम् ॥

सतोषः समदृक् सेवा ग्रामेहोपरमः शनैः । नृणा विषयेहेक्षा मौनमात्मविमर्गनम् ॥

अन्नाद्यादेः सचिभागो भूतेभ्यश्च यथार्हतः । तेष्वात्मदेवताबृद्धिः सुतरा वृषु पाण्डव ॥

श्रवणं कीर्तनं चात्य स्परणं महतां गतेः । सेवेज्यावनिर्दास्य सुख्यमात्मसमर्पणम् ॥

नृणामयं परो चर्मः सर्वेषां दमुदाहृतः । त्रिशळश्रणवान् राजन् सर्वात्मा येन तुप्यति ॥

(श्रीमद्भागवत ७ । ११ । ८-१२)

चरित्र-निर्माणका महत्व

(लेखक—मध्यगौड़वराचार्य डॉ० श्रीवराज्ञि गोस्वामी, एम० डी० एच०, डी० एस्-सी० ए०)

अनादिकालसे भारतीय समाज, भारतीय आर्य धर्म एवं महापुरुषोंकी गौरव-गाथाएँ ससारको आदर्श चरित्रकी शिक्षा देते आ रहे हैं। वेद, शास्त्र, पुराण और उपनिषदोंके अध्ययनसे हमें गौरव प्राप्त होता रहा है। पर अब जब हम अपनी ओर देखते हैं तो वड़ी चिन्ता होती है कि हमारे गौरवमय अतीत कालके पारिवारिक, सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक आदर्श भ्रष्टाचार आदिके कारण हमारी दृढ़ रहे हैं एवं संस्कृतिकी धाक नष्ट-भष्ट हो थी वह अपने प्राचीन चरित्र-गौरवको प्राप्त करनेके लिये सिसक रही है। आज उस खोयी हुई निधिके लिये हमें वहृतसे अपने स्वार्थोंको छोड़ना पड़ेगा, तभी चरित्र-निर्माण हो सकेगा।

चरित्रके महत्वको समझनेके लिये चरित्र-निर्माणकी परिभाषा क्या है, यह जानना आवश्यक है। मनोवैज्ञानिकोंकी दृष्टिसे—‘Character is a bundle of habits’—इस परिभाषाके अनुसार आदतोंके समूह अर्थात् तात्पर्यके पुञ्चकां चरित्र कहते हैं; मानवकी आदते ही उसका चरित्र है। ऐसे चरित्रका चिन्तन और निर्माण व्यक्ति और समाज-दोनोंके लिए आवश्यक है। परंतु आजका विश्व ‘चरित्र-निर्माण’के महत्वके विपरीत असदाचरणमे व्यस्त है। इससे स्पष्ट है कि ‘मानव अपनेको पतनकी गहरी, भयंकर खाईमें घकेलनेके लिये वड़ी तेजीसे आगे बढ़ रहा है।’

मनोविज्ञानके अनुसार चरित्र-निर्माणमे वंशापरम्परा, मूलप्रवृत्ति, अवधान, अनुकरण, व्यक्तित्व, स्वास्थ्य, पारिवारिक-सामाजिक-सदाचारपूर्ण अवस्थाएँ, आर्थिक दशा, पड़ोसियोंकी रहन-सहन, शिष्टाचार, पारिवारिक, सामाजिक, धार्मिक अनुशासन और उनके उचित, अनुचित सङ्ग-कुसङ्गकी छाप अबोध शिशुओंपर विशेष पड़ती है। बालक अपने परिवार-पड़ोसमें जो कुछ देखता है उसे देखकर और विद्यालयके चातावरणसे शिक्षा प्राप्त करता है।

इतिहास साक्षी है कि शकुन्तलाके उपदेशके ही कारण भरत भारतके चक्रवर्णों राजा हुए और जीजावाइके उपदेशके कारण शिवाजीने इतने महान् कार्य किये, जिनसे मुगलोंको परास्त करने एवं महाराष्ट्रमे ‘हिंदू-राज्यकी स्थापना करनेमें सफल हुए। श्रीसमर्थ गुरु रामदासने विशेष योगदान देकर उन्हे उन उपदेशोंको सार्थक कराया। इस ऐतिह्य उत्कर्षमें मूल कारण चारित्र्य था।

यह अकाट्य सत्य है कि बालकके मात्री विकासपर जितना उसकी माँकी रहन-सहन, बोल-चाल, चलनि आदिका प्रभाव पड़ता है, उतना अन्योका नहीं। इटलीकी महिला लेडी मौन्टसरीने मौन्टसरी-शिक्षाकी स्थापना की। इन स्कूलोंमें महिला अध्यापिकाएँ बालकोंको शिक्षा प्रदान करती हैं। हर कमरमें पॉच या छः बालकोंकी देख-रेखके लिये एक महिला-अध्यापिका रहती है। उससे बालकका चतुर्मुखी विकास होकर व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त होता है। वहॉ शिष्टाचार, अनुशासन, वड़ोंकी आज्ञाकापालन, सहनशीलता, नम्रता, देशभक्ति, समाज और परिवार, धर्म एवं राज्यके प्रति कर्तव्यपालन करना आदि सिखाया जाता है और उन्हे सहिष्णु भी बनाया जाता है।

चरित्र सत्सङ्ग एवं महापुरुषोंके आदर्शात्मक चरित्र-निर्माणके निर्दर्शनोंसे बनता है एवं कुसङ्गसे विगड़ जाता है। इस सम्बन्धमें भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें कहा है—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्त्वेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुर्बर्तते ॥

‘श्रेष्ठ मानव जैसा आचरण करता है, अन्य पुरुष भी उसीका अनुकरण करते हैं’, यह मनोविज्ञानका नियम है। ऐसे मानवोद्धारा जो कुछ समाज प्रहण करता है वह प्रमाणस्वरूप हो जाता है। इस कारण कुसङ्गसे बचना आवश्यक है। ‘श्रीरामचरितमानस’में कहा गया है—

वह भल वास नरक कर ताता । हुष संग जन देइ विद्राता ॥

आज हमारा 'चरित्र' उत्तिलये भी मलिन हो रहा है कि प्रत्येक भारतीय भनुप्य चाहे किसी अवस्थाके क्यों न हों, अपने देशकी वेष-भूषा-संस्कृति आदिका परिवाग कर बिदेशी फैशनपरम्परा होते जा रहे हैं । इसने हमारे पारिवारिक, सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक क्षेत्रोंका चरित्र इतना भ्रष्ट होता जा रहा है कि हमारे सम्पूर्ण देशका राष्ट्रिय चरित्र ही भ्रष्ट होने लग गया है ।

जिस देशकी महिलाओंका चरित्र असत् हो जाता है, उस देशके नागरिकोंके पारिवारिक, सामाजिक, धार्मिक चरित्र भ्रष्ट हो जाते हैं । वहाँ चरित्रनाशकी समस्या खड़ी हो जाती है तथा प्राचीन आदर्श गौरव नष्ट-भ्रष्ट हो जाते हैं । अतः चरित्र-निर्माणके लिये ऐसी 'आचर-चरित्रसंहिता' बनानी होगी जिससे भारत पारिवारिक, सामाजिक, धार्मिक प्राचीन आदर्शोंका गौरव पुनः प्राप्तकर सके ।

आज अधिकार अपने असत् आचरणोंद्वारा समाजको वृणिन मार्गका अनुकरण करनेमें कारण बनता जा रहा है—भले ही यह आनुपंगिक हो । हमारी संस्कृति उच्च आदर्श, विचार, सदाचार, नम्रता, सहन-शीलता, शिष्याचार, अनुशासन, एवं कर्तव्य-पालनकी निष्ठाका चारित्रिक प्रकाशस्तम्भ हैं । इस प्रकाश-स्तम्भके प्रकाशमें आनेपर मानव दंततुल्य हो जाता है ।

आध्यात्मिक भगवत्-चिन्तन एवं उपासना सब्बरित्र निर्माणके आदर्श कर्तव्य हैं । परम भक्त-शिरोमणि प्रह्लाद, धूम, महर्षि डर्धाचि अपने चरित्र-वलम्बे सर्वत्र सकूल हुए । पर डेवराज इन्द्रको अपनी कुचालोंके कारण प्रशंसा नहीं मिली । चरित्रवलम्बी अमता भी प्राप्त नहीं हो सकती है । किंतु विना भक्ति हमारे

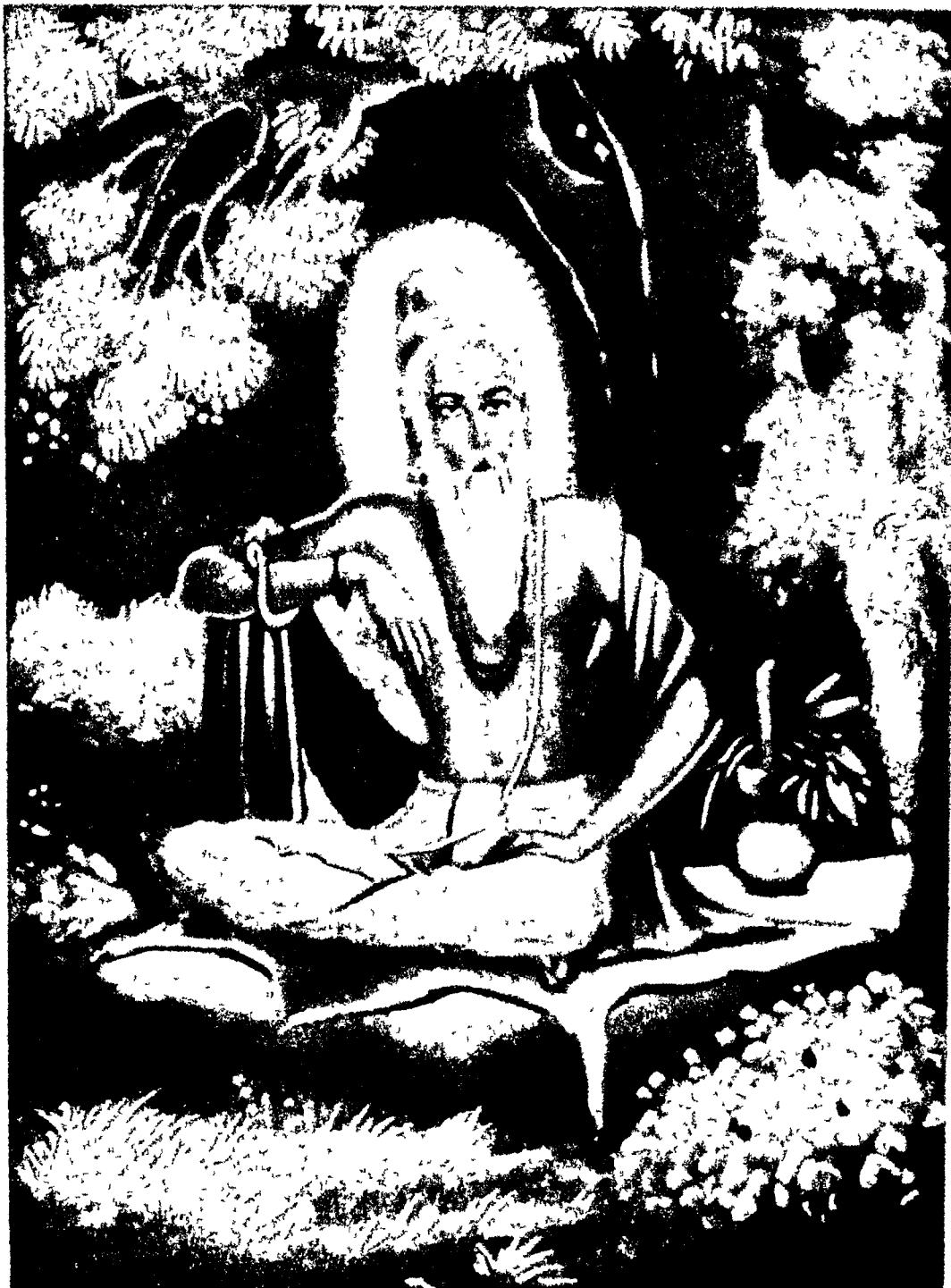
अनुपम अनुकरणीय आदशोंसे भरा गौरव आज नष्ट हो रहा है 'एवं हमारी इस प्रकारकी सभी पारिवारिक, सामाजिक धार्मिक, राजनीतिक गौरवगाथाण् नष्ट होती जा रही हैं । हम क्या थे ! क्या हो गये !! एवं अब किस महापतनकी ओर अग्रसर हो रहे हैं!!!!

प्रायः देखा गया है कि संयुक्त परिवारमें बड़े भाईके न रहनेपर उसकी संतानसे उसके चाचा-चाचीका व्यवहार असमुचित होता है । इस प्रकारके व्यवहारसे हमारे देशमें जो समाजको शिक्षा मिलती है, उसके परिणामसे परिवारके व्यवहार इतने छल, कपट, विद्यासवातोंसे परिपूर्ण एवं भयझर होते जा रहे हैं कि उस परिवारके होनहार बालकका जीवन नष्ट हो जाता है ।

अतः परिवारके मुखियाओंको सर्वस्वत्यागी मुखके समान होना चाहिये जो खानेको ख्यां खाता दीखता है, पर रस-संचारादिद्वारा हाथ, पौँछ, नाक, कान, सिर आदि सभी अङ्ग-प्रत्यङ्गोंका पोषण करता है । गोखामीजी ने भी कहा है—

मुखिया मुख सो चाहिये खान पान को पृक ।
पालै पोसै मक्कल अग तुलसी सहित विवेक ॥

हमें अपने प्राचीन पारिवारिक, सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक एवं संस्कृतिके गौरवमय महत्वका जो अभिमान रहा, वह सब आजके चरित्र-सम्बन्धी भ्रष्टाचारोंके कारण नष्ट हो गया है । हम महापतनकी चरम सीमाकी ओर जा चुके हैं । यदि हम अपनी प्राचीन संस्कृतिके गौरवमय महत्वशील अभिमानको फिरसे प्राप्त करना चाहें तो हमें अपने चरित्र-निर्माणकी व्यवस्थाओंको सुधारना चाहिये, अन्यथा हमारे प्राचीन गौरव नष्ट हो जायेगा ।



बहुपूजित सम्मानित शक्ति ऐसे कहीं न और हैं,
बसुधाके बुधजनोंके श्री व्यासदेव सिरमौर हैं।

(हरिओद)

वृत्तं यत्नेन संरक्षेद्

(लेखक—आचार्य श्रीगारिणीशंजी ज्ञा)

इस शीर्पकका पूरा श्लोक इस प्रकार है—
 वृत्तं यत्नेन संरक्षेद् विच्चमेति च याति च ।
 अक्षीणो विच्चतः क्षीणो वृत्ततस्तु हतो हतः ॥
 (महा० ५ । २६ । ३०)

‘चरित्रकी यत्नपूर्वक रक्षा करनी चाहिये, धन तो आता-जाता रहता है । वनके नष्ट होनेपर भी सदाचारी मनुष्यका नाश नहीं होता, किंतु चरित्रके नष्ट होनेसे मनुष्यका पूरा विनाश ही समझना चाहिये ।’ उक्त श्लोकका ही भाव लेकर अंग्रेजीमें रचा गया एक वाक्य बहुत ही तथ्यपूर्ण एवं सबके लिये परमोपादेय है जिसका आशय है—‘जब धन नष्ट हो गया तो समझिये कि कुछ नष्ट नहीं हुआ, जब खासध्य नष्ट हुआ तो समझिये कि कुछ नष्ट हो गया है और जब चरित्र नष्ट हो गया तो समझिये कि सब कुछ नष्ट हो गया ।’ आज अपने देशमें क्या, संसारमें ही चरित्रका महान् पतन हो गया है । इसीसे छल-छल, चोरी-वैर्मानी, धूसखोरी, अनाचार, व्यभिचार, हत्या, दुःख-दारिद्र्य आदि सभी संकटोंसे मानव-समाज ब्रस्त है । अपने ही देशको लीजिये, जबतक यहाँ चरित्रका प्रावृत्त्य था, तबतक दही, दूध, धी आदिकी अतिशय अधिकताके कारण इन्हें कोई पूछता न था । आज ये ही वस्तुएँ मानव-समाजके लिये दुर्लभ होती जा रही हैं । अपने यहाँ चारित्रिक शिक्षाका डिपिंडमधोप इन शब्दोंमें किया गया है—

मातृवत् परदारेषु परद्रव्येषु लोष्टवत् ।
 आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति स पण्डितः ॥
 (हितोपदेश १ । १४)

‘दूसरेकी खीको माताके समान देखो, दूसरेके धनको मिट्ठीके ढेलेके समान समझो और समस्त

* याहुदा रातीके ऊपरी भागमें एक सहायक नदी है । यह गोरखपुर शहरके पश्चिम-दक्षिणकी ओरसे बहती हुई सरयू नदीमें बरहजके पास मिल गयी है ।

च० निं० अं० १४—

प्राणियोंको अपने आत्माके समान मानो । जो ऐसा देखता है, वह (वास्तविक) पण्डित है ।’

आज यदि एकमात्र उक्त श्लोककी शिक्षाको मानव-समाज अपना ले तो धरतीपर स्वर्ग उत्तर आये । पहले अपने देशमें अधिकतर लोग उक्त शिक्षाका अनुसरण करते थे । इसके अनेक प्रमाण शास्त्र-पुराणोंमें मिलते हैं । शंखलिखित नामकी तीन स्मृतियाँ मिलती हैं । इनके प्रणेताके विषयमें कहा जाता है कि शंख और लिखित दोनों सहोदर भाई अलग-अलग रहने लगे थे । एक बार लिखित अपने बडे भाई शंखसे मिलनेके लिये उनके आश्रमपर गये । उस समय शंख वहाँ उपस्थित नहीं थे । उनके आश्रममें एक आमका पेड़ था, जिससे एक पका आम नीचे गिरा हुआ था । उस फलको लिखितने उठाकर अपने पास रख लिया । कुछ देर बाद शंख भी आ गये । उन्होंने लिखितसे पूछा—‘यह आम तुम्हें कहाँ मिला ?’ लिखितने बताया—‘यह तो आपके ही वृक्षसे गिरा हुआ था, मैंने उठा लिया ।’ इसपर शंख बोले—‘तब तो तुमने चोरी की । किसी वस्तुको उसके खामीकी अनुमतिके बिना उठा लेना चोरी है । इसका प्रायथित्त करो ।’ उन दिनों चोरीका दण्ड था, हाथ काट लेना । किंतु दण्ड उस देशका शासक ही दे सकता था । अतएव लिखितको राजा सुद्युम्नके पास जाना पड़ा । वहाँसे हाथ कटवाकर वे भाईके पास लौट आये । भाईने उनसे धवला नदीमें स्नान कराकर शेष प्रायथित्त-हेतु पितरोंका तर्पण करनेके लिये कहा । उन्होंने कहा—‘अब मैं किस हाथसे तर्पण करूँ ?’ भाईके तपोवल तथा धवलाकी कृपासे उन्हे नवोन हाथ प्राप्त हुए और उन्होंने तर्पण किया । इस घटनासे नदीका नाम ‘वाहुदा’ हुआ ।* यह रातीकी सहायक धवला नामसे अब भी प्रसिद्ध है (महाभा० १२ । २३) ।

इसी तरह अर्जुन जब इन्द्रसे मिलनेके लिये स्वर्ग गये थे, तब वहाँ सर्वांगी परम सुन्दरी वेश्या उर्वशी उनपर कामासक्त होकर एकान्तमें उनके पास गयी और उसने अपनी कामेच्छा प्रकट की। किंतु साधुचरित्र एवं दृढ़संयमी अर्जुनने उसे 'मा' कहकर लोग दिया। इसपर उर्वशीने उन्हे शाप दे दिया, जिसे उन्होने खीकार किया, पर अपने चरित्रको नहीं डिगाया। चरित्र-निर्माणका यह एक आदर्श उदाहरण है।

वेद, शास्त्र, पुराण, इनिहास आदि प्रन्थोमें उत्त प्रकारके चारित्रिक निर्दर्शन भरे पड़े हैं। किंतु उन्हीं महापुरुषोंके बशज हम भारतीय आयेदिन चारित्रिक पतनके गढ़ोंमें गिरते जा रहे हैं। यह बहूत ही दुःखद एवं चिन्तनीय बात है। अब भी समय है, यदि हम निम्नलिखित शास्त्राङ्गाके पालनमें दत्तचित्त हो जायें तो हमारा कल्याण सुनिश्चित है—

प्रत्यहं प्रत्यवेष्टेत नरश्चरितमात्मनः ।
किं तु मे पश्चभिस्तुल्यं किं तु सत्पुर्षैरिव ॥
(गार्जनधरपठति १४ । १)

—३५४५५५—

चरित्र-निर्माणकी समस्या

(लेखक—प्रो० रामजी उपाध्याय एम०ए०, डी०लिट०)

सम्प्रति यद्यपि सारे संसारमें चारित्रिक मान्यताएँ शिथिल होती जा रही हैं, तथापि भारतमें चारित्रिक ह्यास विशेष खलता है। कारण, भारत वह देश है, जिसके चारित्रिक उत्तरदायित्वका उल्लेख मनुने इन शब्दोंमें किया है—

पतदेशप्रसूतस्य सकाशाद्ग्रजन्मनः ।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥
(मनुस्मृति २ । २०)

'भारतसे अखिल विश्वको चारित्रिक शिक्षा प्रहण करनी चाहिये।' इसीसे कल्पना कर सकते हैं कि भारतीय चरित्र कितना ऊँचा था। स्वाभाविक है कि

'मनुष्यको प्रतिदिन अपने चरित्रको टटोलना चाहिये कि क्या हमने आज पशुओंके समान आचरण किया या सत्पुरुषोंके समान ? हमे क्या-क्या करना चाहिये ?'

मनुष्य और पशुमें आडार, निद्रा, भय, मेथुनमें सब समान है, मनुष्यमें केवल ज्ञान, विवेक एवं चरित्रकी भिन्नता है। 'सर्वान् अविशेषण पश्यति इति पशुः' अर्थात् जो माँ, बहन, ली आदि सबको एक ही दृष्टिसे देखे, वह पशु है। मनुष्य पशुसे भिन्न है; क्योंकि मनुष्यमें विवेक रहता है। वह विवेककी दृष्टिसे माँ, बहन, ली आदिको यथायोग्य देखता है। वह विवेक जिस मनुष्यमें जितनी अधिक मात्रामें रहेगा, वह उतना ही उच मात्रव कहलायेगा। इसलिये मानवको प्रतिदिन अपने कर्तव्य और अकर्तव्यका विवेचन करना चाहिये। उत्तम आचरण कर्तव्य है और दूषित आचरण अकर्तव्य है। कर्तव्य कर्मपर दृढ़ रहना सच्चित्रता है और गर्हित आचरण करना दुर्थित्रता है। इसलिये जो अपना कल्याण चाहता है, उसे सच्चित्रताको अपनाना चाहिये और दुर्थित्रताको त्यागना चाहिये। सच्चित्र बनानेकी यही प्रक्रिया है।

मान्यताओंसे, जो अपरिहार्य हैं और जिन्हे बदलने या जनजीवनसे पृथक् करनेका प्रश्न नहीं उठता। ऐसी सनातन मान्यताओंका प्रथम उत्स वैदिक साहित्य है। वेदोंमें जो कुछ कहा गया है, वह सत्य है। उसके विशद् यदि कुछ सत्य प्रतीत होता है तो वह सत्य नहीं है, मिथ्या-भास है। वेदोंमें प्रतिष्ठित सत्यको सूत्र और स्मृति साहित्यमें तत्कालीन संस्कृत भाषामें स्पष्ट किया गया है। प्राचीन कालसे लेकर प्रायः पचास वर्ष पूर्वतक सामान्यतया सभी विद्यार्थियोंके लिये यह आवश्यक था कि वे वेद, शास्त्र और स्मृतिको केवल कण्ठाग्र ही न करें, अपितु उनमें प्रतिपादित चरित्रको आत्मसात् करें। राजासे लेकर रङ्गतकके सामने यही आर्प जीवन-पद्धति थी कि ऋषियोंने पूर्वोक्त ग्रंथोंमें जो जीवन-विधि बतायी है, उसे समग्रतः अपनानेका प्रयास करना चाहिये। तदनुसार चारित्रिक स्तर बना हुआ था।

ऋषि वेदोंके दृष्टा थे। उन्होंने देवताओंके आदर्श चरित्रको मानवताके समक्ष प्रस्तुत करनेके लिये पुराणों आदिका प्रणयन किया। ऋषियोंका व्यक्तित्व अतिशय उदात्त और उज्ज्वल था। वे तपः-प्रायण थे। उनके द्वारा साक्षात्कृत् वेदोंमें चरित्रनिर्माणात्मक तत्त्व भरे पड़े हैं; यथा—**न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवाः।** (ऋ० । ४ । ३३ । ११)

‘परिश्रीमीको छोड़कर देवता किसी अन्यकी सहायता नहीं करते।

‘सत्यं तातान सूर्यः।। (ऋग्वेद । १ । १०५ । १२) **‘मूर्यने सत्यको फैलाया है।’**

मधु नक्तमुतोपसो मधुमत् पार्थिवः रजः।
मधु द्यौरस्तु नः पिता। (ऋ० । १ । ९० । ७)

‘हमारी रात्रि और उपार्षे मधुर हो, पृथ्वीलोक मधुमान् हो, पिताके तुल्य रक्षक आकाश मधुर हो।’

माता पृथ्वी महीयम्। (ऋ० । १ । १६४ । ३३) **‘यह बड़ी पृथिवी हमारी माता है।’**

विश्वं तद् भद्रं यद्वन्ति देवाः। (ऋ० । २ । २४ । १६) **‘वह सब भलकी है, देवता जवकी रक्षा करते हैं।’** मा नो मर्तस्य दुर्मतिः परिष्ठात्। (ऋ० । ३ । १५६) **‘मानवकी दुर्मति हमें न घेरे।’**

निन्दितारो निन्द्यासो भवन्तु। (ऋ० । ५ । २ । ६) **‘निन्दक निन्द्य हो जाते हैं।’**

अस्ति रत्नमनागसम्। (ऋ० । ८ । ६७ । ७) **‘निष्पापको रत्न मिलकर ही रहता है।’**

सत्येनोन्नभिता भूमिः। (ऋ० । १० । ८५ । १) **‘सत्यसे भूमि प्रतिष्ठित है।’**

मोघमन्न विन्दते अप्रचेताः। केवलाधो भवति केवलादी ॥ (ऋ० । १० । ११७ । ६) अङ्ग (एवं) **‘अनुदारका अन्न पाना व्यर्थ है, जो अकेले खाता है, वह पापमय है।’**

संगच्छच्चं संवद्द्वच्चं सं वो मनांसि जानताम्॥ (ऋ० । १० । १९१ । २) **‘साथ चलो, साथ बोलो। तुम्हारे मन साथ विचार करें।’**

इन चरित्र-निर्माणात्मक तत्त्वोंके उत्स ऋग्वेदादिमें नित्य-स्नात भारत शाश्वत रूपसे सारे संसारको चारित्रिकप्रकाश-विच्छुरित करनेमें समर्थ था। चरित्र-निर्माण करनेवाले परवर्ती युगमे ऋषियोंकी परम्परामें महामानव हुए हैं। इनमें राम, कृष्ण बुद्ध और महावीर मुख्य हैं। उन्होंने आजीवन जनता-जनार्दनके बीच अनवरुद्ध गतिसे भ्रमण करते हुए उन्हे चारित्रिक सत्यथपर अग्रसर किया। उनकी वाणी महिमशालिनी थी। बुद्धने धम्मपदमें कहा है—

न हि वैरेन वैराणि सम्मन्तीध कुदाचन।
अवैरेन च सम्मन्ति प्रस धम्मो सत्त्वनो॥

‘वैर वैरसे शान्त नहीं होता, वह प्रेमसे शान्त होता है। यह सनातनवर्ष है।’

न परेसं विलोमानि न परेसं कताकं।
अत्तनोव अवेक्षेय्य कतानि अकतानि च ॥

‘दूसरोंकी बुराइयोंको मत देखो, उनके किये और
न कियेका विचार न करो। अपने ही किये और न किये
को सोचो।’

न भजे पाके मित्ते न भजे पुरिसाधमे ।
भजेथ मित्ते कल्याणे भजेथ पुरिसुत्तमे ॥

‘पानीको मित्र न बनाओ और न नीच पुरुषोंको ।
कल्याणप्रद मित्रों और उत्तम पुरुषोंका सङ्ग करो।’

सब्वे तसन्ति दण्डस्स सब्वेसं जीवितं पियं ।
अत्तानं उपमं कत्वा न हनेश्य न घातये ॥

‘सभी दण्डसे डरते हैं। सबको जीवन प्रिय है।
अपने समान समझकर न किसीको मारे न मरवाये।’

सुकरानि असाधूनि अत्तनो अहिनानि च ।
यं वै हितं च साधुं च तं वै परम दुष्करं ॥

‘बुरे काम सरलतासे किये जा सकते हैं, जो अपनेको
वस्तुतः हानि पहुँचाते हैं। जो वास्तवमें हितकर और
अच्छा है, वह परम दुष्कर है।’ इन्हीं गौतमके पथ-
प्रदर्शनसे प्रभावित समाट अशोकने सारी प्रजाको
सञ्चरित्र बनानेके उद्देश्यसे शिला-लेख लिखवाये,
जिनका सारांश है—‘छोटे लोग भी उच्च कर्मसे विपुल
स्वर्ग प्राप्त कर सकते हैं। माता-पिता तथा वृद्ध
पुरुषोंकी सेवा करनी चाहिये। प्राणियोंके प्रति गौरव-
प्रदर्शन करना चाहिये। सत्य बोलना चाहिये। विद्यार्थी
आचार्यकी सेवा करे। अपनी जातिके लोगोंसे सद-
व्यवहार करना चाहिये। स्वल्प व्यय करना तथा
स्वल्प संग्रह करना समीचीन है। सभी धार्मिक
सम्प्रदायोंके अनुयायी परस्पर सहानुभूतिका संवर्धन
करें।’ इस प्रकार जैन और वौद्ध सम्प्रदायमें तीर्थकरों,
गणधरों और अर्हतोंने चरित्र-निर्माणकी दिशामें अनवरत
प्रयास किया और अपने व्यक्तिगत जीवनसे समाजके
समृद्ध आदर्श जीवन-पद्धति प्रस्तुत की। प्राचीन

कालसे लेकर प्रायः वीसवीं शताब्दीके मध्ययुगतक शास्त्रों-
द्वारा वैदिक साहित्यके आदर्शोंको पल्लवित किया
गया और उसके द्वारा ‘रामादिवत् वतिंतव्यं न छविद्
रावणादिवत्’ इस उद्देश्यको पूरा किया गया। जैसा
मम्मठने लिखा है—

काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये ।
सद्यः परनिर्वृत्तये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे ॥

वाल्मीकि, व्यास, अश्वघोष, भास, कालिदास, भारवि,
भवभूति आदि संस्कृतके कवियोंने और कवीर, सूर,
तुलसी, मीरा, केशवदास, भारतेन्दु, प्रेमचन्द, जयशक्ति
प्रसाद, सुमित्रानन्द पन्त आदि हिन्दीके कवियोंने
काव्यके सनातन उद्देश्यको दृष्टिमें रखा। इस युगमें
भारतकी अन्य आधुनिक भाषाओंमें भी मानवताका
समृद्धयन करनेवाले कवियोंका अभाव नहीं रहा है।
ज्ञानेश्वर, विद्यापति और रवीन्द्रनाथकी रचनाएँ इस दृष्टिसे
महनीय हैं। भारतीय समाजके चारित्रिक अभ्युत्थानकी
दिशामें इनका अपरिमेय श्रेय रहा है। चाहे भारतके
किसी भागमें हिन्दू राजा हो या मुसलमान या ब्रिटेशी,
उन्होंने भारतको सुसंस्कृत भारत बनाये रखनेका
सनातन संकल्प अपने हृदयमें सँजोये रखा और
अपनी बाणीकी पावनतासे समाजको पावन प्रवृत्तियों
प्रदान की।

साहित्यके साध-साध आचार्योंकी परम्परा भी चारित्रिक
सरक्षणकी दिशामें विशेष उल्लेखनीय रही है। यह
परम्परा वीसवीं शताब्दीके मध्य भागतक अपनी अनुपम
प्रभासे भारतको समुज्ज्वल करती रही है। इनमें भी सर्वप्रथम सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक आचार्य
शंकर थे, जिन्होंने दिग्दिगन्तमें अद्वैतके प्रकाशमें
भारतीय चरित्रको समुज्ज्वल किया। शंकरकी
परम्परा उनके विश्वविद्यालयरूपी मठोंमें भारतके
विभिन्न भागोंमें आज भी चल रही है। शृङ्गेरी,

पुरी, द्वारका तथा वद्रिकाश्रममें आज भी चार शंकराचार्य प्रतिष्ठित है। परवर्ती युगमे अन्य आचार्योंने भी समय-समयपर चारित्रिक आदर्शोंको समुन्नत करते हुए समाजको विषयगामी होनेसे बचाया है। इनमें रामानुज, मध्व, निष्वार्क, वल्लभ, रामानन्द आदि प्रमुख हैं। इन्होंकी कोटिमें महाप्रभु चैतन्यका नाम भी अनुपम प्रभासे देदीप्यमान है। इन आचार्योंके अतिरिक्त ज्ञानेश्वर, समर्थगुरु रामदास, गुरुगोविन्द सिंह, रामकृष्ण, विवेकानन्द, रामतीर्थ, दयानन्द, महामना मालवीय, महात्मा गान्धी और योगी अरविन्द आदि सत महापुरुष भी चरित्रनिर्माता हुए हैं।

यहाँ चरित्रनिर्माणकी दिशामें तीन तत्त्वोंकी विशेष चर्चा हुई है—साहित्यके द्वारा, राजाओंके द्वारा और आचार्योंके द्वारा। पुरातन साहित्य एवं राजाओं और आचार्योंकी वातें आज भी पुस्तकोंमें देखी जा सकती हैं, पर उन्हें देखने-सुननेवालोंकी संख्या कम है और जो उन्हें देखते-सुनते हैं, उनपर भी कायापलङ् प्रभाव नहीं पड़ रहा है। यही हमारे समाजका दुर्भाग्य है, जो चारित्रिक हासका प्रमुख कारण है। इसका मूल कारण है, अपनी संस्कृतिमें हमारी श्रद्धाका अभाव। हम भारतीय होनेका, भारतीय संस्कृतिके अनुयायी होनेका अथवा हिन्दू होनेका दावा करते हैं, पर उन गुणोंको अपनानेको उद्यत नहीं है, जिनसे हमारी भारतीयता चित महिमा व्यक्त होती हो। हमारा सर्वोच्च गौरव आध्यात्मिक प्रवृत्तियोंमें था, जिन्हे छोड़कर हम आधिमौतिक प्रवृत्तियोंमें निमग्न हैं। अधिक स्पष्ट शब्दोंमें कहा जा सकता है कि आज हम तपोमय साधनासे प्राप्तव्य आनन्दानुभूतिको तिलाझलि देकर भौतिक पदार्थोंसे चिपटे हुए ऐन्द्रिय भोगविलासको चरम सत्य माने बैठे हैं। यही नहीं, प्रत्युत आजके साहित्य-स्थान कवि, मठाधीश, राजतन्त्रके मन्त्री—ये तीनों भी अपने जीवनकी छवि निरन्तर मलिन करते जा रहे

हैं। कविकी वाणीमें उपनिषदोका संदेश नहीं है, मठाधीशोंमें शंकरकी तेजस्विता और कर्मठता नहीं है और मन्त्री विलास-प्रवण मदमें उन्मत्त नहीं है तो भी चाणक्यका आदर्श उनमें नहीं है। उन्हे लोक-कल्याण और लोक-सेवाका पूर्ण ध्यान नहीं है। देशकी ऐसी दयनीय स्थिति, पता नहीं, क्वतक रहेगी? इसे बदलनेके लिये क्व क्या होगा? ऐसे अनेक प्रश्न विचारकोंके मनमें उठते हैं। वे समाजमें सर्वत्र चारित्रिक निर्माणकी प्रवृत्तियोंकी उपेक्षा और चारित्रिक हासका बोलबाला देखकर उत्साह खो बैठे हैं और मिल-जुलकर भी कोई सफल प्रयत्न इस राष्ट्रिय दारुण रोगको दूर करनेके लिये नहीं कर पा रहे हैं। परिणाम यह हो रहा है कि राष्ट्रको खोखलाकर देनेवाला यह रोग निरन्तर बढ़ता जा रहा है। इसके प्रतीकारके लिये कारगर उपायकी शीघ्र ही आवश्यकता है; अन्यथा चरित्र-निर्माता यदि ख्ययं अपने कर्तव्यका पालन नहीं कर रहे हैं, ख्ययं अन्वयत् गिरते जा रहे हैं या हाथपर हाथ धरे बैठे हैं तो क्या 'प्रकृति' उन्हें सदा-सदाके लिये इस प्रकार राष्ट्रको हासोन्मुख बनानेके लिये भस्तकपर धारण किये रहेगी? कदापि नहीं। गङ्गा और हिमालयके इस पावन प्रदेशमें पाश्चायिक प्रवृत्तियोंको बढ़ावा देनेवाले तथाकथित कवि, आचार्य और शासक सदा ही पनपते रहें, यह असम्भव है। अतः आवश्यकता है आज चरित्र-निर्माण करनेवाले साहित्यकी, सद्गुप्तेश और सात्त्विक जीवनादर्शकी और प्रजामें विनियोगान करनेवाले सत् शासनकी। इसके लिये प्रकृतिका नियोजन प्रयासके रूपमें सफल होकर रहेगा और लीलारूप भगवान् ख्ययं ही महामानव बनकर व्यक्तिके साथ ही समष्टिको भारतीय चारित्रिक अभ्युत्थानके लिये प्रेरित करेंगे—वह दिन दूर नहीं है।

चरित्रनिर्माण-सिद्धान्त और विनियोग

(लेखक—प्रो० श्रीइन्द्रदेवजी उपाध्याय, एम० ए० (हिन्दी, संस्कृत)

जीवनके समस्त गुणों, ऐश्वर्यों, अक्षय कीर्तिकलापों तथा सफलताकी आधारशिला चरित्र ही है। चरित्रकी सुगन्धसे ही जीवन-पुण्य अपना चतुर्दिंक् सौन्दर्य विद्येर कर सार्थक होता है। सच्चरित्र पुरुष विधाताकी वाटिकाके बैसे दिव्य पुण्य हैं, जिनकी सुगन्ध कभी कम नहीं होती। चरित्रवान् महापुरुष ऐसे अमर आकाश दीप है, जो कभी बुझते नहीं और जिनके अमित आलोकमें हम अपने जीवनके जलयानको ले जा सकते हैं। ‘चरित्र’ शब्द चर्-गतिभक्षणयोः—इस गति और भक्षणार्थक धातुसे निष्पन्न होता है। पर इस गति अर्थमें आचार्य पाणिनिने एक सूत्रद्वारा करण कारकमें ‘इत्र’ प्रत्यय जोड़कर चरित्र शब्दकी—चरति अनेन इति चारित्रम्—निष्पत्तिमें ऐसी विशिष्ट गति दी। इससे मानव विशेष गतिशील होता है। पर सामान्य चलना मात्र चरित्र नहीं है। जिससे मानव जीवनपथमें थककर बैठ नहीं गया, बल्कि अविराम गतिसे जीवनके उदात्त लक्ष्य मार्गपर गतिशील है और अन्य जीवोंको स्फूर्ति, प्रेरणा एवं नव-जीवन देता रहता है एवं जिस चरित्रसे परमात्माका संदेश अमर एवं शाश्रत बनकर संगीतज्ञोंकी वीणामें, महाकवियोंकी वाणीमें गूँजा करता है तथा कलाकारोंकी तूलिकामें सौरभ बनकर बस जाता है, वह चरित्र है। चरित्र या आचरणके विचारसे सम्पद् दो प्रकारकी होती है—एक दैवी और दूसरी आसुरी। गीता (१६ । ५) कहती है—

दैवी सम्पदविमोक्षाय निवन्ध्यायासुरी मता।

दैवी सम्पदद्वारा, जिसमें अभय, सत्त्व, संशुद्धि, ज्ञानयोग-व्यवस्थिति, दान, शम, दम आदिका समावेश है, मोक्षरूपी श्रेय प्राप्त होता है और आसुरी

सम्पदद्वारा, जिसमें दम्भ, दर्प, पाखण्ड इत्यादि सम्मिलित है, संसारका बन्धन होता है। इस आसुरी सम्पदमें सबसे अधिक अनिष्टकारक काम, क्रोध और लोभ हैं, जिन्हे नरकका द्वार कहा गया है। वस्तुतः चरित्र धर्मका ही वह मुख्य पहलू है, जिसमें विनयशीलना, क्षमा, निर्भयता, परोपकार और सहिष्णुता आदि दैवी सम्पद् समाविष्ट है। लोकमें इन्, कपट, चोरी, वैईमानी, विश्वासघात आदि दुर्वृत्तियोंको तिलझलि देकर स्वार्थत्यागपूर्वक निष्कामभावसे उत्तम ज्यवहार करनेवाला व्यक्ति ही चरित्रवान् कहलाता है और इसी आचरणसे व्यक्ति, समाज और विश्वका कल्याण होता है। धर्मकी उत्पत्ति उत्तम आचरणसे ही होती है। महाभारतमें बतलाया गया है कि—

सर्वागमानामाचारः प्रथमं परिकल्पते ।
आचारप्रभवो धर्मो धर्मस्य प्रभुरच्युतः ॥
(अनुगा० १४९ । १३७)

सब शास्त्रोंमें आचार प्रथम माना गया है। आचारसे ही धर्मकी उत्पत्ति होती है और धर्मके सामी भगवान् अच्युत हैं। सच्चरित्रासे ही मनुष्यको अतुल धनराशि, सुशील संतान एवं दीर्घायुकी प्राप्ति होती है। कहा गया है—

आचाराल्लभते ह्यायुः आचारादीप्सिताः प्रजाः ।
आचाराल्लभते ख्यातिं आचाराल्लभते धनम् ॥

मनुस्मृतिका कथन है—

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः ।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्वर्मस्य लक्षणम् ॥

यदि हम सच्चरित्र हैं, धर्मशील हैं तो समस्त विभूतियाँ, ऋद्धि-सिद्धि, सुख-सम्पत्ति अपने-आप हमारे चरणोंमें लोटने लगती हैं।

जिमि सरिता सागर महुँ जाही। जद्यपि ताहि कामना नाही॥
तिमि सुख संपति बिनहि बोलाए। धरम सील पहुँ जाहिं सुभाष॥
(रा० च० मा०)

यदि हमारा जीवन दुश्चरिताका आगार है तो हम समाजमे निन्दा और तिरस्कारके पात्र बन जाते हैं। अपने बल, बुद्धि और वैभवको अपने ही हाथों खो बैठते हैं। दुश्चरित मनुष्य अपने परिवार, समाज और देशके लिये अभिशाप सिद्ध होता है, जबकि सच्चरित वरदान। दुश्चरित काथर और कपटी पुरुषसे देश लज्जित होता है और सच्चरित बीर एवं संतोके पावन तथा प्रातःस्मरणीय चारु-चरित्रसे समाज और देश सुशोभित एवं गौरवान्वित होता है।

तीन सजावत देश को सती, संत और सूर।
तीन लजावत देश को कपटी, काथर, क्रूर॥

कविवर मैथिलीशरण गुप्तजीने सदाचारको ही स्वर्ग एवं मुक्तिका द्वार कहा है—‘सुनो, स्वर्ग क्या है ? सदाचार है। मनुज्यत्व ही मुक्तिका द्वार है।’ कहनेवालों की कमी नहीं है, कमी होती है कर्मकी पगड़ंडियोपर दो कदम बढ़नेवालोंकी। जिसने सिद्धान्तोंको जीवनमे उतारा है, सत्कर्मोंसे जीवनको सँचारा है, आदर्शोंको विनियोगका आश्राम देकर उन्नयनकी नयी भूमिका दी है, उसीका जीवन श्लाघ्य है, धन्य है। वचपनमे गुरु नानक प्रसुस्परणमें इतने लीन रहते कि खान-पानकी सुधि ही नहीं रहती थी। पिताने उनकी उपेक्षापर दुःख प्रकट कर खेतीकी ओर पग उठानेको कहा। इसपर नानकने कहा—मेरी खेती अलग है—मैंने शरीररूपी खेतमें सत्कर्मोंका हल चलाकर प्रसु-भजनके बीज बोये हैं। मैं उसमे साधु-संगतिका जल और संतोष-की खाद दे रहा हूँ। मुझे विश्वास है इस फसलसे मैं धन्य हो जाऊँगा।’ सच पूछिये तो सच्चरिताकी सीधीमे ही जीवनका आवदार मोती ढलता है।

गङ्गामे एक युवती डूब रही है। तटसे अनेक व्यक्ति बचानेके लिये चिल्हा रहे हैं। वहाँसे एक मौन व्यक्ति गङ्गामें कूटकर युवतीको बचाकर तटपर रख देता है और कर्तव्यपूर्तिका संतोष लेकर चुपचाप चल देता है। उसके इस मौन आचरणकी सम्मतामे, निष्कामकर्मके सौन्दर्यमे जो गरिमाकी सुगन्ध है, प्रभावकी मार्मिकता है, आकर्षणका जादू है, उदात्तताकी ज्योति एवं पवित्र भावका मोती है, उसपर कोई भी अभिभूत एवं सुगंध हो सकता है और वह इतिहासकी अनमोल धरोहर बनकर शताव्दियोतक जीवन्त रह सकता है।

मर्यादापुरुषोत्तम श्रीराम त्याग, बल्दिन और भ्रातृ-प्रेमके प्रतीक भरत, सेवा और प्रीतिके अनन्य आदर्श हनुमानका चरित्र हमारे लिये प्रेरणाके अजस्त्र स्रोत हैं। शिवाजी, महाराणाप्रतापकी चारित्रिक विशेषताओपर आज हिंदू जातिको गर्व है। लोकमान्यतिलक, महामना माल्यीयजी तथा राष्ट्रपिता वापू अपने चारित्रिक सौन्दर्य-के कारण ही आज भारतीय जनताके गलेके हार बने हुए हैं। सीता, साधिनी, अनसूया, लक्ष्मीवार्दि, जीजावाई आदि लीरनोंके उदात्त चरित्रोंसे भारतीय इतिहास जगमगा रहा है। जौहरके व्रतमें अपने धर्मकी रक्षाके लिये प्राणोंकी आहुति देनेवाली चित्तोङ्गदग्धकी पश्चिनी आदि क्षत्राणियोंके कीर्तिगानसे राजस्थानका कण-कण आज मुखरित हो रहा है। इतिहास उनकी गौरव-गाथाका ऋणी है।

पश्चिनी आदि रानियों जौहर-व्रतमें जलकर भस्म हो गयीं, किंतु वे रूपलंपट अलाउद्दीनके स्पर्शसे अपनी भस्मको भी अपवित्र करना नहीं चाहती थीं। इसीलिये वायु देवतासे उन्होंने प्रार्थना की कि हे वायुदेव ! मेरी राख पृथ्वीसे आकाशमे उड़ा दो जिससे पातकी शरीर तो नहीं ही छू सका, राखको भी न छू सके और ब्रह्मासे जाकर कह दो कि यदि किसी नारीको रूप दो तो शक्ति भी दो और पति मिले तो पति के चरणोंमे अदूर भावभक्ति दो—

पातकी रज दू न पावे, नभ हिले मेरे निधन पर
और विधि से कह तू जाकर रुप दे तो भक्ति भी दे ।
पति भिले तो पतिचरण में भाव भी दे, भक्ति भी दे ॥

आज व्यक्ति, समाज, दंशा तथा विश्व अस्त-न्यस्त एवं सन्त्रस्त है। सर्वत्र मानवीय मूल्योंका विवरण हो रहा है। चारों तरफ अशान्ति, विद्वेष, शोपण, बलात्कार एवं अनैतिकताका बाजार गम है। विद्याके पावन मन्दिर भ्रष्टाचारके शिकार हो रहे हैं। आस्थाकी देव-डेहलीपर अनास्थाके साँप फुफकार रहे हैं। इसका मूल कारण चरित्रका हास है। जबतक धर्ममूलक चरित्रका हृदयमें निवास नहीं होगा, तबतक विश्वमें सुख, शान्ति और एकताकी स्थापना नहीं होगी। किसीने ठीक ही कहा है कि 'हृदयमें धर्मका निवास होनेसे चरित्रमें सौन्दर्यका वास होगा। चरित्रमें सौन्दर्यका वास होनेसे गृहमें सामझस्यका विस्तार होगा। गृहमें सामझस्यका विस्तार होनेसे राष्ट्रमें एकताका प्रसार होगा। राष्ट्रमें एकताका

प्रसार होनेसे विश्वमें आन्तिका संचार होगा।' हमारी भारतीय रास्तृति सदैव चरित्रप्रवान रही है। भारतके अप्र-जन्माओंसे विश्वभरके लोग चरित्रकी शिक्षा लेते रहे हैं—

एतद्देशप्रसूतम् सकाशाद्यजन्मनः ।
स्वं स्वं चरितं शिक्षेन पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥
(मनुरमृति ३ । २०)

किंतु आज दुःखके साथ कहना पड़ता है कि पश्चिमकी भोग-प्रवान भौतिकताएँ संस्कृति हमारी भारतीय संस्कृतिपर इस तरह हावी हो गयी हैं कि हम भौतिक सुख-समृद्धिके लिये पागल-से हो गये हैं और चरित्रको खोकर निरन्तर विनाशकी ओर अप्रसर हो रहे हैं। अतः आज सचित्र जननेके लिये सुशिक्षा, सुसंगति और सद्गुरुन्योका साध्याय नितान्त अवश्यक है। यदि आजसे हम भारतीय, महापुरुषोंके आदर्दा चरित्रको जीवनमें उतारें तो हमें विश्वास है कि चारित्रिक मंगल-प्रभातकी स्वर्णिम विरणोंसे जीवन आलोकमय हो उठेगा और जीवनका प्रधान लक्ष्य श्रेयकी प्राप्ति अवश्य हो सकेगी।

मनोवैज्ञानिक हाइसे चरित्रका निर्माण और विकास

(लेखक—डॉ० श्रीरामचरणजी महेन्द्र एम० ए०, पी-एच० डी०)

आधुनिक मनोविज्ञानके अनुसंधानने मानव-चरित्र-निर्माण और विकासके क्षेत्रमें एक अभिनव क्रान्ति उत्पन्न कर दी है। एक युग था, जब लोग मनोविज्ञानके सूक्ष्मक्षेत्रसे परिचित न थे। मानव-चरित्र और मनुष्यकी मूल-प्रवृत्तियोंके सिद्धान्त—रूप-परिवर्तन, संवेग (Emotion) एवं स्थायीभाव-(Sentiment)का स्वरूप, विशेषताएँ और महत्व, सामान्य प्रवृत्तियोंका अर्थ और प्रकार अभिवृद्धि तथा विकासकी प्रक्रिया, मस्तिष्कके विकासकी मुख्य अवस्थाएँ और नाना पहलू—शैशवावस्था, बाल्यावस्था और किशोरावस्थामें होनेवाले निर्माण और विकाससे परिचित नहीं थे। पर आजके वैज्ञानिक युगमें मनोविज्ञानकी शिक्षण-पद्धतिने बालकोंके

चारित्रिक विकासके क्षेत्रमें नये भित्तिज सर्वश किये हैं। मनोवैज्ञानिकोंने धताया है कि मानव-चारित्रिक पहला आधार वंशानुक्रम एवं वातावरण है।

बुद्धवर्थ नामक मनोविज्ञानवेत्ताका मत है कि मनुष्य
अपने वंशानुक्रम और वातावरणकी उपज है। यह
वंशानुक्रम क्या है—इसकी व्याख्या करते हुए उन्होंने
कहा है कि बालकको अपने माता-पिता और पूर्वजोंसे
अनेक शारीरिक और मानसिक गुण जन्मसे ही प्राप्त होते
हैं, जिन्हें हम ‘संस्कार’ कह सकते हैं। वंशानुक्रममें
वे सभी संस्कार आ जाते हैं, जो जीवनके आरम्भ
करते समय ही नहीं, वरन् गर्भाधानके समय—जन्मसे
लगभग नौ माह पूर्व—व्यक्तिमें उपस्थित थे। डगलस

और हालैण्ड आदि विचारकोंने इस मतमे और परिष्कार किया और बताया कि वंशानुक्रममे वे सभी शारीरिक विशेषताएँ या क्षमताएँ सम्प्रिलित हैं, जिनको मनुष्य न केवल अपने पूर्वजोंसे प्राप्त करता है, बल्कि अपनी जाति-प्रजाति-(Species) से भी प्राप्त करता है। हम जिस प्रजाति, नस्ल या प्रान्तके हैं, उसका भी प्रभाव हमारे चरित्रपर रहता है। उपर्युक्त सभी तत्वोंका सामूहिक फल हमारा चरित्र होता है।

आधुनिक वैज्ञानिकोंने वंशानुक्रमके सम्बन्धमें नयी-नयी खोजे की हैं। वे बतलाते हैं कि मानव-शरीर सूक्ष्म कोशों-(cells) का योग है। पिनकोश और मातृकोश नामक दो उत्पादक कोशोंसे एक संयुक्त कोश बनता है। पुरुष और लड़के प्रत्येक कोशमें २३-२३ गुणसूत्र होते हैं। इस प्रकार संयुक्त कोशमें ४६ गुणसूत्र होते हैं। हमारे गुण, अवगुण, परम्पराएँ तथा विशेषताएँ इन गुणसूत्रोंमें निहित हैं। 'हिन्दुस्तान टाइम्स'के अक्टूबर १९७४ के अङ्कमें नोबुल पुरस्कारविजेता डॉ० हरगोविन्द खुरानाके अनुसंधानके आधारपर की हुई निम्न घोषणाको देखिये कि भविष्यमें वंशानुक्रमकी क्रियामें क्या-क्या परिवर्तन किया जा सकता है—'निकट भविष्यमें एक प्रकारके पित्र्यैकको दूसरे प्रकारके पित्र्यैकसे आनापन्न करना ओषधि-शाखके क्षेत्रमें अत्यन्त सामान्य कार्य हो जायगा। इस प्रयोगके द्वारा भावी संतानकी मधुमेहके समान दुःसाध्य रोगोंसे रक्षा की जा सकेगी। वेल्समैनके अनुसार जो बीजकोश वालकोंको अपने माता-पितासे मिलता है, उसे वह अगली पीढ़ीको हस्तान्तरित कर देता है। इस सिद्धान्तके अनुसार माता-पिता वालको जन्मदाता न होकर केवल बीज-कोशके संरक्षक माने जा सकते हैं। यह सिद्धान्त

वंशानुक्रमकी सम्पूर्ण प्रक्रियाकी व्याख्या नहीं करता। वंशानुक्रमकी समानताके नियमके अनुसार जैसे माता-पिता होते हैं, वैसी ही उनकी संतान होती है। कुछ वालक माता-पिताके विलक्षुल समान न होकर कुछ विभिन्नता लिये हुए होते हैं। इस विभिन्नताके कारण माता-पिता तथा उनके पूर्वजोंके उत्पादक कोशोंकी विशिष्टताएँ हैं। प्रत्यागमन (Law of aggression) सिद्धान्तके अनुसार वालकमें कभी-कभी अपने माता-पितासे विभिन्न गुण भी पाये जाते हैं। प्रकृति विशिष्ट गुणोंके बजाय सामान्य गुणोंका अविक वितरण करती है और इस प्रकार एक जातिके प्राणियोंको एक ही स्तरपर रखनेका प्रयास करती है। यही कारण है कि प्रायः बड़े व्यक्तियोंके बच्चे साधारण या निम्न कोटिके रह जाते हैं।

व्यक्तियोद्धारा अर्जित गुण (Special talents)
साधारणतः: उनकी सब संतानोंमें नहीं पाये जाते। बुद्धिमत्तेने लिखा है कि 'वंशानुक्रमकी प्रक्रियाके अपने आधुनिक ज्ञानसे सम्पन्न होनेपर यह बात प्रायः असम्भव जान पड़ती है कि महान् पुरुषोंके अर्जित गुणोंको संक्रमित किया जा सके।' मैडलके सिद्धान्तके अनुसार वर्णसंकर प्राणी या वस्तुएँ अपने मौलिक या सामान्य रूपकी ओर अप्रसर होती हैं। पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकोंने वंशानुक्रमके महत्वको स्पष्ट करते हुए कुछ सूत्र बताया है कि १—वालककी मूलशक्तियोंका प्रधान कारण वंशानुक्रम है (The midike), २—माता-पिताकी शारीरिक बनावट, लम्बाई या मोटाई माता-पिताके अनुसार होती है (Karl pearson), ३—बुद्धिकी श्रेष्ठताका कारण प्रजाति है (Klindcy), ४—आवसायिक योग्यताका मुख्य कारण वंशानुक्रम है (Cattcel), ५—गुणवान् और प्रतिष्ठित माता-पिताकी सन्नान प्रनिष्ठा

I-When the hybrids to comeform their own sperms (male) or egg-cells (female), they produce pure parental types with dominant characters (Mendelism).

प्राप्त करती है—(Winship) ६—चरित्रहीन माता-पिताकी सन्तान अपराधी होती है—(Dugdale) ७—महानताका कारण उसका वंशानुक्रम होता है—(Gal'oni) ८—मन्दवृद्धि माता-पिताकी सन्तान मन्दवृद्धि और कुशाग्र-बुद्धिवाले माता-पिताकी सन्तान तीव्रबुद्धिवाली होती है (Goddar) इन निष्कर्षोंसे, स्पष्ट हो जाता है कि बालकपर वंशानुक्रमका बहुत प्रभाव रहता है ।

लेकिन वंशानुक्रमसे भी अधिक प्रभाव वातावरण—(Environment) का है । व्यक्तिके चारों ओर जो कुछ है, वह उसके चरित्रको प्रभावित करता है । प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक डगलस व हॉलेण्डके मतानुसार ‘वातावरण’ शब्दका प्रयोग उन सब बाह्य शक्तियों, प्रभावों और दशाओंका सामूहिक रूपसे वर्णन करनेके लिये किया जाता है, जो जीवित प्राणियोंके जीवन, स्वभाव, व्यवहार, बुद्धि-विकास और परिपक्वता पर प्रभाव डालते हैं । भौगोलिक कारणोंसे शारीरिक बनावट प्रभावित होती है । उत्तम, सामाजिक और सांस्कृतिक वातावरण न मिलनेपर मानसिक विकासकी गति धीमी हो जाती है (Gordon) । कुछ ऐसी प्रजातियों हैं जो अपने स्वस्थ वातावरणके कारण वौद्धिक श्रेष्ठता प्राप्त कर रही हैं । कलार्क नामक मनोवैज्ञानिकका मत है कि उत्तम शैक्षिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और सामाजिक वातावरण मिलनेसे बुद्धि तीव्र बनती है । अमेरिकाकी द्वेत प्रजातिको ऐसा ही उपयोगी वातावरण मिला है । प्राय. देखा जाता है कि सुनिवा-सम्बन्ध और धनि-वर्ग अपने साधनोंके बलपर उत्तम वातावरण उपस्थित कर सावारण कोटिके बालकोंकी भी बुद्धि विकसित कर लेने हैं । उत्तम वातावरणसे उत्तम चरित्रके विकासमे बहुत सहयता मिलती है । निष्कर्षके रूपमें हम स्टीफेनका (Stephen's) मत उद्भृत कर सकते हैं । वे कहते हैं—‘एक वच्चा जितना अधिक समय उत्तम वाता-

वरणमें रहता है, उतना ही अधिक चरित्रका विकास करनेमे समर्थ होता है । यदि वच्चा चतुर माता-पिताके साथ अधिक रहता है, तो वह समर्कसे उतना ही चतुर बनता जाता है । जितने समय वह हानिकारक वातावरणमें रहता है (जैसे गन्दे मित्र, गन्दी वस्ती, अश्लील साहित्य, कामुकताकी बृद्धि करने-वाले चित्र, पुस्तके, फ़िल्म, पोस्टर, दूषित गोष्टी इत्यादिमें) वह प्रायः उतना ही गिरता जाता है । वंशानुक्रम तथा वातावरणके अतिरिक्त मनुष्यका चरित्र जैविक विरासत और सामाजिक संस्थाओं—(जैसे—परिवार, मुहल्ला, नगर, प्रदेश)के एकीकरणकी उपज है ।

चरित्रके सही विकासके लिये उत्तम वातावरणका निर्माण हमारे हाथमें है । प्रत्येक माता-पिता, अध्यापक, और जिम्मेदार नागरिक खस्थ वातावरण-निर्माणकी दिशामे बहुत कुछ योगदान दे सकता है । परिवार, पड़ोस, मित्र, सलाहकार, खेलका मैदान, पुस्तकालय, स्कूल, कालेज, उत्कृष्ट वातावरणसे बुद्धि-विकास और ज्ञानबृद्धि कर सकते हैं । यूनेस्कोके विशेषज्ञोंका यह मत विचारणीय है कि ‘वातावरणका बालकोंकी भावनाओंपर व्यापक प्रभाव पड़ता है और उससे चरित्रका निर्माण होता है ।’ हमें ऐसे खस्थ, सन्तुलित और उत्कृष्ट वातावरणका निर्माण करना चाहिये, जिससे उसकी सही भावनाओंका भी विकास होता रहे । हम ऐसे उत्तम वातावरण बनानेकी कोशिश करें, जिसमें बालकोंके उत्तम विचारोंकी अभिव्यक्ति, शिष्ट सामाजिक व्यवहार, कर्तव्यों और अधिकारोंका ज्ञान और प्रवृत्तियोंका सही दिशाओंमें विकास हो ।

१—आत्म-नियंत्रण, २—विश्वसनीयता, ३—कार्यमै दृढ़ता, ४—कर्मनिष्ठा, ५—अन्तःकरणकी शुद्धता और ६—उत्तरदायित्वकी भावना—उत्तम चरित्रके गुण हैं । हमें चाहिये कि अपनी मूल प्रवृत्तियोंको खस्थ दिशाओंमें

विकसित करे। सबेगोंको गुणोंमें परिवर्तित करे, अच्छी आदतेविकसित करे। आत्म-सम्मानका भाव बढ़ाएँ। Ross (रोस) नामक विद्वान्‌के अनुसार 'जब आत्म-सम्मान नष्ट हो जाता है, तब चरित्र छिन्न-भिन्न हो जाता है।' आत्म-सम्मानका पुनर्निर्माण ही चरित्रका सवारना है। हमें अच्छे कार्योंको करनेमें आनन्दकी अनुभूति हो, इच्छाशक्ति दृढ़ बनती चले। डम्बीली नामक विद्वान्‌के अनुसार इच्छाशक्ति हमारे चरित्रका सबसे महत्वपूर्ण अङ्ग है। हम स्वयं प्रसन्नचित रहे और आशावादी दृष्टिकोणसे कार्यमें प्रवृत्त हो। हम जिन लोगोंके सम्पर्कमें आवे, वे ऊँचे चरित्रवाले हो; क्योंकि दूसरोंके सम्पर्कमें आनेसे चरित्रका विकास होता है।

चरित्र-विकासमें धार्मिक शिक्षाका स्थान सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। आजके मौतिक युगमें हमारा राष्ट्रिय चरित्र धर्मोपेक्षासे कमज़ोर होता जा रहा है। हमारे देशमें धार्मिक शिक्षाका अभाव है। वच्चोमें दिव्य संस्कार जागृत करनेके लिये नैतिक आदर्श वार-वार उनके सामने प्रस्तुत करनेकी आवश्यकता है। उत्तम चरित्रवाले देशप्रेमी, वैज्ञानिक, विचारक, लेखक, कलाकार, विद्वान्, समाजसुधारक, रचनात्मक कार्यकर्ता, उद्योगपति, कृषक, शोधकर्ता आदि सभी क्षेत्रोंमें आदर्श चरित्रोंको आकर्षक ढंगसे पेश करे तो नवी पीढ़ीका ध्यान स्वस्थ दिशाओंकी ओर आकृष्ट किया जा सकता है और उस आदर्श पर चलकर बालक चरित्रशील बन सकते हैं।

महापुरुषोंके पत्रोंसे चरित्र-निर्माण

(लेखक—डॉ० श्रीकमल पुजारी, एम० ए०, पी-एच० डी०)

महापुरुषोंके पत्र बड़े ही मनोरञ्जक एवं उत्प्रेरक होते हैं। विद्वमें अनेक महान् लेखक हुए हैं, जिनके पत्र उनके साहित्यसे कम रोचक या महत्वपूर्ण नहीं हैं। जिस प्रकार महापुरुषोंके जीवन-चरितके अध्ययनसे हमें समुन्नत जीवनकी प्रेरणा मिलती है,^१ उसी प्रकार उनके पत्रोंको पढ़नेसे भी हमें महती प्रेरणा प्राप्त होती है। जब हम महान् व्यक्तिके तिथिकमसे संकलित पत्रोंको पढ़ने बैठते हैं तो हमें ऐसा लगता है कि हम उनका जीवन-चरित ही पढ़ रहे हैं। अमेरिकाके प्रेसीडेण्ट खर्गीय रुजवेल्टके पत्र 'Roosevelt's Letters' एक प्रकारसे उनकी जीवनी ही है।^२ महापुरुषोंके जीवन-चरितके लेखनमें उनके पत्रोंका बहुत बड़ा महत्व है। महामहोपाध्याय पण्डित गोपीनाथ कविराजकी जीवनीके

लेखक डॉ० भगवतीप्रसाद सिंहने अपने ग्रंथमें कविराज-द्वारा लिखित और प्राप्त पत्रोंके लिये 'पत्रालोक' शीर्षक एक स्वतन्त्र अध्याय रखा है। इस अध्यायके आरम्भमें उन्होंने कहा है—

जीवनकी अन्तर्वारओंके संधानमें पत्रोंका महत्व निर्विवाद है। इनसे व्यक्तिके मानसकी उन सूक्ष्मतम प्रवृत्तियोंके अनुचिह्नोंका पता लगता है जो जीवन-निर्माणके अन्य उपकरणोंसे सामान्यतया लक्षित नहीं किये जा सकते।^३ युगविधायक महापुरुषों एवं साहित्यकारोंकी पत्र-मैत्री हमारे सम्मुख विश्व-मैत्रीका आदर्श उपस्थित करती है। मार्क्स और एन्जिल्सका पत्र-व्यवहार विश्व-इतिहासमें सुप्रसिद्ध है। गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर-द्वारा दीनबन्धु एण्ड्रूजको लन्दनसे लिखे गये पत्र—'Letters to a

1-Lives of great men all remain us We can make our lives sublime,
And departing, leave behind us footprints on the sand of time

--Longfellow

2—हिंदी साहित्यमें जीवनचरितका विकास डॉ० चन्द्रावतीसिंह पृ० २१।

3—डॉ० भगवती सिंह—मनीषीकी लोकयात्रा, पृ० २२९।

Friend' शीर्पकर्त्ते पुस्तकके रूपमें प्रकाशित हुए हैं। विश्वविद्यालय मानवतावादी खसी साहित्यकार लियो-टाल्सग्रामद्वारा सन् १८८७ ई० में फ्रांसीसी नवयुवक रोमॉ रोलॉको जो पत्र लिखा गया था, वह सांस्कृतिक विचारोंसे ओत-प्रोत था। उस पत्रने युवक रोमॉ रोलॉकी जीवनधारा ही बढ़ा दी। इस सम्बन्धमें पं० वनारसीदास चतुर्वेदीने लिखा है—

“लियो टाल्सटायकी ‘What is to be done?’ पुस्तक पढ़कर युवक रोमॉ रोलॉकी मानसिक स्थिति डॉवाडोल हो गयी थी। वह टाल्सटायको अपना आदर्श मानता था। उसने टाल्सटायको पत्र लिखा, कुछ दिनोंतक उत्तरकी प्रतीक्षा भी की और फिर इस ब्रतको भूल ही गया। उसे इस बातकी विलकृत आशा नहीं थी कि टाल्सटाय-जैसा महान् लेखक उस-जैसे मामूली युवकके पत्रका उत्तर देगा। किंतु एक दिन शामके समय वह अपने कमरेमें लौटा, तो देखता क्या है कि कहींसे फ्रांसीसी भाषामें एक लम्बी चिट्ठी आयी पड़ी है। उसको खोलनेपर मालूम हुआ कि यह तो टाल्सटायका पत्र है। वह पत्र ३८ पृष्ठोंका था, या यो कहिये कि एक छोटा-सा ट्रैक्ट ही था। उस अपरिचित साधारण युवकको टाल्सटायने ‘प्रिय बन्धु’ लिखा था। पत्रके प्रारम्भिक शब्द थे—‘तुम्हारी पहली चिट्ठी मुझे मिली। उससे मेरा हृदय द्रवित हो गया। पढ़ते-पढ़ते औखोंमें आँसू आ गये।’

इस पत्रने युवक रोमॉ रोलॉके हृदयपर बड़ा भारी प्रभाव डाला। सबसे महत्त्वपूर्ण बात उसे यह ज़ेची कि इस विश्वविद्यालय महापुरुषने मेरे-जैसे एक अपरिचित युवकको इतनी लम्बी और सहदृष्टापूर्ण चिट्ठी भेजी। और, तबसे उस युवकने यह निश्चित किया कि यदि

कोई आदमी संकटके समयमें अन्तरात्मासे कोई पत्र भेजेगा तो मैं अवश्य ही उसका उत्तर दूँगा; क्योंकि संकटप्रस्त मनुष्यकी सेवा ही कलाकारका सर्वोत्तम गुण है। उस नवयुवकने आगे चलकर विश्व-साहित्यमें अपना एक विशेष स्थान बना लिया और अनेक अमर प्रथोंकी रचना की। उसके ग्रंथोंके समान उसके पत्रोंका भी महत्त्व है जिनके द्वारा उसने असंख्य दुःखितोंके हृदयको सात्त्वना प्रदान की है। टाल्सटायकी उस एक चिट्ठीने जो बीज बोया था, वह बटवृक्षके रूपमें पल्लवित हुआ।”

महान् शब्दमर्मी और भारतीय संस्कृतिके अन्यतम व्याख्याता डा० वासुदेवशरण अग्रवालके पत्रोंके विषयमें पं० वनारसीदास चतुर्वेदीने कहा है—‘जिस दिन स्थष्ट अभरोंमें लिखा गया उनका विस्तृत पत्र आता था, उस दिन मानो सात्यिक, मानसिक भोजन हो जाता था और मैं अपने साथियोंके साथ उस पत्रका उपभोग करता था।’ माननीय श्रीनिवास शास्त्री भारतके सर्वश्रेष्ठ पत्र-लेखक थे। उनके द्वारा अग्रेजीमें लिखे गये पत्रोंका सम्पादन श्रीय० एन० जगदीशने किया है। पत्र-संग्रह-की भूमिकामें सम्पादकने लिखा है—Mr. Sastri is a master in the art of letter-writing. His friends know that even a post-card with a few lines from his pen is a thing of beauty and a joy ever.

महात्मा गांधीके पत्र भी अन्यन्त मननीय एवं मूल्यवान् हैं। आचार्य काका कालेलकरने वजाज-परिवारके नाम लिखे गये महात्माजीके पत्रोंको ‘संत-संवाद’की संज्ञा दी है। इसी प्रकार ‘ब्राह्मके पत्र-कुमारी प्रभा वहन कंठकके नाम’ शीर्पक पत्र-संग्रहकी भूमिकामें उन्होंने लोकोत्तर साधकोंके पत्र-पठनको ‘तीर्थ-स्तान’

४—पत्र लेखन कला, पृ० ११६, ५—स्वर्णीय वासुदेवशरण अग्रवालके पत्र (लेख), सम्मेलनपत्रिका भाग ५२, सं० ३-४, पृ० ३०, ६—Letters of Srinivasa Sastri, Preface, P. viii

७—ब्राह्मके पत्र—वजाज-परिवारके नाम सम्पादकीय, पृ० ८।

जैसा पुण्य कार्य माना है । ब्रह्मलीन परमश्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाकी 'परमार्थ-पत्रावली' से जिज्ञासुओंकी परमार्थविषयक रुचि एव सत्सङ्ग-प्रेमको बढाने तथा आन्तरिक जिज्ञासाकी पूर्ति करनेमें अभूतपूर्व सहायता मिलती है ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि महापुरुषोंके पत्र उनके चरित्रके निर्मल दर्पण होते हैं, अतएव महत्-विभूतियोंके जीवन-चरित्रके समान ही उनके पत्र-संग्रहके स्वाध्यायसे भी हमें चरित्र-निर्माणकी प्रेरणा मिलती है ।



चरित्र-निर्माणमें सत्सङ्गका योगदान

(लेखक—डॉ० धनवतीजी मिश्र)

सुचारित्र्यके दो सशक्त स्तम्भ हैं—प्रथम सुसंस्कार, द्वितीय सत्संगति । सुसंस्कार भी पूर्व जीवनकी सत्सङ्गति, सत्कर्मोंका अर्जित सम्पत्ति है और सत्संगति वर्तमान जीवनकी दुर्लभ विभूति है । इसीलिये तो भक्त तुलसीने आधी-से-आधी घड़ीके सत्सानिध्यमें भी कोटि-कोटि अपराधोंके क्षयकी क्षमता सिद्ध की है । और कवीर तो कुछ और आगे आकर समझा गये कि—

कवीरा सगति साधुकी, ज्यों गंधीकी वास ।
जो कहुं गंधी दे नहीं, तो भी वास सुवास ॥

न कुछ लेना, न देना, फिर भी वातावरण महक गया—यह है सत्संगतिकी देन । जहाँतक चरित्र-निर्माणका प्रश्न है, वहाँ तो सत्संगतिका योग-दान अपूर्व है, अनुपम है । गोसामीजीने कहा है—

सठ सुधरहिं सत्संगति पाई । पारस परस कुधात सुहाई ॥

जिस प्रकार कुवातुकी कठोरता और कालिख पारसके स्पर्शमात्रसे कोमलता और कमनीय रंगमें बदल जाती है, ठीक उसी प्रकार कुमार्गीका कालुष्य क्षणमात्रके सत्संगमे स्वर्णिम आभासे परिपावन हो उठता है । कथनकी पुष्टिमें उदाहरणोंकी कमी नहीं है । रत्नाकर महाकवि वाल्मीकि कैसे बने ? कूरकर्मा अङ्गुलिमालका हृदय-परिवर्तन कैसे हुआ ?—वस क्षणमात्रकी सत्संगतिसे । सत्संगतिमें वह शक्ति है, जो मानव-चरित्रको आमूल-

चूल बदल देती है । सतत सत्संगसे विचारोंको नयी दिशा मिलती है और अच्छे विचार ही अच्छे कार्योंको करनेमें समर्प होते हैं । एक अनुभव स्थयं लीजिये, किसी पुष्ट-वाचिकाके पाससे निकल जाइये, मन क्रितनी देर महकेगा, यह बात सभी स्वीकार करेगे । भक्त कवि सूरदासकी अनुभूति है—

जा दिन संत पाहुने आवत ।

तीरथ कोटि समान करे फल, जैसो दरसन पावत ।

सत्सगमात्रसे करोडो तीर्थोंमें स्नानका फल प्राप्त हो जाता है और शरीरके पाप दूर हो जाते हैं ।

दूर क्यों जायँ, अपने राष्ट्रपिताका ही उदाहरण लीजिये । अपनी आत्मकथामें उन्होंने कुसंगतिके अपने दोपो और दुर्व्रलताओपर विजय पानेका श्रेय जिसे दिया है, वह है 'श्रवणकुमार' और 'सत्यहरिश्चन्द्र' नाटकका प्रभाव । यद्यपि सात्त्विक संस्कारोंके बे धनी थे फिर भी कुसंगतिने उन्हे दुर्वल कर दिया था । सत्संगतिका चमक्कार देखिये, बालकपर सत्य और सेवाका वह प्रभाव पड़ा कि आगे चलकर वह 'महात्मा' ही नहीं, जन-जनका प्रिय 'बापू' हो गया । मानव दुर्वल प्राणी है, साथ ही वह अनेक प्रच्छन्न विभूतियोंका भण्डार भी है । कुसङ्गमें वह गिर जाता है और सुसङ्गमें ऊँचा उठ जाता है; देखिये—

जाडयं धियो हरति सिञ्चनि याचि मन्यम्,
मानोनांति दिशनि पापमपाकरोनि ।
चेतः प्रसाद्यनि दिशु तनोनि कीर्तिम्,
सत्त्वंगनिः कथय किं न करोति पुंसाम् ॥

सत्संग मानवको ऊँचा उदा देता है, उसके चरित्रमें परिवर्तन कर उसे यशस्वी बना देता है । सन्नद्धसे वौध होता है, विवेक जागता है । सन्सर्गके बिना चरित्र-गठन सर्वथा असंभव है—बिनु सत्त्वंग विवेक न होइ । मनुष्य ही क्या, पशु-पक्षियोके उदाहरण भी कम नहीं हैं—काक होहिं पिक बकउ मराला । महोदर युकोंमें, एक ऋषि-परिवारमें पलकर सुभाषाभाषी हो जाता है और दूसरा कुपयगामियोके यहों बढ़कर, कटु-कर्कश-कुवचनबाची । गोखामीजी कहते हैं—

माधु अमाधु सदन सुक यार्दि । मुमिरहि राम देहि गनि गार्दि ॥

डॉ० हजारीप्रमाण विवेदीने कहा है—“मद्याकमि द्रेगोरके पास वैद्यनेमात्रमें ऐसा प्रतीत होता था, मानो भीतरका दंतता जाग गया हो ।”

कारण, भीतरकी मानदलता चरित्रमें है । चरित्रान् व्यक्ति गमाजकी थोग है, अकिं है । मुचागित्यसे व्यक्ति ही नहीं, समाज भी सुवासिन होता है और यह सुवास जहांने मिलती है उसका एक औंत मनद भी है । सन्सद् चरित्र-निर्माणमें अद्भुत योगदान काता है । गोत्सामीजीका दृढ़ विश्वास है—

सति क्षीरनि गनि भूति भन्नाहु । जब जैर्दि जनन जांते देहि पाहु ॥

सो जानव सत्त्वंग प्रभाक । औकंदु यैद न आन टपाऊ ॥

समंगतिमें सदृश्यवदाकी प्रेरणा मिलती है । सदृश्यवदाका जीवनमें उत्तर आना ही सच्चरित्र है । अनं निश्चित है कि सन्संगतिमें चरित्र-निर्माण होता है ।

वैदिक वाङ्घयमें इन्द्रका चरित्र

(लेखक—श्रीप्रशान्तकुमारजी रस्तोगी, प्रमा० ५०)

वेदोमें लगभग ३३ करोड देवी-देवताओंकी अभिव्यक्ति की गयी है । उन देवताओंको तीन वर्गोंमें विभक्त किया गया है—१—द्युस्थानीय (आकाशवासी) देवता, २—अन्तरिक्ष (मध्य) स्थानीय दंतता तथा ३—पृथिवीस्थानीय देवता ।

इनमें अन्तरिक्षस्थानीय देवताओंमें ‘इन्द्र’का नाम विशेषरूपसे उल्लेखनीय है । भारतीय आयोंके सर्वाधिक प्रिय वैटिक देवता ‘इन्द्र’की स्तुतिमें ऋग्वेदमें लगभग २५० सूक्त कहे गये हैं तथा आंशिक स्तुतिके सूक्तोंको मिलानेपर इनकी संख्या लगभग ३०० तक पहुँचती है । अतः वेदोंके सर्वाधिक स्तोत्रव्य इन्द्र देवके चरित्रका अध्ययन करना आवश्यक दीखता है ।

१—ऋग्वेद २ । २० । ७, २—वही ६ । २१ । ४, २ । १२ । ४, ६—१ । १७८ । ३, ७—अर्वव्येद १९ । १३ । ८, ८—तेत्तिरीयवाण २ । ४ । ३, ९—वही ९ । ७ । १, १०—शतपथब्रा० ११ । ८ । ३ । १२, नक्षिरीयव्रा० २ । ५ । ७ । ४, मैकडानल-वैदिक माडथालोजी, ५३-६३,

इन्द्र शत्रुसंहारक स्पूमें—ऋग्वेदमें इन्द्रको वृत्रासुरका विनाशक, शत्रुपुरीका विव्यंसक^१, शम्वर नामक दैत्यके पुरांका नाश करनेवाला^२, गयियोंमें सर्वव्रेष्ट, वाजिपतियोंका न्यामी^३, दुष्ट-दलनकर्ता^४, शत्रुओंको पर्वतकी गुफाओंमें घेडनेवाला^५ तथा वीरोंके साथ युद्धमें विजयी बनलाया गया है । वहों ऐसा भी उल्लेख है कि इन्द्र मात्र अपने आयुध बज्रसे ही सम्पूर्ण शत्रुओंको पराजित करनेकी अद्भुत क्षमता रखते हैं । परंतु अथर्ववेदके एक स्थानपर बज्रके आयुध स्थानपर हाथोंमें वाण एवं तरकस लेकर उनके युद्ध करनेका उल्लेख भी मिलता है । त्रायणग्रन्थोंमें इन्द्रको वृत्रासुर नामक दैत्यका नाश करनेवाला^६, नमुचि नामक दैत्यका संहार करनेवाला^७, महान् वलवान्^८ तथा देवताओंमें अत्यन्त बलशाली

कहा गया है ।^{१७} उपनिषदोंमें इन्हे त्वष्टके पुत्र विश्वरूपका, जिसके तीन मस्तक थे, बज्रद्वारा सहार करनेवाला कहा गया है । इन्द्रने आश्रमोचित आचरणसे भ्रष्ट अनेक संन्यासियोंके अङ्ग-भङ्ग कर उनके ठुकडे शृगालोको वॉट दिये थे । उन्हे प्रह्लादके परिचारक दैत्योंको मौतके धाट उतारनेवाला भी कहा गया है । इसी प्रकार इन्हे पुलोमासुरके परिचायक दानवों तथा पृथ्वीपर रहनेवाले काल्काश्य नामक दैत्यका संहार करनेवाला भी कहा गया है ।^{१८}

इस प्रकार वैदिकवाडमयमें—ऋग्वेदसे उपनिषद्-तक इन्द्रका एक महान् शत्रुसंहारकके रूपमें विश्व वर्णन मिलता है । आभिचारिक पूजन-हेतु इन्द्रकी प्रतिमाका निर्माण भी होता था । युद्धके देवताके रूपमें, शत्रुको पराजित करनेवाले स्वरूपको व्यक्ति पूजते थे तथा कामना करते थे कि इन्द्र उन्हे उनके शत्रुओंके विरुद्ध युद्धमें विजय प्राप्त कराते । वैदिकसाहित्यमें इन्द्रकी राष्ट्रिय देवता या युद्धके देवताके रूपमें ख्याति-सतत वर्णी हुई देखी जा सकती है ।

इन्द्र महान् सत्ताधारी रूपमें—ऋग्वेदमें इन्द्रके प्रभावको आकाशसे भी अधिक श्रेष्ठ, उनकी महिमाको पृथ्वीसे भी अधिक विस्तीर्ण तथा भीपण, बलमें सर्वोत्तम, सर्वश्रेष्ठ कहा गया है ।^{१९} उल्लेख है कि उन्होने आकाशमें ढुलोकको स्थिर किया । द्यावा-पृथ्वी-अन्तरिक्षको अपने तेजसे पूर्ण किया तथा विस्तीर्ण पृथ्वीको धारण कर उसको प्रसिद्ध किया ।^{२०} इसी प्रकार ब्राह्मणग्रन्थोंमें

इन्द्रको सूर्य^{२१}, वार्गी^{२२}, मन^{२३} का राजा^{२४} कहा गया है । उपनिषदोंमें इन्द्रको अन्य देवताओंसे श्रेष्ठ कहा गया है ।^{२५} स्वरोको इन्द्रकी आत्मा^{२६} तथा प्राणको स्वयं इन्द्र कहा गया है ।^{२७} इन्द्रके आश्रित होकर ही समस्त रुद्रगण जीवन धारण करते हैं ।^{२८} इन्द्रको स्पष्टरूपसे देवता मानते हुए उनकी स्तुति करनेका निर्देश दिया गया है ।^{२९} गर्भधानके समय इन्द्रको देवता मानते हुए उनका यजन करनेका उल्लेख है ।^{३०} देवलोकको इन्द्रलोकसे ओत-प्रोत बताते हुए^{३१} कहा गया है कि दक्षिण नेत्रमें विद्यमान पुरुष इन्द्र ही है ।^{३२} इन्द्रको आत्मा, ब्रह्मा एवं सर्वदेवमय कहा गया है ।^{३३} इन्द्रका प्रिय धाम स्वर्ग है^{३४} तथा वायुमण्डलमें विद्यमान पुरुष भी इन्द्र ही है ।^{३५}

इस प्रकारसे इन्द्र महान् सत्ताधारीके रूपमें सार्वभौमिक स्वरूपको अग्रसर करते हुए अपनी सत्ताको विद्यमान रखनेमें पूर्णरूपसे सफल रहे । वैदिककालमें उनकी सत्ता, प्रभुता एवं सम्पन्नता निश्चितरूपसे उनकी सार्वभौमिकताको प्रस्तुत करती है । उनका प्रत्येक स्थलपर उपस्थित रहना, सर्वत्र विद्यमान रहना निश्चितरूपसे उनकी लोकप्रियताको प्रस्तुत करता है ।

इन्द्र महाप्रजापात्र रूपमें—ऋग्वेदमें इन्द्रकी बुद्धिकी प्रशसा की गयी है ।^{३६} ब्राह्मणग्रन्थोंमें इन्द्रको श्रुति^{३७} एवं वीय^{३८} कहा गया है । पाणिनिरें अपनी 'अष्टाध्यायी'में इन्द्रको इन्द्रियोक्ता शासक बताते हुए कहा कि इन्द्रसे ही इन्द्रियोंको शक्ति मिलती है^{३९} । उपनिषदोंके अनुसार

११—कौशीतकिब्राह्मण ६ । १४, १२—कौशीतकि-उप० ३ । १, १३—ऋग्वेद १ । ५५ । १, १४—वही २ । १५ । २, १५—शतपथब्राह्मण ८ । ५ । ३ । २, १६—जैमिनीयब्राह्मण १ । ३३ । २, १७—गोपव्याह्यण ४ । ११, १८—तैत्तिरीय-ब्रा० ३ । ८ । २३ । २, कौशीतकिब्राह्मण ६ । ९, १९—केन-उपनिषद् ४ । १-२, २०—छान्दोग्य-उपनिषद् २ । २२ । २, २१—कठ-उपनिषद्, २२—छान्दोग्य-उप० ३ । ७, २३—वृहदारण्यक-उप० १ । ४ । ५-६, २४—छान्दोग्य-उप०, २५—वृहदारण्यक-उप० ३ । ६ । १, २६—वही ४ । २ । २, २७—ऐत० उप० ४ । ३ । १४, ५ । ३, २८—कौशीतकि-उप० ३ । १, २९—वही । ३०—ऋग्वेद १ । ५४ । ८, ३१—तैत्तिरीयब्राह्मण २ । ३ । १, ३२—ताण्ड्यब्राह्मण ९ । ७ । ५, ऐतरेयब्राह्मण ८ । ७, ३३—पाणिनिका अष्टाध्यायी सूत्रपाठ ५ । २ । १३,

इन्द्रने प्रजापतिके समीप १०१ वर्षोंतक ब्रह्मचर्यपूर्वक वास करते हुए ज्ञान प्राप्त किया था^{३४}। उन्होंने ब्रह्मको सर्वप्रथम जाना था^{३५} तथा दिवोदासका पुत्र प्रतर्दन उनके समीप ज्ञान प्राप्त करने गया था, जिसे उन्होंने ज्ञान प्रदान किया^{३६}। इन्द्रको ब्रह्मन्दिरके द्वारका रक्षक कहा गया है^{३७} तथा प्रज्ञाका साक्षात् रूप प्राण कहा गया है^{३८} एक स्थानपर तो उनको आयु एवं अमृत भी कहा गया है^{३९}।

इस प्रकार सुस्पष्ट है कि 'इन्द्र'की प्रसिद्धि उनकी अपरिमित अजेयता, वीरता, सार्वभौमिकता एवं ज्ञान

आदिकी पराकाष्ठाके सारभूत तत्त्वोंकी अधिकताके कारण ही रही। इसी कारण उनका चरित्र आज भी एक उल्लेखनीय व्यक्तिः वके रूपमें उपस्थित है। उनकी लोकप्रियताको बनाये रखनेमें उनके चरित्रिका विशेष योगदान रहा है, जिसके कारण स्वरूप वे आज भी एक महान् देवताके रूपमें जाने जाते हैं। यद्यपि कालके प्रभावसे देवताओंके महत्त्व घटते-घटते रहे, किंतु इनके चरित्र एवं महत्त्व आज भी उल्लेखनीय हैं। वे आज भी स्वर्गके राजा हैं और उन्हें देवताओंका सहयोग सदा रहा है।

कठोपनिषद् में नचिकेताका चरित्र

(लेखक—श्रीप्रशान्तकुमारजी रस्तोगी, एम० ए०)

'नचिकेता'का उल्लेख स्पष्टरूपसे कठोपनिषद् में है। यज्ञफलकी कामनावाले वाजश्रवाके पुत्र-(नचिकेताके पिता)ने विश्वजित् नामक यज्ञमें अपना सर्वस्व दान कर दिया। जब वे पूर्णरूपसे जर्जर एवं वृद्ध गायोंको भी दान करने लगे तब उनके पुत्र नचिकेताने पितासे कहा कि न देने योग्य गायोंको भी आपने दान कर दिया। मैं भी आपका धन हूँ, अतः आप मुझे किसको देगे ? प्रथम तो महर्षिने उपहासमें टाल दिया, किंतु नचिकेताके बार-बार कहनेपर क्रोधवश उन्होंने कहा—‘मैं तुमको यमराजको दूँगा ।’

पिताके मनोरथको जानकर नचिकेता स्वयं यमराजके समीप पहुँचा तथा तीन दिनोंतक विना भोजन किये उनके गृहपर रहा। इसपर ग्रसन्न होकर यमराजने उसे तीन वरदान माँगनेको कहा। प्रथम वरदानके रूपमें नचिकेताने कहा कि मेरे पिताका क्रोध शान्त

हो जाय तथा उनका स्लेह पूर्ववत् वना रहे। द्वितीय वरके रूपमें नचिकेताने अग्नि-सम्बन्धी विज्ञानकी जानकारी प्राप्त की, जिसको यज्ञके समय करके व्यक्ति स्वर्गको प्राप्त करता था। तृतीय वरके रूपमें जब नचिकेताने यमराजसे मोक्ष-विषयक विज्ञानके विषयमें जाननेकी जिज्ञासा प्रकट की तो यमराजने उसे अनेक प्रश्नोभन दिये तथा कहा कि तुम स्वर्ग आदि अनेक ऐसे ऐश्वर्योंको भोग सकते हो, जिनको किसी अन्य व्यक्तिने कभी न भोगा हो; किंतु तुमको इस मोक्ष-विषयक विज्ञानके विषयमें जाननेकी जिज्ञासा नहीं प्रकट करनी चाहिये। किंतु नचिकेताने कहा कि ये समस्त भोग नश्वर हैं तथा सदैव व्यक्तिके उत्थानमें वाधा उपस्थित करते हैं। किंतु मोक्षविषयक ज्ञानको प्राप्त करनेके पश्चात् व्यक्ति आत्मतत्त्वमें लीन हो चिरकानीन अविनाशी सुखका उपभोग करता है, अतः उसका ज्ञान प्राप्त करना चाहिये। मुझे तृतीय वरके रूपमें वही चाहिये।

३४—छान्दोग्य-उपनिषद् ८। ११। ३, ३५—केन-उपनिषद् ४। २, ३६—कोपीतकि-उपनिषद् ३, ३७—वही १। ३, ३८—वही ३। २, ३९—वही १। ३।

यमराजने जब विविध रूपोंमें नचिकेताको मंसारसे निर्दिष्ट पाया तथा यह देख लिया कि यह वास्तवमें तत्त्वज्ञान (मोक्ष)का अधिकारी है, तब उसे आत्मविप्रयक ज्ञान कराया, जिसको प्राप्त करनेके पश्चात् नचिकेता परब्रह्म पढ़को प्राप्त होकर अनन्तकाल-तक सुखका उपभोग करता रहा। इस प्रकार नचिकेताके

चरित्रसे ज्ञान होता है कि ब्रह्मज्ञान वास्तवमें सांसारिक सुखोंके व्यागके पश्चात् ही प्राप्त किया जा सकता है। [यह ब्रह्मज्ञान चरित्रके सगठनसे ही साधित होता है। चारित्र्यवल ही आत्मवल हो जाता है। अतः आत्म-वलसे आत्मज्ञान साधनेकी योग्यता चरित्र-सगठनसे प्राप्त करनी चाहिये। नचिकेताकी गाथासे यही शिक्षा मिलती है।]

श्वेतकेतुका चरित्र

(उपनिषद्प्रोक्त चारित्र)

(लेखक—श्रीप्रगान्तकुमारजी रस्तोगी, एम.० ए.०)

श्वेतकेतुका उल्लेख छान्दोग्य एवं बृहदारण्यक उपनिषदोंमें स्पष्टरूपसे प्राप्त होता है। ये उदालकके पुत्र थे, जो स्वयं ब्रह्मज्ञानके आचार्य थे। श्वेतकेतुको पिताने स्वयं प्रारम्भिक शिक्षा दंकर उसे वारह वर्षकी अवस्थामें बेटोंका अध्ययन करने-हेतु गुरुकुलमें भेजा तथा कहा कि 'तुम कुलके मर्यादानुसार ब्रह्मचर्यपूर्वक वास करते हुए समस्त आश्वेतका अध्ययन कर श्रेष्ठताको प्राप्त करना।'

पिताके आज्ञानुसार वारह वर्षतक विद्या प्रहृण करनेके पश्चात् २४ वर्षकी अवस्थामें जब श्वेतकेतु पिताके समीप पहुँचा, तब विद्याका अभिमान होनेके कारण वह घमण्डी एवं उद्धण्ड स्वभाववाला हो गया था। पिताने उसके इस मिथ्याभिमानको देखकर सोचा कि अभिमानसे युक्त विद्याके कारण यह शिक्षित होते हुए भी प्रायः अगिनित ही है, अतः इसके अभिमानको समाप्त करना चाहिये। अतः उन्होंने श्वेतकेतुसे प्रश्न किया — 'सौम्य ! श्वेतकेतु ! तू जो ऐसा विद्याका अभिमानी और अविनीत दिखायी देता है, क्या तूने

आचार्यसे उस उपदेशको प्रहृण किया है, जिसके द्वारा अश्रुत श्रुत हो जाता है, तर्क न किया हुआ तर्कयुक्त हो जाता है, अविज्ञान जात हो जाता है ?'

किंतु श्वेतकेतु इसका कुछ भी उत्तर न दे सका। अपने स्वभावसे लज्जित होकर उसने पितासे विनयपूर्वक जाननेकी जिजासा प्रकट की। इसपर श्वेतकेतुके पिता उदालकने विविध दृष्टान्तोंको सम्मुख रखते हुए, प्रश्नका उत्तर देने हुए श्वेतकेतुको ब्रह्म-मम्बन्धी ज्ञानकी शिक्षा दी तथा दृष्टान्तोंमें उन्होंने ब्रह्मका अनुभव किम प्रकार होता है, स्पष्ट किया। पिताद्वारा ब्रह्मज्ञानको जाननेके पश्चात् श्वेतकेतु अन्यन्त सौम्य हो गया।

इस प्रकार श्वेतकेतुका यह प्रमङ्ग उसके चरित्रकी विशेषताको स्पष्ट करता है तथा यह ज्ञान कराना है कि शिक्षा (ज्ञान) एवं अभिमान दोनों परस्पर शत्रु ही हैं। ज्ञान प्राप्त करनेके पश्चात् भी यदि व्यक्तिमें उस ज्ञानका अभिमान रहता है तो वह ज्ञान अपूर्ण रहता है, जो उसे कभी उच्चपद नहीं प्राप्त करने देता।

यद्वाशाल महर्षि शौनकका वेदिक वाङ्मयमें विनय एवं स्वाध्यायपूर्ण चारित्र्य

(लेखक—५० भीजानकीनाथजी शर्मा)

शुभ-चरित्रिके किये चारित्र्यज्ञान आवश्यक है। महर्षि शौनक इसके ब्रेष्ट उदाहरण हैं। मुण्डक-उपनिषद् १।१।३ पर्याप्तव्योपनिषद् १।१।३ आदिमें इन्हें महागाल-विश्वविद्यालयादिका मन्त्रालक्ष या कुलपति कहा गया है। भागवत प्रथम स्कन्धमें इनका वार-वार उल्लेख आया है। वहाँ ४।२में इन्हें कुलपतिर्मातृवहृन् (ऋग्वेदाचार्य) भी कहा गया है—

वृद्धः कुलपतिः सूचं वद्वृन्तः शौनकोऽवर्वीत् ।

ब्रह्मपुराण १।३४, विष्णुपुराण ५।८।६, इस्तिंशपुराण १।३१ एवं वायुपुराण २।३०। ३-४ के अनुसार ये महर्षि गृत्समदके पुत्र हैं एवं चारुवर्ण्यके विशेष प्रवर्तक हुए हैं। भागवत, महाभारत आदिमें जो इन्हें वद्वृन्त कहा गया है, उससे इनका ऋग्वेदका आचार्यत्व तथा उसके व्याख्यानसे विशेष मम्बन्ध दीखता है। इन्होंने उसकी शाकल एवं वाप्कल शाखाओंको परिष्कृत सूप दिया। तथापि ये अथवेदके भी द्रष्टा हैं। अतः उसकी मुख्य संहिताको शौनक-संहिता कहते हैं। ऋग्वेदके दूसरे मण्डलके द्रष्टा भी ये ही हैं। ऋग्वेदनुक्रमगी तथा ऋग्वेदीय मण्डलमें सर्वत्र इन्हें पहले आङ्गिरस और वादमें भार्गव होना कहा है। इनके नाममें गचित प्रथ्य वद्वम्भूत्यक हैं—ऋक्प्रतिगाम्य, चरणव्यूह, वृहद्देवता, अर्थवेदके ७२, परिशिष्ट, छन्दोनुक्रमणी, ऋग्वेदनुक्रमणी, अनुवाकानुक्रमणी आदि;

१—मूर्तीनां दग्धाद्वस्य योऽन्नपानादिना भरेत् । अभ्याप्यति विपर्यिरसौ कुलपतिः सृष्टः ॥ (पद्मप०, कूर्मपुराण)

२—महाभारत १।१।२में भी ऐसा ही कहा है—शौनकस्य कुलपतेद्विद्वशवार्पिके सत्रे ।

३—य आङ्गिरसः शौनहोत्रो भृत्वा भार्गवः शौनकोऽभवत् ॥ ४—द्वितीयं मण्डलमपश्यत् । (ऋग्वेदीय सायणभा० भूमि० २ ऋ० अनु०)

पुराणोंमें भी—शूनहोत्रस्य दायादास्त्रयः परम धार्मिकाः ॥ ५—पुत्रो गृत्समदस्यापि शूनको यस्य शौनकः ॥ (पद्मप०, कूर्मपुराण)

६—महाभारत १।१।२९—ऐसा ही कहा गया है।

७—पाणिनीय अष्टाभ्यायी ४।१।१०४ ऐविदादिगणमें—‘शूनक’ पाठ है। उससे गोत्रापत्यमें शौनक ऋषि दनता है। इस प्रकार शूनक इनका गोत्र मानना चाहिये। बृहदारण्यकोपनिषद् ३।३।५में ये कपिगोत्रज हैं। पाणि० ४।१।१०२, ३।१०६ आदि प्रायः सभी ऋषिगणोंमें इनका उल्लेख है।

८—यद् विकृतिवृष्टीकी गङ्गाधरभृत्यज्ञत ॥ १६।१६ है।

वेदोंके विस्तृत ऋग्विवान, सामविवान, यजुर्विवान, शौनक-स्मृति, आयुष्यहोम, उदकशान्ति, संन्यासविधि, स्वराष्ट्रक आदि प्रन्थ तथा वृहत्सर्वानुक्रमणी, पादविवान, चरणव्यूह, शौनक-स्मृति आदि भी इन्हींकी रचनाएँ हैं। अर्वप्रातिशास्यका तो दूसरा नाम ही शौनकीय चातुरान्यायिका है। पुरुष-सूक्तपर इनका ही भाष्य सर्वोत्तम मान्य है। (दृष्ट्य वाजस० संहि० ३१।१।१ का उवटभाष्य)

मत्स्यपुराणके अनुसार वास्तुशास्त्रके भी ये ही प्रमुख प्रणेता हैं। शौनकगृहासूत्र एवं परिशिष्टसूत्र भी इन्हींकी रचनाएँ हैं। आश्वलायन इन्हें अपने गृह्यसूत्र (४।९।४५)के अन्तमें दो वार—‘नमः शौनकाय नमः शौनकाय’ कहकर गुरुरूपमें स्मरण करते हैं। ‘वंशद्वाक्षण्य’ इन्हें कात्यायनका भी गुरु बताता है। इसके अतिरिक्त शौनकीयकल्प, शौनकीयशिक्षा आदि भी इनके प्रन्थ हैं। इनके सभी प्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं।

पाणिनिसूत्र ‘शौनकाद्विभ्यश्वद्वल्लिः’ ४।३।१०६ की काशिकावृत्तिमें एक ‘शौनकीयशिक्षा’का भी उल्लेख है और इनके द्वारा उक्त शास्त्रासूत्रोंके अव्ययन करनेवालोंके लिये ‘वाजसनेयिनः’की तरह ‘शौनकिनः’ पद कहनेकी वात कही गयी है। इस गणमें वाजसनेय, कठ, तलवकार आदि १५ शब्दोंको पीछे रखकर शौनककी विशेष महिमा दिखायी गयी है। ‘विकृतिकौमुदी’ तथा पद्मगुरुशिष्य द्वारा वृहत् सर्व०११निमें इनकी विस्तृत

चर्चा है। ये शतप० बृह० २। ५। २०, ४। ५, ३०, गोपथ ५ आदिमें सर्वत्र शास्त्रार्थजयी होते हैं। व्याढीको इनका प्रधान शिष्य कहा गया है। व्याकरण महाभाष्य १। २। ६४, ६। २। २९ के अलुसार व्याडीने लक्षणोक्तीय 'संप्रह' नामक व्याकरण-प्रथकी रचना की थी। उन्होंने—'शणातां त्वा' पन्न (२। २३। १)में सत्य, वेद और जगत्के स्वामी होनेसे 'ब्रह्मस्पति-बृहस्पति'की यथा नाम गुण चरितार्थता मानी है—'ब्रह्म वाग् वृह्म सत्यं च व्रह्म सर्वमिदं जगत्। पातारं व्रह्मणस्तेन बृहस्पतिरिनीरितः।' (बृहदेवता २। ३०-४० तथा निरुक्त १०। १२)

भागवतमें शतानीको यज्ञवल्क्यका शिष्य कहा गया है। उन्होंने तीनों वेदोंका ज्ञान यज्ञवल्क्यसे प्राप्त किया था, किंतु कर्मकाण्ड एवं शास्त्रकों ज्ञान महर्षि शौनकसे ही प्राप्त किया था। इससे इनके दीर्घजीवित्व एवं धनुर्विद्यादिके पाणिद्यका भी परिचय मिलता है—

तस्य पुत्रः शतानीको यज्ञवल्क्यात् त्रयीं पठन्।
अस्त्रव्यापानं क्रियाज्ञानं शौनकात् परमेष्यति ॥

(भागवत ९। २२। ३८)

इतना होनेपर भी आचार्य शौनककी विनयपूर्ण चरित्रशीलता एव जिज्ञासा देखते बनती है। इसीलिये 'प्रपञ्चगीता'में ये द्वादशमहाभागवतोंमें भी त्रीं सत्यापर परिगणित हैं। ये १८ पुराणों, उपपुराणों तथा महाभारत आदिको उपश्रवा, लोमहर्षणादिसे श्रवण करते हैं। अट्ठारह पुराणोंमें उनके प्रस्तु, उनकी भगवद्ग्रन्थि आदि अङ्गत हैं। भागवत १। १६। ५-६में वे कहते हैं कि यदि भगवच्चसे अथवा भक्तोंकी चर्चासे युक्त हो, तभी आप यह कथा कहें— नत्कर्थयनां महाभाग यदि कृष्णकथाश्रयम् ।

अथवा: तत्पदाम्भोजनकरन्दलिहां सताम् ॥

अन्य बातोंसे कोई लाभ नहीं, क्योंकि उसमें आयुका व्यर्थ अपव्यय होता है—

किमन्धरसदालापैरायुपो यदसद्व्ययः ॥

(१०१। १)

ये धीमगवानकी कथा-श्रवण-कीर्तनसे रहित कान सुन्ह-ज्ञापको साँपका बिल और मेहककी जीम कहते हैं (भाग० २। ३। २०)। गोस्तामी तुलसीदासजीने भी— 'भवनरंभ अहिभदन समावा। जीह सो द्वाहुर जीह समालाह' आदिमें इन्हींके भाव दिये हैं। वैसे ये नैमित्पारण्यदासी ८८ हजार ऋषियोंके नेता या कुलपति थे। यह वात सत्यनारायण-कथामें लेकर सभी पुराणोंमें वार-वार आती है। भविष्यपुराणमें ये सभी ८८ हजार ऋषियोंको लेकर 'क्लेच्छाक्रान्त नैमित्पारण्यको छोड़कर बदरिकाश्रममें जाकर कथाश्रवणका प्रबन्ध करते दीखते हैं। इस प्रकार स्वाध्यायचरित्रशील होनेके साथ ये बड़े विनयी, सभी देवताओंके उपासक तथा विष्णुभक्त भी रहे हैं। 'बृहदेवता'के न्यानपूर्वक अवलोकन-आलोकन करनेसे इनके कठोर तप, ब्रह्मचर्य, विशाल वैदिक ज्ञानका परिचय मिलता है।

पुराणों, धर्मशास्त्रों आदिके समान वैदिक-पन्थ भी असंख्य हैं। पर चारित्र्यके अनुष्ठानके लिये इनका अधिकाधिक स्वाध्याय, ज्ञानासि आवश्यक है। यहाँ केवल शौनकरचित पन्थोंका निर्देश हूआ है। यज्ञवल्क्य, व्यास, कात्यायन, जैमिनि, भारद्वाज, विश्वामित्र आदिके भी प्रन्थ इसी प्रकार असंख्य हैं। बृहदेवताको देखनेसे स्पष्ट होता है कि शौनकने इन सभी-के-सभी ग्रन्थों, अनेक व्याकरणों तथा अनेक निरुक्तोंका भी अवलोकन कर इसकी रचना की थी। महाभारत व्रनपूर्वके दूसरे अव्यायमें इन्हें साख्ययोगकुशल भी कहा गया है। वहाँके इनके चरित्रसम्बन्धी उपदेश बड़े ही उपनिषद हैं। वहाँ ये युधिष्ठिरसे कहते हैं कि आसक्तिके कारण दुःख, भय, आस्तीन, शोक-हृष्प सभी उपद्रव आ घेते हैं। अतः रागको छोड़ विरक्त बनना चाहिये, गागसे तृष्णा उत्पन्न होकर प्राणान्तक रोग बन जाती है। अर्थ भी घोर अनर्थकारी है। उसमें दर्प, अनीति, कार्पण्य आदि अनेक दोष प्रकट होते हैं, अतः

तृष्णादिका व्यागकर संतोषका आश्रय लेना चाहिये ।
इसीमे परम सुख है—

अन्तो नास्ति पिपासायाः संतोषः परमं सुखम् ॥
तस्मात्संतोषमेवेह परं पश्यन्ति पण्डिताः ॥

(महा० ३ । २ । ८७)

प्रायः ये ही वार्ते योगवासिष्ठ, भागवत, स्फन्दपुराण, माहेश्वर कौमारि (४६ । २१-२०) तकमें कही गयी हैं।

वस्तुतः इन शौनक, जैमिनि व्यासादि ऋचियोंने स्वाध्यायादिक-द्वारा लोकरक्षा, धर्मरक्षा, सदाचार एवं चरित्ररक्षाके लिये अपना सारा जीवन ही लगा दिया था । यही आज भी कर्तव्य है ।

→३@६←

चरित्र-निर्माणमें रामचरित्रका योगदान

(लेखक—श्रीआर० वंकटरत्नम्)

सस्कृत भाषाकी 'चर्' धातुका अर्थ है—चलना । इसी धातुसे चरित्र, आचरण, दिनचर्या इत्यादि शब्द बनते हैं । इनमें अन्तिम शब्द दिनचर्याका अर्थ दैनिक व्यवहार है । अतः 'चर्' धातुका अर्थ केवल इधर-उधर घूमना-भड़कना ही नहीं, परंतु सभी व्यवहार गमन-आगमन तथा रहनेका फृग आदि भी इस शब्दमें इक्षित है ।

'चरित्र'का अर्थ है—जीवन-वृत्तान्त । निजी कथा चरित्र है, इनिहास भी चरित्र है । देश-चरित्र पढ़ते समय इसे हम इसी शब्दसे समझते हैं । घटनाओंका खाली विवरण हो, तो कहा जा सकता है—चरित । पर इधर एक कठम और बढ़नेपर चरित्रमें मानवजातिका स्तर ऊँचा उठना चाहिये तो हमें चरित्रका तात्पर्य कुछ और गहरेसे ममझना चाहिये । यह न जीवन-चरित है, न कथा-लेखन । परंतु मनुष्यके तमाम व्यवहारको नैतिक आधारपर नियमान्वित कर उत्तम जीवन जीनेका उपाय करनाना है—चरित्रनिर्माण । अंग्रेजीके कैरेक्टर (Character) अब्दकी व्युत्पत्ति सस्कृतके चरित्रसे ही हुई दीखती है ।

सस्कृत अब्द चरित्र सारगमित है । इसी एक शब्दसे हम जीवन-वृत्तान्त एवं चाल-चलन—दोनोंको व्यक्त करते हैं । यदि हम अपने धार्मिक, पौराणिक एवं नैतिक साहित्यकी ओर ध्यान दें तो चरित्र शब्दका

दोनों अर्थमें समावेश दीखता है । चरित्र जीवन कथा होनेके साथ-साथ पढ़नेवालेको, श्रोताओं मार्ग भी दर्शायेगा । ऐसे अनमोल ग्रन्थोंमें रामचरितमानसका कौन भूल सकता है ? इस दिन्य ग्रन्थका नाम न्यून ग्रन्थ-विषयका 'परिचायक है । रामचन्द्रजीकी जीवनी तथा रामचन्द्रजीका उत्तम आचरण दोनोंका दिग्दर्शन इस प्रन्थमें होता है ।

साधु चरित सुभ चरित कपासू । निरम विषद गुनमय फल जासू ॥

(मानस १ । २ । ३)

इन वाक्योंमें गोखा रीजी साधु चरितकी महिमा गते हैं । ऐसे साधु-चरितोंका श्रीरामचरितमानस मानो एक पीयूषसागर है । आदिरात्रि वार्त्माकि तो अपने ग्रन्थको 'सीतायाश्चरितं महत्' कहते है—

काव्यं रामायणं कृत्स्नं सीतायाश्चरितं महत् ।
पौलस्त्यवधभिन्नेवं चकार चरित्रवतः ॥

(वा० रा० वा० ४ । ७)

इस व्योक्तसे हमें यह वोध होता है कि सीताजीकी जीवन-कथा एक महान् चरित है । श्रीपद्वाल्मीकीय रामायणके नित्य पारायणमें आदिकविकी ब्रह्मनाके प्रसङ्गमें हम लोग पढ़ते हैं—

यः पिवन् समनं रामचरितामृतसागरम् ।

अतृप्तस्तं मुर्जि वन्दे प्राचेतसमक्लमपम् ॥

यहों फिर एक बार यह सिद्ध होता है कि श्रीरामजीकी जीवनी एक पीयूषसमुद्र है ।

चरितं रघुनाथस्य
एकैकमध्यं पुंसां

शतकोटिप्रविस्तरम् ।
महापातकनाशनम् ॥

यह भी पारायण इलोकोंके अन्तर्गत है । रामायणका प्रत्येक अक्षर वडे-वडे पापोंको मिटानेवाला है । रघुनाथ-जीका चरित जो विस्तृत ढंगमे लिखा हुआ है, पूरे

पारायणपर कितना पुण्यदायक होगा । प्रत्येक अक्षर ही महापातक नाशक हो तो रामायणजी कितने उन्नत प्रभ्य है, कोई कल्पना भी नहीं कर सकता ।

रामचरितसे हम अपने व्यक्तिगत, सामाजिक एवं राष्ट्रिय चरितको महोन्नत बनानेकी चेष्टा करें ।



श्रीरामजीके चरित्रसे शिक्षा

(लेखक—महामण्डलेश्वर स्वामी श्रीभजनानन्दजी सरस्वतीजी महाराज)

विदुरने कहा है—

ब्रुत्तं यन्नेन संरक्षेद् वित्तमेति च यानि च ।
अक्षीणो वित्तनः क्षीणो ब्रुत्ततस्तु हतो हतः ॥

(भा० उच्च०)

उनका यह कथन हम सभीको सम्मार्गपर चलनेकी प्रेरणा देता है । चरित्रवान् ही संसारमे सबसे बलवान् होता है और वही समाजका आदर्श होता है । किसी कथिने भी कहा है—

जैवे शिरिसे जो गिरै मरै एक ही बार ।
जो चरित्र शिरिसे गिरै बिगड़ै जनम हजार ॥

मर्यादा एवं चरित्रकी स्थापनाके लिये ही अखिल ब्रह्माण्डनायक परब्रह्म परमात्माने मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामजीके रूपने अवतरित होकर नर-स्त्रीला वी, जो भारतवर्षके लिये आदर्श है । साज्ञात् धर्मके खरूप श्रीरामजीने हमारे लिये विभिन्न आदर्श प्रस्तुत किये, जहाँपर रावण यह कहता है कि—

मरकट हीन करहु महि जाई । निअत धरहु तापम दोउ भाई ॥

वही श्रीरामजी अङ्गदको लका भेजते समय कहते हैं कि—

काज हमार तासु हित होई । रिपु मन करेहु चतकही सोई ॥

इससे श्रीरामजीके समलक्षका वीव होता है । शकुका भी आत्मीयवत् हितचिन्तन कर रहे हैं । स्वकार्य सिद्ध हो जानेपर राज्य-भोगादिमे तल्लीन सुग्रीवको मौं सीताजीके अन्वेषणका स्मरण न रहा । श्रीरामजीके प्रति सुग्रीवका

यह अपराध या, क्योंकि उन्होंने ही प्रथम कहा था—

कह सुग्रीव नयन भरि बारो । मिलिहि नाथ मिथिलेय कुमारी ॥
सब प्रकार करिहउं सेवकाई । जेहि बिधि मिलिहि जानकी आई ॥

तथश्चात् श्रीरामजीने उनसे वनमें रहनेका कारण पूछा था—

‘कारन कवन वसहु वन मोहिं कहहु सुग्रीव ।’

और सुग्रीवका सम्पूर्ण वृत्तान्त श्रवण कर ब्रादमे सुग्रीवके विध-निवारण-हेतु वालिवंशकी प्रतिज्ञा की—

‘सुनु सुग्रीव मै मारिहउं वालिहि एकहिं बान ।’

श्रीरामजीने तो अपने वचनका पालन तुरत किया, लेकिन सुग्रीव सब कुछ भूलकर सत्ता-सुखमे मस्त हो गये और चिकाऊतक उन्हे होश न आया । तब भगवान् ने लक्षणको समझाते हुए सुग्रीवके पास भेजा—

‘भय देखाइ लै आवहु तात मखा सुग्रीव ।’

भगवान्-राम अपराधीके प्रति भी अमादृष्टि रखते हुए सखा सुग्रीवः सम्बोधनको न मुला सके । वीद्वजानकोके अनुसार एक बार काशीकेराजमार्गपर दो राजाओंका रथ आमने-सामने आ रुका, वीचमे एक पुलिया थी, जिसमे एक ही वाहन निकल सकना था, अतः दोनों रथ रुक गये । समस्या यह थी कि किसका रथ पहले निकलें । राजाओंकी

गज्यकी दृष्टिसे, वयकी दृष्टिसे, अन्य दृष्टिकोणोंसे विचार हुआ, किंतु आश्वर्य । दोनों बिल्कुल समान थे । नत्यश्वर्त् दोनोंके सारथियोंने अपने-अपने राजाओंके आदर्श एवं गुणोंका वर्णन आरम्भ किया । समस्याकां चटिल्ला प्रतिक्षण बढ़ती जा रही थी; व्यौकि गुणोंमें भी दोनों समान ही थे । अन्तमें एक सारथिने कहा—हमारे महाराज शास्त्रानुसार ‘शठे शाश्वं समाचरेत्’ अर्थात् ‘बुरोंके साथ बुरा व्यवहार करो’, की नीतिपर चलते हैं । इसपर द्वितीय सारथिने कहा—हमारे राजा इसके विपरीत ‘बुरोंके साथ भी अच्छा व्यवहार करो’, ‘बुराईसे बृत्ता करो, व्यक्तिसे नहीं’—इस नीतिपर चलते हुए प्रजाओं सतुष्ट रखते हैं । ऐसा सुनकर प्रथम सारथिके रथपर आरुद्ध राजा नीचे उतरते हुए बोले—सारथि अपने रथको शीघ्र हटा लो, निर्णय हो गया । इससे ये सामनेवाले राजा श्रेष्ठ हैं ।

श्रीरामजीके चरित्रमें भी ‘वैरिहु जासु बडाई फरही’ का हेतु वर्तमान है । आप आदर्शोंके लिये शत्रु भी मुक्त हृदयसे प्रशंसा करते हैं । युद्धमें प्रमुख योद्धाओंके मारे जानेपर रावणने अपने धनुज कुम्भकर्णको जगाया और सरी स्थिति ममक्षाते हुए युद्धहेतु प्रेरित करने लगा—

व्याकुल कुम्भकरन पहिं आवा । विविध जतन करि ताहि जगावा ॥
कुंभकरन बूझा कहु भाई । काहे तव सुख रहे सुखाई ॥
कथा कही सब तेहि अभिमानी । जेहि प्रकार सीता हरि आनी ॥
तात कपिन्ह निसिचर संहारे । महा महा जोधा सब मारे ॥

(रा० च० ६ । ६१ । ३६)

तब कुम्भकर्णने कहा—

‘जगदम्बा हरि आनि अब सठ चाहत कल्यान’

‘शठ ! तू जगजननीका अपहरण कर कल्यान चाहता है ? लेकिन महिष खाइ, करि मदिरा पाना ।

राजा वज्राखात समाना ॥’ तामसी आहारके कारण बुद्धिमें नपोरुणका प्रावल्य होते ही कुंभकर्णने रावणसे कहा—‘तुम तो अनेक रूपोंको धारण करनेमें सक्षम हो’ फिर रामके रूपमें आकर तुमने सीताको वशमें करनेका प्रयास क्यों नहीं किया ? तब रावण कहता है कि—‘जब मेरा मरुरूप धारण करनेके लिये राष्ट्रवेन्द्रके मूरुरूपका ध्यान करने लगता हूँ, तब शनैः-शनैः मेरे हृदयके सारे कल्पप नष्ट हो जाते हैं—

रामः कि तु भवानभूच्छृणु सर्वे तालीदलदयामलम्
गमाहः भजनो ममापि कलुणां भावो न संजायते ।

रामके रूपमात्रसे रावण-जैसे दुश्चरित्रका भी भाव शुद्ध हो जाता है । यह है भगवान् श्रीरामजीका आदर्श और प्रभाव । चरित्रादर्शका प्रेरक प्रकाश होता है । विभीषणके राजगदीपर बैठनेके बाद एक बार विभीषणके रथसे कुचलकर एक ब्राह्मणकी मृत्यु हो गयी । लोगोंने विभीषणको एक भूगृहमें बन्द कर दिया । यह बात जब भगवान् को ज्ञात हुई तो उन्होंने वहाँके लोगोंसे कहा—‘विभीषण मेरा मक्त है, मक्तका अपराव स्वामीका अपराध होता है, अतः ‘भत्यापराधेन स्वामी दण्डमर्हति ।’ तब सभी उनके चरणोंमें गिरकर क्षमा माँगने लगे । इस प्रकार श्रीरामजीके अनन्त गुण हैं, हर कार्य शिक्षाप्रद है । यहाँ दो-एक प्रसङ्गोका खान्तःसुखायकी भावनासे उल्लेख किया गया है । यथार्थमें श्रीराम विप्रहवान् धर्म दी है ।’

र्म चरित्रका आगार है और धर्मचरण ही चारित्र्य-पालन है । अतः मूर्तिमान् धर्म श्रीरामके चरित्रोंके आदर्शपर चरित्रके निर्माणकी शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये ।

कल्याण



आदर्श चरित्रशीला—श्रीसीता

रामचरितमानसमें सीताचरित्रका आदर्श

(लेखक—डॉ० भीशुकदवरायजी, पम० ए०, पी-एन० डी०)

वारंत्र जीवनकी शिवान्मणि है। चरित्रवान् व्यक्ति ही आत्मज्योतिष्ठृण्ण होता है। वह अपनेको भी धोतित करता है और साथ ही अपने परिसरमें आये हृषे अन्य लोगोंको भी। सप्तसङ्गको इसीलिये कायाकल्प कहा गया है, इसके फलस्वरूप—‘काक होहिं पिक बकहु मराला।’ कोया कोयल और बगुला हंस हो जाता है। रामको डेखकर सर्प-विकृ विषका परित्याग करते हैं—जिनहिं निरस्ति भग म्योविनि बीछी। तजहिं त्रिष्पुर विषपताम प तीछी ची प्रथान व्यक्ति अपने लिये आत्म-बल-पूर्ण होता है और दूसरोंके लिये प्रेरणाका आदर्श स्रोत। साहित्यमें चित्रित ऐसे ही उदात्त चरित्र समाजके लिये आदर्श बनते हैं। रामचरितमानसमें श्रीसीताजी-सा चरित्र ऐसा ही एक आदर्श चरित्र है। तुलसीके मानसमें श्रीसीताजीका चरित्र तीन रूपोंमें वर्णित है—

(२) जग जननि जानकी और (३) अतिसय प्रिय करुनानिधान की ॥ (मानस १ । १८ । ७)

प्रथम चित्र बेटीका, दूसरा माँका और तीसरा ‘नोका है। अपने तीनों रूपोंमें श्रीसीताजी समस्त नारी जगत्के लिये आदर्शका मानदण्ड हैं। वे परवतीं पीढ़ीके लिये प्रेरणास्रोत हैं। अपने तीनों रूपोंमें श्रीसीताजी आदर्श-की सीमा हैं, पर तीन विभिन्न रूपोंका विशेष समाहार जिस एक रूपमें हुआ है, वह है—सती सीताका रूप, करुणानिधानकी प्रियाका।

श्रीसीताजी करुणाकी प्रतिष्ठा है। अनावृत्त-सम्भूत दृष्टिभूत निवारणार्थ श्रीजनकद्वारा हल-मंचालन-क्रममें आप धरतीसे प्रकट हुई और जनकजीने आपको पुत्रीके रूपमें प्रदान किया। इस प्रकार विगतित करुणाके रूपमें प्रकट होकर श्रीसीताजीने मिथिलाके इस क्षेत्रको कृषि-कार्यमें आगे बढ़ाया और इसे धन-धान्यसे पूर्ण किया। वन-

गमनके संदर्भमें मन्त्री सुमतसे श्रीसीताजीने अपने रिता गृहके विशाल वेभवका वगन किया है—

पितु वैभव विलास मै ढीडा। नृप मनि मुकुट मिलित पद पीडा॥
सुखनिधान आय पितु गृह मोरें । (मानस २ । ९७ । १)

इसी संदर्भमें श्रीकोसल्याने भी सीताके सुख और सुकुमारिताको इशित करते हृषे श्रीरामके सामने स्वघ्र किया था—

पलंग पीठ तजि गोद हिंडोरा। सिये न दीन्ह पगु अवनि कठोरा॥
(मानस २ । ५९ । ५)

बेटीके रूपमें राजकुलमें पालित, सुकुमारिताकी प्रतिमूर्ति सीता छोटे-मोटे गृह कार्योंके सम्पादनमें रुचि रखती थी। जनश्रुति है कि शिवजीका धनुष जिस स्थानपर रखा था, उसको लीपनेका काम श्रीसीताजी ही करती थी। उसी क्रममें एक दिन उन्होंने धनुषको उठाकर उस स्थानपर उगे वास-झसको साफ घर दिया था। पूजाकालमें इस साफ-सुधरेपनको देखकर श्रीजनकजीकी प्रसन्नताकी सीमा न रही और सीताजीके बद्धका अनुगमन कर उन्होंने निश्चय कर लिया कि उस धनुषको तोड़नेवाले जलशाली पुरुषके साथ ही वे अपनी इस बेटीका विवाह करेंगे। इस बोककथासे एक ओर जहाँ श्रीसीताजीका वल व्यक्तित होता है, वहीं दूसरी ओर उनको सफायीकी अभिरुचि, कर्तव्य-निष्ठा तथा गृहकद्वा-कुण्डलता भी प्रकट होती है। पुत्रीरूपमें सीता अनन्य लोकप्रिय थीं। परिवारसे, समाजसे उन्हें लाइ-प्यार मिला था, स्नेह मिला था और उन्होंने समाजको, परिवारको पृथ्वी-मृगको भी स्नेह दिया था। ऐसी लाडली बेटीके विदाके समय माताका हृदय विदीर्ण कैसे नहीं हो। श्रीरामके प्रति सुनयनाके शब्दोंमें—

परिवार पुरजन मोहि राजहि प्रानप्रिय प्रिय जानियो ।
(१० मा० १ । ३३० छ०)

विदाकं समय ग्वग-मृगोंने मी अपनी वेकलीकी मूक भाषामें सीता-ब्रेतीको विदा किया था, अपने स्नेहका दूध-धान उनके अङ्गलमें बाँधकर—

मुक मारिका ज्ञानकी ज्याए । कनक पिंजरन्हि रामिं पढाए ॥
व्याकुल कहहिं कहों बैदेही । सुनि धीरज परिहरइ न केही ॥
भणु चिक्कल ग्वग मृग एहि भोंती । मनुज दसा कैमें कहि जानी ॥

(मानस १ । ३३८ । १-३)

माता-पिताके, परिजनके, पुरजनके इस लाड-प्यारका, पांचणका, शिश्चणका, उपदंशका प्रतिफलन श्रीसीतामे पूर्णरूपेण हुआ और इन्हींके फलत्वरूप मन, वचन तथा कर्मसे वह पतिकी प्राण-वल्लभा, अनुचरी, सहचरी और आदेशपालिका बनकर मनी नारियोंमें अप्रगत्य वर्ना । श्रीसीताकी यह मान्यता कितनी गौरवपूर्ण है—

जहेंलगि नाथ नेह अरु नाते । पिय बिनु तियहि तरनिहुते ताते ॥
तनु धनुधामु धरनि पुर राजू । पति बिहीन सब सोक समाजू ॥

(मानस २ । ६५ । ३-४)

शैशवके इन समस्त अभ्यासोंको, मान्यताओंको श्रीसीताजीने अपने जीवनमें प्रतिफलित किया । परिवार-मुखको छोड़कर, राज्य-मुखको त्यागकर उन्होंने दुःखमें और सुखमें मममावसे पतिका साथ दिया । उनकी हर आज्ञाका पालन उनकी हर इच्छाकी पूर्ति श्रीसीता करती रहीं । आदेशव गृह-कार्यकुदाल श्रीसीताजी बनमें रहकर तो सेवा कार्य करती ही रही, राजरानी होनेपर भी पतिसेवाका साग काम स्वयं करती गयी—

पति अनुकूल सदा रह सीता । मो भा व्यानि सुसील विनीता ॥
जानति कृपासिधु प्रभुताई । सेवति चरन कमल मन लाई ॥
जगपि गृहे सेवक सेवकिनी । विपुल सदा सेवा विधि गुनी ॥
निज कर गृह परिचरजा करई । रामचंद्र आयसु अनुमरह ॥
जेहि विधि कृपा विधु सुख मानइ । मोइ कर श्री सेवाविधि जानइ
(मानस-उत्तर)

इतना ही नहीं, बनगमनके अवसरपर श्रीकौसल्यासे विदा लेने ममय जिन झोम भरे अधरोंमें उन्होंने कहा था—

सेवा ममय दैव दुख दीन्हा । मोर मनोरथ यफल न कीन्हा ॥

उस मनोरथको यया-अवसर उन्होंने दोबारा हाथसे न जाने दिया और बनमें चित्रकूटमे उन्होंने सासुओंकी सेवा बड़ी तन्मयतासे की—

सीय सासु प्रति ब्रेष बनाई । मादर करइ मरिस सेवकाई ॥

(मानस २ । २५२ । २)

और इस अभ्यासका निर्वाह पुनः राजरानी होनेपर भी अनवरत रूपसे करती रही—

कौमल्यावि सासु गृह माही । मेवइ मवहिं मान मद नाही ॥

(मानस ७ । २३ । ८)

सेवा मानो सीताजीका बन था । पति-सेवाका माव इनमें कूट-कूटकर मरा था । इसकी पराकाण्ठा हमें चित्रकूटमे जनक-परिवारसे मिलन-प्रसङ्गमे दीख पड़ती है । वे आप्रह किये जानेपर भी मातृकुलके लोगोंके साथ रातमें ठहरना नहीं चाहती । पति-सेवाका क्रमांक उन्हे खड़कता था । वे रामकी सेवासे थोड़ी देरके लिये भी अलग होना नहीं चाहती थी । पर शील और संकोचके कारण मनोगत मात्रोंको स्पष्ट करते नहीं बन रहा था—

कहति न सीय मकुच मन माही । इहों बसव रजनी भल नाही ॥

(मानस २ । २८७ । ७)

इस बातको रानी सुन्यताने ही श्रीजनकमे स्पष्ट किया—

लखि रुख रानि जनायउ राऊ । हृदये सराहत सील सुभाऊ ॥

(वही ८)

संयोग-पञ्चमें श्रीसीताका प्रेम और पति-सेवाका हृदयहारी चित्र तो मिलता ही है, वियोग-पञ्चमे भी यह चित्र कहांसे धूमिल नहीं होने पाया है । श्रीरामके वियोगमें श्रीसीताजी सूख गयी हैं—‘कृस तनु सीम जटा इक बेनी’ । श्रीणता इतनी है कि—‘कनगुरिया के मुदरी कंकन होत ।’ (वर्खैरा० ३८) श्रीरामके दर्शन और सेवाके अभावमें श्रीसीताजी अपने प्राणोंको

विसर्जित करना चाहती हैं । पर अँखे ऐसा नहीं
करने देती—

विरह आगि उर ऊपर ऊब अधिकाइ ।
ए अंगियां दोउ वैरिनि देत डुताइ ॥
(वरवै रा० ३६)

नयन स्वर्वहिं जलु निज हित लागी । जरै न पाव देह विरहागी ॥
(मानस ५ । ३१ । ६)

सीता पति-वियोगको नहीं सह सकती । श्रीसीता मरणको
वरण करना चाहती है, मगर उसके तीन वाबक हैं ।
(१) श्रीरामका स्मरण, (२) गुण-श्रवण, (३) उत्तर-
दायित्यका निर्वाह । प्रथमका संचालन नामद्वारा, दूसरेका
त्रिजटा और हनुमान्द्वारा, तीसरेका लव-कुशद्वारा होता
है । श्रीरामद्वारा पूछे जानेपर हनुमान्‌जीने स्पष्ट
किया था—

ऋहु तात केहि भोति जानकी । रहति करति रच्छा स्वप्रान कं ॥

श्रीहनुमान्‌ने प्रश्नके दो उत्तर वताये—

विरह अगिनि तनु तूल सभीरा । स्वास जरइ छन माहि सरीरा ॥
नयन स्वर्वहिं जलु निज हित लागी । जरै न पाव देह विरहागी ॥

नाम पाहरु दिवस निसि ध्यान तुम्हार कपाट ।
लोचन निज पठ जंग्रित जाहिं प्रान केहिं बाट ॥
(मानस ५ । ३०)

श्रीसीताने प्राणत्यागमे त्रिजटासे सहायताकी याचना
की तो उसने राम-गुण सुनाकर इनकी प्राणरक्षा की
आंख दूसरी बार हनुमान्‌जीने । त्रिजटा—

सुनत बचन पठ गहि समुझाएसि ।
प्रभु प्रताप बल सुजस सुनाएसि ॥

(मानस ५ । १२ । ५)

हनुमान्—रामचन्द्र गुन वरनै लागा । सुनतहि सीता
कर दुख भागा ॥ (मानस ५ । १३५)

निष्फासनकालमे वे प्राणत्याग कैसे करे ? रामका
दायित्व जो है—

दुखी सिय पिय विरह तुलसी सुखी सुत सुख पाय ॥

श्रीसीताका वधूजीवन दुखका एक महासागर है ।

श्रीहनुमान्‌ने इसे स्पष्ट करते हुए कहा था—

निनिप निमिप कहनानिधि जाहिं कल्प यम बीनि ।
त्रेगि चलिज प्रभु भानिअ भुज बल खल डल जीति ॥

और पुनः उन्होने श्रीरामकी—‘बचन काढ मन मम
गति जाही । सपनेहुं वृजिम विपति कि ताही ॥’
इस शङ्काका समाधान करते हुए कहा था—

कह हनुमंत विपति प्रभु सोई । जब तब सुमेरन भजन न होई ॥

श्रीहनुमान्‌जीके शब्दोमे श्रीसीतार्जीकी विपत्ति-कथा
अकथनीय है—

सीता के अति विपति विसाला । विनहिं कहे भलि दीनदयाला ॥

सती सीताकी निष्ठा श्रीराममे इतनी प्रगाढ है कि
वे जीवनमे श्रीरामको या मरणको ही चाहती है । यही
कारण है कि सीताने कञ्चनपुरीमे आकर लङ्घापतिको
नजर उठाकर भी नहीं देखा । उससे बाते करनेमे भी
उन्होने ‘तृण’का सहारा लिया ।

अपने सतीत्वपर श्रीसीताको अद्व विश्वास है और
प्रभु-नामका पूरा भरोसा । ये ही दोनों संबल उनके
निर्वासित जीवनमे भी धैर्य, सहिष्णुता और जिजिप्सा
प्रदान करते रहे । अपूर्व कष्ट-सहिष्णुता है—उनमे ।
रावणकी विशाल शक्ति और प्रभुताको उन्होने दुकरा दिया
और श्रीराम-प्रतापके बलपर जीता रहा । अपने सतीत्वकी
उन्होने प्रवासमे भी रक्षा की । यही कारण है कि महासती
अनमूल्याने श्रीसीताके सामने सतीके लक्षण और वर्गाकरण
उपस्थित करते हुए श्रीसीताको सती नारियोके प्रथम
वर्गमे रखा और अपनेको दूसरे वर्गमे । उन्होने यह भी
स्पष्ट कर दिया कि सब लक्षणोंके लक्ष्य तो सीताजी स्थयं
ही हैं, कथा तो मात्र जगत्-कल्याणके, लिये कही
गयी है—

उत्तम के अस बस मन जाही । सपनेहुं आन पुरथ जग नाही ॥
मध्यम परपति देखड कैमे । भ्राता पिता पुत्र निज जैसे ॥

सुनु सीता तव नाम सुमिरि नारि पतिभ्रत करहिं ।

नोहि प्रान प्रिय राम कहिंडे कथा मंसार हित ॥

(मानस ३ । ४ । १२ दो० ५)

ऐसी ही अपनी बेटी सीताको जब जनकजीने चित्रकूटमें तापस नेपां दखा । उनकी प्रसन्नतावी सीमा न रही । उल्लङ्घित वाण्ठसे वे बोल उठे—

पुत्रि पवित्रि क्रिए कुल द्रोज । सुजस ध्रवल जग कह सब कोअ ॥

सती सीताकी पवित्रताकी उपमा उन्होने गङ्गासे ढी और श्रीसीताको गङ्गासे भी महत्तर बतलाया—

जिति सुरसरि कीरति सरितोरी । गवनु कीन्ह विधि अंड करोरी ॥
गंग अदनि थल तीनि बड़ेर । एहिं क्रिए साधु समाज बनेरे ॥

(मानस २ । २८६ । ३-५)

इस प्रकार यहाँ भी सीताचरित्र परम बन्य है—‘एतिहि प्रबोध चरित सुनि जासू ।’ सती-साध्वी सीताक चरित्रपर ज्ञात-अज्ञात जो भी शङ्खाएँ उत्पन्न हुई, उनका निराकरण साध्वीने प्रथमवार छङ्गमें अपनि-परीक्षा देकर यह कहते हुए किया था—

जौं मन बच कम मम उर भाही । तजि रघुवीर आन गति नहीं ॥
तौं कृसानु सब के गति जाना । मो कहु होउ श्रीखंड समाना ॥

और सतीके प्रतापसे सब श्रेयस्कर हुए—

प्रतिविव अरु लोकिक कलंक प्रचंद पावक महं जरै ।
(६ । १०८ । ४० ५७)

दूसरी बार कलङ्कका निवारण सीताको निर्वासिता होकर करना पड़ा । लोकमें चर्चा चलने लगी थी । श्रीरामने लोकहितमें यह निर्णय ले लिया था—

चरचा चरतिथों चरची जनमन जान मनि रघुराइ ।
हूत-सुख सुनि लोक धुनि वर घरनि वृश्ची आइ ।
तात तुरतहि माजि स्थंदन सीय लेहु चढाइ ।
वाल्मीकि मुनीस आश्रम आइहु पहुँचाइ ॥
(गीतावली ७ । २७)

सीताजी निष्कासिता होकर वाल्मीकिके आश्रममें चली गयी । सीता-चरित्रकी यह विशेषता है कि उन्होने पतिकी

छङ्गके विरुद्ध आनाकानी नहीं की और न अपने अविकारोंको ही मनमें स्थान दिया । आश्रमतक पहुँचाने वाले लक्षणसे उन्होने मात्र इतना ही कहा था—‘पालियी मब तापयिनि ज्यों राजधर्म चिचारि ।’ सीताजीने अपने लिये किसीमें कुछ न माँगा । विवाहके पूर्व उन्होने गोरीसे मात्र मनोरथ-प्रतिकी याचना की और वैयाहिक जीवनमें गङ्गासे अपने पति-देवरके माय मकुशल लोटनेकी ।

श्रीसीताजीक चरित्रका नामरा रूप उनके सफल मारुत्वमें है । लव-कुण्डके जन्मके बहूत पूर्व ही उन्होने श्रीहनुमानजीको पुत्र मान लिया था—‘अजर अमर गुननिधि सुत हांहू’ और आजीवन उन्हे पुत्र मानती हीं । श्रीसीताजीके मातृहृदयको परम्परा ही श्री-सूमित्राने बनगमनके समय श्रीलक्षणसे कहा था—‘तात तुम्हारि मातु बेदेहो’ । श्रीसीताजी मात्र इतने ही लोगोंकी माँ नहीं हैं । वे जगउजननी हैं, ससारका उद्धवकारिणी हैं । लोकिक रूपसे लव-कुशको जन्म देकर भी सीता दुखी ही रही । उनका जीवन हर्ष-विषादका विचित्र सम्मिश्रण रहा ।

दुखी सिय पिय-विरह तुलसी, सुखी, सुत-सुख पाइ ।
आँच पय उफनात सीचत यक्किल ज्यो सकुचाइ ॥
(गीतां ३६)

श्रीसीताका सभूष्ण जीवन मार्वी पार्दिके लिये एक संदेश है । नारी करुणाकी प्रतिमूर्ति है । उसका जीवन जगतकी उम्मति और पालनके लिये है । उसकी पूर्णता मातृत्वमें है और सफलता पातिव्रतमें । वह पुरुषसे भिन्न नहीं, उसका अभिन्न अहं है । वे माया हैं, ब्रह्मकी आहादिनी शक्ति हैं ।

‘गिरा अरथ जल बीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न ।’

आतृ सेवी लक्ष्मणजीका आदर्श चरित्र

(लेखक—दौ० भीदेवकीनन्दनजी श्रीवास्तव)

शेषावतार लक्ष्मण परात्पर परब्रह्मके नगवता। भगवान् रामके अनन्य सहचर, नित्य-वन्धु और परम नैषिक भक्त हैं। वे लोकमें सामान्य धर्मके प्रतिष्ठापक मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामकी द्वस्यमयी लीलामें विशेष धर्मके चरम आदर्श हैं। आदिकवि वाल्मीकिने लक्ष्मणको श्रीरामका 'वहिः प्राण इच्चापरः' कहकर दोनोंको अभिज्ञात्माके रूपमें देखा है। लक्ष्मणमें भगवान् रामका इतना प्रगाढ़ ममत्व या कि शैशवकालमें विना लक्ष्मणके न वे सो पाते न खा पाते थे—'स च तेन विना निद्रां लभते न पुरुषोत्तमः'। गोखामी तुलसीदासने दोनोंके सनातन सम्बन्धकी प्रगाढ़ताकी अभिन्नता राजर्पि जनकके इस गूढ़ वाक्यमें की है—

ब्रह्म जो निगम नेति कहि गावा। उभय वेष धरि की सोइ आवा॥

(मानस १ । २१६ । १)

एक ही परब्रह्म मानो दो वेष धारण करके प्रकट हुए हैं। तत्त्वतः रामसे अभिन्न होते हुए भी व्यवहारत लक्ष्मण उनके सनातन सखा और सुदृढ़ हैं। खरूपतः उन्हींकी प्रतिमूर्ति होते हुए भी लीलार्थ उनके पूरक रूपमें हैं। खभावसे उपर लक्ष्मण खभावसे प्रशान्त भगवान् रामके चरित्र एव व्यक्तित्वके सम्पोषक हैं। उनका यश रघुवशमणि श्रीरामकी कीर्ति-पताकाको धारण करनेवाले दण्डके समान है—

रघुपति कीरति विमल पताका। दण्ड समान भयउ जस जाका॥

(मानस १ । १७ । ३)

शुभ लक्षणोंके धाम, भगवान् रामके परम प्रिय तथा सकल जगत्के आधार होनेके कारण ही वसिष्ठने उनका लक्ष्मण जैसा उदार एव उदात्त नाम रखा था—

सच्छन धाम राम प्रिय सकल जगत आधार।

युरु वसिष्ठ तेहि रस्ता लक्ष्मण नाम उदार॥

(मानस १ । १९)

लक्ष्मणजीके खभावका विचित्रता यह है कि उनवीं सारी उग्रता, उनका सारा शेषवेश अवतार-आलोके विविध प्रसङ्गमें सर्वाशेष अपने परम इष्टदेव रामके प्रति समर्पित है। उनका सारा व्यक्तित्व रामके व्यक्तित्वके लिये ही अनन्य भावेन सक्रिय रहता है। सिवा भगवान् रामके नित्य सामीप्य-लाभसे उनका अपना कोई स्वार्थ नहीं, कोई परमार्थ नहीं। उनके विशेष धर्मका रहस्य यही है कि उनके लिये सामान्य धर्मकी उपयोगिता सर्वत्र नगण्य है। कोई भी ऊँचा-से-ऊँचा नैतिक, धार्मिक अथवा सांस्कृतिक-आदर्श उनके लिये उसी सीमातक महत्वपूर्ण है जहाँतक वह रामके अनन्य साक्षियमें सहायक हो। सहज सलोना उनका गोरे शरीर परम छुकुमार और उनका संवेदनशील हृदय राम-प्रेमसे लबालब भरपूर है। परंतु अपने इष्टदेव राम-पर किसी प्रकारकी आँच आनेकी सम्भावना मात्रसे वे परम कठोर और असहिष्णु हो उठते हैं। उनका सर्वस्व पनसा-वाचा-कर्मणा रामप्रेमकी प्रगाढ़ताके वशीभूत हो सपूर्ण वेगके साथ उर्जासित हो उठता है।

वनुष-गङ्गा-प्रसङ्गमें जनक और परशुरामके प्रति लक्ष्मणका तीव्र आक्रोश, चित्रकूट-प्रसङ्गमें भरत-शत्रुघ्नके प्रति उनका असाधारण रोषपूर्ण वीरोत्साह इस तथ्यके व्यलन्त प्रमाण हैं। रामके चित्तमें ननिक-सी भी उलझन उन्हें सहन नहीं। वे तत्काल उस उलझनके मूलोच्छेद हेतु व्यग्र हो उठते हैं। खार्षसम्बन्धसे सर्वथा मुक्त उनकी यह असहिष्णुता भी रागबोधके स्तरपर कितनी भोली और छुकुमार लगती है। सच बात तो यह है कि उनके इस उपर और अन्द्र व्यक्तित्वके साहचर्यके बिना मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीरामके व्यक्तित्वका प्रभाव एवं उत्कर्ष भलीभाँति उजागर न हो पाता। श्रीरामका

असामान्य शील-निर्वाह अनेक अशोमे लक्षणके असामान्य तेज-प्रवाहके बलपर ही इतना आकर्षक एवं प्रेरणादायी हो सकता है।

धनुष-यज्ञमे आये हुए सारे राजा शकरके धनुषको तिळभर मी हिलानेमे असर्व द्वौकर वैठ जाते हैं और जनक अपना क्षोभ व्यक्त करते हैं। उस समय रघुनन्दन राम तो शान्त रहते हैं पर लक्षणमे नहीं रहा जाता और वे पूरे वेगके साथ जनकपर वरस पड़ते हैं, उनकी उग्रमुद्रा सर्वाका ध्यान खाच लेनी है—

माये लक्ष्मनु कुटिल भई भौहें। रट पट फरकत नयन रिसौहें॥

कहि न सकत रघुचीर डर लगे बचन जनु बान।

नाइ राम पट कमल सिंह बोले गिरा प्रभान॥

(मानस १। २५२)

उनकी यह गवोक्ति भी भगवान् रामके प्रतापकी अभिव्यक्तिसे ही प्रेरित है—

सुनहु भानुकुल पंकज भानू। कहउं सुभाउ न कहु अभिमानू॥
जौ तुम्हारि अनुसासन पावौ। कंदुक इव ब्रह्मांड उठावौ॥
काचे वट जिमि ढारौ फोरी। सकड़े मेरु मूलक जिमि तोरी॥
कमल नाल जिमि चाप चढावौ। जोजन सत प्रमान लै धावौ॥

तोरौ छत्रक डड जिमि तव प्रताप बल नाथ।

जौ न करौ प्रभु पट स्पव कर न धरौ धनु भाथ॥

(मानस १। २५३)

परशुराम-लक्षण-संवादमे लक्षणकी व्यङ्ग्योक्तियों उनके हास्य-विनोद-व्यङ्ग्य-सम्बन्ध वाक्यात्युर्यका परिचय देती हैं। वाद्य ल्लोकमर्यादाकी दृष्टिसे कही-कही उनकी उक्तियोंमें शिश्याचारका उल्लङ्घन मी प्रतीत होता है, पर इष्टदेव रामके प्रति उनका तीव्र अनुराग ही मर्यादा-तिक्रमण-हेतु उन्हे प्रेरित करता है। परशुराम क्रांतिवेशमे अपना संयम खो वैठने हैं, पर लक्षण उनकी सारी डॉट-फटकार मुनते हुए और उन्हे चिढाने हुए स्वयं प्रकृतिस्थ वने रहते हैं; क्योंकि उनकी सारी व्यङ्ग्योक्तियों अहंकारकी स्वार्थगत भूमिपर न होकर एकमात्र परम

इष्टदेव रामके स्वभाव एवं स्वरूपकी गाँध-प्रतिष्ठाकी ओर अप्रसर है। उनके इस प्रकृतिस्थ व्यङ्ग्य-चानुरुक्ती पक्ष बलक देखिये—

भयउ बाम विवि फिरेउ सुभाऊ। मोरे हृदये कृपा कमि काऊ॥
आजु दया दुखु दुमह महावा। सुनि सौमित्रि विहसि सिरु नावा॥
बाउ कृपा मूरति अनुकूल। बोलत बचन झरत जनु फूला॥
जौपै कृपां जरहिं सुनि गाता। क्रोध भएं तनु राख विधाता॥

(मानस १। २८०)

चित्रकूट-प्रसन्नमे जब दूरसे उडती हुई ध्रुलिको देखकर और यह सुनकर कि भरत चतुरहिणी सेनाके साथ आ रहे हैं, रामके चित्तमे कुछ उल्लग्न होती है, उसका संकेतमात्र पाते ही लक्षणका वीरोत्साह पूर्ण अमर्पके साथ जाग उठता है और वे राम-प्रेममे भ्रातृभावकी मर्यादाका अतिक्रमण करके कह उठते हैं—
आजु राम सेवक जसु लें। भरतहिं समर सिंजावन दें॥
नाम निरादर कर फलु पाई। सोवहुं समर सेज दोइ भाई॥

(मानस २। २३०)

भले ही लक्षणका यह वीरोत्साह भरतके स्वभावकी गरिमा और महिमाको देखते हुए स्वाभाविक नहीं प्रतीत होता, पर रामके अनिष्टकी संभावनाकी शकामात्र लक्षणकी सारी ऊर्जाको सक्रिय कर देती है। यह रामके प्रति उनकी असाधारण सावधानी और उनके विशेष अनन्य सेवाधर्मकी प्रवल भावनाका उन्मेप है। अयोध्यामे वन-गमनके अवसरपर भगवान् श्रीराम लक्षणको धर्म एवं नीतिका उपदेश देते हुए रुक्नेका आदेश देते हैं, पर अपने इष्टदेवका मी वह आदेश उन्हे नहीं सुहाना जो उन्हे इष्ट-सेवाके सुखसे वञ्चित करे। उनके इस विशेष सेवाधर्मके आगे सारे अन्य धर्म गौण हैं, त्याज्य हैं। यही कारण है कि वे माता, पिता, पत्नी आदि सभी आत्मीयजनोंका ममत्व त्यगकर सर्वभावेन रामकी सेवाके लिये चल पड़ते हैं। वे किसी धर्म एवं नीतिका विरोध नहीं करते पर अपने विशेष धर्मके मार्गमे आनेवाले किसी भी आदर्शको स्वीकार करनेकी स्थितिमे नहीं हैं।

उनकी अपनी स्नेहपूर्ण विवशताकी अभिव्यक्ति स्वयं
उन्हींके शब्दोमें द्रष्टव्य है—

दीन्हि मोहि सिख नीकि गोसाईँ । लागि अगम अपनी कठराईँ ॥
नरवर धीर भरम झुर धारी । निगम नीति कहै ते अधिकारी ॥
मै लिसु प्रभु सनेह प्रतिपाला । मझर मेरु कि लेहिं मराका ॥
गुर पितु मातु न जानउ काहूँ । कहउ सुभाउ नाथ पतिआहूँ ॥
जहै लगि जगत मनेह मगाई । प्रीति प्रतीति निगम निजु गाई ॥
मोरे मब ॥ एक तुम्ह म्वामी । दीनचंधु उर अंतरजामी ॥
धरम नीति उपदेमिअ ताही । कीरति भूति सुगति प्रिय जाही ॥

(मानस २ । ७२ । ३४)

लक्ष्मण भगवान् रामके अनन्य सेवक ही नहीं,
परामर्शदाता सनातन सम्बोधी हैं । विरही रामको
आश्वासन देनेमा दायित्व भी वे निभाते हैं ।

लक्ष्मण और रामके प्रगाढ़ स्नेह-सम्बन्धकी सर्वाधिक
मार्मिक अभिव्यक्ति लक्ष्मण-मूर्छा-प्रसंगमे होती है—जब
राम स्वयं लक्ष्मणके विना जीवन-धारणमे असमर्थ हो
रहे हैं । फिर मर्यादापुरुषोत्तम सत्यसम्ब रामको
लक्ष्मणकी अनन्य निष्ठासे अभिभूत होकर यहाँतक
कहना पड़ा कि—

जौ	जनतेउ	वन	बंधु	बिलोहू ।
पिता	व वन	मनतेउ	नहिं	ओहू ॥

(मानस ६ । ६१ । ३)

‘वन्धु-वाहू’ लक्ष्मणके विना उनका सारा पुरुषार्थ
शिथिल हो जाता है और वे प्राण छोड़नेको आतुर
प्रतीत होते हैं—

मेरो मब पुरुषारथ थाको ।

बिपति बेटावन बधु-वाहू बिनु करौ भरोसो काको ॥
सुनु, सुग्रीव ! मोंचेह मोपर फेरन्हो बडन बिधाता ।
ऐसे समय नमर-नमकट हौं तज्यो लपन-सो आता ॥
गिरि, कानन जैहैं साक्षा-मृग, हौं पुनि अनुज-संघाती ।

(गीतावली ६ । ७)

सजीवनी पाकर मूर्छासे जाप्रत् लक्ष्मणसे जब
पीड़के सम्बन्धमें पूँछते हैं तो प्रेम-पुलकित-निमोरे

अनुजका किनना भोला, स्तिथ एवं रोचक उत्तर
निम्नलिखित पदमें वर्णित है—

हृदय घाउ मेरे, पीर रघुवीरै ।

पाइ मजीवन, जागि कहत थों प्रेमपुलकि विमराय सरीरै ॥
मोहि कहा बूझत पुनि उनि, जैसे पाठ-भरथ-चरचा कीरै ।
मोभा-सुव छिन्नाहु भूपकहै, केवल कांति-मोल हीरै ।
तुलमी सुनि न्यामित्रि-चवन सब धरि न मकत धीरो धीरै ।
उपमा राम-लक्ष्मणकी प्रीतिकी क्यों दीजै नीरे-नीरै ॥

(गीतावली ६ । १५)

श्रीरामको तो विवेकी हम पृथक् भी कर सकता है,
अतः रामसे सर्वात्मना अभिन्न लक्ष्मणके प्रेमकी उपमा
उसमें कैसे दी जाय ?

जिनका अगाध प्रेम कोटि हिमगिरि-जैसे अचल धीर
भगवान् मर्यादापुरुषोत्तम रामको इनना अधीर और
किंकर्त्तव्यविमूढ बना दे, उन लक्ष्मणके व्यक्तिव्यक्ती तुलना
भला रामकथाके किस अन्य पात्रसे सम्भव है ? ‘चातक
चतुर राम शमाम धनके’ कहकर उर्मिलावल्लम अनन्य
विशेष धर्मनिष्ठ लक्ष्मणके जिस स्वभावका उद्धाटन
गोस्वामी तुलसीदामने विनय-पत्रिकामे किया है, उसमे
उनके सारे चरित्रकी रूपरेखाका सहज साक्षात्कार हो
जाता है । उर्मिलाका न्यागमय जीवन भी प्रियतम लक्ष्मण
सीता एवं रामके प्रति अनन्य निष्ठाकी परिपूर्णताको
चरितार्थ करता है । जैसे लक्ष्मणका व्यक्तित्व रामके प्रति
सर्वाधीन समर्पित है, वैसे ही सती-साती सुकुमार-हृदय
उर्मिलाका परोक्ष योगदान लक्ष्मणके प्रत्यक्ष योगदानकी
अपेक्षा कहीं अधिक सृज्म पूर्वं गम्भीर है । सुमित्रानन्दन
उर्मिलावल्लम रामार्पित तन-मन-प्राण साक्षात् परात्पर पुरुषो-
त्तमके ही सनातन प्रतिरूप सुकुमार-हृदय लक्ष्मणका चरित्र
पूर्व व्यक्तित्व अनूठी रहस्यमयनामे मणित है । भ्रातृ-भावके
चरित्रोन्नायकके रूपमें इनका चरित्र अनुकरणीय है ।

भरतका आदर्श एवं उत्प्रेरक चरित्र

(लेखक-श्रीमुकुटसिंहजी भद्रारिया)

प्रनवर्णे प्रथम भरत के चरना। जासु नेम व्रत जाइ न चरना॥
(मानस १। १६। २)

श्रीगोखामीजीने रामचरितमानसमें भाष्योंमें सर्वप्रथम श्रीभरतजीके चरणोंकी वन्दना की है। उनके नियम और व्रतोंका वर्णन नहीं किया जा सकता है। कहते हैं कि गोखामीजीने स्वयं अपने कानोंसे श्रीभरद्वाज मुनिद्वाग कहीं रामायण सुनी थी। इधर श्रीभरद्वाज मुनिद्वाग भरतजीको उच्चश्रेणीकी सनद प्राप्त हो चुकी थी। श्रीतुल्सीदासजीने उन्हें किस लिये प्रथम स्मरण किया। श्रीभरद्वाज मुनिने कहा था—

तुम तौ भरत मोर मत एहू। धरें देह जनु राम सनेहू॥
(वही २। २०७। ४)

अतः गोखामीजी इसकी पुष्टि करते हैं—

राम चरन पंकज मन जासु। लुब्ध मध्यप इव तजइ न पासु॥
(वही ३। १६। २)

श्रीभरतजीका मन रामजीके चरणकम्लोंमें भार।। भाँति लुभाया हुआ है, कमी उनका पास नहीं छोड़ता। थतः सर्वप्रथम प्रभुप्रेमी भरतकी वन्दना करना आवश्यक था। श्रीभरतजी रामजीके स्वरूप हो हैं। वे व्युहावतार माने गये हैं। उनका वर्ण भी श्रीरामसे मिलता है। उनके पहचाननेमें भ्रम हो जाता है; यथा—

भरत राम ही की अनुहारी। यहसा लखि न मकहिं नर नारी॥
(वही २)

श्रीवस्त्रियों नामकरण-संस्कार कर रहे हैं। उन्होंने विश्वका भरण-पोषण करनेवाले होनेके कारण इनका नाम 'भरत' रखा। मुनिने कहा था—

विश्व भरन पोषन कर जोई। ताकर नाम भरत अस होई॥
(वही १। १९६। ४)

धर्मके आधारपर ही सृष्टि है और धर्म ही पृथ्वीको धारण किये हुए है। भारत इति धर्मकी कीलको धारण करने वाले थे—

जौं न होत जग जनम भरत को। मकल धरम धुर घरनि धरत को॥
(वही २। २३२। १)

श्रीरामजीको मर्यादायुक्तोत्तम कहा गया है; उन्होंने कर्म धर्मकी मर्यादा भज नहीं की। वे लक्ष्मणजीसे स्वयं कहते हैं कि भरतजीका चरित्र-चित्रण करना मायागण बाल नहीं है। वह मायागण अकिञ्चनी बुद्धिसे परे हैं—

सुनहु लघन भल भरत मरीसा। विधि पर्यं च महँ सुना न दीसा॥
(वही २। २३०। ४)

'लक्ष्मण। सुनो, भरत-सरीखा उत्तम पुरुष ब्रह्माकी सृष्टिमें न तो कहीं सुना गया और न देखा गया।' इन सबका कारण भरतकी भ्रातृ-भक्ति, प्रभु-चरण-प्रेम और उनका आदर्शचरित्र ही था। जनकपुरमें धनुष दृष्टा हैं। अवधपुरीमें दूत वहाँसे समाचार लेकर आते हैं। उस समाचारको सुनकर भरतजी पुलकित हो जाते हैं। भरतजीके पवित्र प्रेमको देखकर सारी समाने सुन्न पाया। महाराज दशरथके आदेशपर 'चलहु वेणि रघुवीर घराता।' भरत और शत्रुघ्न 'पुलक प्रेम पूरे दोउ आता।' आप कहेंगे कि दोनों भाई पुलकित हुए, इसमें भरतका ही क्या विशेषता रही। भाई ! शत्रुघ्न तो भरतके अनुगामी थे। भरतको देखकर उन्हें तो पुलकित होना ही था; क्योंकि वे ये 'सूर सुमील भरत अनुगामी।'

श्रीभरतलालजी परिवारके शुभ-चिन्तक थे। माता कैकेयीके वर-याचनाके समय श्रीभरतलालजी ननिहाल्जों थे। परतु,

अनरथु अवध भरं भेड जव तें। कुमगुन होहिं भरत कहुं तव तें॥
(वही २। १५६। ३)

अयोध्यामें अनर्थ प्रारम्भ होते ही भरतजीको अप-शकुन होने लगे। वे रात्रिमें भयंकर स्वप्न देखते,

आदिश अनुपम वित्तनीचारा



उन स्वप्नोंके बारेमें जागनेगर करोड़ों प्रकारकी दुरी-
दूरी कल्पनाएँ किया काते थे और इनके
निशानार्थ थे—

यामहि हृदयं महेस मनाई । कुस्त मातु पितु परिजन भाई ॥
(मानस २ । १५६ । ४)

शिवजीसे परिवारकी कुशल मनाने हैं । इसी वीच
अयोध्यासे दूत आ जाने हैं । दूरोंने कहा—‘भगवती !
आपको गुरुजीने बुलाया है ।’ फिर क्या था—

चले समीर वेग हृषि हौंके । नाभत मर्गत खेल रन बौंके ॥
दृढ़य सोचु बड़ कद्दु न सुहाई । अग जानहि जिन्ह जाउं उठाई ॥

(वही २ । १५७ । १)

इवाके समान चलनेवाले बोडोंको हाँकते हैं कि वे
और तेज चले । विकट नदियाँ, पर्वत और जंगलोंको
छोड़ते जा रहे हैं । उनके (भरतके) हृदयमें बड़ा
सोच है । कुछ सुहाता नहीं । मनमें ऐसा विचार कर
रहे हैं कि उड़कर पहुँच जाऊँ । परिवारसे चिन्तित
होनेके कारण मार्गमें पुल आदिका विचार नहीं, सीधे
नह रहे हैं । फिर भी आतुर हैं कि शीत्र अयोध्या
पहुँच जायें । ऐसे थे, भरतजी परिवारके शुभचिन्तक ।
श्रीभरतजी अपने परिवारके मर्यादिय व्यक्ति थे ।
माता कौसल्याजीसे श्रीराम वन-गमनकी आज्ञा माँग रहे
हैं । माता वहती हैं—

राजु देन कहि दी-ह बनु मोहि न सो दुल लेसु ।
तुम्ह विनु भरतहि भूपतिहि प्रजहि प्रचंड क्लेसु ॥
(वही २ । ५५)

(राजा दशरथजाने) राज्य देनेमां कहकर तुम्हें वन
दे दिया, इसका मुझे लेशमान्न दुःख नहीं है । (दुःख
नो इस बातका है कि) तुम्हारे विना भरतको, महाराज-
को और प्रजाको बड़ा भारी कष्ट होगा । सबसे पहले
माताजीको श्रीभरतलालकी चिन्ता हृड़ । श्रीरामचन्द्रजी
चित्रकृष्णकी पर्णकुटीमें हृते हृए ‘भरत सनेह सील
सेवकाड़’का स्मरण कर ‘कृषा सिंधु प्रभु होहि दुखारी ।’

तथा प्रभुको दुखी देवकल ‘लखि सिय लखन विकल
होइ जाई ॥’ चित्रकृष्टमें पाता कौसल्या पूनः अपने
वचनोंकी पुष्टिमें सूनयनाजीसे कहती है—

लखनु रामु सिय जाहुं वन भल परिनाम न पोचु ।
गहवरि हियैं कह कौसिला मोहि भरत कर सोचु ॥
(वही २ । २८९)

ये भरतजीको मानवना भी देनी हैं—
‘अहनि राम प्रिय तात तुम्ह मना वचन मन छाँय ।
तथा वार-वार पुष्टि भी करती है—‘तुम्ह रघुपतिहि
प्रानदु ने प्यारे ।’ श्रीभरद्वाजजीने भी भगवतीमें इमका
समर्थन फरते हृए कहा था—

‘सुनहु भरत रघुवर भन माही । पेसु पाद्र तुम्ह मम कोउ नाही ॥’
‘लग्नन राम मीतहि अति प्रीती । निमि सब तुमहि मनहात यीती ॥

निषादराज भी सीगन्ध खाकर भरतको विश्वास
दिलाते हैं—‘तुलसी न तुम्ह मो राम प्रीतसु कहन है
मौहें क्लिए ।’ इन प्रकारणोंसे सिद्ध है कि श्रीभरतजी
परिवार-प्रिय व्यक्ति थे । वे सकोची भी कम न थे ।
संकोचवश वे कभी श्रीरामसे मीठी बात भी नहीं करते
थे । उन्होंने स्वयं कहा है—

महूं मनेह संकोचवश सनसुख कही न वैन ।
दरसन वृपित न आजु लगि पेम पिआसे नैन ॥

ऐसे सकोची एवं अनुरागी, भ्रातृ-भक्त भरतजीको जब
पता लगा कि महाराज दशरथकी मृत्यु हो गयी है तो वे
विपादसे बेदाल हो गये और तात ! तात !! हा तात !!!
पुकारते हृए भूमिपर गिर पड़े । परतु, जब उन्होंने
कैकेयीसे राम-वन-गमन सुना तो—

भरतहि विसरेड पितु मरन सुनत राम वन गाँनु ।
हेतु अपनपउ जानि जिय थकित रहे धरि मौनु ॥

श्रीरामजीका वन जाना सुनकर वे पितु-वियोग-विषाद
और घोर दुःख तुरत भूल गये । हृदयमें इस अनर्थका
कारण द्वयं अपनेको ही जानकर वे मौन हो गये ।
वे सन्न रह गये । वडा संकोच हुआ उन्हें ।

उन्होंने कंकेयीको बड़े कठोर शब्द कहे। परनु ऐसी दशामें भी वे दयाके मारा बने रहे। जिस मन्यगने यह सब उत्पात उत्पन्न किया था, उसे जब श्रीशत्रुघ्नीजी दण्ट देने लगे तो छुड़ा दिया 'भगव वधानिवि दीक्षित छुडाई।' धाताको वे माल्यना देते मग्य दोनों हाथ जोड़कर पवित्र और सीधी बां बोले—'हे मौं ! यदि राम-वन-गमनमें मेरी सम्मति हो तो कर्म, वचन और मनसे हांनेवाले जिनमें पातक और उपपातक हैं। जिन्हें कविगण पाप गिनते हैं, वे मव पाप मुझे लगे।'

वे श्रीभद्राज मुनिकी पहुँचाई सकोचवश अन्धीकार न कर सके और यह मोचकर कि यह विना अवगम बेटंगा सकोच आ पड़ा, बोले—'मिर श्री आश्रम करिअ तुम्हारा।' पहुँचाई स्वीकार की। परनु श्रीभद्राज-जीकी बाजासे रातभर भोग-भूमि प्रियोके पास रहनेपर भी भरतजीने मनसे भी उनका स्वर्ण नहीं किया। धन्य हूँ, श्रीगम्भेम ! कैसे करते ? 'राम लखन मिय बिनु पग पनहो। करि मुनि बेप किरहि बन बनहो।' इस दुःखसे उनकी आती जल गही थी। उन्हें 'भूम न बासर नीट न राती।' कुछ नहीं मुहाना था। उन्होंने अयो-याकी राज्यममासे अपनी सप्त शोणगा की—

आपनि दासन दीनता कहडे मचहि मिर नाड़।

देखें बिनु रघुनाथ पड़ जिय कै जगनि न जाड़।

अब वे श्रीगमको लौटाने चल पड़े। चित्रकूट जाने मुम्य वे ख्यं उपचास करते, बाट-मूल-फल खाने और भ्रमिपर शयन करते थे। प्रथम दिनकी यात्राका प्रभाव भरतजीके पीछे चलनेवालोपर पड़ा।

फिर क्या था ? अध्यारोही अश्वको, गजारोही गजको और रथारोही रथको छोड़कर पैदल चलने लगे। परनु अपने पुत्रोपम प्रजाकी और मानुज भरतकी इस भावमयी यात्राका अवलोकन करनेमें राजमाता कौसल्याजी असमर्थ हो गयी। वे ढोली

गवाकर कहने लगी—मैं लाट ! तुम रथपा आमद हो लो, अन्यथा नुस्खा यह श्रिय परिवार महान् कठेग प्राप करेगा। कविभुल-कमल-दिवाकर प्रथ्यवश श्रीगोद्वार्मीजीने गजमाताद्वाग यह भी कहला दिया कि यहि त पैदल चलेगा तो मैं भी शिविकाका व्याप कर दैँगी। गजमातार्की आमीयतापूर्व मनुषिका-गमगाना अनुगमानी और आंजियनी वाणी सुनकर गतजी मंसोचवश तनु-नच त कर सके और—

मिर धरि वचन चरन मिर नाड़। रथ यहि चलन भण डोड भाढ़॥

अब भरतलालजीकी एक और अनुगमयी आर्किं दर्शन करें—

प्रातकिया करि मानु पट बंदि गुरहि मिर नाड़।

आगे किए नियाद गन दीन्देट करकु चलाड़॥

(मानस = १२०२)

प्रानःकालीन गौच, स्नान, सन्ध्या-बन्दनादि दैनिक कर्ममें निवृत्त होकर भरतजीने क्रमः समान्य माताओं तथा मुनिश्रेष्ठ यमिष्ठजीके चरणोक्ती चलना की। वन्य-पशु-प्रदर्शक नियादगणको आगे करके सेना- (समाज-) को प्रस्थान करनेकी अनुमति दे दी। तथ्यात नियाद-राजको आगे करके इर्हके मंस्त्रणमें माताओंकी शिविमाथोने प्रशाण किया। श्रीभरतलालजीने श्रीशत्रुघ्नीजी-को बुलाकर नियादगजका महगार्मा बना दिया। श्रीशत्रुघ्नीजी भी मरतजी आज अपने महवाममें नहीं ले रहे हैं। यह एक विशेष बात है। भ्रमुरवृत्तोके माय गुरुदेवने भी प्रस्थान किया। समस्त समाजके प्रस्थान का लेनेपर, भरतजी परम पवित्र-मलिला श्रीसुरसिताकी बन्दना करके सानुज श्रीमीतागमका मङ्गलमय सरण कर आगे बढ़े। पर आजकी गतिविधिमें भूमि-आकाशका अन्तर है। अन्य समाज, समस्त जनसमुदाय बाहनेपर हैं और श्रीभरतजी 'पथादेहि पाप' हैं। अब लेकर सुसेवक साथमें चल रहे हैं

और सोच रहे हैं कि कुछ दूर चलनेपर खासी अवश्य घोड़ेपर सवार होंगे। परतु, यह क्या? वहुत समयपर्यन्त भी श्रीभरतजी उनकी ओर देखतेक नहीं हैं। इसपर उन सेवकोंका धैर्य टूट जाता है। वे लोग प्रार्थना करने लगे—‘खामिन्! आपके सुकोमल चरण इस कठोर भूमि में चलने योग्य नहीं हैं। नाथ! अश्वारूढ़ हो जायें।’ इन वचनोंको सेवकोंने कई बार कहा—

कहहिं सुसेवक बारहिं बारा। होइअ नाथ अस्व असवारा॥

परंतु श्रीभरतलालजी प्रेमपर अटल रहे। उन्होंने जो उत्तर दिया, उसे श्रीमहाकविके शब्दोंमें ही पढ़िये—
रामु पयादेहि पायें मिधाएु। हम कहे रथ गज बाजि वनाए॥
सिर भर जाऊं उचित अस मोरा। सच तें सेवक धरमु कडोरा॥

‘भैया! जिस पथपर श्रीरामके चरण पडे हैं, उचित तो यह है कि उस पथपर मेरा मस्तक पडे।’ वे पैदल ही चलते रहे। भरतकी इस पैदल यात्राका समाचार जब जनसमुदायको सन्ध्या-समय प्रयागमें मिला तब वे सब अत्यन्त दुखी हुए। आजकी इस प्रेममयी यात्राने श्रीभरतजीके मनपर तो नहीं, परंतु पैरोंमें छाले डाल ही दिये—

श्लक्षा श्लक्ष याग्न्ह कैसें। पक्ष फोस ओस कन जैसें॥

श्रीरामजीको लौटानेके लिये भरतलालजी जन-समुदाय लेकर चित्रकूट पहुँचे। राजसभामें विचार हो रहा है—
‘अब क्या किया जाय?’ उस समय मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्रजी भरतसे सकोच दूर करके स्पष्ट वचन कहनेको कहते हैं—

मनु प्रसन्न करि सकुच तजि कहहु करौ सोइ आजु।

यह सुनकर भरतजीने ‘मिटी मलिन मन कलपित सूला।’ यह समझकर अपने हृदयका संकोच श्रीरामजीकी ओर प्रेरित कर कहा—प्रभो!

प्रभु प्रसन्न मन मकुच तजि जो जेहि आयसु देब।

सो सिर धरि धरि करिहि सतु मिटिहि अनट अवरेब॥

और, श्रीरामचन्द्रजी यह सुनकर चुप रह गये।

च० नि० अ० १६—

श्रीभरतजीके संकोचका एक और उदाहरण देखिये—

श्रीरामचन्द्रजी वनसे लौट आये हैं। अयोध्यामें राजकाज सुचारूरूपसे चल रहा है। भाइयोंसहित श्रीरामजी सुन्दर उपवन देखने गये। वहाँ सनकादि मुनि आ गये। सत्सङ्गके पश्चात् मुनिगण विदा हुए। अब श्रीहनुमान् जीने श्रीरामसे कहा—

नाथ भरत कहु पूछन चहर्हीं। प्रस्त करत मन सकुचत अहर्हीं॥

श्रीरामने कहा—मुझमें और भरतमें कुछ अन्तर नहीं है। वे बोले—

तुम्ह जानहु कपि मोर सुभाऊ। भरतहि मोहि कहु अंतर छाऊ॥

श्रीरामके चरित्रसे होइ लेनेकी सामर्थ्य रामचरित-मानसमें केवल भरतको ही है। कुछ बातोंमें वे श्रीरामसे भी आगे हैं। श्रीरामने पिताके वचन पूरे करनेके लिये अयोध्याके चक्रवर्तिल्का जन्मसिद्ध अधिकार हँसते-हँसते छोड़ दिया था; किंतु भरतने तो उस राज्यको अनायास ही पाकर और माता कौसल्या, वसिष्ठ, मन्त्रिजन एवं प्रजा ही नहीं, खर्य श्रीरामके अनुरोध करनेपर भी उसकी ओर आँख उठाकर देखातक नहीं। ऐसा था, भरतका अभूतपूर्व त्याग। राजसभामें श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—

यह सुनि समुक्षि सोचु परिहरहु। सिर धरि राज राजाय सु करहु॥
रायें राजपत्तु तुम्ह कहु दीन्हा। पिता वचनु कुर चाहिन छीन्हा॥

मन्त्री हाय जोड़कर कहते हैं—

कीजिभ गुर आयसु अनसि... ...।

माता कौसल्या धीरज धर कर कहती हैं—

सिर धरि गुर आयसु अनुसरहु। प्रजा पालि परिजन दुख्ह हरहु॥

परंतु भरतजी सबको उचित उत्तर देते हैं—

एकहिं जॉक हृहइ मन माहीं। प्रातकाल चलिहड़ प्रभु पाहीं॥

चित्रकूटमें महाराज जनक भी भरतके त्यागके प्रमाणका समर्थन करते हैं। वे कहते हैं—

परमारथ स्वारथ सुख सारे। भरत न सपनेहुँ मनहुँ निहारे॥

श्रीरामने स्वयं भरतजीके ल्यागपर अपना विश्वास प्रकट किया है। वे श्रीलक्ष्मणजीको समझाते हैं—

भरतहि होइ न राजमदु विधि हरि दर पद पाइ ।

चित्रकूटसे लौटकर भरत नन्दिग्राममें रहे। उनके उस तप और सेवाका चित्र महाकविने खींचा है—

जटाजूट सिर मुनि पट धारी । महि खनि कुस साँथरी सँचारी ॥
असन वसन वासन वत नेमा । करत कठिन रिदि धरम सप्रेमा ॥
भूपन वसन भोग सुख भूरी । मन तन वचन नजे तिन दूरी ॥

श्रीभरतजीके नियमों और व्रतोंका वर्णन करनेके लिये महाकवि ही नहीं, अपितु सभी संकोच करते हैं। भरत सफल सुकवि सकुचाहीं। सेस महेस गिरा गमु नाहीं॥

भरतजी—

पुलक गात हिय सिय रघुबीरु । जीह नाम जप लोचन नीरु ॥

—रूपमें रहते थे। धन्य है उनका सेवाकृत ! उनके इस तपकी सब साधु सराहना करते हैं। सबने उन्हें रामकी तुलनामें उच्च स्थान दिया है—

दोउ दिसि (राम और भरत) समुस्ति कहत सब लोगू ॥

सब विधि भरत सराहन जोगू ॥

श्रीभरतजी रामचरितमानसमें सर्वश्रेष्ठ रामभक्त थे। वे स्वयं कहते थे कि ‘सियपति सेवकाई’में ही मेरा हित है। सच पूछिये तो भरत श्रीराम-स्नेहके रूप थे। उनकी भक्तिके कुछ प्रमाणक राम, जो भरतको प्राप्त हुए थे, उन्हें देखिये—भरद्वाज मुनि कहते हैं।

तुम्ह तौ भरत मोर मत पहु । धरें देह जनु राम सनेहू ॥

श्रीमुनिने भरतका स्वरूप किनाना स्पष्ट कर दिया है। कोई भरतको चाहे कुछ समझे, परंतु श्रीमुनिकी सम्मतिमें वे मूर्तिमान् श्रीराम-प्रेम थे। देवगुरु श्रीबृहस्पति भी कहते हैं—

राम भगत परहित निरत पर दुख दुखी दयाल ।

भगत सिरोमनि भरत ते जनि दरपहु सुरपाल ॥

श्रीभरतजी चित्रकूट जा रहे हैं। श्रीसुरेशजी सोचमें पड़ गये, कहीं भरतजी श्रीरामको लौटा न लायें। अतः वे सहायतार्थ अपने गुरु बृहस्पतिजीके पास गये।

गुरुजी बोले—खवरठार ! अब भरतके मार्गमें कोई बाधा न डालना; क्योंकि—

जां अपराध भगत कर करदू । राम रांप पावक न्हो जरदू॥
और—

भरत सरिस को राम सनेही। जगु जप राम रामु जगु जेही॥

रानी सुनयनाको समझाते हुए जनकजी कहते हैं कि यद्यपि रामजी समताकी सीमा हैं; परंतु भरतजी भी प्रेम और ममताकी सीमा हैं—

अबधि सनेह भरत भमता की। जद्यपि राम मीम समता की॥

श्रीराम भी चित्रकूटमें भरतसे मिलनेके बाद कहते हैं—भैया भरत ! तुम दुःखी क्यों हो ? अरे ! तुम्हारे नाम-स्मरणमात्रसे सारे पाप और अज्ञान मिट जाते हैं। भरत ! यह पृथ्वी तुम्हारे ही रखे रह रही है—शिवका साक्ष्य देकर सच कहता हूँ—कहदूँ सुभाट, सत्य सिव माखी। भरत भूमि रह रातरि रात्मी॥

माता कौसल्या चित्रकूटमें रानी सुनयनासे कहती है कि ‘भरतके शील, गुण, नप्रता, वडपन, भाईपन, भक्ति, विश्वास और भलाइयोंका वर्णन करनेमें सरस्वतीजीकी बुद्धि भी हिचकिचाती है। सीपसे कहीं समुद्र उलीचा जा सकता है।’ श्रीराम-माताने अपने प्रमाणमें कह देतुओंका उल्लेख कर भरतको अतुल्य पात्र घोषित किया है—

भरत सीक गुन बिनय बडाहीं। भायप भगति भरोस भलाहीं।
कहत सारद्वहु कर मति हीचे। सागर मीप कि जाहिं उलीचे॥

महर्षि भरद्वाजने प्रयागमें भरतको जो उपदेश दिये हैं, उनके बहाने महाकवि तुलसीदासजीने संसारके भरत-चरित्रिका अवगाहन कराया है। उनके उद्धार हैं—

तुम्ह कहूँ भरत कलंक यहु हम सब कहूँ उपदेशु ।

राम भगति रस सिद्धि हित भा यह समड गनेशु ॥

सुनहु भरत हम झूल न कहहीं। उदामीन तापम बन रहहीं॥

सब साधन कर सुफल सुहावा। लखन राम सिय दरसनु पावा ॥

तेहि फल कर कलु दरम तुम्हारा। सहित पथाग सुभाग हमारा॥

(मानस २ । २०८, २०९ । ३)

और—

भरत धन्य तुम्ह जसु जगु जयऊ ।

(मानस २ । २०९ । ३)

इस प्रसङ्गमे यह भी व्येय है कि सत्ता प्राप्त करनेहेतु प्रायः सर्वत्र दो पक्षोमे युद्ध, विवाद अथवा संघर्ष हुए हैं । परंतु, यहाँ सत्ता-न्यागके लिये विवाद होनेपर सत्ताको दोनो ओरसे त्यागा गया है और इस प्रकार श्रीराम सत्ता छोड़ने और श्रीभरत सत्ता ग्रहण न करनेमें विजयी रहे हैं अर्थात्

दोनों पक्षोंकी जीत ही रही है । क्या आज हम भरत-चरित्रिका अव्ययन करके वर्तमान भाई-भाईके हत्याकाण्डों, मुकदमोंसे वृणा करना सीख सकते हैं ? अवश्य, अध्ययन तो करे । आज हम छोटे-छोटे पदोंके प्राप्ति-हेतु भाईकी हत्यातक करनेमें नहीं चूकते ! कहाँ गया हमारा सनातन चरित्र ?

भरत चरित करि नेमु हुलसी जे सादर सुनहिं ।

सीय राम पद पेमु अवसि होइ भव रस विरति ॥

(मानस २ । ३२६)

भगवान् श्रीकृष्णके आदर्श चरित्रसे शिक्षा

(लेखक—श्रीरत्नलालजी गुप्त)

समाजके चरित्रिका जब हास होने लगता है, उसके शीर्षस्थ व्यक्ति जब धर्मके वास्तविक रूपके ज्ञानसे वश्वित हो जाते हैं अथवा जीवनमें उसकी अपेक्षा नहीं समझते और ऐसे ही जब अर्धम ही धर्मका स्थान ग्रहण कर लेता है, तब श्रीभगवान् अवतार ग्रहण करते हैं । इससे श्रुति, स्मृति एवं ऋषियोंके कृतिवैचित्र्यसे धर्मधर्मके निर्णयमें असमर्थ साधकगण उनके चरित्रिका श्रवण, कीर्तन, मनन एवं अनुकरण कर अपने वैयक्तिक, जातीय एवं राष्ट्रिय चरित्रिका निर्माण कर सकें । अतएव यह धारणा समीचीन प्रतीत होती है कि भगवान् श्रीकृष्णका अवतार मानव-समाजको चरित्र-शिक्षा प्रदान करनेके उद्देश्यसे ही हुआ था ।

श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धके अवसानमें श्रीकृष्णके उदात्त कर्मजीवनका सूत्रवत् परिचय देते हुए व्यासदेव कहते हैं—‘यन्कृतो गोत्रधर्मः, कृष्णस्यैतत्र चित्रं क्षितिभरहरणं कालचक्रायुधस्य’ (श्रीमद्भा० १० । १० । ४७) अर्थात् ‘जिन्होने ऋषियोंके वंशों एवं प्रवरोंके धर्मोंका विधान किया, उन कालचक्रधारी श्रीकृष्णके लिये भूमिके भारका उद्धार कोई आश्र्यकी बात

नहीं है ।’ कालके अनवच्छिन्न प्रवाहमे सृष्टिके पूर्वजोके भी वे ही गुरु हैं । महर्षि पतञ्जलिने भी अपने योगसूत्रमें यह बात कही है—‘स पूर्वोपासपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् ।’, ऐसी स्थितिमें लोकचरित्रके शीर्षस्थानीय ऋषियोंने अपने पूर्ववर्ती जिन ऋषियोंके चरित्रिका सुतरां अनुकरण करके अपने जीवनको दूसरोंके लिये आदर्शरूपमें उपस्थापित किया, श्रीकृष्णका आदर्श चरित्र उनके भी उदात्त चरित्रिकी आधारशिला बना । जैसे मनुष्य सीढ़ी-चौकी आदि किसी भी स्थानपर अपने पैर रखे, वे पृथ्वीपर ही रखे जाते हैं, उसी प्रकार किसी भी पूर्ववर्ती महापुरुषके जीवनादर्शपर सुसंगठित ऋषियोंका जीवन श्रीकृष्णके जीवनके चरित्रादर्शके धरातलपर ही आधृत है । भगवान् श्रीकृष्णकी स्तुति करती हुई श्रुतियाँ कहती हैं—‘अत ऋषयो द्युस्त्वयि मनोवचनाचरितं कथमयथा भवन्ति भुवि दत्त-पदानि नृणाम्’ (श्रीमद्भा० १० । ८७ । १५) ।

अपने अवतारजीवनमें श्रीकृष्ण एक आदर्श योगी, आदर्श वीर, आदर्श आन्यात्मिक नेता, आदर्श राष्ट्रनिर्माता, आदर्श गुरु, आदर्श सखा एवं आदर्श पति थे; किंतु मानवजीवनके इन आदर्श रूपोंके अतिरिक्त उनका एक

अलोकसामान्य मूल्य और भी था, जिसमें उन पदैश्वर्य-सम्बन्ध, मायावीश प्रेमानन्दवनमूर्तिमें भागवती सत्ताका परिपूर्णतम प्रकाश हुआ था। वे समस्त जागतिक सुख-दुःख, पाप-पुण्य, कर्तव्याकर्तव्य, विविन्निपंथके ऊर्ध्व स्तरपर विराजमान रहकर आत्मानन्दका सम्मोग करते रहते थे; इसी कारण उनकी सभी लीलाएँ, सभी चरित्र, सभी कर्म मायावीन जीवोंके लिये अनुकरणीय नहीं हो सकते।

उनके कौन-से कर्म जीवोंके द्वारा अनुकरणीय हो सकते हैं, इसको समझनेके लिये उनके परम भक्त उद्घवके अनुसार हम उनके कर्मोंको दो भागोंमें विभक्त कर सकते हैं। श्रीउद्घव श्रीकृष्णसे कहते हैं—“योऽन्तर्वहिस्त्तुभृतामशुभं विभुन्यज्ञान्यर्थचैत्यवपुषा स्वगतिं व्यनकि।” (श्रीमद्भा० १०। २९। ६) अर्थात् जो शरीरधारियोंके भीतर और बाहर अन्तर्यामी और आचार्य दो विग्रह धारण करके उनके समस्त अशुभ संस्कारोंका नाश करते हैं, वे अन्तर्यामी पुरुष अपनेको दिव्य प्रेम, प्रेमानन्दवनमूर्तिको प्रकाशित करके अपने प्रेमी भक्तोंमें कृष्ण-प्रेम, कृष्णकामका संवर्धन एवं विस्तार करके अपने असीम प्रेम, अनन्त आनन्दका वितरण करते हैं; उनके चरित्र, कर्म, लीलाएँ, स्मरण, श्रवण एवं गायनकी वस्तु होती हैं एवं उससे अवमायम, पतितसे भी पतित जीवका उद्धार हो जाता है। श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—

गोपीनां तत्पतीनां च सर्वपामेव देहिनाम् ।
द्वोऽन्तर्वरनि सोऽध्यक्षः क्लीडनेनेह देहभाक् ॥
(श्रीमद्भा० १०। ३३। ३६)

इतके अतिरिक्त श्रीभगवान्के वे चरित्र और कर्म जो उनके द्वारा करुणाधनविग्रह आचार्यरूपसे सम्पादित किये जाने हैं, जिनके अन्तर्गत उनके उपदेश-प्रदान, सदाचार-पालन और शास्त्रीय विविसे जीवनयापन आदि आते हैं, समाजके लिये अनुकरणीय होते हैं। उनका अनुगमन कर मनुष्य अपने चरित्रका

निर्गाण कर सकते हैं। मद्भागवत, श्रीमद्भागवत एवं अन्यान्य पुराणोंमें उनकी इम प्रकारकी आदर्श दिनचर्या, वेद-शास्त्रानुमोदित मदाचा। एवं उपदेश सर्वत्र उपलब्ध होते हैं।

आदर्श दिनचर्या

श्रीकृष्णकी आदर्श दिनचर्या श्रीमद्भागवतमें इम प्रकार वर्णित हुई है—श्रीकृष्ण प्रतिदिन व्रातमुक्तृतमें ही उठकर जलसे मुख प्रश्नालन करते और प्रश्नाल मनसे न्ययप्रकाश मायानीत आन्मचरूपका ध्यान करते थे। तदनन्तर ने निर्मल एवं पनित जलमें विविर्वक्त स्नान करते, पिर शुद्ध वस्त्र धारण करके मन्त्रोपासना आदि द्विजोनित नित्यकर्म करते और तत्पथात अग्निहोत्र एवं मौन-धारणपूर्वक गायत्री-जप करते थे। उसके बाद उठित होते हुए सूर्यका उपस्थान करके अपने कला-स्वरूप देवता, कृष्ण और पितरोंका तर्पण करते, फिर कुलके वृद्ध पुरुषों और ग्रामणोंकी विविवत् पूजा करते थे। इनके पथ्यात् वे ग्रामणोंको वस्त्र एवं आभृणोंमें विभूषित सवन्सा पर्यग्निना गौओंका दान देते, फिर अपने विभूषित गौ, ग्रामण, देवता कुलके वडे-वृद्धों, गुरुजनों और समस्त प्राणियोंको प्रणाम करके माझलिक वस्तुओंका सर्वा करते थे।

चरित्र-निर्माण-सम्बन्धी उपदेश

मगधान् श्रीकृष्णने गीतामें यत्रन्त्र-सर्वत्र योगी, भक्त, ज्ञानी, गुणातीन आदि साधकोंके लक्षणों, आसुरी एवं दंडी सम्पद् तथा सात्त्विक, गजस गुणोंके भेदोंके वर्णनपूर्वक मानवचरित्रके सभी विभागोंका सूख्तम विश्लेषण करते हुए आदर्श मानव-चरित्रकी स्थापना की है। जिसका अनुसरण कर मनुष्य अपने चरित्रकी उच्चताके ऐसे शिखरपर उपनीत कर सकता है, जिससे उसका चरित्र स्वयं दूसरोंके लिये अनुकरणीय बन जाय। इसी प्रकार श्रीमद्भागवतमें उन्होंने मानवगत्रके

चरित्र-संगठनके लिये कृपियो एव स्वय अपने द्वारा आचरित श्रुति-स्मृतिसे अनुमोदित साधारण नियमावलीका उपदेश अपने परम भक्त उद्घवके समक्ष इस प्रकार किया है—

‘अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी न करना), अनासक्ति, लज्जा, अपरिग्रह, आस्तिकता, ब्रह्मचर्य, मान, स्थिरता, क्षमा और निर्भयता—ये बारह यम हैं और इसी प्रकार बारह नियम हैं—शौच (वाहर-भीतरकी पवित्रता), जप, तप, होम, श्राद्ध, अतिथिसत्कार, भगवत्पूजा, तीर्थयात्रा, परोपकारकी चेष्टा, सन्तोष और गुरुसेवा । जो पुरुष इनका पालन करते हैं, वे भोग और मोक्ष दोनों प्राप्त कर लेते हैं ।’

चरित्र-निर्माणके इन उपर्युक्त नियमोंका श्रीकृष्णने केवल उपदेश ही नहीं किया, अपितु उन्होंने अपने जीवनमें इनको सम्यक्-खपेण अनुष्ठित भी किया था । इसके उदाहरण उनके कर्मजीवनके अनेक प्रसङ्गोंमें प्रकाशित हुए हैं । पाण्डुवंशके अन्तिम संतान-बीज उत्तराके गर्भपर जब द्रोणकुमार अश्वत्थामाने दुर्विष्फह ब्रह्माक्षका प्रयोग किया, उस अवसरपर श्रीकृष्णने उस परिक्षीण गर्भको पुनर्जीवित करनेके लिये अपने जीवन-प्रतकी जो शपथ उच्चरित की है एवं जिसके अमोघ प्रभावसे वह गर्भस्य शिशु पुनः जीवित हो उठा है, उसमें श्रीकृष्णका लोक-समाजद्वारा अनुकरणीय आदर्श चरित्र आलोकित हो उठा है ।

चरित्रगत गुण

श्रीकृष्णके परमधारमें प्रवेशके पश्चात् विरहातुरा भूदेवी वृषभरूपधारी धर्मसे उनके गुणोंका स्मरण करती हुई कहती है कि उन भगवान् अच्युतमें सत्य, पवित्रता, करुणा, क्षमा, त्याग, संतोष, सरलता, शम, इन्द्रियसंयम, तप, समता,

तितिक्षा, उपरति, शास्त्रविचार, ज्ञान, व्रताग्य, ऐश्वर्य, शौर्य, तेज, वल, स्मृति, स्वतन्त्रता, कौशल, कान्ति, धैर्य, मृदुता, निर्भीकता, विनय, शील, साहस, ओज, वल, सौभाग्य, गम्भीरता, स्थिरता, आस्तिकता, कीर्ति, गौरव और निरहकारिता—ये उन्तालीस एवं ब्राह्मणभक्ति और शरणागतवत्सल आदि महान् गुण कभी क्षीण नहीं होते थे । महत्वाकाङ्क्षी पुरुषोंको इनका निरन्तर सेवन करना चाहिये—

सत्यं शौचं दया क्षान्तिस्त्यागः संतोष आर्जवम् ।
शमो इमस्तपः साम्यं तितिक्षोपरतिः श्रुतम् ॥
ज्ञानं विरक्तिरैश्वर्यं शौर्यं तेजो वलं स्मृतिः ।
स्वातन्त्र्यं कौशलं कान्तिर्धैर्यं मार्दवमेव च ॥
प्रागतभ्यं प्रश्रयः शोलं सह ओजो वलं भगः ।
गाम्भीर्यं स्थैर्यमास्तिक्यं कीर्तिमानोऽनहंकृतिः ॥
एते चान्ये च भगवन्नित्या यत्र महागुणाः ।
प्रार्थ्या महस्वमिच्छद्विर्न वियन्ति स्म कर्हिचित् ॥

इस प्रकार श्रीकृष्णचन्द्रद्वारा उपदिष्ट, अनुमोदित एव आचरित आदर्श चरित्रका सकीर्तन, श्रवण, मनन एव अनुसरण करके वैयक्तिक, जातीय एवं राष्ट्रिय चरित्रको उन्नत करके मानवमात्र जगत्मे—अभाव, विषाद, दुःख-दैन्यके स्थानपर परिपूर्णता, आनन्द, सुख-शान्तिका उपभोग करते हुए विश्वके जड़-चेतन प्रत्येक पदार्थमें उन परम प्रभुकी मंगलमयी सत्ताका अनुभव कर सकते हैं । यही चारित्र्य-आर्जनका चरम लाभ है । अतः श्रीकृष्णके आदर्श चरित्रसे शिक्षा लेकर हमें उसीकी साधनामें तत्पर हो जाना चाहिये । शिक्षाकी सफलता उसके श्रवण और मननमें ही नहीं, निर्दिष्या-सनमें निहित होती है ।

श्रीहनुमान्कं चरित्रसे शिक्षा

(लेखक—डॉ० श्रीमार्णविराजी, एम० ए०, गी-एन० डी०)

हनुमान्जी श्रीरामके परम भक्त एवं आदर्श दृतके रूपमें विद्यान हैं। आज्ञापालन, सेवाभाव, शौर्य-प्रदर्शन, विवेक-प्रयोग आदिके कारण इनका चरित्र परम आदर्श है। जहाँ-जहाँ रामकी पूजा, धर्म-व्याहार हनुमान्का दर्शन—यह हनुमान्जीको देवतास्तपमें सिद्ध करता है। वस्तुतः रामावत् वैष्णव-धर्मके विकासके साथ हनुमान्जीका दैवीकरण हो गया। पहले ये रामके पार्षद तथा पुनः पूज्य देवताके रूपमें स्वीकार कर लिये गये। हनुमत-पूजा अथवा मारुति-पूजाका एक अद्भुत सम्बन्ध वन जाना यह इस व्रतका सूचक है। ‘हनुमञ्जलम्’में इनके ध्यान और पूजाके विवानका उल्लेख है। चैत्रघुश्च पूर्णिमाके दिन हनुमञ्जयन्ती-मानी जाती है। उस दिन उनका जन्म हुआ था। केसरी बानरकी खी अङ्गनके गम्भे पवनके द्वारा ये उत्पन्न माने जाते हैं। यद्यपि एक मतसे इनका भगवान् शंकरके तेजसे उत्पन्न होना भी कहा जाता है। ये बड़े वीर और वज्राङ्गीके रूपमें लोगोंके द्वारा सहज स्वीकृत हैं। सीनाको खोजना, लंका जलाना तथा संजीवनी वृटीके लिये सम्पूर्ण ध्वन्य-गिरिको उठा लाना इनके मुख्य कार्य हैं, जो हन्ते असाधारण वीर एवं साहसी कहनेको वाध्य करते हैं। आदिकवि वाल्मीकिने हनुमान्का वर्णन अपनी ‘रामायण’ में इस प्रकार किया है—

मारुतस्यौरसः श्रीमान् हनुमान् नाम वानरः।
वज्रसंहननोपेतो वैनतेयसमो जवे।
सर्ववान्तरमुख्येषु बुद्धिमान् वलवानपि॥

(वाल्मीकीयरामायण १। १७। १६)

‘हनुमान् नामके ऐश्वर्यशाली वानर वायुदेवताके और सुपुत्र हैं। उनका शरीर वज्रके समान सुदृढ़ है। वे तेज चलनेमें गहड़के समान हैं। सभी

थ्रेष वानरोंमें वे सबसे अधिक बुद्धिमान् और वलवान् हैं। स्पष्ट है कि हनुमान्का वज्रांपम शरीर हमें वाने शरीरको वज्रांपम बनानेका संकेत करता है और उनकी तेज चाल हमें अपनी चालको तेज बनानेको संकेतित करती है। उनकी बुद्धिमत्ता हमें बुद्धिमान बनानेको प्रेरित करती है।

रामायणकी परम्परा नमस्कारके सर्वमें हनुमान्के देवत्व एवं रामदृतत्वको स्पष्ट रूपमें प्रस्तुत करती है—

गोप्यर्द्धाङ्गतवारीणं	मशकीकृतराघसम्।
रामायणमहामालारत्नं	वन्देऽनिलान्यजम्॥
अङ्गनानन्दनं वीरं	जानकीशोक्ताशनम्।
कपीशमस्तहन्तारं वन्दे	लक्ष्मभवद्वरम्॥

उल्लङ्घ्य स्तिथोः सलिलं सलीलं
यः शोकवर्द्धि जनकान्मजायाः।
आदाय तेजैव दद्धाद् लद्धां
नमामि तं प्राञ्जलिरञ्जनेयम्॥

आङ्गनेयमनिपाटलानन्दं
काञ्जनाद्रिकमनीयविग्रहम्।

परिजाततस्मूलवासितं
भावयामि पद्माननन्दनम्॥

यत्र यत्र रघुनायकीर्तिं
तत्र तत्र हनमस्तकाञ्जलिम्।

वाप्यवारिपरिपूर्णलोचनं
मार्दनि नमत राक्षसाननन्दनम्॥

मनोजवं मारुततुल्यवेनं
जितेन्द्रियं बुद्धिमतां चरिष्यम्।

वातान्मजं वानरगृथसुख्यं
श्रीरामदूतं शिरसा नमामि॥

(श्रीमद्वाल्मीकीयरामा० पाठविवि, गीताप्रेरि)

‘में समुद्रको गोके खुस्तके समान पार करनेवाले, राक्षसोंको मच्छर समझनेवाले, रामायणकी महामालाके रत्न, पवनकुमार हनुमान्की बन्दना करता हूँ। अङ्गनके पुत्र, वीर, जानकीके शोकको नष्ट करनेवाले, कागियोंके

सिरमौर, भयंकर, लंकाको नष्ट करनेवालेकी मै बन्दना करता हूँ। सिन्धुके जलको लॉबकर जिन्होंने जनक-नन्दिनी सीताके शोककी आगको नष्ट किया, लंकाको जला दिया, उन अज्ञानानन्दन हनुमान्‌की मैं बन्दना करता हूँ। पाठ्लके पुष्पकी तरह लाल मुँहवाले, खण्ड-पर्वतकी तरह कमनीय विम्रहवाले, पारिजातके वृक्षके नीचे बसनेवाले पवनतनयका मै स्मरण करता हूँ। जहाँ-जहाँ रघुनाथजीका कीर्तन होता है, वहाँ-वहाँ हाथ जोडे हुए वाष्पवारिपूरित नेत्रवाले, राक्षसोंको नष्ट करनेवाले मरुतनन्दनको प्रणाम करना चाहिये, मनकी तरह गतिमान्, मारुतकी तरह वेगवाले, जितेन्द्रिय, बुद्धिमान्, वरिष्ठ, वानररूप्यके मुख्य, वातात्मज, श्रीरामके दूतको मैं सिर झुकाकर प्रणाम करता हूँ।'

हनुमत-नमस्कारके क्रममें हनुमान्‌के भीतर जो-जो गुण यहाँ वर्णित हैं, वे गुण वस्तुतः अनुकरणीय हैं और हम अपने चरित्रको इन गुणोंके द्वारा ऊँचा उठा सकते हैं। पर इन गुणोंका आत्मावधान साधना और तपोनिष्ठासे ही सम्भव है। तर्दय हमें चेष्टा करनी चाहिये।

हनुमान्‌जीका खरूप गोखामी तुलसीदासने इस रूपमें व्यक्त किया है—

अतुलितवलधामं हेमरौलामदेहं
दनुजघनकृशानुं ज्ञानिनामग्रगण्यम् ।
सफलगुणनिधानं वानराणामधीशं
रघुपतिप्रियभक्तं वातजातं नमामि ॥

(मानस ५ मङ्गलाचरण)

‘अतुलित वलधामे, खण्डपर्वतकी आभासे पूरित देहवाले, राक्षसरूपी वनको जलानेके लिये अग्निरूप, ज्ञानियोंमें अग्रगण्य, सफल गुणोंके निधान, वानरोंके अधीश्वर, रघुपति श्रीरामके प्रिय भक्त, पवनतनय हनुमान्-को मै प्रणाम करता हूँ।’

यहाँ हनुमान्‌के चरित्रमें जो-जो भी गुण हैं—वल, खण्डभामा, असीमित शक्ति, ज्ञान, रामभक्ति आदि सब गुण अनुकरणके योग्य हैं। पर यह तभी सम्भव है, जब हम उन-जैसा नैष्ठिक भक्त और अविप्लुत ब्रह्मचारी बनें। साधनसे

ही सिद्धि मिल सकती है। रामभक्ति एव साधनाके कारण हनुमान्‌के चरित्रमें लौकिक शक्तिका आ जाना सहज सामाविक है। कहते हैं, साधनाके कारण सिद्धियाँ इनके वशमें थीं। अग्निमा-सिद्धिके द्वारा इन्होंने सीता-अन्वेषणके क्रममें, मशक अथवा मच्छरका रूप धारण कर लिया था—‘मसक समान रूप कपि धरी। लक्ष्मि चलेत सुभिरि नरहरी ॥’

महिमासिद्धिके कारण इन्होंने सुरसाको चमत्कृत कर दिया था—

जोजन भरि तेहि बदनु पसारा । कपि तनु कीन्ह दुगुन विस्तारा ॥
सोरह जोजन मुख तेहि ठ्यञ्ज । तुरत पवनसुत बत्तिस भयञ्ज ॥
जस जस सुरसा बदनु बदावा । तासु दून कपि रूप देखावा ॥

(मानस ५ । २ । ४-५)

सिद्धियोंको वशंबद बनाना हनुमान्‌के चरित्रका वैशिष्ट्य है। हम इससे प्रेरित-प्रभावित होते हैं। सम्भव है, हनुमान्‌की तरह हमें सिद्धियाँ प्राप्त न हों, पर निस्संदेह हम इस क्रममें कुछ शक्ति अवश्य पा सकते हैं, प्राप्त कर ले सकते हैं।

आज्ञापालन हनुमान्‌के चरित्रमें मुख्य गुण हैं। बालि-वधके पश्चात् जब सुग्रीवका अभियेक हुआ, तब ये सुग्रीवके सचिव बने और सुग्रीवकी आज्ञासे, सीताके अन्वेषणके लिये तार नामक वानरके साथ दक्षिण दिशामें गये, श्रीरामने अपनी मुद्रिका पहचानके लिये दी और इस कार्यमें हनुमान् सफल हो वापस लैटे, तब श्रीरामका आशीर्वाद भी इन्हें प्राप्त हुआ। श्रीरामके साथ ये सदैव रहे और अङ्गदके साथ मिलकर लकाकी युद्ध-भूमिमें गर्जन-तर्जन करते रहे—‘हनूमान अंगद रन गाजे’। युद्धभूमिमें जब मेघनादके द्वारा श्रीरामके अनुज लक्ष्मणको शक्तिवापन लगा, तब ये राजवैद्य सुषेणको ले आये; पुनः उनकी आज्ञासे रातो-रात हिमालय पर्वतकी ओर जाकर ध्वनगणिरिके साथ संजीवनी बूटी ले आये; तब जाकर लक्ष्मणकी मूर्छ्या दूर हुई। कहनेका तात्पर्य यह कि हनुमान्‌के चरित्रसे आज्ञापालनका संदेश हमें प्राप्त होता है। हमें अपने चरित्रगठनमें आज्ञा-पालनका गुण अपनाना चाहिये।

कहते हैं—हनुमान् जीके चरित्रमें विवेक-प्रयोगका आधिक्य है। इन्होने सूर्यसे शिक्षा प्राप्त कर ज्ञानके आलोकको बटोरा था। श्रीरामके साथ रहनेके कारण भी इनमें असाधारण योग्यता आ गयी। सीता-अन्वेषणके क्रममें, एक गुफाके अदर वृद्धा तपस्थिनीसे मेट होनेपर ये उसका परिचय पूछते और अपना वृत्तान्त बुनाते हैं। सुरसा-प्रसङ्गमें ये अपनी प्रन्युत्पन्नमनिका परिचय देते हैं। फिर लंकामें अशोकवाटिकाके नीचे बैठी हुई सीताके साथ अतिशय विनम्रतापूर्वक रामका संदेश सुनाते हैं। लंका नगरीको तो इन्होने जला दिया, पर विभीषणके घरमें आग नहीं लगायी। समझ है, रामभक्त होनेके कारण विभीषणका घर नहीं जला हो। ऐसा प्रतीत होता है कि ज्ञानके नेत्रसे हनुमान् ने पहले सब कुछ देख लिया था और विवेकके सहारे वह किया, जो सर्वथा उचित था। विवेक औचित्यका सम्पादक होता है।

हनुमान् महान् वीरता एवं गति-सम्पन्नताकी प्रतिमूर्ति हैं। इनमें अहंशून्यताकी भी पराकाष्ठा है। समुद्र-लङ्घनके क्रममें हम इन्हें पूर्ण तेजोमय एवं रामवाणकी गतिमें देखते हैं। जाम्बवान् नामक ऋक्षने इन्हें उत्साहित किया—यह जानकर कि वानरोंमें ये सर्वश्रेष्ठ हैं और समुद्र-लङ्घनमें सब प्रकारसे सक्षम हैं। हनुमान् जाम्बवान् की बात सुनकर पर्वताकार हो गये और इन्हें अपनी शक्तिका स्मरण हो आया। फलतः समुद्र-लङ्घनके लिये ये तत्पर हुए। आज हम शक्तिके मदमें चूर हैं, किंतु हमें हनुमान् के चरित्रसे सहजल्पमें अहंशून्य एवं विनम्र होनेकी शिक्षा प्राप्त करनी चाहिये।

हनुमान् की गति तर्कातीत एवं अनुकरणके योग्य है। वाल्मीकिने बतलाया है—‘गर्ति हनुमतो लोके को विद्यात् तर्कयेत् वा’ (वा० रा० ६ । ९ । ११) अर्थात् हनुमान् महान् गतिमान् हैं। इनकी गतिको कौन विद्या अथवा तर्कसे जान सकता है?

स्मरणमात्रसे यह अपने भक्तोंकी रक्षामें ढौड़े आते हैं, रोगसे मुक्ति देते हैं, भयको हटाते हैं, शत्रुओंका संहार करते हैं, इत्यादि। इनकी गति साधारण नहीं है। यह इनके चरित्रकी विशिष्टता है। सेवाभावकी शिक्षा इनके चरित्रसे ली जा सकती है।

हनुमान् शक्तिकी दृष्टिसे असाधारण शक्तिसम्पन्न हैं। इन्होने श्रीरामकी सेनामें मुख्यरूपसे सहायता की। देवान्तक, विशिरा आदि अनेक राक्षसोंका इन्होने वध किया। विभीषणके साथ हाथमें मशाल लेकर इन्होने युद्धभूमिका निरीक्षण किया। इन्होने निकुम्भ नामक राक्षसके साथ युद्ध कर उसका वध किया और कपटी कालनेमिका संहार किया। रावणकी सेनाके कितने अधुर इनके द्वारा मारे गये, इसका लेखा-जोखा नहीं है। रामायणसे स्पष्ट है कि ये श्रीरामके अभियेकके लिये चारों समुद्रों और पाँच तौं नदियोंसे जल ले आये थे। इससे इनका असाधारण शक्तिमत्ताका पता चलता है। श्रीरामने अगस्त्यमुनिसे इनके विषयमें कहा था—

शौर्यं दक्ष्यं वलं धैर्यं प्राज्ञता नयसाधनम्।
विक्रमश्च प्रभावश्च हनूमति कृतालया॥ ॥
(वा० रा० ७ । ३५ । ३)

‘शौर्य, दक्षता, वल, धैर्य, प्राज्ञता, नयसाधन (नीति), विक्रम और प्रभाव—हनुमान्-में विव्यमान हैं, इनकी वरावरी करना कठिन है। वालि तथा रावणके वलके साथ हनुमान्-के वलकी तुलना नहीं की जा सकती।’ हम इनके चरित्रके माध्यमसे अपनेको वलवान् वनानेकी शिक्षा प्राप्त कर सकते हैं।

हनुमान्-ने सेवाभावना, रामभक्ति, समर्पण-शीलता, विनम्रता आदि गुणोंसे अपनेको चमकाया, ऊँचा उठाया। आजके अनास्थावादी युगके लिये ये एक प्रनिमान हैं। वल, विक्रम, साधन आदिके कारण हम औद्धत्यकी सीमाका छोर सावरणतः छूने लगते हैं, पर असीमित संयम एवं विवेकके कारण हमारा वचाय छो जाता है। हनुमान्-के चरित्रमें असीम

संयम एवं विवेकका अधिवास है; अतः इनका चरित्र चुम्बककी तरह हमे खींचता है। रामभक्ति कलियुगके लिये वस्तुतः सजीवनी बूटी है, यदि यह किसीके पास है तो कलियुगकी व्याधि उस व्यक्तिविशेषको व्याप नहीं सकती। हनुमान्‌के पास रामभक्तिकी यह संजीवनी बूटी है, अतः कलियुगकी व्याधिसे वे परे हैं। साथ ही कलियुगके व्यक्तियोंको ही नहीं, युग-युगके व्यक्तियोंको मौन संदेश ये अपने चरित्रके माध्यमसे देते हैं कि रामभक्तिके अभावमें अपनेको ऊँचा उठाना कठिन काम है। केवल पुरुषत्व इस संसारमें पर्याप्त नहीं है। यथापि व्यक्तिके विकासके लिये पुरुषत्व अपेक्षित है, पर पुरुषत्वके साथ-साथ आस्तिकताका भाव चाहिये, श्रीरामके चरण-क्रमलमें अनुराग चाहिये। साथ ही विनयके साथ देश अथवा प्राप्त हैं, हमे अपनेको ऊँचा उठानेकी शिक्षा देते हैं।

राष्ट्रके कल्याणपर भी ध्यान होना चाहिये। हनुमान्‌जीका जीवन इस संदर्भमें एक प्रकाशस्तम्भका काम करता है। ये श्रीरामके दूतके रूपमें प्रसिद्ध हुए, पर इस दूतत्वमें इन्होंने पूर्णानन्दका अनुभव किया। दूतकर्म निन्द्य नहीं है। दूतकर्मके साथ-साथ श्रीरामके चरण-क्रमलकी भक्ति हनुमान्‌के लिये वरदान सिङ्ग हुई। ये इङ्गितसे हमें बतलाते हैं कि ईश्वरकी कृपासे जो कर्म करनेको मिले, उसीमें दक्षता प्राप्त करनी चाहिये। हनुमान् कर्मयोगी भक्तदेव हैं। ये 'योगः कर्मसु कौशलम्'—योग ही कर्मसुक्तिका उपाय है—इसकी शिक्षा देते हैं। हनुमान्‌के चरित्रसे हम योग कर्मयोगी बननेकी शिक्षा प्राप्त करते हैं। सामयिक चेनना, तत्परता, विनयशीलता, आस्तिकता, सेवापरायणता, वीरता, गतिमत्ता, निर्भयता आदि कृतिपूर्ण गुण, जो हनुमान्‌के चरित्रमें प्राप्त हैं, हमे अपनेको ऊँचा उठानेकी शिक्षा देते हैं।

श्रीमद्भगवद्गीतामें आध्यात्मिक चारिन्द्रियोपदेश

(लेखक—श्रीसोमचैतन्यजी श्रीवास्तव, एम्० ए० (संस्कृत-हिन्दी), एम्० ओ० एल्०)

सुष्ठिके सभी प्राणी सुख और शान्तिकी कामना करते हैं एवं एतदर्थ शरीर, इन्द्रियों और मन-बुद्धिसे विविध प्रकारकी चेष्टाएँ करते हैं। उनकी अशुभ चेष्टाओंके अनुसार उनको विविध लोकों और योनियोंमें जन्म, आयु तथा भोगके रूपमें उत्तम, मध्यम या अधम कोटिके सुख-दुःखात्मक कर्मफलोंकी प्राप्ति होती है। मनुष्य ज्ञानवान् प्राणी है, अतः उसकी सभी चेष्टाएँ बुद्धिद्वारा प्रेरित और नियन्त्रित होती है। भ्रमपूर्ण एवं मिथ्या ज्ञान होनेपर व्यक्ति अशुभ कर्मका आचरण करदे स्वयं दुःखी होता है तथा प्राणि-समाजको भी दुःख, कलह, विवाद, अशान्ति, युद्ध, वृणा, वैर आदिमें उलझा देता है। अतः ऐसे लोगोंको कर्मानुष्ठानका सही मार्ग बतानेके लिये एवं बुद्धिको सत्य ज्ञानसे युक्त करनेके लिये सत्-शास्त्रोंकी रचना हुई है। शास्त्र इष्टकी प्राप्ति एवं अनिष्टके परिहारका उपाय बनाते हुए अनीन्दिय ज्ञानका

भी वर्णन करते हैं। उनमें समाजके जन्म आदिकी सात्त्विकादि गुणोंके अनुसार वर्णाश्रमकी व्यवस्था की गयी है। इस व्यवस्थाका उद्देश्य यही है कि मनुष्य शास्त्रविधिका अनुसरण करता हुआ अपनी अशुभ प्रवृत्तियोंपर नियन्त्रण रखे तथा अपने गुण-कर्म-स्वभावके अनुकूल वर्णाश्रम-व्यवस्थाका पालन करता हुआ अन्तकरणकी शुद्धिपूर्वक परतत्त्व-(परमह-) तं ज्ञानकी उपलब्धि करके शाश्वत शान्ति और नित्य आनन्द-(मोक्ष-) को प्राप्त करे।

श्रीमद्भगवद्गीता जीवनके हर क्षेत्राङ्गमें स्वकर्मका अनुष्ठान करते हुए ब्रह्मभावकी प्राप्तिका व्यावहारिक मार्ग बतानेवाला भगवत्प्रोक्त शास्त्र है। इसमें (१२ । १३—१६में) आदर्श भक्तके चरित्र तथा (१४ । २२—२६में) त्रिगुणातीत पुरुषोंके लक्षण प्रस्फुटित हुए हैं। गीतामें वद्वकर्मका संकेत वेद

सुष्टि एवं यज्ञकी उत्पत्ति करने (१४ । ३, १८ । २३), गुण-कर्मयिभागपूर्वक चारुवर्ण्यकी व्यवस्था करने (४ । १३), आसुरी प्रकृतिके लोगोंको नियन्त्रणमें रखने (१६ । १९), साधुओंके परिवार, दुष्टोंके विनाश एवं धर्मसंस्थापनाके लिये अवतार प्रहण करने (४ । ८), अनासक्त एवं निःस्वृह होकर लोकसंग्रहार्थ कर्म करने (३ । २२-२५), सर्वलोकोंका शास्त्रा एवं यज्ञन्तपका भोक्ता होने (५ । २९), भक्तोंका उद्धार करने (९ । ३१, १८ । ६५) एवं उन्हें ज्ञान प्रदान कर (१० । ११) शाश्वतपद प्रदान करने (१८ । ५६), विश्वका गति, भर्ता, प्रभु, साक्षी, निवास, शरण तथा सुहृद् आदि होने एवं विश्वरूपता (अ० ११) आदिमें प्राप्त होता है ।

गीताके अनुसार ब्रह्मका निर्देश शाखोंमें 'ओम्' 'तत्' एवं 'सत्'—इन तीन शब्दोंके द्वारा तीन प्रकारसे किया गया है । इनमेंसे 'सत्' शब्द सद्गाव, साधुभाव, प्रशस्त कर्म, यज्ञ-दान एवं तपमें स्थिति तथा इनके हेतु श्रद्धार्पणक किये गये कर्मोंका वाचक है । इस प्रकार ब्रह्मका 'सत्'-स्वरूप ही सभी सद्गाव सहृणों, सदाचरणों एवं सत्कर्मोंका मूल है तथा जगत्की स्थितिका आधार है । नारद-भक्ति-सूत्रमें अहिंसा, सत्य, दया, दान आदि गुणोंको भक्तोद्वारा पालनीय चरित्र-गुण बताया गया है । भगवद्गीता-(१० । ५)के अनुसार अहिंसा, समता, तुष्टि, तप, दान आदि सभी भाव भी परमात्मासे ही उत्पन्न होते हैं । इन सद्गुणोंको धारण करनेवाला व्यक्ति सद्-ब्रह्मके साथ संयुक्त होकर ब्रह्मके सद्गुणमें प्रतिष्ठित हो जाता है ।

गीताका यह सिद्धान्त है कि सच्चिदानन्द ब्रह्म ही त्रिगुणात्मक प्रकृति एवं जीवके रूपोंमें द्विविध प्रकारसे इस विश्वमें व्यक्त हुआ है (७ । ४-५) । प्रकृतिसे सम्पूर्ण सत्त्व, रज एवं तम—ये तीनों गुण न केवल शरीरी जीवको बन्धनयुक्त बनते हैं, अपितु ये त्रिलोकमें सभीको

अपने प्रभावाधीन रखते हैं (१४ । ५, १८ । ४०) । इन्हीं तीन गुणोंके आधारपर गीता प्राणि-सृष्टिको दो भागोंमें बँड़ती है (१) आसुरसर्ग एवं (२) देवसर्ग । आसुरसर्गमें दम्भ, दर्प, अभिमान, क्रोध, पारुष्य एवं अज्ञानकी प्रधानता होती है । आसुर खभावके व्यक्ति प्रवृत्ति और निवृत्तिकी व्यवस्था देनेवाले शास्त्रकी मर्यादाको नहीं मानते, ईश्वरकी सत्ताको स्वीकार नहीं करते, उनमें न आचार होता है, न पवित्रता और न सत्य । वे संकुचित दृष्टिके अल्पबुद्धि व्यक्ति होते हैं, जो अपनी स्वार्थसिद्धिके लिये उप्रूप कर्मोंका आचरण करते हुए संसारका अमङ्गल एवं विनाश करते हैं । अपनी कामनाओंकी तुष्टि ही उनके जीवनका लक्ष्य होता है । वे नाना प्रकारकी आशाओंके जालमें फँसे हुए काम-क्रोधपरायण होकर अन्यायपूर्वक अर्थका संचय करते हुए शान्तनाश एवं अर्थ-संग्रहकी कल्पनाएँ करते हुए अपने कुल, सम्पत्ति, गुण, बल, विद्या आदिके अभिमानसे युक्त हुआ करते हैं । वे यज्ञादि कर्म भी दम्भके साथ अविविपूर्वक करते हैं । उनकी बुद्धि अज्ञान-मोहसे आबृत होती है एवं उनका चित्त सदा ही नाना प्रकारकी चिन्ताओंसे विभ्रान्त रहता है । अहंकार, बल, दर्प, काम एवं क्रोधका आश्रय लेकर प्राणियोंसे द्वेष करनेवाले वे आसुरसर्गके प्राणी मूढ एवं नराधम होते हैं तथा अपनी आसुरचेष्टाओंके कारण वार-वार अशुम आसुरी योनियोंमें जन्म लेकर अधम गतिको प्राप्त होते रहते हैं । आसुरसर्गमें रजोगुण एवं तमोगुणकी प्रधानता होती है । काम-क्रोध और लोभ—ये तीनों नरकके द्वार हैं तथा रजोगुणसे उत्पन्न होते हैं । मोह, अज्ञान और प्रमाद—तमोगुणसे उत्पन्न होते हैं । काम, क्रोध, लोभ एवं मोहके अधीन होकर ही मनुष्य पाप-कर्म करके दुःख पाता है एवं संसार-बन्धनमें पड़ता है । इस प्रकारके पाप-कर्मोंसे मुक्त होनेपर ही वह श्रेयका आचरणकर उत्तम सुखको प्राप्त करता है (१७ । ४)

सुतरा ऐसे कर्मोंसे मुक्ति होनेपर सदाचरण या चरित्रिका गठन स्वतः होने लग जाता है। रही देवतासंगकी बात; उसे देखें।

चरित्र-निर्माणार्थ सभावमें रजोगुण एवं तमोगुणको निरस्त कर दैवीसम्पदके गुणोंके अर्जनकी साधना अपेक्ष्य है। यह कठिन साधना है, जिसमें एक ओर तो अध्यात्मशास्त्रका आश्रय लेकर स्वाध्याय, श्रवण एवं मननके द्वारा सद् तथा असदका ज्ञान प्राप्त किया जाता है तथा दूसरी ओर विवेक और वैराग्यका आलम्बन लेकर रजोगुण और तमोगुणपर आश्रित सम्पूर्ण असत्त्ववृत्तियों, पापों, दुष्कर्मों, दुष्ट आचारों एवं आसुर भावोंका सर्वथा परित्याग करके सत्त्वगुणपर अवलम्बित दैवीसम्पदके गुणो—अभय, सत्त्वसंशुद्धि आदि-(१६ । १-३) का संचय किया जाता है। सात्त्विक गुणोंका संचय धर्मचिरण है एवं मानवी प्रकृतिका दैवी-प्रकृतिमें रूपान्तरित करना तथा अध्यात्मज्ञानको जीवनमें आचरणके रूपमें प्रकट करना तप है। इसीसे अज्ञानसे मुक्ति मिलती है एवं मोक्षकी प्राप्ति होती है। दैवी-सम्पदके गुण-कर्म और सभावके रूपमें आत्मा-प्रकाश सर्वत्र प्रतिफलित होता है। दैवी-प्रकृति भक्त और महात्माओंके चरित्रिका मुख्य लक्षण है (८ । १३) ।

चरित्रनिर्माणके लिये प्रथम आवश्यक बात है कि श्रद्धाको सात्त्विक बनाया जाय; क्योंकि जैसी श्रद्धा होगी, वैसा ही ज्ञान एवं कर्म होगा। जैसी श्रद्धा होगी वैसा ही उपास्यका चुनाव और उसकी उपासना होगी। जैसी श्रद्धा होगी वैसा चित्त होगा। राजसी एवं तामसी श्रद्धावाले उच्छृङ्खल वृत्तिके होते हैं तथा दम्भाहंकारयुक्त होकर विभिन्न कामनाओंकी पूर्तिके लिये अशास्त्रियहित विधिसे यक्ष, राक्षस, भूत, प्रेत एवं देवोंके राजस, तामस रूपकी उपासना एवं यज्ञ-तप करते हैं (१७ । ४ । ६, ७ । २०-२३) ।

ईश्वरके प्रति आस्तिक बुद्धि, गुरुके प्रति भक्ति एवं सत्कार-बुद्धि तथा सत्-शास्त्रोंमें प्रतिपादित सिद्धान्तोंको सत्य मानकर उन सिद्धान्तोंके अनुकूल आचरण करनेके लिये दृढ़ सकल्पर्वक प्रयत्न करनेका ताम श्रद्धा है। यह श्रद्धा ही साधकको दृढ़ता, उत्साह एवं संयम प्रदान करती है। सात्त्विक श्रद्धा ही बुद्धिको सात्त्विक बनाती है। सात्त्विक बुद्धि कर्तव्य-अकर्तव्य, प्रवृत्ति एवं निवृत्ति तथा बन्ध-मोक्षको भलीभाँति जानती है (१८ । ३०)। कार्य एवं अकार्यके लिये सदा शास्त्रको मानकर शास्त्रोक्त विधिसे श्रद्धायुक्त हो कर्तव्य-कर्मको करना चाहिये। शास्त्रविधिका उल्लङ्घन कर स्वेच्छानुसार कार्य करनेसे सुख-शान्ति एवं सफलता नहीं मिलती (१६ । २३-२४)। स्वभाव-सम्भूत गुण-कर्मके अनुसार अपने-अपने वर्णके लिये नियत एवं धर्मशास्त्रोंमें वर्णित अथवा भगवद्गीतामें प्रोक्त चतुर्वर्णके गुण-कर्म-(१८ । ४१-४६) का ज्ञान प्राप्त कर निज वर्णके लिये प्रतिपादित गुण तथा कर्मका पालन ईश्वराचर्चनकी भावनासे करना चाहिये। ज्ञानकी प्राप्तिके लिये प्रयत्नशील होने, शास्त्रोंका अध्ययन एवं मनन करने तथा ज्ञानके अनुकूल आचरणके लिये सदैव तत्पर रहनेपर ज्ञानप्रकाशकी बुद्धिके अनुपातमें क्रमजः तमोगुणका अज्ञान नष्ट होता जाता है (१४ । ८-१३)। अज्ञान, अश्रद्धा एवं संशय तमोगुणके चिह्न हैं तथा विनाश प्राप्त करनेवाले हैं। श्रद्धासे ज्ञान एवं जितेन्द्रियताकी प्राप्ति होती है, तत्पश्चात् ज्ञानानिद्वारा सर्वकर्मके दग्ध हो जानेपर परमशान्तिकी प्राप्ति होती है। इस प्रकार ये श्रद्धादि परस्पर पूरक एवं उपकारक हैं (४ । ३९-४९) ।

रजोगुणमें क्रिया, लोभ, तुष्णा, अहकार आदिकी प्रधानता है तथा ये ही मुख्य वैरी है। इन्द्रिय, मन एवं बुद्धिमें विक्षिप्तता भी रजोगुणके कारण आती

है। रजोगुणका मूल थहं (मै) है तथा इस अद्वा अद्वृत्त वामना (संकल्प) एवं कांफलकी प्राप्तिका तृष्णासे होता है। अतः गीता देहधारीके लिये तथा सृष्टि-चक्रको प्रवर्तित रखनेके लिये कर्मकी अपार्थायताको स्तीकार करते हुए आसक्ति और कांफलका ध्यान करके समन्वयमें स्थित होकर ईश्वरापित बुद्धिमे ईश्वरता सतत सारण करते हुए ब्रह्मकर्म करनेका उपदेश देती है। ऐसा करनेसे रजोगुणके प्रभावसे मुक्ति मिल जायगी, कर्म-बन्धन नष्ट हो जायगा, संसारमें आसुर-सर्गमें कमी आनेसे शान्ति आयेगी तथा काम-क्रोध-लोभ-मूलक प्रवृत्तियोंके कारण जो दर्शन चरित्र-स्तक, भ्रष्टाचार, अग्रान्ति और युद्ध-विनाश द्वाया हुआ है, वह सब भी समाप्त हो जायगा। (२ । ४७-५८, ३ । १०, ३०, ४ । २२—२४, ५ । २३) ।

ज्ञान सत्त्वगुणका फल है तथा अज्ञान एवं लोभ क्रमशः तमोगुण एवं रजोगुणके प्रभावसे उत्पन्न होते हैं (१४ । १७) । ज्ञानके आवृत्त होनेपर मोहद्वारा बुद्धिकी विवेकशक्तिके कुण्ठित हो जानेपर ही काम-क्रोध-लोभादिसे युक्त आसुरभावोंकी उत्पत्ति होती है। रजोगुण एवं तमोगुण एक-दूसरेके पोपक और सहयोगी बनकर सत्त्वगुणके ज्ञानको पराभूत करनेका प्रयत्न बरते रहते हैं। जीव यदि रजोगुण और तमोगुणको ज्ञान एवं संयम-(तप-) द्वारा जीतनेका प्रयत्न नहीं करता तो वह अपना शत्रु आप ही बनता है। आत्मसंयमद्वारा अपना उद्धार न करनेवाले ही आसुरभावको प्राप्त होते हैं। गीताने ऐसे लोगोंकी मूढ़, नराधम (७ । १५) कहकर निन्दा की है। ऐसे अकृतात्मा, अचेत लोग न तो अपने आत्माका ही दर्शन कर सकते हैं (१५।११) और न ब्रह्मके समीप पहुँच सकते हैं (७ । १५)। असत्यमीके लिये तो योग-साधना दुर्लभ ही है (६।३६)। सत्यमहीन कामी मनुष्य बलवान् एवं चञ्चल मनको

वदीभूत करने का मत्ता है। विश्वा मन भद्रद्वारा रक्षा है, वह विद्रोहील करने की मत्ता है।

भगवद्गीताके अनुभव रजोगुण-मत्र और एवं लोभ-मनुष्यसे जानी। उक्तियांप्रत्येक वर्त्तम तथा आप-के निदिन बना देते हैं। केवल आनंद ही ब्रह्मोपभोगके लिये जीनेवाला व्यक्ति पार्वती विद्युती जीनेवाला है तथा विद्युतीय है। नृश्री व्यवस्थामें उत्तरां जीवन व्यव्य एवं विद्युत माना जायगा (३ । १२) । वह सुरि शक्तिक है, जिसमें देवगण, प्रदुषि एवं रमी प्राणियोंका पास्ता महायोग, परम्पराका सम्मान तथा प्रत्येके प्राप्ति पाप्यका निवागितनन्तरसे दान आन्तर्यक है। इस पास्ता व्यव्योग, सम्भावना एवं दानकी वृद्धावाले जो भी त्रोड्ह, कही यज्ञ-भद्रका दीपी होगा। वह प्रजाओंही ३३ कामनाओंको पूर्ण करनेवाला है। कामनाओंको यह वृद्धि देवोंके अनुप्रयुक्ते होती है। देवगण व्यवस्था इवि प्राप्त शक्ति वृत्त होने हैं तथा प्रसन्न द्वारा सम्भव हृषि करने पृथ्वीपर उर्द्धग बनाने हैं। इस प्रकार 'यज्ञ' देवों तथा मानवोंका सम्बन्ध जोड़नेवाली कही है। अतः यज्ञ सभी-के द्वारा नित्य पालनीय सामाजिक आचार (धर्म) वन जाता है। देवोंको यज्ञ-भग्न दिये निता अर्देवा सानेवाला गीताकी विचार-टटिये चोर है, पारी है, अनरथ दण्डनीय है (३ । १०-१६) । देवदाता, अतिथियज्ञ एवं भूत्यवत्तका प्रनिदिन अनुष्टान करनेके बाद जो नन्हे यज्ञ-जेप हैं। इस यज्ञ-शेषका भोजन सरनेवाले स्वार्य-(रजोगुण-) रहित होनेसे सभी पापोंसे रहित हो जाते हैं। यह यज्ञ भी अनास्त और निष्काम होकर करना चाहिये। देवोंकी तृप्ति एवं विश्वभक्तिके लिये यज्ञभावनासे किया गया कर्म वन्धनकारक नहीं होता (३ । ९) ।

भगवद्गीतामें जहाँ यज्ञ या वेदकी गौणतामूलक निन्दा मिलती है, वहाँ उन वचनों या कर्मसाण्डोंकी

निन्दा है जो विविध वामनाओंसे प्रेरित होकर भोगैश्वर्यकी प्राप्तिके लिये किये जाते हैं, अतः तीन गुणोंके बन्धनमें डालनेवाले हैं (२ । ४२—४५), अन्यथा आसक्ति एवं फलका त्याग कर शास्त्र-विधिका पालन करनेके हेतु यज्ञ, तप और दानके सात्त्विक अनुष्ठानको गीताने अवश्य अनुष्टेय पावन कर्म बताया है (१८ । ५, २३, २६, १७ । ११, १४—१७, २०)। भगवद्गीताके १७वें अध्यायमें जिन शारीरिक, वाचिक एवं मानसिक तपोंका वर्णन (१४—१७) मिलता है, उन्हे इन तीन अङ्गोंका संयम-खृपात्मक उत्तम आचार ही समझना चाहिये । गीतामें यज्ञके अर्थका विस्तार मिलता है तथा उसका प्रयोग दान, संयम, त्रै, उपासना, आराधना, आत्मार्पण, योग आदि प्रशस्त कर्मोंके अर्थोंमें किया गया है (४ । २३—३०, ९ । २३—२५, ३४, १८ । ६५) । इस अर्थ-विस्तारमें मूलकारण 'यज्' धातुका मूल अर्थ देवपूजा, संगतिकरण, दान अर्थात् ब्रह्म एवं देवोंकी पूजा, देवोंकी संगति तथा देवोंके साथ सम्बद्धता, मानवको देव बनाना तथा देवोंके उद्देश्यसे दान (त्याग) ही प्रेरक हेतु है । इस अर्थ-विस्तारके कारण ही द्रव्यदान, तप, योग (ध्यान, समाधि), स्वाध्याय, ज्ञानप्राप्ति, इन्द्रियसंयम, प्राणसंयम आदि सभीको 'यज्ञ' माना गया है । ये सभी यज्ञ कल्मष-का नाश कर ज्ञानप्रदीपके द्वारा अन्तमें ब्रह्मके परमपद-की प्राप्ति करनेवाले हैं (४ । ३०—३१) । इन सभी यज्ञोंमें ज्ञानयज्ञ सर्वश्रेष्ठ है । इस लोककी सम्पूर्ण व्यवस्था यज्ञ-कर्मपर टिकी हुई है । यज्ञहीन पुरुष जब इस लोककी ही प्राप्ति नहीं कर सकता तो उसे उच्चतर जीवनके अन्य श्रेष्ठ लोकोंकी प्राप्ति कैसे होगी (४ । ३१) । गीताकी जीवनपद्धति, कर्मयोगका तथा लोकव्यवस्थाका सिद्धान्त यज्ञचक्र, सर्वभूतहित, लोकसंग्रह एवं ईश्वर-शरणागतिपर टिका हुआ है । महाभारत (बन० २०७ । ६२) में यज्ञ, दान, तप,

वेद एवं सत्य—इन पाँचोंको शिष्याचरणका प्रमुख अङ्ग माना गया है ।

भगवद्गीता बतलाती है कि बहुसंख्यक लोग मन्दबुद्धि, गुण-संमूद्र, कर्मसङ्गी और अनुकरणशील होते हैं । इस बहुसंख्यक समुदायको भी श्रेष्ठ जीवन तथा उत्तम कर्मके लिये प्रेरित करना श्रेष्ठ लोगोंका कर्तव्य है । इतर अन्यसाधारण जन श्रेष्ठ लोगोंके आचरणका ही अनुकरण करते हैं (३ । २१) । अत ज्ञानी एवं मुक्तात्मा लोगोंका यह विशेष दायित्व है कि वे लोगोंके सामने चरित्र, धर्मपालन और कर्तव्यके अनुप्राप्तका अनुकरणीय आदर्श उपस्थित करें । श्रेष्ठजनोद्धारा कर्तव्यकी उपेक्षा या अपने दायित्वको निभानेमें प्रमाद तथा चरित्र-स्खलनकी छोटी-सी भूल लोक-समुदायके पतन और विनाशका कारण बन जाते हैं । इस भूलसे मानव-जातिके मनो-चरित्रपर बहुत दूरगामी प्रभाव पड़ता है । अतः शासक, नेता, विद्वान् आदि श्रेष्ठ लोगोंको अपने शील और चरित्रकी सुरक्षा तथा कर्तव्य-कर्मको पूरा करनेमें सहाय ही जागरूक रहना चाहिये । जीवनमुक्त पुरुषोंको भी लोकसंग्रह-हेतु शास्त्र-मर्यादाके अनुसार धर्मचरण एवं कर्तव्यकर्म करना चाहिये (३ । २०—२५) । लोकसंग्रहसे तात्पर्य यह है कि लोक-समुदाय शास्त्रविहित शील एवं वर्ण-धर्मका पालन करे, सर्वभूतहितमें लगा रहे, वह मिलकर अभ्युदय एवं निःश्रेयसकी ओर अग्रसर हो तथा मानवोंका प्रकृति और देवगणके साथ आदान-प्रदान, सह-भाव एवं परस्पर सम्मान बना रहे । इस प्रकार लोकमें सभीका मङ्गल हो और धर्मव्यवस्था सुरक्षित बनी रहे । इस धर्म-व्यवस्थाको सुरक्षित बनाये रखनेके लिये अवर्मकी प्रवृत्तियोंको तथा दुष्कर्म करनेवालोंको नियन्त्रणमें रखना अथवा दण्ड-विधानद्वारा उन्हें नष्ट करना भी श्रेष्ठ पुरुषोंके चरित्र अथवा कर्तव्यकर्मका अङ्ग है ।

यज्ञ एवं लोकसंग्रहके लिये समत्वमें अवस्थित होकर निर्लिप्त भावसे कर्म करनेका कौशल प्रज्ञाके स्थिर होनेपर आता है। चित्तमें शान्ति, प्रसन्नता, निर्भयता, राग-द्वेष-हीनता, निःसृहता आदि गुण बुद्धिके स्थिर, एकाग्र एवं निश्चयात्मक होनेपर ही आते हैं। मनको सारथिवत् दिशा-निर्देश करनेवाली बुद्धि यदि अस्थिर, चक्षुल, मोहयुक्त रहेगी तो मन सुनिश्चित मार्गपर आगे नहीं बढ़ सकता। बुद्धिकी चक्षुलता या अस्थिरताका कारण इन्द्रियों एवं मनका शब्दादि विषयोंके प्रति निर्वचनमन है (२।६७)। शब्दादि विषयोंके चिन्तनके साथ काम, क्रोध, मोह एवं स्मृति-भ्रंशनकी परम्परा जुड़ी हुई है, जो बुद्धिको नष्ट कर देती है। अतः स्थिर प्रज्ञाकी प्राप्तिके लिये इन्द्रियोंका संयम (दम) एवं मनका नियन्त्रण (शम) दोनों ही आवश्यक हैं (२।६२-६८)। भगवद्गीताका स्पष्ट मत है कि जिसकी इन्द्रियों नियन्त्रित हैं, उसीकी प्रज्ञा स्थिर है—‘वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता’ (२।६१)। विवेकयुक्त निश्चलबुद्धिका योगसाधक ही फलकामनाका त्याग कर, सिद्धि-असिद्धि आदिमें समभावसे युक्त होकर निरहंकार-भावसे कर्म कर सकता है एवं समाधिमें बुद्धिको अचल, स्थिर रखते हुए ब्राह्मी स्थितिको प्राप्त कर सकता है (२।४८-५३, ७२)।

इन्द्रिय-संयमके लिये गीता सर्वथा निरोध या इन्द्रिय-नाशका उपदेश नहीं करती। वह युक्तियुक्त मार्गका अवलम्बन करनेका उपदेश देती है। गीता यह खीकार करती है कि इन्द्रियों प्रवल हैं एवं वे सहज प्रवृत्तिवश जब अपने-अपने शब्दरूपादि विषयोंकी ओर दौड़ती हैं, तब मन, बुद्धिको भी चंचल कर देती हैं (२।६७)। परंतु अन्यास और विवेकके द्वारा इन्द्रियोंकी प्रवृत्तियोंको समझकर तथा उनके आवेगात्मक सुखदुःखात्मक संवेदनोंको आगमापायी, क्षणिक और परिवर्तनशील

जानकर उन्हें तिनिक्षा-वृत्तिद्वारा सहन करनेका अन्यास करना चाहिये। दोपीं इन्द्रियों नहीं हैं, दोपर हैं भोग-प्रवृत्तिकी कामनासे इन्द्रियोंके अनियन्त्रित उपयोगम। इन्द्रियों ज्ञानके उपकरण हैं तथा जीवकी जात्य जगत्का ज्ञान देनेवाली एवं सर्वकं मायित करनेवाली हैं। यदि जीवात्मा राग-द्वेषसे रहित होकर, इन्द्रियोंसे अपने वशमें करके इन्द्रियोंको व्यवहारणे लावे तो उपसे शान्ति और चित्तकी निर्मलता ही प्राप्त होगी (२।६४)। आचार-व्यवहारमें गीता अतिवादका निपेत्र करके पिवेक-सम्बन्ध युक्तियुक्त मार्यम मार्गको ही अपनानेका उपदेश देती है—‘युक्तादारविदारस्य युक्तचेष्ट्य कर्मयु’ (६।१७)। संक्षेपमें गीता चरित्र-निर्माणके लिये निम्नलिखित बातोंपर जोर देती है—

(१) मानव-जीवन न तो इन्द्रिय-भोगोंकी तृप्तिके लिये है और न अपेक्षे ही व्यायों और व्यन्त-निर्दित वनमत्र जीनेके लिये बना है। ऐसा जीवन आसुरी भावके लोगोंका होता है। मनुष्यका लक्ष्य आसुरी भावको त्यागकर दैवभावकी प्राप्तिपूर्वक मोक्ष या ब्रह्मद्वारा प्राप्त करना है।

(२) जीवनकी सम्पूर्ण प्रवृत्तियों और व्यवहारोंमें रजोगुण और तमोगुणपर आधारित काम, क्रोध, लोभ एवं मोहसे युक्त आसुरी भावोंका परित्याग दर देना चाहिये तथा सर्वत्र सत्त्वगुणको अपनानेपर वल देना चाहिये। दैवी सत्त्वभावका आवार सत्त्वगुण है। दैवी सम्पदको अपनानेसे दैवभावकी प्राप्ति होगी। गीताके चारित्रिका आदर्श त्रिगुणातीन पुरुष अथवा ज्ञानी भक्त हैं।

(३) व्यक्तिके सभी अचार शास्त्रमर्यादित होने चाहिये। शास्त्रविधानके अनुसार अपने वर्गधर्मका कर्तव्य-बुद्धिसे पालन करना चाहिये। किसी भी कर्ममें फलकामना, आसक्ति, अहंकार और ममता नहीं होनी चाहिये। सर्वभूतके कल्याणमें निरत रहते हुए निष्काम भावसे भगवत्प्रीत्यर्थ अपने वर्ण-धर्मका पालन करते हुए

लोकसंग्रहार्थ एवं यज्ञचक्रको प्रवर्तित रखनेके लिये कर्म करना चाहिये ।

(४) इस सृष्टिमें जीवन ब्रह्म, देवगण, प्रकृति एवं प्रज्ञाके परस्पर सहयोग तथा सम्भावनापर आधारित है । अतः इस सामज्ञस्यको यज्ञकर्मके द्वारा बनाये रखना चाहिये एवं सभीको उनका प्राप्य अंश देना चाहिये । ज्ञान एवं कर्ममें हमारी दृष्टि विश्वजनीन होनी चाहिये ।

(५) सम्पूर्ण चरित्रका मूल आधार कामना और अहंकारका उच्छेद तथा इन्द्रिय-संयम है । इन्द्रिय-संयमसे मन निर्मल होता है एवं प्रज्ञा स्थिर होती है । स्थिरप्रज्ञ बननेका अभ्यास करना चाहिये ।

(६) अज्ञ प्राणियोंका आचरण भी ऐसा हो, जिससे जीवनमें उन्हे कीर्तिकी प्राप्ति हो, उनका गौरव बढ़े तथा इस लोक एवं परलोकमें सुखकी प्राप्ति हो ।

(७) ब्रह्म इस सृष्टिका एवं जीवनका मूल है । ब्राह्मीस्थितिको प्राप्त होकर ब्रह्मके परमपदकी प्राप्ति जीवनका लक्ष्य है । ब्रह्म सभी तप, कर्म एवं यज्ञका भोक्ता तथा आनन्दका मूल है । अतः हमारे सभी कर्म और आचार सदैव ब्रह्माभिमुख हों । हम इन्द्रियाँ, मन और बुद्धिको ब्रह्ममें ही संयुक्त कर, पूर्णतया ब्रह्मके प्रति सर्वभावेन समर्पित होकर सदैव ब्रह्ममें निवास करनेवाले जीवन्मुक्त बनें । यही भारतीय आध्यात्मिक चरित्र-गठनका फल है । गीता इसीका साङ्घोपाङ्ग निरूपण करती है ।

कालिदासके काव्योंमें चारित्रिक लोकादर्श

(लेखिका—डॉ० विभा रानी दुबे)

अरविन्दका कथन था—‘वाल्मीकि, व्यास और कालिदास भारतीय इतिहासकी अन्तरात्माके प्रतिनिधि हैं । सब कुछ नष्ट हो जानेके बाद भी इनकी कृतियोंमें भारतीय संस्कृतिके प्राणतत्व सुरक्षित रहेगे ।’ आगमसिद्ध कालिदासने शब्दब्रह्मको कान्तासम्मित काव्यरूप दिया । इन्होंने भारतीय अध्यात्म-साधनाका गोषण किया और समग्ररूपसे भारतीय जीवनादर्शको अपनी वाणीमें व्यक्त किया । इनके काव्योंमें व्यक्तिगत एवं सामाजिक आदर्श मुखरित हुए और इनके चित्रणमें इन्होंने पत्नी, पति, पुत्र, पिता आदिके कर्तव्यपालन और सामाजिक आदर्शमें वर्णधर्म तथा आश्रमधर्मके आचरणको इङ्गित किया ।

इनके काव्योंमें नायिकाएँ अद्वितीय सौन्दर्यकी राशि हैं । उमाके वर्णनमें वे कहते हैं—‘जान पड़ता है कि ब्रह्मा संसारका सम्पूर्ण सौन्दर्य एकत्र देखना चाहते थे, इसीलिये उपमा देनेके लिये व्यवहृत

होनेवाली सभी वस्तुओंको एकत्र कर उनके सौन्दर्यको यथास्थान विनिवेशित कर पार्वतीका निर्माण किया’—
सर्वोपमाद्व्यसमुच्चयेन यथाप्रदेशं विनिवेशतेन ।
सानिर्मिता विश्वसृजा प्रयत्नादेकस्थसौन्दर्यदिक्षयेव ॥
(कुमारसम्भव १ । ४९)

इसी प्रकार उनकी शकुन्तला निर्सगकन्या है । उर्वशी साक्षात् खर्गकी अप्सरा है । सीता, इन्दुमती और मालविका—सभी सौन्दर्यकी प्रतिमूर्तिके रूपमें अवतरित हैं । किंतु कविने यहाँ इस अलौकिक सौन्दर्यका सदाचारसे योग कराकर भी भारतीय आदर्शको ऊँचा रखा है । अविकल तपस्यामें रत उमासे ब्रह्मचारीके वेषमें आये हुए शिवका स्वयं कहते हैं—‘यदुच्यते पार्वती पाप-चृत्तये न रूपमित्यव्यभिचारि तद्वचः ॥’ (कु० स० ५ । ३६) । ‘पार्वती ! कहा जाता है कि रूप पापवृत्तिका कारण नहीं होता—वह वचन सत्य ही है ।’ जो रूप

पापवृत्तिकी ओर ले जाता है—वह वास्तवमें रूप ही नहीं है, क्योंकि जो पापवृत्तिको बढ़ाता है, वह तामसी है, उसमें सत्त्वोद्रेककी सामर्थ्य नहीं—अतः वह सुन्दरताकी श्रेणीमें नहीं आ सकता। किंतु ‘तथा हि ते शीलसुदर्शने तपस्थितामप्युपदेशतां गतम्।’ (कुमार० ५। ३६) आपके अपापवृत्तिरूप एव उदार, निष्कलुप शीलको देखकर बड़े-बड़े तपस्वी भी शिक्षा ग्रहण कर सकते हैं। सप्तर्णियोंके हाथोंसे चढ़ाये हुए, फूल और आकाशसे उतरी हड्डि गङ्गाकी धागरें हिमालयपर गिरती ही रहती है, लेकिन इन सबसे हिमालय उतने पवित्र नहीं हुए, जिनमात्रा आपके आचरणसे वे कुलसहित पवित्र हुए हैं—

यथा त्वदीयैश्वरितैरनाविलै-

र्महाधरः पावित एव सान्वयः ।

(५। ३७)

इस कुमारसभ्यको वचनमें स्पष्टत. कविने आचरणकी पवित्रतापर बल दिया है। इतना ही नहीं, खीके सोन्दर्यकी सार्थकता तभी है, जब वह अपने प्रियतमको जीत ले। शिवसे अपमानित पार्वती अपने रूपको कोसती हैं—‘प्रियेषु सौभग्यफला हि चारुता’ (वही ५। १)। किंतु विवाहके उपरान्त ये ही पार्वती अपने रूपको दर्पणमें देखकर शिवसे मिलनेके लिये उतावली हो उठी, क्योंकि ‘खीणां प्रियालोकफलो हि देपः’ (कु० स०) खियोके शृङ्खरकी सार्थकता तभी है, जब वह पतिके दृष्टिपथमें आये। यही कारण है कि भारतीय परम्परामें विरहकी दशामें खियाँ मण्डन नहीं करती—‘भवन्त्यव्यभिचारिभ्यो भर्तुरिष्टे पतिव्रताः’ (वही ६। ८६)। जिसके हृदयमें भर्ताके चित्रका प्रति-विम्ब सदा पड़ता रहे, पतिव्रता वही है। यही कारण है कि प्रियकी वियोग-दशाका अनुमान कर वे सुख-सौन्दर्य-की वातें भूल जाती हैं। पली ही क्यों आदर्श पति

भी तो दूर बैठा हुआ अपने संकल्पोंके द्वारा ही अपनी प्रियामें प्रविष्ट होना चाहता है—

अज्ञेनाङ्गं प्रतनु तनुना गाढतप्तेन तसं
सांगेणाग्रहुतमविरतोत्कण्ठुत्कण्ठितेन ।
उष्णोच्छवासं समधिकतरोच्छवासिना दूर्खर्तीं
संकल्पैस्तैर्विशति विधिना वैरिणा रुद्धमार्गः ॥
(मेघदूत २। ३६)

इस प्रकार विरहकी दारुण निविड़ता दोनों ओर समान है—आदर्श दाम्पत्यकी कसौटी भी तो यही है। भारतीय आदर्शके अनुसार विवाहके पश्चात् पति ही पत्नीका सर्वस्व होता है, इसीलिये शारदृत दुष्यन्तसे कहता है—

तदेपा भवतः कान्ता त्यजस्वैनां गृहाण वा ।
अप्रपन्ना हि दारेषु प्रभुता सर्वतोमुखी ॥
(अभिज्ञानगाकुन्तलम् ५। २६)

‘राजन् ! यह आपकी पत्नी है; इसे रखिये या निकालिये; क्योंकि पतिका पत्नीपर पूरा ऋधिकार होता है।’ पत्नीका जीवननिर्वाह पतिके घर ही हो सकता है और उसीमें सतोप करके उसे रहना भी चाहिये—

यदि यथा वदति क्षितिपस्तथा
त्वमसि किं पितुरुक्तुलया त्वया ।
अथ तु वेत्सि शुचिव्रतमात्मनः
पतिकुले तत्र दास्यमपि क्षमम् ॥
(अभिज्ञानगाकुन्तलम् ५। २७)

‘शकुन्तले ! यदि राजाकी बात सत्य है तो तुझ-जैसी कुल-कलङ्किनीको पिताके घर कोई काम नहीं; यदि तू अपनेको पवित्र समझती हैं तो दासी बनकर भी तुम्हे पतिके घरमें रहना चाहिये।’ सीताके चरित्राङ्कनमें कविने कहा है कि श्रेष्ठ नारियाँ अपने पतिको देवता मानती हैं—‘पतिदेवतानाम्’ (रघुवंश १४। ७४)। इसलिये स्वयं शिवने खीकार किया है—कियाणां खलु धर्म्याणां सत्पत्न्यो मूलकारणम् (कुमारसभ्य ६। १३)। पतिव्रत्यका प्रभाव समस्त संकटोंको दूर करनेवाला है—

उत्तिष्ठ वत्से ननु सानुजोऽसौ
वृत्तेन भर्ता शुचिना तदैव।
कृच्छ्रं महत् तीर्ण इति प्रियाहाँ
तामूचतुस्ते प्रियमध्यमिथ्या ॥
(रघुवंश १४ । ६)

सीतासे उनकी सासुरें कहती हैं—वेटी । उठ, नेरे
ही पातिव्रत्यके प्रभावसे राम और लक्षण सकटके मुखसे
पार हुए हैं । साध्वी पल्नी पतिके लिये पल्नी, मित्र,
सखी, मन्त्री तथा ललित कलाओंमें पतिकी प्यारी शिष्या
आदि अनेक रूपोंमें समुपस्थित होती है—

गृहिणी सचिवः सदा मिथः
प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ ।
(रघुवंश ८ । ६७)

श्रीको क्षमाका वरदान देकर विधाताने इसे अर्पव
गैरक्षसे मणिडत कर दिया है । रामद्वारा परित्यका
सीताके हृदयमें भी रामके प्रति कितना स्वाभाविक प्रेम
है । वे कहती है—‘यदि मेरे गर्भमें स्थित आपका वह तेज
बाधा न देता, जिसकी रक्षा करना आवश्यक है तो मैं
आपसे सदाके लिये बिछुड़े हुए अपने प्राण भी छोड़
देती । पर पुत्र हो जानेपर मैं सूर्यमें दृष्टि वॉधकर ऐसी
तपस्या करूँगी कि अगले जन्ममें भी आप ही मेरे पति
हों, पर आपसे मुझे अलग न होना पड़े—

भूयो यथा मे जननान्तरेऽपि
त्वमेव भर्ता न च विप्रयोगः ।
(रघुवंश १४ । ६६)

नारीका ऐसा उदात्त एव आदर्श रूप संसारमें और
कहाँ मिल सकता है ? जन्म-जन्मान्तरमें पतिके साहचर्य-
की कामना खनेके काण हिंदूनारी पतिके दिवङ्गत
हो जानेपर, उसकी चितामें उसके साथ ही भस्म हो
जाना चाहती है । कामदेवके नष्ट हो जानेपर रति
अपने प्राणोंको ल्यागनेके लिये तत्पर है; क्योंकि वॉदनी
चन्द्रमाके साथ चली जाती है और विजली बादलके
साथ विलीन हो जाती है । अतएव पतिके मार्गका अनुगमन

करना जब जड़ोंमें भी देखा जाता है, तब वह चेतन होकर
अपने प्यारेके पास कैसे न जाये ?—

शशिना सह याति कौमुदी
सह मेघेन तडित् प्रलीयते ।
प्रमदाः पतिवर्त्मगा इति
प्रतिपन्नं हि विचेतनैरपि ॥
(कुमारसम्भव ४ । ३३)

और वह वसन्तसे चिता सजानेकी प्रार्थना करती
है, जिससे वह सहमरणका पुण्यलाभ कर सके ।
कण्वके द्वारा पतिगृह जानी हुई शकुन्तलाको दिया
जानेवाला—

श्रुश्रूपस्व गुरुन् कुरु प्रियसखीवृत्ति सपत्नीजने
भर्तुर्विप्रकृतापि रोपणतया मा स्स प्रतीपं गमः ।
भूयिष्ठं भव दक्षिणा परिजने भोगेष्वनुत्सेकिनी
यान्त्येवं गृहिणीश्वदं युवतयो वामाः कुलस्याध्यः ॥
(अभिज्ञानशाकुन्तल ४ । १८)

—यह उपदेश आज भी भारतीय पिताओंके द्वारा
पुत्रियोंको दिया जाता है । पिता योग्य वर हूँडकर संतुष्ट
हो जाता है—‘वत्से ! सुशिष्यपरिदृता विद्येव
अशोचनीयासि संवृत्ता’ (शाकुन्तलम्, पृ० ४८२) ।
‘जैसे योग्य शिष्यको विद्या देनेसे दुःख नहीं
होता, वैसे ही तुझे भी योग्य पतिके हाथमें देनेसे मुझ
(कण्व)को दुःख नहीं है ।’ किंतु माँको तभी संतोष
होता है, जब कन्याको उसका पति प्यार करता है—
भर्तुर्वल्लभतया हि मानसीं मातुरस्यति शुचं वधूजनः ॥
(कुमारसम्भव ८ । १२)

शकुन्तलाको विदा करते समय विचारमग्न कण्वकी—
‘अर्थो हि कन्या परकीय एव तामद्य सम्प्रेष्य
परिग्रहीतुः’ इस (शाकु० ४ । २२की) उक्तिमें भारतीय
पिताकी मावना मुखरित हो उठती है । कालिदासके अन्य
पुरुष पात्रोंमें भी विलक्षण शौर्य, दृढ़ चारित्र, स्वार्थोत्सर्ग,
शास्त्रानुशीलन, शासनकुशलता, वर्णाश्रिम-धर्मके प्रति निष्ठा
एवं प्रेयकी अपेक्षा श्रेयकी ओर झुकाव परिलक्षित होता है ।

द्विलीप, खु, अज, राम आदि खुवंशियोंका पराक्रम तो लोकाभियुत है ही, दुष्प्रत्य और पुरुषवाका भी शौर्य इतना बड़ा-बड़ा है कि इन्हें भी अपने शत्रुओंपर विजय प्राप्त करनेके लिये इनकी शरण लेनी पड़ती है। ये सभी राजा होते हुए भी चत्रिके इतने दृढ़ थे कि परन्त्रीके प्रति इनकी मानसिक वृत्ति भी उन्मुख नहीं होती थी—“द्विनां रघूनां मनः परर्णी-चिसुखप्रवृत्तिः” (खुवंश १६ । ८)। शूर्पणखा जब रामसे विवाहका प्रस्ताव रखती है तो राम सयः कह उठते हैं—“मेरा तो विवाह हो चुका है, तुम मेरे छोटे भाईके पास जाओ।” यहाँ कवि एकपक्षीव्रतकी ओर इंकित करना चाहते हैं (खुवंश १२ । ३४)। पर जब वह लक्ष्मणके पास जाती है, तब वे कहते हैं—“तू पहले मेरे बड़े भाईके पास विवाहकी इच्छासे जा चुकी है, अनः तू मेरी माताके समान है, मैं तुझसे विवाह नहीं कर सकता” (खुवंश १२ । ३५)। स्पष्ट है कि कालिदास मानसिक व्यभिचारके भी विरोधी थे। दुष्प्रत्य अपनी विस्मृतिकी अवस्थामें भी तर्कना कर रहा है—“अनिर्वर्णनीयं परकलन्नम्” (शाकुन्तल पृ० ५०१) और वह सद्ग भावसे कह उठता है—

कुमुदान्येव शशाङ्कः सविता द्योध्यति पद्मजान्येव ।
घशिनां दि परपरिग्रहसंद्वेष्टराङ्गुलीं चृच्छिः ॥
(अभिं कु० ५ । २८)

जैसे कन्दमा केवल कुमुदोंको ही विकसित करता है और मूर्य केवल कमलोंको ही विकसित करता है, वैसे ही जिनेन्द्रिय लोग परमी ग्रीको स्वर्ण करनेकी इच्छा नहीं करते। ये समस्त कथन दुष्प्रत्यकी चारित्रिक उदासात्मते ही मूलम हैं। पक्ष जगद् वाविने इसी दुष्प्रत्यकी शकुन्तलाके साथ अन्यविक रागासक्त दिखाया है जैसे वही विस्मृतिकी अवस्थामें उसकी तरफ आगे भी आगे याद रखना चाह दूष्प्रत्य है। उन्हे अपने चम्पिपर अस्य न गए हैं, शकुन्तलाके प्रति आहुष होते समय

भी वह इस बातके लिये आश्रित है कि पुरुषशियोंका मन कुपंथकी ओर जाता ही नहीं है—“न च परिहार्य वस्तुनि पौरवाणां मनः प्रवर्त्तते” (शाकुन्तलम् पृ० २१८)। यह कथन उसके आत्मवलक्षों धोतित कर रहा है।

भारतीय संस्कृतमें संप्रह करनेकी अपेक्षा त्यागपर अधिक वल दिया गया है; क्योंकि यहाँके लोग धनके लिये नहीं जीते, यशके लिये ही जीते हैं। महात्माओंकी सम्पत्ति बादलोंके जलके समान दानके लिये ही संगृहीत होती है—

‘आदानं दि विसर्गाय स्तां वारिसुचामिव ।’

धन तो बहुत तुच्छ वस्तु है। दिलीप जब खयंको सिंहके समक्ष अर्पित कर देते हैं तो सिंह उनसे कहता है—

एकातपञ्चं जगतः प्रभुत्वं
सर्वं वयः कान्तमिदं वपुश्च ।
अलपस्य द्वेतोर्वहुष्टुमिच्छन्
विचारसूदः प्रतिभासि मे त्वम् ॥
(खुवंश २ । ४७)

राजन् । लगता है, कर्तव्यार्थव्यका तुममें विवेक नहीं रह गया है; क्योंकि एक साधारण-सी गौके पीछे तुम इतना बड़ा राज्य, यौवन और ऐसा सुन्दर शरीर छोड़नेपर उतारू हो। इसके उत्तरणे दिलीप कहते हैं—

किमन्यदिस्यरत्वं चन्द्रतोऽहं
यज्ञः शरीरे भव मे द्यातुः ।
एकाल्पविभवसिपु मद्विद्यानां
पिण्डावनाम्या ग्रन्थु भौतिकेषु ॥
(खुवंश २ । ५७)

‘यदि किसी कारणवश तुम मुझपर कुछ दया ही करना चाहते हो तो मेरे यज्ञः शरीरकी रक्षा करो; क्योंकि मुझन्जसे लोग न प्वर शरीरमें आग्न्य नहीं रखते।’ यही भारतका नित्यान आदर्श रहा रहे। जो अस्य दूष्प्रत्य उसके

मोह क्या ? यशःकायसे तो मनुष्य शताव्दियोतक जीवित रहता है—

उपेयुपामपि दिवं सन्निवन्धविधायिनाम् ।
आस्त एव निरातङ्कं कान्तं काव्यमयं घपुः ॥
(धन्यालोकलोचन पृ० ४१)

यौवन, रूप और ऐश्वर्य—तीनोंमें से एक भी मनुष्यको मतवाला बना देता है, किंतु अतिथिके पास तीनों वस्तुएँ थीं तो भी उन्हे लेशमात्र गर्व न था ।

वयोरूपविभूतीनमेकैकं मदकारणम् ।
तानि तस्मिन् समस्तानि न तस्योत्सिषिचे मनः ॥
(रघुवंश १७ । ४३)

सत्ताधारियोंके प्रति यह प्रच्छन्न चुनौती है । अतिथिने यह सोचकर कि वाहरी शत्रु तो सदा रहते नहीं और रहते भी हैं तो दूर रहते हैं, अपने भीतर रहनेवाले काम-क्रोधादिको पहले जीत लिया । इन्होंने अर्थ तथा कामके लिये धर्मको कभी नहीं छोड़ा और धर्मसे बँधकर अर्थ एवं कामको भी नहीं छोड़ा और न अर्थके कारण कामको या कामके कारण अर्थवां ही छोड़ा, प्रत्युत धर्म, अर्थ एवं काम तीनोंमें समरसताका वन्धन बनाये रखा—
अनित्याः शत्रुं वाहा विप्रकृष्टाश्च ते यतः ।
यतः सोऽभ्यन्तरान्नित्याज्ञपूर्वमजयद् रिपूत् ॥
(रघुवंश १७ । ४५)
(क्रमशः)

प्राचीन भारतीय कलाका चारित्रिक दर्शन

(लेखक—प्रो० श्रीकृष्णदत्तजी वाजपेयी)

धर्म, दर्शन, साहित्य तथा संगीतकी अनेक विद्याओंकी तरह वास्तु, चित्रकला और मूर्तिकलाका भी इस देशमें बड़े रूपमें विकास हुआ । इन सबका उद्देश्य सौन्दर्य तथा आनन्दकी अभिवृद्धिके साथ चरित्र-निर्माण भी था । इसका पालन दीर्घकालतक होता रहा । ललित कलाओंके—सत्यं, शिवं, सुंदरम् रूपमें जीवन-आदर्शकी वही भावना निहित थी, जिसे हम अपने दार्शनिक साहित्यमें पाते हैं । भारतमें भोगप्रधान कृतिको वास्तविक कला नहीं माना गया । सच्ची कलाकी संज्ञा उसे दी गयी, जो परमानन्दकी प्राप्ति करानेमें सफल हो । कहा भी गया है—

विश्वान्तिर्या तु सम्भोगे सा कला न कला मता ।
लीयते परमानन्दे य आत्मा सा परा कला ॥

भारतीय कलाका इतिहास प्रागौतिहासिकयुगसे ही अरम्भ होता है । विशुद्ध लौकिक कलाके साथ-साथ धर्मसे सम्बन्धित कलाओंका निर्माण भी विभिन्न युगोंमें देशके प्रायः सभी भागोंमें होता आया है । विविध

कलाओंके शास्त्रीय प्रन्थोंका प्रणयन होनेपर वास्तुकला, चित्रकला, प्रतिमाकला एवं संगीत और नृत्यको उसी प्रकार नियमबद्ध किया गया, जिस प्रकार व्याकरणका नियमन पाणिनि आदि आचार्योंद्वारा किया गया । यद्यपि भारतमें बहुतेरे प्रतिमा-मन्दिर नये बने, तथापि कलाओंके चारित्रिक उन्नयनवाले पक्षने न केवल इस देशमें, अपित्तु वाहरके अनेक देशोंमें सम्मान प्राप्त किया । इसका प्रमाण वे बहुसंख्यक कलाकृतियाँ हैं, जो आज भी मध्य एशिया, अफगानिस्तान, तिब्बत, चीन, सिंहलद्वीप, हिंदूचीन और द्विदंशियाके विभिन्न भागोंमें सुरक्षित हैं । भारतकी सांस्कृतिक विजयमें यहाँके आचार-विचारका तथा उनसे प्रादृश्य विविध मूर्त रूपोंका योगदान रहा है । ऐतिहासिक युगोंमें अनेक मंदिरों, स्तूपों, मठों, प्रतिमाओं आदिके निर्माणकी कथा बड़ी ही रोचक है । कलाकारोंने जहाँ एक और इसपर ध्यान दिया कि उनकी कृतियाँ लोक-जीवनके विभिन्न पक्षोंको उद्घाटितकर लोगोंमें सौन्दर्य और आनन्दकी शुद्धि करें, वही उन्होंने इस बातपर

वरावर बल दिया कि कलाकृतियाँ चरित्र-निर्माणमें सहायक वने।

गुप्तकाल भारतीय इतिहासमें 'स्वर्णयुग' के नामसे प्रसिद्ध है। ईसवी सन् चौथी शतीके आरम्भसे छठी शतीके अन्ततकके लगभग तीन सौ वर्षोंके इस लंबे समयमें भारतने मूर्तिकला, चित्रकला, साहित्य और संगीतके क्षेत्रमें अभूतपूर्व उन्नति की। यह धार्मिक सहिष्णुताका युग था। यथापि अधिकांश गुप्तवंशी राजा वैष्णव थे, फिर भी वे अन्य धर्मोंके प्रति सम्मानका भाव रखते थे। उनके शासनमें कितने अन्य मतावलम्बी भी ऊँचे पदोपर आसीन थे। इस कालमें वैष्णव, शैव, शाक्त आदि मतोंके साथ बौद्ध एवं जैन-धर्म एवं कलाएँ भी बराबर विकसित होती रहीं। इन विविध धर्मोंसे सम्बद्ध देवालयों, स्तूपों, विहारों आदिके जो अवशेष प्राप्त हुए हैं, उनको देखनेसे पता चलता है कि शासक-वर्ग एवं जनता—दोनोंमें धार्मिक उदार भावना विद्यमान थी। कुमारगुप्तने नालन्दामें एक बौद्ध विहारकी स्थापना करायी। वहाँ एक बड़े विश्वविद्यालयका निर्माण पहलेसे ही हुआ था। पर्वती गुप्त शासकोने इस विश्वविद्यालयकी अभिवृद्धि में धूरा योग दिया। इस कालमें जैनधर्म-सम्बन्धी स्थापत्य एवं मूर्तिकलाकी कृतियोंका भी निर्माण बड़ी संख्यामें हुआ। मथुरा-जैसे नगर बौद्ध तथा जैन-धर्मके बड़े केन्द्रोंके रूपमें प्रसिद्ध हुए। महाकवि कालिदासने उस भारतीय पारम्परिक विचारधाराका अनुमोदन किया है, जिसके अनुसार रूप या कला पाप-वृत्तियोंको उक्सानेका साधन नहीं है, बल्कि उनका उद्देश्य ऊँचा है। वे पार्वतीके शीलको शिवद्वारा तपस्त्रियोंके लिये भी अनुकरणीय कहलाते हैं—

अदुच्यते पर्वति पापवृत्तये
न रूपमित्यब्यभिचारि तद्वच्चः ।
तथा हि ते शीलमुदारलोचने
तपस्त्रिनामस्युपदेशातां गतम् ॥
(कुमारसम्भव ५। ३६)

गुप्तकालीन मूर्तिकारोंने भी कालिदासद्वारा निर्दिष्ट कलाके इस दिव्य आदर्शसे प्रेरणा प्राप्तकर अपनी कलाको सजाया। गुप्तकालकी जो कृतियाँ उपलब्ध हैं, उनमें मानव-ब्रह्मयके उल्लास, प्रेम और आनन्दका संचार करनेके साथ-साथ चित्तवृत्तियोंको ऊँचा उठानेमें सहायक भाव दीखते हैं। सौकुमार्य और रमणीयताके साथ यगार्थताका आदर्श भी इस स्वर्णयुगीन कलामें मिलता है। गुप्तकालीन मूर्तियोंमें चार प्रकारके उपकरण हैं—पापाण, मिठ्ठी, कांसकी बनी तथा सिक्कोंपर किये हुए रेखाचित्र। पत्थरकी मूर्तियाँ गढ़नेके प्रधान केन्द्र देवगढ़, सारनाथ, मथुरा, तक्षशिला, नचना, भुमरा, मन्दसौर आदि थे। देवगढ़के दशावतार-मन्दिरमें लगे हुए कई शिलापट्ट गुप्तकलाके उत्कृष्ट नमूने हैं। इनमें तपस्यामें संलग्न नरनारायण, गजेन्द्र-मोक्ष, अहल्या-उद्धार तथा शेषशायी विष्णुके दृश्य अत्यन्त प्रभावोत्पादक हैं। कुछ फलकोंपर कृष्ण-लीला-सम्बन्धी दृश्य भी हैं। सारनाथसे प्राप्त धर्मचक्र-प्रवर्तन-मुद्रामें बैठी हुई बुद्धमूर्ति सर्वोत्तम बुद्ध-प्रतिमाओंमें एक है। इसमें बुद्धका शान्त, निःस्वृह भाव कलाकारके द्वारा बड़ी सफलताके साथ व्यक्त किया गया है। सारनाथसे लोकेश्वर शिवका एक सुन्दर मस्तक मिला है, जिसका कलात्मक जटाजट दर्शनीय है। भारतकलाभवन, काशीकी कार्तिकेयमूर्ति भी अपने ढंगकी अनूठी है। इसमें वीररस मूर्त-सा हो गया है और अङ्ग-अङ्गसे तेज तथा उत्साह छलकता है। मुखपर निर्भीकताका भाव है।

गुप्तकालमें मथुरा-कलाने भी बड़ी उन्नति की। बुद्धकी जो मूर्तियाँ इस कालमें गढ़ी गयीं, उनमें शान्ति और गम्भीरताके साथ अङ्गोंकी कोमलता तथा चेहरेपर मन्दस्मितताका भाव बड़े कलात्मक ढंगसे व्यक्त किया गया है। जैन-तीर्थकरों तथा विष्णुकी कई उत्कृष्ट प्रतिमाएँ मथुरासे प्राप्त हुई हैं। इनके अतिरिक्त जनसाधारणके जीवनपर प्रकाश ढालनेवाली कृतियाँ भी मिठ्ठी हैं,

कल्याण

चारित्र्यके आदिदेव महादेव



‘वरद् परमं मङ्गलमसि’



जिनसे तत्कालीन वेश-भूषा, आमोद-प्रमोद आदिकी जानकारी प्राप्त होती है।

उत्तर-पश्चिममें गुप्तकालीन मूर्तिकलाका एक बड़ा क्षेत्र गान्धार प्रदेश था। वहाँ सिलेटी (नीले) पत्थरमें उत्कीर्ण बोद्ध-धर्म-सम्बन्धी सैकड़ों कृतियाँ मिली हैं, जो लाहौर, तक्षशिला तथा पेशावरके संप्रहालयोंमें सुरक्षित हैं। इनकी कला यूनानी और वर्ण-विषय भारतीय हैं। चूने-मसालेकी गच्छकारीके बने हुए गान्धारकलाके कुछ मस्तक बड़े सुन्दर हैं।

मध्यभारतके उदयगिरि नामक स्थानमें उत्कीर्ण वराहकी विशालकाय प्रतिमा इस कालकी एक विशिष्ट कृति है। वराह भगवान् पृथ्वीको अनायास अपनी दाढ़ोपर उठाये हुए दिखाये गये हैं। उनका शौर्य और साहस मूर्तिमें बड़े सामाविक ढंगसे व्यक्त किया गया है। मध्यभारतमें पवाया आदि कई स्थानोंसे भी इस कालकी सुन्दर मूर्तियाँ मिली हैं। इनमेंसे अधिकांश ग्वालियरके संप्रहालयमें सुरक्षित हैं। कई प्रतिमाएँ कलाकी दृष्टिसे उच्चकोटिकी हैं। विन्ध्यप्रदेशके खोह नामक स्थानसे प्राप्त एकमुख शिवलिङ्गवाली मूर्ति, जो पाँचवीं शती ईसवीकी है, गुप्तकालीन कलाके उत्कृष्ट उदाहरणोंमेंसे एक है। अन्य सुन्दर शिवलिङ्ग गुमरा, नचना आदि स्थानोंसे मिले हैं।

दक्षिण भारतके अजन्ता, एलोरा, कन्हेरी, वादामी, ऐहोल आदि कई स्थानोंसे प्रतिमाएँ प्राप्त हुई हैं। अजन्ताकी गुफाओंमें पाषाणपर प्रतिमाएँ अङ्गित हैं। इसकी १९वीं गुफामें बुद्धकी अनेक सुन्दर मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं, जो उत्तर-गुप्तकालकी हैं। इनमें सपलीक नागराजकी प्रतिमा सर्वश्रेष्ठ है। एलोरामें छठी शतीकी कुछ दर्शनीय मूर्तियाँ हैं। कन्हेरीकी ६६वीं गुफामें अब्दोकितेश्वरकी एक अत्यन्त सुन्दर मूर्ति उत्कीर्ण है। वे दो तारा-मूर्तियोंके बीच खड़े हुए दिखाये गये हैं। ऐहोरामें भी उत्तर-गुप्तकालकी कई उल्लेखनीय मूर्तियाँ हैं, जिनमेंसे अधिकांश वैष्णव-धर्मसे सम्बद्ध हैं।

प्राचीन इमारतें अब अधिक संख्यामें उपलब्ध नहीं रहीं; जो बची हैं उन्हे देखनेसे ज्ञात होता है कि उनमें मूर्तियोंका चित्रण सुचारू ढंगसे किया जाता था तथा देव, गन्धर्व, यक्ष, किन्नर, पत्रावली, स्वस्तिक, कीर्तिमुख आदि यथास्थान उत्कीर्ण किये जाते थे। कानपुर जिलेमें भीतरगाँव तथा मध्यप्रदेशके रायपुर जिलेमें सिरपुर नामक स्थानपर ईटोंके मन्दिर मिले हैं। ईटोंपर श्री-पुरुष, उत्फुल्ल कमल, बैलबूटे तथा जालीदार नक्काशी बड़े प्रभावपूर्ण ढंगसे उकेरी हुई मिलती हैं।

मिट्टीकी मूर्तियाँ भी बड़ी संख्यामें मिली हैं। पहाड़पुर, तमलुक, राजघाट, भीटा, कौशाम्बी, श्रावस्ती, पवाया, अहिंच्छत्र और मथुरासे जो मृणमूर्तियाँ मिली हैं, उनमें तत्कालीन लोक-जीवनकी सुन्दर झाँकी मिलती है। पहाड़पुरके उत्तरननसे कृष्ण-लीला-सम्बन्धी तथा अन्य कितने ही मनोरञ्जक अवशेष मिले हैं। राजघाटसे प्राप्त मिट्टीके खिलौने, गुप्तकालीन श्रीपुरुषोंके अनेक प्रकारके केश-विन्यासों तथा अलंकरणोंको व्यक्त करते हैं। अहिंच्छत्र (रामनगर)की खुदाईमें गुप्तकालकी अनेक छोटी-बड़ी मृणमूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। इनमें सबसे अधिक उल्लेखनीय पार्वतीका मनोहर मस्तक है, जिसका पुष्प-प्रथित केशपाश तथा धूँधराली अलंकोका भव्य प्रदर्शन देखकर कलाकारकी कलाके सामने नतमस्तक हो जाना पड़ता है। अहिंच्छत्रसे प्राप्त अलंकृत जटाजटसहित शिवका सिर भी दर्शनीय है। श्रावस्तीसे मिली हुई मूर्तियोंमें एक बहुत बड़ी मृणमूर्ति है। इतनी बड़ी मिट्टीकी प्राचीन मूर्ति अन्यत्र नहीं मिली। इसमें एक छी दो बच्चोंके साथ बैठी हुई दिखायी गयी है। पासमें मोदकोंकी डलिया रखी है। सम्भवतः यह दृश्य यशोदासहित कृष्ण-बलरामका है।

गुप्तकालकी वातुकी मूर्तियाँ भी मिली हैं। सर्वोत्कृष्ट तौरेकी वह बुद्धमूर्ति है, जो सुल्तानगंज (जिल्हा

भागलपुर)से मिली है। यह साढ़े सात फुट ऊँची है और पाँचवीं शती ईसवीकी है। बुद्धका दायाँ हाथ अभयमुद्रामें हैं और ग्रायेंसे वे वस्त्र सँभाले हुए हैं। वस्त्रोंको बड़ी वारीकीसे दिखाया गया है। मुखकी मुद्रा शान्त है। यह मूर्ति अब इंग्लैण्डके बॉकिंघम म्यूजियममें है। पूर्वी पंजाबके कांगड़ा जिलेसे बुद्धकी पीतलकी एक उन्द्र प्रतिमा मिली है। उसमें उन्हें धर्मचक्र-परिवर्तन-मुद्रामें दिखाया गया है। मीरपुर खास (सिन्ध प्रान्त)-से मिली ब्रह्माकी खड़ी हुई चतुर्मुखी मूर्ति भी कास्य-प्रतिमाओंके अच्छे उदाहरणोंमें एक है। इस भावके सोने-चाँदीके सिक्के भी बड़ी संख्यामें मिले हैं। मूर्तिकलाकी दृष्टिसे खर्ण-सिक्के विशेष महत्वके हैं। उनके अप्रभागपर राजाकी मूर्ति मिलती है और पीछे लक्ष्मी या किसी अन्य देवताकी। इन मूर्तियोंसे तत्कालीन वेश-भूषाका अच्छा परिचय प्राप्त होता है। चन्द्रगुप्त प्रथम और कुमारगुप्त प्रथमके वे सिक्के जिनमें राजा-रानी साथ-साथ दिखाये गये हैं एवं समुद्रगुप्त तथा कुमारगुप्तके सिंहवधाङ्कित सिक्के विशेषरूपसे उल्लेखनीय हैं।

भारतीय संस्कृतिके मूलभूत तत्त्व, जिनमें ऐहिक एवं पारमार्थिक श्रेयका बीज निहित था, देश-कालकी सीमासे आवद्ध नहीं हुए। इतिहाससे ज्ञात होता है कि दीर्घकाल-तक संसारके अन्य देशवासियोंने भी इससे लाभ उठाया। प्राचीन समयमें भारतने मिस्त्र, असीरिया और बैतीलोनसे व्यापारिक एवं सांस्कृतिक सम्बन्ध स्थापित किये। मौर्यसमाट अशोकने असीरिया, मिश्र, मेसीडोनिया, एपीरस, ताम्रपर्णी, सुवर्णभूमि आदि अनेक देशोंको अपनी धर्म-विजयका संदेश भेजा। ३० पूर्व द्वितीय शताब्दीके अन्तमें मध्य-एशियामें भारतीय वस्त्रियोंकी स्थापनाका आरम्भ हुआ। धीरे-धीरे वहाँके कोकुद, खोतन, कल्मद, भरुक, कूची, अग्निदेश आदि राज्योंमें भी भारतीय धर्म, कला, भाषा और

साहित्यका निकास हुआ। इनमेंसे कूची और खोतन (कुस्तन) भारतीय संस्कृतिके प्रधान केन्द्र हुए। खोतनके राजाओंके नाम विजयसम्भव, विजयवीर्य, विजयधर्म आदि मिलते हैं। वहाँ गोमतीविहार बौद्धशिक्षाका बहुत बड़ा केन्द्र था। चौथी शताब्दीके अन्तमें जब चीनी यात्री फालान वहाँ गया, तब महायान-मतावलम्बी ३,००० बौद्ध-मिश्र उस विहारमें निवास करते थे तथा वहाँ धर्मयात्राएँ बड़े समारोहके साथ चलती थीं। छठी शतीके अन्ततक दक्षिण-पूर्वी एशियामें अनेक भारतीय उपनिवेशोंकी स्थापना हो गयी। हिन्दूनके एक बड़े भागका नाम 'सुवर्णभूमि' तथा हिन्दैशियाके द्वीपोंकी संज्ञा 'सुवर्णद्वीप' प्रसिद्ध हुई। वहाँ जिन भारतीय राज्योंकी स्थापना हुई, उनके नाम कम्बुज, चम्पा, कोठार, पायुरुंग, श्रीविजय, माक्ष, दशार्ण, गंधार आदि मिलते हैं। इसी प्रकार वहाँ नगरोंके नाम भी अयोध्या, वैशाली, मथुरा, श्रीक्षेत्र, लक्ष्मिनाथ, हंसावती, कुसुमनगर, रामावती, धान्यवती, द्वारकती, विक्रमपुर आदि मिलते हैं। सुवर्णद्वीप-सुमात्रा एवं आस्ट्रेलियामें भी भारतीय रहन-सहन, रीति-रिवाज, लिपि, भाषा और कलाका प्रसार हुआ। वहाँके लादिम निवासियोंके साथ भारतीयोंने जिस प्रेम एवं सहिष्णुताका व्यवहार किया, उसके कारण वे लोग बहुत प्रभावित हुए। फलस्वरूप ये प्रदेश भारतीय संस्कृतिके रंगमें पूर्णतया रँग गये और उनकी गणना 'वृहत्तर भारत'के अन्तर्गत की जाने लगी। ये उपनिवेश भारतीय संस्कृतिके तो केन्द्र बने ही, साथ ही उनके माध्यमसे भारतको कोचीन, जापान, कोरिया आदि देशोंके साथ भी अपने सांस्कृतिक सम्बन्धोंको दढ़ बनानेमें सहायता मिली।

भारतीय संस्कृतिका इन दूरस्थ देशोंमें प्रचार करनेका श्रेय हमारे पूर्वज धर्म-प्रचारकोंको है। वैरोचन, काश्यप, मातझ, कुमारजीव, गुणवर्मा, बौधिवर्म, गुणभद्र, शान्तिरक्षित, पद्मसम्भव, जिनमित्र, दीपंकर, श्रीज्ञान आदि कितने ही

विद्वानोंने यात्राजनित कर्णोंकी परवाह न कर संसारके अनेक भागोंमें भारतीय संस्कृतिका संदेश फैलाया। विभिन्न देशोंके साथ हमारे पूर्वजोंने सांस्कृतिक, राजनीतिक एवं आर्थिक सम्बन्ध स्थापित कर उन्हें दृढ़ता प्रदान की। इस उद्देश्यकी पूर्तिके लिये उन्होंने जिस

चरित्र-बल तथा उदारताका परिचय दिया, वह मानव-इतिहासकी एक गौरवपूर्ण गाथा है। वास्तुकला तथा मूर्तिकलाके बहुसंख्यक अवशेष विदेशोंमें विद्यमान हैं। वे चरित्र-प्रधान भारतीय संस्कृतिका जयघोष आज भी कर रहे हैं। वस्तुतः भारतीय कलामें आदर्श चारित्रिक दर्शन है।

अंगल-साहित्यमें चरित्रका महत्व

(लेखक—साहित्य-वारिचि डॉ० श्रीहरिमोहनलालजी श्रीबास्तव, एम० ए०, पल० टी०, पल०-पल०-वी०)

अंग्रेजीमें एक सूक्ति प्रचलित है—

‘यदि धन खो गया तो कुछ नहीं खोया (फिर कमा लेंगे), स्वास्थ्य खोया तो कुछ खो गया (संयम और धोषधिसे फिर भी मिल सकेगा), पर चरित्र खो दिया तो सब कुछ चला गया ।’

व्यक्तिकी साथ उसका बायरूप है, परंतु ‘चरित्र’ को उसका गुप्त धन है, जिसे उसके सिवा कोई नहीं चानता। इसीलिये कैनिंगकी बात सार्थक है कि ‘व्यक्तिगत चरित्र ही समाजकी महान् आशा है।’ छूटाकने बहुत पहले कहा था—‘चरित्र बहुत समयतक जारी रहनेवाली एक धादत है। उसीको आधुनिक मनो-विज्ञानने ‘आदतोंकी ढोरी’ (Bundle of Behaviours) के रूपमें परिभासित किया है। चरित्र यदि आदतोंका पुलिन्दा है तो मैं कहूँगा कि जीवन भूलोंकी पिटारी है। लॉगफैलों चाहते हैं कि मनुष्य इस संसारमें निर्वाह बने या हथौड़ा। वे कहते हैं—सृजन विचारोंकी रचना है। मिलका कथन है—‘जीवनका महान् ध्येय चरित्र-निर्माण है।’ उनके अनुसार—‘हम प्रतिदिन अपने दैनिक जीवनकी दिशामें बढ़ते जाते हैं। यह हमारे ऊपर निर्भर है कि हम सत्य, प्रेम, धैर्य-जैसे सद्गुणों-की ओर बढ़े या झँठ, लौभ, स्वार्थ-जैसे दुर्गुणोंके बीच जियें। एक यूनानी कहावतके अनुसार ‘चरित्र भाग्य है। यदि हम तनिक भी विवेक रखते हैं तो हम अच्छे भाग्यके लिये अच्छे गुणोंकी ओर बढ़ना

चाहेंगे, परंतु मानवदेहधारी होनेके नाते जो बड़ेरुपु—काम, क्रोध, लौभ, मोह, मद, मत्सर जन्मसे हमें धेरे हुए हैं, वे हमें बार-बार भूलोंकी ओर ले जाते हैं। उनका काम हमें ठगना है। पर हमें चाहिये कि हम दृढ़तासे उनका प्रतिरोध करें और ठोकरें भी खाँय तो प्रत्येक बार सँमल कर चलें।

विल्वरफोर्स तो कहते हैं—‘छोटी बातोंकी बहुधा पुनरावृत्तिके चुनावमें ही चरित्रकी दृढ़ता है।’ एमसनकी रयमें ‘चरित्रकी पूर्णताका तो कहीं अल्ल नहीं—वह कथित सफलताके बिना भी प्रतीक्षा कर सकता है।’ भाव यह है कि पूर्णतः चरित्रबान् होना तो कठिन है, पर छोटी-छोटी बातोंको सही ढंगसे करनेकी आदत डालते चलो। चरित्रका निर्माण होता चलेगा, भले ही दुनियाकी दृष्टिमें तुम्हारा जीवन असफल हो। हर्बर्टके दृष्टिकोणसे ‘चरित्र दो वस्तुओंका परिणाम है—मानसिक ज्ञाकाव और समय वितानेका हमारा ढंग।’ नौवालिसके अनुसार ‘चरित्र पूर्णतः शिक्षित इच्छा-शक्ति है।’ फायडके मतसे—‘चरित्रकी उदात्तता कुछ नहीं है, सिवाय अच्छाईके प्रति स्थिर प्रेम और बुराईके प्रति स्थिर घृणाके।’ अरत्तू कहते हैं—‘हमारे चरित्र हमारे व्यवहारके परिणाम हैं।’

इस प्रकार ‘चरित्र’की अनेक परिभाषाओद्वारा विद्वानोंने उसके खरूपको समझनेका प्रयास किया है। एमसन उसकी शोधमें आगे बढ़े हैं—वे चरित्रका कार्य भी बताते हैं। उन्होंने कहा है—‘चरित्र युवावस्थाको शान

प्रदान करता है तथा शुर्विदोवाली खाल और इवेत वालोंको अद्वामित्रित भय। भाव यह है कि चरित्रसे यौवनको गरिमा प्राप्त होती है और वृद्धावस्थाको आदर मिलता है। चरित्रवान् युवक-युवती हमारी सराहनाएँ योग्य हैं और वृद्ध-वृद्धा आदरके पात्र। दूसरे शब्दोंमें उन्नत चरित्रकी शोभा प्रत्येक वयमें है। कहना न होगा कि वाल्यकालसे ही अच्छी आदतोंका अभ्यास हमें युवावस्था और वृद्धावस्थामें भी चरित्रवान् बनाता है। जीवनमें सब समय उत्तम चरित्रकी आवश्यकता है— उसकी अपनी उपयोगिता है। चरित्रके पालनेमें परिस्थितियोंका बहाना नहीं चलनेका है। एमर्सन कहते हैं—परिस्थितियोंके किसी भी परिवर्तनसे चरित्रकी कमी सुधारी नहीं जा सकती।

वीचरका कथन है—‘आनन्द नहीं, जीवनका उत्त्य चरित्र ही है।’ लावेलकी उक्ति है—
प्रस्वसे अधिक बुद्धिमान् व्यक्ति भाग्यसे सरल, विनम्र, पुरुषार्थी और सत्यवादी होनेके अतिरिक्त माँग भी क्या सकता है। वह चाहेगा कि वह वहतोंकी दृष्टिसे बुरक्षित रहे, बहुत थोड़े लोगोंद्वारा सम्मानित हो तथा संसारमें तुच्छ समझा जाये; परंतु अपने अन्तरमें गोपनीय ढंगसे महान् हो।’ चरित्रवान् होनेका दोग नो बहुत-से रच लेने हैं, पर जब अन्तरात्मा निजी जीवनमें विशुद्ध होनेकी साक्षी भरे, तभी समझो कि तुमने संसारी वैभवको तुच्छ मानकर चारित्रिक उत्कर्षको अपनाया है। शेली (Sheelly) नामक विद्यात कविकी दृष्टिमें—‘चरित्रवान् व्यक्ति आनन्दमय आत्माओंमेंसे है, जो पृथ्वीका नमक (लवण) है (अर्थात् उसके स्वाद या सौन्दर्यको बढ़ानेवाला है) और जिसके विना संसारमें मकनवे-जैसी गन्ध होगी अर्थात् यद्य जगत् इशान-जैसी दुर्गम्यसे युक्त होगा।’

इम पूर्णतः चरित्रवान् भले न हों, पर अपने ही अन्तःकाणके द्वारा गिरे हुए न टड़गये जायें। कारण

चार्ल्स चर्चिल्कं मतसे—‘पूर्ण चरित्र तो एक हजार सालमें एक बार प्रकट होता है। अवश्य ही उनका तात्पर्य राम, कृष्ण, बुद्ध, ईसा-जैसी विभूतियोंसे है।

कोई ‘चरित्र’को देखना चाहे कि वह कहाँ छिपा हुआ है तो गेटे महाशयके सत्ते नुस्खोंको देखे। वे कहते हैं—‘मनुष्य और किसी वस्तुसे अपना चरित्र इतना नहीं दिखाते, जितना वे अपने हँसनेकी वस्तुसे प्रकट करते हैं।’ अभिप्राय यह है कि दूसरोंपर हँसकर, उन्हें तुच्छ समझकर और इससे भी आगे उनके कष्टोंसे उल्लसित होनेवाले अपने चरित्रकी नीचता ही प्रकट करते हैं। गेटेके समयमें भी धूतोंकी कमी न थी और हमारे समयमें तो घोर कलियुगमें अनाचारका, अशुभका प्रसार हो रहा है; क्योंकि संसार चारित्रियसे पराढ़मुख होकर दुखियोंका दुःख दूर करना भूलकर बस, उनपर हँसना जानता है।

आंगल-साहित्यमें चरित्रके महत्वका सक्षेपमें दिग्दर्शन कराते हुए हम कहेंगे कि अच्छे-बुरे सब कहीं हैं, परंतु अंग्रेज (व्यापकरूपमें सभी पाश्चात्य) राष्ट्रिय चरित्रमें ठीक हैं। हमारा रोना तो यही है कि उत्तमोत्तम विरासत पाकर भी हम भारतीय आज उनकी नकलसे राष्ट्रिय चरित्रमें पीछे हो रहे हैं। टेलर कहते हैं—‘प्रसिद्धि वह है, जो तुमने ली है और चरित्र वह है, जो तुम देते हो।’ प्रत्येकको सोचना चाहिये कि मानव-देह पाकर तुमने समाज, राष्ट्र और संसारको क्या दिया है। ध्यान रहे, तुम्हारा यह योगदान तुम्हारे चरित्रके रूपमें अलश्य है। गेटेके शब्दोंमें—‘चरित्र चरित्रको प्रेरणा देता है।’ बैट्रोलने उसे हीरा बताया है, जो अन्य सभी पत्वरोंपर खरोच बना देता है और अन्तमें रिचर्ड लिन्वकी बात याद रखें—‘चरित्रकी अन्तिम उपलब्धि पूर्ण आन्तरिक शान्ति है।’ भौतिक सुखोसे ऊँचा उठकर कोई आग्निक अनुरूपता चाहे तो चरित्रका ध्यान रखे, जिसपर मात्र उसका ही नियन्त्रण है।

पाश्चात्य मनीषियोंकी दृष्टिमें चरित्र

(लेखक—डॉ० श्रीभुवनेश्वरप्रसादजी वर्मा 'कमल', एम० ए०, डी० लिट०)

जैसे जलका अपना कोई आकार-प्रकार और रूप-रंग नहीं होता, जिस आकार और जिस रंगके वर्तनमें उसे रख दीजिये, जल वैसा ही रूप-रंग धारण कर लेता है, उसी प्रकार 'चरित्र' शब्द तबतक मनुष्यकी अच्छाइयों और बुराइयोंका वोध नहीं करता, जबतक उसमें 'सत्' या 'दुः' पदका संयोग नहीं होता, जब हम कहते हैं कि 'वह चरित्रवान् व्यक्ति है', या 'ही इज ऐ मैन आफ कैरेक्टर' तो इसका अर्थ होता है कि वह सद्गुण-सम्पन्न और सदाचारसे युक्त व्यक्ति है। उसी प्रकार जब हम यह कहते हैं कि 'वह चरित्रहीन व्यक्ति है' तो इसका अर्थ होता है कि वह दुराचारी व्यक्ति है।

चरित्रकी परिभाषा—पाश्चात्य मनीषियोंने चरित्र-की विशेषताओं और विलक्षणताओंपर वड़ा ही गम्भीर विवेचन किया है। चरित्रकी परिभाषा करते हुए प्रसिद्ध यूनानी दर्शनिक अरस्तूने कहा है—‘चरित्र हमारे आचरणसे उद्भूत जीवनकी एक महत्वपूर्ण उपलब्धि है’। सुप्रसिद्ध अंग्रेजी निवन्धकार इमर्सनने ‘सैलक रिलायन्स’ शीर्षक अपने एक निवन्धमें लिखा है—‘चरित्रवान्-की एक ऐसी वर्ग-पहेली है, जिसे बाँयेसे दाँयें, दाँयेसे बाँयें और ऊपर-नीचे या तिरछे जैसे पढ़ा जाय, एक ही वर्णविन्यासको सूचित करता है’। उसके कहनेका तात्पर्य यह है कि चरित्रवान् व्यक्ति प्रत्येक परिस्थितिमें समर्स हता है, कभी विचलित नहीं होता। इसका वडा ही सुन्दर उदाहरण गोस्वामी तुलसीदासने ‘रामचरितमानस’ के अयोध्याकाण्डमें भगवान् श्रीरामका शील निरूपण करते हुए दिया है—

प्रसन्नतां या न गताभिषेकत-
स्तथा न मम्ले वनवासदुःखतः ।
मुखाम्बुजश्री रघुनन्दनस्य मे
सदास्तु सा मञ्जुलमङ्गलप्रदा ॥

‘भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके मुख-कमलकी वह कान्ति सदा मेरा कल्याण करे, जो न तो राज्याभिषेकका समाचार सुनकर विकसित हुई और न तो वनवासका समाचार पाकर मलिन हुई।’ मानव-जीवनकी इस अलौकिक विशेषताकी ओर संकेत करते हुए ‘इमर्सन’ आगे कहते हैं कि ‘चरित्रकी केंद्रीय विशेषता यही है कि चरित्रवान् व्यक्ति विपरीत परिस्थितिमें भी विचलित और अस्थिर नहीं होता’^३। एक अन्य निवन्धमें ‘इमर्सन’ने लिखा है—‘चरित्र वह वस्तु है, जो असफलताके बावजूद भी ज्यो-कान्त्यो बना रहता है’।

‘एडवार्ड एवरेस्ट’ने चरित्रसम्बन्धी अपने एक भाषणमें कहा था—‘महान् चरित्र एक दैवी विभूति है। उसका निर्माण सिर्फ अपने ही युगके लिये नहीं, बरन् चिरन्तनकालके लिये एक प्रगतिशील एवं अनन्त तत्त्वके रूपमें होता है, जो उस मनुष्यके जीवनके पश्चात्, उसके युगके उपरान्त, उसके देशके बाद और उसकी भाषाके पश्चात् भी जीवित रहता है’।

चरित्र और प्रतिभा—सुप्रसिद्ध जर्मन नाटककार ‘गेटे’ने चरित्र और प्रतिभाका पारस्परिक सम्बन्ध निरूपित करते हुए लिखा है—‘प्रतिभाका विकास एकान्तमें होता है, परं चरित्रिका विकास संसारके ब्रवण्डोके बीच होता है’।

इसी विचारका पोषण करते हुए एक दूसरे जर्मन विद्वान् ‘हेनरिच हेन’ने लिखा है—‘प्रतिभा और

१—निकोनैशियन एथिक्स। भाग ३, अध्याय ५, २—इमर्सन—‘एसेज फर्स्ट सीरीज़’, ३—वही, ४—इमर्सन—‘अनकालेक्टेड लेक्चर्स’, ५—‘एडवार्ड एवरेस्टस्’ स्पीच। ४-९-१८३५ ई०, ६—गेटे ‘गैट्वॉर्टो टास्सॉ’, अङ्क १, दृश्य २।

चरित्र दो वस्तुएँ हैं। प्रतिभारहित व्यक्ति भी चरित्रवान् होते हैं^७। 'फ्रेड्रिक सैण्डर्स'ने चरित्र और प्रतिभाके सम्बन्धमें उपर्युक्त विचारकोंके विचारोंसे ही मिलते-जुलते विचार प्रस्तुत किये हैं। वे कहते हैं—‘चरित्र मानव-जीवनका नियामक तत्व है और प्रतिभासे उसका स्थान कहीं ऊँचा है’।

चरित्र और यश—चरित्र और यशका पारस्परिक सम्बन्ध निखण्टित करते हुए अब्राहम लिंकनने लिखा था—‘चरित्र एक वृक्षके समान है और द्याति उसकी छायाके समान। वृक्ष ही मूलतत्त्व है, छाया तो छाया ही है’। इसी संदर्भमें वेयार्ड टेलरकी उक्ति भी घ्येय है। वे कहते हैं—‘प्रसिद्धि वह वस्तु है, जिसे आप प्राप्त करते हैं, पर ‘चरित्र’ वह वस्तु है, जिसे आप दूसरोंको देते हैं। जब आप इस सत्त्वके प्रति जाग्रत् होते हैं, तभी आपके वास्तविक जीवनका प्रारम्भ होता है।’ इन पक्षियोंमें टेलर साहबके कहनेका मन्त्रव्य है कि ‘चरित्र’ ही वह वस्तु है, जिससे मनुष्य दूसरोंको प्रभावित कर सकता है, प्रसिद्धि, द्याति या यशके द्वारा नहीं।

चरित्र और प्रसन्नता—चरित्र और प्रसन्नताके अन्तरको स्पष्ट करते हुए प्रसिद्ध पाश्वात्य चिन्तक हेनरी वार्ड वीचरने कहा है—‘प्रसन्नता जीवनका लक्ष्य नहीं, चरित्र जीवनका लक्ष्य है’। कहनेका तात्पर्य यह हुआ कि चरित्र ही मानव-जीवनकी वास्तविक निधि है, अर्थ-धर्म-काम-मोक्षादिसम्भूत प्रसन्नता जीवनकी वास्तविक निधि नहीं। प्रसन्नता फल है, कर्तव्य या कर्माई नहीं। पर चरित्र कर्तव्य है, जो परिपक्वावस्थामें प्रसिद्ध होता है।

७—हेनरिच हेन—अट्टा ट्रोल—अध्याय २४ ८—फ्रेड्रिक सैण्डर्स स्ट्रे लीब्ज—लाइफ्स लिट्यू डे ९—अब्राहम लिंकन (ग्रैंस—लिंकन्स ओन स्टोरीज, पृ० १०९), १०—वेयार्ड टेलर : डम्पोमीजेगम्स, सेक्शन ११, ११—हेनरी वार्ड वीचर : लाइफ थॉट्स, १२—चार्ल्स चर्चिल : दि घोष, भाग ३। १३—जॉवर्ट : पेन्सीज : स० २४७। १४—इमर्सन : कण्डकट आफ लाइफ : वरशिप।

चरित्रकी दुर्लभता—चार्ल्स चर्चिल चारित्र्यको मानव-जीवनकी दुर्लभ उपलब्धि मानते थे। उन्होंने लिखा है—‘हजार वर्षोंमें एक बार कभी पूर्ण सचित्र व्यक्ति अवतरित होते हैं’^८। महात्मा कवीरने भी ठीक इसी प्रकारकी बात कहीं है—

सिंहन के लहड़े नहीं, हंसन की नहिं पाँत ।
लालन की नहिं बोरियाँ, साझा न चले जमात ॥

इस कथनसे वही ध्वनि निकलती है कि चरित्रवान् व्यक्ति सदैव दुर्लभ होते हैं। चरित्र तपस्या-साध्य सिद्धि है।

सुप्रसिद्ध यूनानी लेखक ‘जोवर्ट’ने चरित्रकी दुर्लभताकी ओर संकेत करते हुए लिखा है कि ‘आदरका भाजन बनना उतना ही दुर्लभ है, जितना उसके लिये योग्य बनना।’^९ आदरकी योग्यता चरित्रसे आती है। श्रीराम मर्यादापुरुषोत्तम थे, तभी वे ‘चारित्र्येण युक्तः’ कहलाये और रावण चरित्र-हीन था तो ‘लोकरावणो रावणः’ कहा गया।

चरित्रकी परख—चरित्रकी परखपर प्रकाश ढालते हुए ‘इमर्सन’ने कहा है—‘आप जिस भाषाका प्रयोग करना चाहें करें, परंतु आपकी वाणीसे वही बात प्रकट होगी, जो आप ख्यय हैं।’^{१०} कहनेका तात्पर्य यह कि वक्ता अपनी वाणियोंमें सदा आत्माभिव्यक्ति ही करता है, और कुछ नहीं। गोस्वामी तुलसीदासने रामकथाके बीच लाख अपनेको तटस्थ रखना चाहा, पर ‘रामचरितमानस’में सर्वत्र उनकी तस्वीर दिखलायी ही पड़ती है। रामचरितमानस महात्मा तुलसीका ‘मानस’ है।

चरित्रवान् व्यक्तिका खुख्य-निर्धारण करते हुए 'यास्म आ केमिस'ने कहा है—'आप वही हैं, जो आप हैं, उससे भिन्न कुछ भी नहीं' ।^{१५} कहनेका तात्पर्य यह कि चरित्रवान् व्यक्ति चरित्रवान् है और दुश्चरित्र व्यक्ति दुश्चरित्र ही रहेगा। 'पब्लीलियस साइरस'का कहना है कि 'आप इस बातकी चिन्ता न करें कि लोग आपको किस रूपमें जानते हैं। आवश्यक यह है कि आप जो हैं, अन्तरसे वही बने रहें।'^{१६}

चरित्र और सम्पत्ति—प्रीक दार्शनिक 'प्लृटस'ने चरित्रकी सम्पत्तिके साथ तुलना करते हुए लिखा है कि 'मैं चाहूँगा कि जवाहरातोंकी अपेक्षा सच्चरित्रतासे मेरा शृङ्खला किया जाय; क्योंकि जवाहरात तो सौभाग्यकी देन हैं, जब कि सच्चरित्रता अन्तःकरणकी निष्ठि है।'^{१७}

सद्विचार चरित्रकी उपज—'एच० डी० यौरियन, सद्विचारोंको चरित्रकी उपज मानते हैं। उनका कहना है कि 'हम सद्विचारकी फसलको तबतक कैसे काट सकते हैं, जबतक हमने अपने जीवनकालमें सच्चरित्रताके बीजका वपन नहीं किया।'^{१८}

चरित्र और सौभाग्य—यूनानी चित्रक 'पब्लीलियस साइरस'ने चरित्र और सौभाग्यका सम्बन्ध-निरूपण करते हुए कहा है—'मनुष्यका चरित्र ही उसके भाग्यका नियामक है।'^{१९} इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि सच्चरित्र व्यक्ति सौभाग्यवान् होगा ही और ठीक इसके विपरीत दुश्चरित्र व्यक्ति दुर्भाग्यवान्। एक दूसरे यूनानी दार्शनिक 'हिरैकिल्डस' ने चरित्र और सौभाग्यपर विमर्श करते हुए लिखा है कि 'सच्चरित्रता ही सौभाग्य

और दुश्चरित्रता ही दुर्भाग्य है।'^{२०} 'जौसेफ केन्स'ने अपने एक भाषणमें चरित्र और सौभाग्यके सम्बन्धमें ठीक इसी प्रकारकी बात कही थी—'आदतोंसे चरित्रका निर्माण होता है और चरित्र ही भाग्य है।'^{२१}

चरित्र और आदत—ठीकरोंसे जू़ा खेल रहे एक बालकको सुप्रसिद्ध दार्शनिक 'प्लेटो'ने एक बार डॉटा था। इसपर उस बालकने प्लेटोसे निवेदन किया—'मैं तो पैसोंसे जू़ा नहीं खेलता, सड़कपर बिखरे मूल्यहीन ठीकरोंसे जू़ा खेल रहा हूँ। आप इस 'मामूली बात' (द्राइफल) पर व्यर्थ ही मुझे डॉट रहे हैं।' इसपर प्लेटोने जो उत्तर दिया, वह अत्यन्त मार्मिक और घ्यातव्य है। उन्होंने गम्भीर होते हुए कहा—'बुरी बत्तुओंकी 'आदत' ढालना 'मामूली बात' (द्राइफल) नहीं है।'^{२२}

श्री डी० एन० धोष साहबने 'कालेज एसेज' नामक अपनी पुस्तकमें किसी अंग्रेज चिन्तकके विचारोंको उद्धृत करते हुए लिखा है—'तुम्हारे कर्मोंके बीजसे ही तुम्हारी आदतोंका प्रादुर्भाव होता है, तुम्हारी आदतोंके बीज ही चरित्ररूपी शृङ्खलके रूपमें पञ्चवित होते हैं और तुम अपने चरित्रके बीजके अनुरूप ही सौभाग्य या दुर्भाग्यका फल चखते हो।'^{२३}

सुप्रसिद्ध अंग्रेजी विद्वान् 'उडरो विल्सन'ने एक बार अपने भाषणके क्रममें कहा था—'चरित्र एक उपज है, जिसका निर्माण दैनिक कर्तव्यके कारबानेमें होता है।'^{२४} 'इमर्सन' ने इस संदर्भमें लिखा है कि 'चरित्र प्रकृति (आदत-)का सर्वोच्च प्रतिरूप है।'^{२५}

१५—यास्म आ केमिस : डी इमिटेशन कुष्ठी : भाग २, अध्याय ६। १६—पब्लीलियस साइरस : सेन्सीटिम : सं० ७८५, १७—प्लृटस पोयनुलस अंक १, हश्य २, १८—डी० एच० यौरियन जौर्नल (इमर्सन 'यौरियन'), १९—पब्लीलियस साइरस सेन्सीटिम स० १४१, २०—हिरैकिल्डस (मुलाक फ्रेमेण्ट्स आफ ग्रीक फिलासफी), २१—जौसेफ केन्स प्लृटस आवर डेली फौल्टस एण्ड फेलिंग्स। २२—डी० एन० धोष 'कालेज एसेज'। २३—वही, २४—'बुडरो विल्सन' ऐडेस, आलिंगटन: ३१—५—१५१५ ईं, २५—द सेलेक्टेड राइटिंग्स आफ आर० डब्लू इमर्सन: द मार्डर्न लाइब्रेरी: पृ० ३६५।

सुप्रसिद्ध दार्शनिक अरस्तूने कहा है कि 'जिस कामको करनेकी आदत वन जाती है, वह प्रकृतिका अंग वन जाती है। वस्तुतः आदत और प्रकृतिमें कोई विशेष अन्तर नहीं रह जाता; क्योंकि 'प्रायः' और 'सदैव'में बहुत बड़ा अन्तर नहीं है, आदत 'प्रायः'की कोटिमें आती है तो प्रकृति सदैव की कोटिमें।'^{१६}

इन कथनोंसे यह स्पष्ट है कि चरित्र-निर्माणमें व्यक्तिकी आदतोंका बहुत बड़ा हाथ है। जीवनके प्रारम्भमें यदि हम अच्छी आदतोंका अभ्यास करते हैं तो निश्चित है कि बादमें हमारा आचरण और चरित्र

उच्चकोटिका बन जायगा। जिस किसी व्यक्तिने भी ऐसा कहा है कि 'मनुष्य अपने भाग्यका नियन्ता स्वयं है; शत-प्रतिशत ठीक कहा है। गोखामी तुलसीदासजीने भी 'रामचरितमानस'में कर्म (आदत)को भाग्य-निर्माणका नियामक तत्त्व मानते हुए कहा है—

कर्म प्रधान विन्द करि राखा। जो जस करै सो तस फळ चाहा ॥

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि सद्वरित्र व्यक्तिका भाग्यवान् होना धूम सत्य है। वह किसी भी परिस्थितिका सामना अपने चरित्रबल और मनोवलसे करेगा और हार-जीतमें सदा एकरस रहेगा। (क्रमशः)

चरित्रनिर्माणके तत्त्व

(लेखक—डॉ. श्रीराजनजी, एम.ए०, पी-एच० डी०)

ईश्वरमें विश्वास—चरित्र-निर्माणका प्रथम एवं अन्तिम सोपान

प्रेमके विषयमें कवीरने कहा है—

प्रेम न बाढ़ी ऊपजे, प्रेम न हाट विकाय।

राजा प्रजा जेहि रुचे, शीश देह ले जाय॥

प्रेम ऐकान्तिक है। यह किसीके प्रति किसी भी कारणसे उत्पन्न हो सकता है। पर आज इसका रूप बड़ा वृणित हो गया है। इसके विपरीत श्रद्धाका व्यापार-स्थल विस्तृत है। हाँ, श्रद्धा और प्रेमका जहाँ संगम होता है, वहाँसे भक्तिकी धारा प्रवाहित होती है। 'भज-सेवायाम्'से निष्पन्न शब्द 'भक्ति' सेवाका पर्याय है। पर जवतक विश्वास नहीं होता, सेवा अर्पित नहीं की जा सकती। फलस्वरूप सांसारिक प्रेम शरीरका ऊपर होकर आत्मामें प्रवेश करता है तो उसे श्रद्धा कहते हैं। श्रद्धाका भाव जहाँ पूर्ण विश्वास होता है, वहीं वह समर्पित होता है। श्रद्धालू अपने जीवनक्रमको झेंडों-का-त्यों छोड़ देता है। वह अपने तर्क और बुद्धिसे

ईश्वरकी असीम सत्ताकी शाह नहीं पाता है तो झेंडों-का-त्यों अपनेको समुद्रमें फेंक देता है—

किसी सुदापर छोड़ दी लंगड़को तोड़ दी।

अहसान ना खुदाका उठाये मेरी बला॥

किसीके प्रति श्रद्धा तभी उत्पन्न होती है, जब उसमें विश्वास हो जाय। प्रायः यह गुण शील या चरित्रके कारण उत्पन्न होता है। जो श्रद्धामय जीवन व्यतीत करना चाहता है, वह तर्कपर विश्वास नहीं करता। जहाँ तर्क है, वहाँ विश्वास नहीं। अतः तर्कके चक्षुओं-पर विश्वास करना एक भ्रान्त धारणा है। हाँ, जिस नावकी पतवार स्वयं भगवान्‌के हाथ है, उसे किसका भय। भय तो उसे हो जो अपने-आपको किसी दूसरेके वहाँ गिरवी रखता है या अपने कमजोर हाथोंको अपनी नावकी पतवार डे देता है। पर जब ईश्वर स्वयं उस पतवारको पकड़े हो तो भय किसका? लेकिन हाँ, उस सर्वशक्तिमान्-में भरोसा होना चाहिये। फिर तो सर्वशक्तिमान्-का

आँचल पकड़ते 'ही आप निर्भय हो जायेंगे; सबल हो जायेंगे। कहा है—'निर्बलकं वल राम।' उसके स्पर्शमात्रसे आप अजेय हो जायेंगे। आपमें ईश्वरका प्रकाश भर जायेगा। उसका सारा दिव्यालोक आपमें समाहित हो जायेगा, तब कहीं आप 'अहं ब्रह्मास्मि'का उद्घोष कर सकेंगे। फिर दुनियाकी सारी ताकत एक तरफ और आप एक तरफ। फिर तो आप अपना सहायक आप होंगे। प्रभु तभी सहायक होंगे, जब झंडा लेकर आप विश्वविजयको निकल पड़ेंगे। लेकिन किसके बलपर, उस परम पिताकी असीम कृपापर। अठल विश्वासका नाम ही श्रद्धा है।

इस संदर्भमें एक बात याद आती है। महाभारत-युद्धकी तैयारी चल रही थी। एक दिन दुर्योधन-अर्जुन दोनों राजनीति-विशारद भगवान् कृष्णके पास एक साथ ही पहुँचे। भगवान् भी व्यावहारिक कम नहीं थे। उन्होने दोनोंके सामने एक शर्त रख दी। चुनाव आप दोनोंको करना है। एक तरफ हमारी शक्षसज्जित सेना होगी, दूसरी तरफ निरुक्त मैं स्थित रहूँगा। दुर्योधन बहुत ही लोभी था। उसकी राजलिप्ताने झट भगवान् कृष्णकी सज्जित सेनाको लेना पंसद किया। पाण्डवोंके पक्षमें अकेले भगवान् कृष्ण पड़े। पाठकोको मालूम है कि महाभारतमें इसके बाद क्या हुआ। परिणाम आज हमारे सामने है। लेकिन प्रायः सभी लोग कहते हैं—दुर्योधनने भूल की थी। उसकी भूलका परिणाम सबके सामने स्पष्ट है।

भगवान् कृष्णने अकेले ही अर्जुनके सारथि बन सारा श्रेय पाण्डवोंको दे दिया। इससे स्पष्ट होता है कि संसारकी सारी शक्तियाँ हम इकट्ठी कर विजयश्री प्राप्त करना चाहते हैं और जहाँ सारी शक्तियाँ समाहित हैं उसकी उपेक्षा करते हैं। लेकिन बात वही स्पष्ट है, विजयश्री उन्हींको मिलती है, जो भगवान्‌को अपने जीवनरथका सारथि बना लेते हैं। गीतामें कहा है—'भासेकं शरणं ब्रज।'

हमारे अङ्गुष्ठमात्र हृदयमें भगवान् डेरा ढाले बैठे हैं। वे अपनी इच्छासे हमारी आत्मामें शक्तिरूप होकर प्रविष्ट हुए हैं। यथा 'आत्मनात्मानं स्वयम-कुरुत,' 'तत्सृष्टा तदेवानुप्रविशत्।' वही हमारे अंधकारमय हृदयकी ज्योति है। इसके बावजूद भी हम अपनी शक्ति और सामर्थ्य तथा संसारी उपकरणोंपर विश्वास करते हैं और यही विश्वास हमें पराजयकी ओर ढकेल देता है। हम कदम-कदमपर ठोकरें खाते हैं और कहते हैं—'सर्वरूप होता है इंसाँ ठोकरें स्थानेके बाद।' एक छोटी-सी सफलता मिल जाती है। हम खुश हो जाते हैं। ख्याली पोलाय बनाते हैं, नाना प्रकारके सपने बुनते हैं। रात-दिन कल्पनाके पंखोंपर बैठकर आकाशमें विचरण करते हैं। पर यह सारा वैभव हवाके एक झोंकेसे ही छिन-मिन हो जाता है। हम असहाय इधर-उधर देखने लगते हैं। जब कुछ भी नहीं दीखता तो भाग्यको दोष देते हैं, कोसते हैं। पर मुड़कर यह नहीं देखते कि आखिर कारण क्या है? ऐसा क्यों हुआ? यह हवाका झोंका क्यों और कहाँसे आया और फिर हमारा ही वैभव क्यों मिटा दिया। हम कभी नहीं सोचते कि हम इन स्थानोंके मालिकका आशीर्वाद लिये उसकी चरणधूलि माथेपर कैसे लगायें? चरणधूलि छूना पड़ेगा, उठाना पड़ेगा। आपको आशीर्वाद देनेवाला तो आपके साथ है। आप उससे कहते क्यों नहीं? बात क्यों नहीं करते? जरा बुलाकर तो देखें—'क्या कहता है? असहाय अर्जुनको उसने बुलाया, आदेश दिया, 'मामनुस्मर युध्य च'—मेरा नाम लेकर युद्ध कर। सचमुच संघर्षसे व्यक्तित्व निखरता है—जहाँ चाह-बाला राहपर उसको ले ले। फिर तो सफलता आपके पीछे दौड़ेगी। ईश्वरका नाम लेकर जीवन-संघर्षमें छुटनेबालेको कभी निराशा नहीं होती। इस नहीं होती।

हाँ,' हार हमारी विजय है'—कहकर आगे बढ़ो। यहाँ अनाथ कोई नहीं, सबके दाता राम हैं। अतः उसकी जैसी इच्छा। जीवन-नौकाको उसीपर छोड़ दो, वहायके साथ बहने दो। वह पार लगायेगी ही।

संस्कृतके विद्वान् कहते हैं—‘वलीयसी केवलभीद्वरेच्छा’ अर्थात् केवल ईश्वर-इच्छा ही बलवान् है। आपके प्रयत्नसे कुछ नहीं होता।

अजगर करे न चालूरी, पक्षी करे न काम।
दास मलूजा कह राये सबको दाता राम॥

यही बात उद्दैके एक शायरने कहा है—
‘काल छरो तद्वीर तो कथा होता है ? होता है, वही जो मंजूरे खुश होता है।’ अब यहाँ एक बात दीखनी है कि भाग्यको कुछ हदतक सराहा गया है। पर ऐसा ही कि काम करो ही नहीं, क्योंकि पहलेके कर्म ही भाग्य बनते हैं।

अतः विना किये कुछ नहीं होता। करना जरूरी है। नर करनी करे तो नारायण होय। उलझनकी प्रक्रिया विदेष महत्वाकाह्वी व्यक्तिको कभी स्थितिप्रब्रह्म नहीं होने देती। दोनों क्रियाओंमें हमें माध्यमकी आवश्यकता है। ईश्वरकी इच्छा पूरी होती है, चाहे सफलतामें हो या असफलतामें। दोनों सगे भाई साध-साय जन्मे, साय-साय रहते हैं। आप कहते हैं कि भाग्य और कर्म दोनोंमें यह बड़ा है, वह छोटा; यह तो हमारा बुद्धिव्यायाम है। कोई कर्मकी दुहाई देता है, कोई भाग्यकी। सूलपुत्र कर्णकी बात प्रायः सभी कर्मयोगी बड़े गर्वसे कहते हैं—
ऐं सूल होऊँ, सूल-पुत्र होऊँ अथवा कुछ भी होऊँ,
कुछके जन्म तो भाग्याधीन हैं, पुरुषार्थ सम्पादन करना मेरा काम है। यहाँ भी मेरा-तेराका संघर्ष है। पर यह तो कहता है, कहों मेरा-तेरा सब कुछ तो मेरा है। मेरी इच्छाके विरुद्ध सृष्टिका एक पता भी नहीं छिपता।
अतः उसकी इच्छा स्वर्णपरि है।

हम और आप परमात्मामें समाहित होने हैं। सबका वास-स्थान वे ही हैं। सबको वे ही पालने हैं और सबको शरण देते हैं। योगिराज कृष्ण गीतामें अर्जुनको समझाते हुए यही तो कहते हैं—

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निधासः धरणं सुहन्।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं वीजग्रन्थवम्॥
(१।१८)

यह अकात्य सत्य है कि मृत्युके समय हम रामकी शरणमें जाते हैं। विश्राम वहीं मिलता है, पर यह किया अन्तमें होता है—जब हम चारों तरफसे थक जाते हैं तब। जबतक हमारी भुजाओंमें बल रहता है, तबतक हम अपनेको ही यत्र कुछ मानते हैं। यदि यही बात हम पहले करें, अर्थात् जीवनमें पहले ही अपने-आपको भगवान्‌के हाथमें सौंप दें तो जीवनधारा ही मुड़ जाय, जीवनको पक्क गति मिल जाय—ऐसी गति जिसका हमें भान न हो। भगवान् स्वयं कहते हैं ‘मुझे ही भल। अपना कर्म-अकर्म सब मुझे अपीति कर दे।’ गीताके शब्दोंमें वे कहते हैं—

मन्मना भव मङ्गलो मयाजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने ग्रियोऽस्ति ते॥
(१८।५५)

वे आगे कहते हैं—‘तू कहो भटकता है। सब धर्म-धर्मको छोड़ मेरी शरण आजा। मैं तेरा भार उठ दूँगा।’
अहं त्वा सर्वपापेष्यो मोक्षविष्यमि मा शुचः॥
(गीता १८। ६६)

पर प्रमादी पुरुष अहंकारवश साश बोग धपने सिसपर तो उठाता ही है, वह दूसरेका भी उठानेका दम भरता है। यह अजीव बात है; अपना तो उठाना नहीं, दूसरोका कहाँ उठा पायेगे; पर ढोगीको कौन कहे। बार-बार चेतावनी दी जाती है, लेकिन सब कुछ व्यर्थ, मूर्ख जो है। महाअमृत-पुनर्का संतान होगा स्वयं अमृत ढूँढ़ते छिरता है। हमें चाहिये उसे अपना सार्गदर्ढक बनायें।

हम उसके बरद पुत्र हैं। वह चाहे जहाँ ले जाय। उसका जैसा चरित्र होगा, हमारा होगा। यदि गिरेंगे तो दोष उसका, बढ़ेंगे तो श्रेय उसका। अर्जुनने उन्हे सारथि बनाया। सफलता प्राप्त की। हम भी बना लें, निश्चित ही सफलता मिलेगी। हम तो मानो हाथमें मशाल ले अंधकारमें भटक रहे हैं।

पिता-पुत्रका सम्बन्ध शाश्वत एवं अक्षुण्ण है। पिता सदा चाहता है कि हमारी संतान आगे बढ़े। अतः वह स्वयं हमारा चरित्र-निर्माण करता है। कहा जाता है 'जीवो ब्रह्मैव नापर' अर्थात् स्वयं हमारा आत्मा जनकर हमारे हृदयमें वास करता है। तब फिर हमें चिन्ता किस बातकी। वह अपने हाथोंमें मशाल लेकर हमारा पथ-प्रदर्शन करता है। अतः उसमें विश्वास ही हमारा सम्बल है। वह भूत, भविष्य, वर्तमान—सबका मालिक है। उसमें विश्वास ही हमारी सफलता है। जब इस प्रकार सफलता हमारी देहरीपर बैठी है तो हम दुश्चरित्र क्यों बनते हैं? उत्तर स्पष्ट है। हमारा विश्वास अस्थायी है। यदि स्थायी विश्वास बना रहे तो निश्चित ही आजका हृवा सूर्य कल निकलेगा, अन्यथा नहीं। चारों ओर प्रकाशके अगणित दीप जल रहे हैं। व्यथा यह है कि हमें विश्वास नहीं। यही कारण है कि भोगबाद हमारे भीतर भभक रहा है।

ईश्वरमें विश्वास क्यों करें? यह प्रश्न है। उत्तर है, यह सत्य है और ईश्वर ही सत्य है तथा जो उसमें विश्वास करता है, वह सत्यनिष्ठ होता है। मनुष्य परिस्थितिकश काम-क्रोध, क्लोम आदि सासारिक माया-जालमें फँसकर दुश्चरित्र हो जाता है। ये प्रवृत्तियाँ उसे नरककी ओर ले जाती हैं। पर ज्यों ही उसकी श्रद्धा ईश्वरमें जागृत होती है, वह इनपर विजय प्राप्त कर लेता है। उसके मन, वचन, कर्म निर्मल हो जाते हैं। यह निर्मलता क्या है? ईश्वरकी सत्यता ही तो है। फिर भय

कैसा? निर्भय व्यक्तिको पापसे डरनेकी आवश्यकता नहीं। उसके मनके मानसरोवरमें ईश्वरकी छाया जो वसी है। गीता ९। १७का एक श्लोक है—

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः।
वेद्यं पवित्रमांकार ऋत्वसामयजुरेव च ॥

'मैं ही इस सम्पूर्ण जगत्का धाता अर्थात् धारण करने-वाला, सब कर्मोंके फलको देनेवाला तथा पिता, माता और पितामह हूँ और जानने योग्य पवित्र ओकार तथा ऋत्वेद, सामवेद और यजुर्वेद भी मैं ही हूँ।' तात्पर्य कि वही सब कुछ है। आप कुछ नहीं हैं। जब आप कुछ नहीं हैं तो इतनी दौड़-धूप क्यों? मन तो नदीके बैंगके समान भागता है। वह भागकर जाता कहाँ है? समुद्रमें। फिर जब आप फलाफलकी चिन्तासे मुक्त हो गये तो आपकी अशान्ति भी समाप्त हो जाती है। आप स्वयं संयत और जीवात्मा बन जाते हैं और कर्मको अकर्ममें और अकर्मको कर्ममें देखने लगते हैं। आप स्वयं कुछ नहीं करते—'कर्मण्यकर्म यः पद्येद्कर्मणि च कर्म यः।' भगवान् सब कर्म करता है, वही सबका जिम्मेदार है। चाहे पाप हो या पुण्य, कर्म हो या अकर्म।

एक भ्रात्त धारणा है कि लोग अपनेको निष्कर्म कहते हैं; जबकि पुरुष निष्कर्म होता ही नहीं। वह सुषुप्तावस्थामें भी कुछन-कुछ करता ही रहता है। नाड़ी एक सेकेण्डको भी बंद नहीं होती। अतः ईश्वरमें विश्वास करनेवालेका हर कार्य हृदय-स्पन्दनकी भौति होता रहता है। ईश्वरकी प्रेरणासे उसकी नाड़ी एक क्षणको भी आराम नहीं करती, पर वहीं जो अहंवादी होता है, जो अहंकारसे ग्रस्त हुआ फिरा करता है, कर्म-अकर्म दोनों उसकी अशान्तिके सूचक हैं। वह टिक्कम पक्षीकी भौति आसमानको अपने पैरोंपर रखकर सोता है, यह उसका भ्रम है। वहीं ईश्वरप्रेमी कर्म-अकर्म दोनोंमें

एक-सा रहता है। फिर उसकी गम्भीरता, स्थिरता और उसकी आत्मामें अविचल शान्ति आ जाती है। पल्कें प्रभुप्रेमसे भारी हो जाती हैं। प्रभु उसके तन, मनमें

व्याप हो जाते हैं। सफलता उसके चरणतले बैठ जाती है। बस और क्या चाहिये आपको? यही तो जीवनका चरमलक्ष्य है।

चरित्र-निर्माणके मूल तत्त्व

(लेखक—गाण्डेर श्रीआम्भूजी शंमाँ, 'किरण')

चरित्रकी परिभापाके साधनमें विद्वानोंके अलग-अलग मन हैं। कुछ विद्वानोंका कहना है 'धर्मपूर्वक नियमित आचरणका निर्वाह करनेवाला चरित्रवान् है।' फ्रेडरिक सान्डर्सने कहा है—'Character is the governing element of life, and is above genius' अर्थात् चरित्र जीवनमें शासन करनेवाला तत्त्व है और वह प्रतिभासे ऊपर है। एक अन्य विद्वान्के अनुसार—चरित्र एक वृक्षके समान है और इयानि उसकी छाया है। छाया वही है, जो हम उसके बारेमें सोचते हैं, परंतु वृक्ष वास्तविक है।

चरित्रका निर्माण करना सहज नहीं है। उसके लिये कठिन-से-कठिन परिश्रम करना पड़ता है। चरित्रसे विषय करनेके लिये अनेक विव्व उपस्थित हो जाते हैं। परंतु किसी वस्तुका निर्माण वही व्यक्ति करता है, जो इन विव्व-वाधाओंको झेलते हुए अपने लक्ष्यको नहीं भूल पाता है। वही व्यक्ति चरित्रवान् बनता है। उसीकी सारी दुनिया पूजा करती है। चरित्र-निर्माणमें वर्षों तपस्या करनी पड़ती है। पर उसे विनष्ट करनेके लिये क्षणमात्रका समय ही पर्याप्त है। सच्चरित्रा मानवका वास्तविक शृङ्खला है। आभूयण मानवको सजाता है। सजावटके कारण मानवका रूप निखर जाता है, इसीलिये मानव-मन शृङ्खलके साधनोंको चाहता है। आभूयणोंका सौन्दर्य क्षणिक है, परंतु सदाचारका सौन्दर्य शास्त्र है। सच्चरित्रा—सज्जनोंका आचरण है। यह सज्जनोंके द्वारा सम्मानित और प्रमाणित है। जो मानव

सज्जनोंद्वारा प्रमाणित और सम्मानित तथ्यका स्वागत करता है तथा उसके अनुस्थल आचरण करता है, वह समाजमें स्थंय ही सम्मानपात्र बन जाता है।

चरित्रके कुछ मूल तत्त्व हैं, जिनके बिना सच्चरित्राकी कल्पना नहीं की जा सकती। वे हैं—१—अनुशासन, २—विनप्रता, ३—ईमानदारी और ४—परोपकार। चरित्रके मूल तत्त्वोंमें अनुशासनका स्थान सर्वोच्च है। जिस मनुष्यमें अनुशासनका सम्पुट नहीं हो वह चरित्रवान् नहीं कहला सकता है। नियमकी शृङ्खलामें बैंधे जीवनको अनुशासनवद्ध जीवनकी संज्ञा दी जाती है। विश्वमें सर्वत्र हम पाते हैं कि प्रकृतिका रोम-रोम अनुशासित है। बिना अनुशासित हुए मनुष्य सच्चरित्र नहीं बन सकता। अनुशासन सद्वावोंका प्रेरक, विनय और शीलका स्त्री, साधनाका सखा और निरङ्कुश स्वेच्छाचारका शत्रु होता है। अनुशासनके महत्वसे शक्तिका समय होता है, उसका दुरुपयोग नहीं होता। जो जीवन जितना ही अधिक अनुशासनवद्ध होगा, वह उतना ही अधिक सफल होगा।

चरित्रनिर्माणमें अनुशासनसे अत्यधिक सहायता मिलती है। अगर हम यह कहें कि अनुशासन चरित्र-मन्दिरकी नींवकी ईंट है तो कोई अनुचित न होगा। सच्चरित्राका दूसरा मूल तत्त्व 'विनप्रता' है। विनप्रता चरित्रकी एक ऐसी निधि है, जिसके आधारपर सफलताके शुभ्र मोती खरीदे जा सकते हैं, जिसके सद्वारे व्यवहारके कठोर पत्थरोंको मोम बनाया जा सकता है,

राहकी अगणित बाधाओंको छेला जा सकता है। यह खर्गकी एक ऐसी पवित्र विभूति है एवं जीवनका एक ऐसा आत्मिक वोध है, जिसके सहारे विरोधके नाले पार किये जा सकते हैं। नम्रता चरित्रिका भूपण है, मानवके शीलकी पहचान है एवं उसकी संस्कृति और सभ्यताकी सबसे कोमल अभिव्यक्ति है। मानव-चरित्र इसके अभावमें ख़श और नीरस बन जाता है। व्यक्तित्वमें एक कठोरता व्याप्त हो जाती है और तनावकी बुरी स्थितिमें आकर मनुष्य टूट जाता है। विनम्रतासे मानव-चरित्रमें एक ऐसी चमक आती है, जिसे देखते ही मानव-जीवनमें आनेवाली बाधाओंकी औंखें चौधिया जाती हैं। विनम्रताका पुतला संस्कृतिका उन्नायक बन जाता है। श्रीराम, श्रीकृष्ण एवं भगवान् बुद्ध इसी प्रकारके पुरुष थे। श्रीरामने भारतीय संस्कृतिकी पताका अन्य देशमें भी फहरायी। श्रीकृष्णने अनीतिके राजसोंको ध्वस्त किया। भगवान् बुद्धकी पवित्र वाणीके नीचे डाकू अंगुलीमालकी रक्त-रक्षित तल्वार और राजनर्तकी अम्बालीकी वासनाके पायल—दोनों पराजित हुईं। विनम्रता मनुष्यके धूल-धूसरित चरित्रिको स्वर्णिम चमक प्रदान करती है।

‘ सच्चरित्रिताका तीसरा मूल तत्त्व है—ईमानदारी। यह चरित्रिकी दीसिकी पहचान है, शुभ संस्कारोंकी वसीयत है, आत्मशक्तिके जगनेकी सूचना है। सच्चरित्रिताके मूल तत्त्वमें ईमानदारीका बहुत महत्वपूर्ण स्थान है। इसमें सद्गुणोंकी सुरभि रहती है, चरित्रिकं विकासकी सहज प्रेरणा रहती है और रहती है मनुष्यको ऊपर उठानेवाली एवं आगे बढ़ानेवाली क्षमता। संयुक्त राज्य अमेरिकाके प्रथम राष्ट्रपति जार्ज वाशिंगटनने कहा था—‘मैं आशा करता हूँ कि एक ईमानदार पुरुषके चारित्रियको (जो सभी सद्गुणोंसे बढ़कर है) अपनानेके लिये मैं दृढ़ता और शुद्धता सदैव धारण करता हूँगा।’ ईमानदार व्यक्तिमें छलकी रेखाएँ नहीं होतीं, खण्डित

व्यक्तित्वका अभिशाप नहीं रहता। वह मनसा, वाचा और कर्मणा अपने चरित्रके विश्वासमें साधन-नीप जलाता है। उसका पथ सीधा रहता है—भले ही वह कण्ठकारीं और दुरुह हो। उसकी उक्ति सुसङ्घ होती है—भले ही कुछ व्यक्ति उससे सहमत न हों। उसके विचारोंमें भूल-मुलैयाकी टेढ़ी-मेढ़ी रेखाएँ नहीं रहतीं—भले ही एक विशेष दृष्टिवालों-द्वारा वह असामयिक घोषित कर दिया जाय। पोपने ईमानदार पुरुषकी मुक्तकण्ठसे सराहना करते हुए उसे ‘परमात्माकी उदात्त सृष्टि’की संज्ञा दी है—‘An honest man is the noblest creation of God.’ अप्रेजीके प्रख्यात नाटककार शेक्सपियरका कथन है—‘ईमानदारीके सदृश कुछ भी बहुत्मय नहीं है’—‘No legacy is so rich, as honesty.’ किसी मनुष्यमें ईमानदारीके विना सच्चरित्रिताका आविर्भाव नहीं हो सकता।

सच्चरित्रिताका चौथा मूल तत्त्व है—परोपकार। विना परोपकारिताका गुण सँजोये मानवका चरित्र संकुचित रह जाता है। दीपकके जलनेका उद्देश्य प्रकाश फैलाना है। फूल खिलता है; क्योंकि खिलनेका उद्देश्य सुगन्ध-वितरण है। सूर्य उगता है; क्योंकि सूर्योदयका उद्देश्य अन्वकार-निवारण है। मानवका संसारमें अवतरण परोपकार-सम्पादनके लिये है। मानव-चरित्रिका महालय (महल) परोपकारके दीपकसे ही आलोकित होता है। उपकार-सुमन ही मानव-चरित्रिको सुगन्धमय बनाता है। विक्टर ह्यूगोकी पंक्तियोंमें हमें परोपकारके इन्द्रधनुषी रूपका दर्शन होता है—‘ज्यों-ज्यों परोपकार-के लिये रूपयेकी थैली खाली होती है, त्यों-त्यों हमारा हृदय भरता जाता है।’ गोसामी तुलसीदासजीने भी रामचरितमानसमें परोपकारको चरित्रिका आभूषण माना है—

परहित सरिस धर्म नहिं भाई ।

(मानस, उत्तरकाण्ड)

गोखामीजीने यह भी कहा है कि परोपकारसे युक्त मानव-चरित्रके आगे संसारकी सभी विनाशावाप्ने, नत-मस्तक हो जाती हैं—

परहित नस जिन्होंके मन माही॥ तिन्ह फँड़े जग दुलैभ कछु नाही॥

(मानस, अरण्यकाण्ड)

हिंदूसमाजकी रक्षाके लिये गुरु गोविन्दसिंहका अन्तिम पुत्र भी युद्धमें वीर-गतिको प्राप्त हुआ । संवेदना प्रकट करनेके लिये एक शोकसमा हुई । गुरु गोविन्दसिंहजीने हाथ उठाकर बैठे हुए जनसमूहकी ओर संकेत करते हुए कहा—

इन पुत्तन के कारणे वार दिये सुत चार ।

चार मरे तो व्यया हुआ जीवत कोटि हजार ॥

जिगरका टुकड़ा अलग हो गया पर और्खे न ढबडबा सकीं, सहारा उड़ गया पर मन न कराह सका, और्खोंका तारा छुट गया, फिर भी वेहरेपर उदासीनता नहीं, यह परोपकारकी महिमा है !

—२७४—

चरित्रके मूल आधार

(लेखक—श्रीश्यामलालजी इकीम)

चरित्र-निर्माणका अभिप्राय है—जीवनको सत्-चरित्रमें ढालना; सर्वथा ऐसा आहार-विहार और व्यवहार-व्यापार करना, जिससे अपना और दूसरोंका सब प्रकार हित साधित हो । सामान्यतः सत्य भाषण, अहिंसा, चोरी न करना, काम-क्रोध-लोभ-रहित होना, समस्त प्राणियोंका हित-चिन्तन करना, कपटरहित होना तथा परोपकार आदि ऐसे सदाचरण हैं, जो सभी वर्गके लोगोंके लिये आचरणीय हैं और उन्हे मानवमात्रका परम कर्तव्य माना गया है—

अहिंसा

भूतप्रियहितेहा

सत्यमस्तेयमकामकोधलोभता ।

८ धर्मोऽयं सार्ववर्णिकः ॥
(श्रीमद्भा० ११ । १७ । २१)

इस तरह हम देखते हैं कि चरित्रके मुख्यतः चार मूल तत्त्व हैं । भारत सदासे धर्मप्रवान देश रहा है । यहाँके मनुष्य बहुत ही धार्मिक होते हैं । धर्म हमें कहता है कि जीवनको सुव्यवस्थित ढंगसे कैसे वितायें । धर्म हमें सिखाता है कि किस तरह मनुष्य चरित्रवान् बन सकता है । संसारमें जिन्होंने अच्छी वार्ते हो सकती हैं, वे सभी धर्म-ग्रन्थोंके अन्तर्गत आती हैं । धर्म चरित्रवान् मनुष्यके लिये एक आवश्यक अंग है । संसारके जिनने सदूचिचार हैं, वे सभी धर्मग्रन्थोंमें प्रस्तुत हैं । इन्हीं धर्मसूत्रोंके आधारपर चरित्रवान् व्यक्ति अपनी इमारत खड़ी करते हैं । जिस तरह मानव विना वायुके जी नहीं सकते, उसी तरह चरित्रवान् धर्मके विना एक क्षण भी अपनी राहपर कदम नहीं रख सकते ।

बुद्धने कहा था—‘संसारमें कोई महापुरुष आकाशसे उतरकर नहीं आता और छोटा मानव पातालसे नहीं आता; अपितु मानव आचरणके कारण ही छोटे और बड़े बन जाते हैं’ (मञ्जिमनिकाय ३ । ४३ । ३) ।

वस्तुतः सचरित्रतामें ही जीवनका गौरव है ।

भविष्यपुराणमें भगवान् श्रीकृष्ण राजा युविष्टिसे कहते हैं—

आचारहीनं न धुनन्ति वेदा

यद्यप्यधीताः सह षड्भिरङ्गैः ।

छन्दांस्येनं मृत्युकाले त्यजन्ति

जीडं शकुन्ता इव जातपक्षाः ॥

कपालस्थं यथा तोयं श्वस्तौ च यथा पयः ।

दुष्टं स्यात् स्यानदोपेण ब्रृत्तिहीने तथा शुभम् ।

आचाररहितो राजन्नेह नासुध नन्दति ॥

‘षड्हूंसहित बेदोंका अध्ययनकर्ता यदि आचारहीन है तो वेद उसे पवित्र नहीं करते । पंख उग जानेपर

जैसे पश्ची धोंसला त्यागकर उड़ जाते हैं, उसी प्रकार वेद अन्त समयमेआचारहीन व्यक्तिको त्याग देते हैं।

जैसे मनुष्यके कपालमेअथवा कुत्तेकी खालमेजल या दूध दूषित हो जाता है, उसी प्रकार सदाचारहीन व्यक्तिके तीर्थ-भ्रमण आदि समस्त शुभ कर्म दूषित हो जाते हैं। आचारहीन व्यक्ति इस लोकमेऔर परलोकमें—कहीं भी सुख नहीं प्राप्त करता। इसी प्रकार सच्चरित्राके विषयमेविश्वभरके सब धर्म, सब शास्त्र-ग्रन्थ, आचार्य-गुरु-पीर और सब सम्प्रदाय एक स्वरमेउद्धोष करते हैं कि प्रत्येक मनुष्यको सदाचरण करना चाहिये। इस बातको सब लोग जानते हैं, फिर भी आजकामानव प्रायः दुश्चरित्राकी ओर भागा जा रहा है। चोरी, हिंसा, व्यभिचार, घूसखोरी आदि आचरणोंको धर्म तथा कानून-विरुद्ध जानकर भी मनुष्य इनसे बचनेका यत्न नहीं कर रहा है, बचना भी नहीं चाहता।

ऐसा क्यो?—सच्चरित्राके कुछ ऐसे मौलिक आधार हैं, जो उसकी रक्षा करते हैं, उसको पकड़े रहनेकी प्रेरणा देते हैं। जब उन मौलिक आधारोका अभाव हो जाता है, अथवा उनकी उपेक्षा होने लगती है, तब मानव असदाचारकी ओर जाने लगता है। अतः चरित्र-निर्माणके लिये उन मौलिक आधारोकी रक्षा तथा उपलब्धिकी ओर ध्यान देना अनिवार्य है। सामान्यतः इसके निम्नलिखित मौलिक आधार हो सकते हैं—

१-ज्ञाति-कुल-परम्परा—सच्चरित्रा बहुत कुछ सद्ज्ञाति-कुल-परम्परापर आधृत है। सद्ज्ञाति-कुलमेउत्पन्न व्यक्तिमेदुश्चालियकी सम्भावना कम रहती है; क्योंकि उसके संस्कार प्रायः अपने पूर्वजोके अनुरूप रहते हैं। सच्चरित्र माता-पिताके तत्त्वावधानमेसंतानकी सच्चरित्रा सुरक्षित रहती है। अतः चरित्र-निर्माणके

लिये ज्ञाति-कुलकी परम्पराओंके पालन तथा उनकी रक्षाकी आवश्यकता है।

२-वर्णाश्रम-धर्म—भारतीय मनीषियोने चरित्रकी सम्यक् व्यवस्थाके लिये ही ब्राह्मण-शत्रिय-वैश्य एवं शूद्र—चार वर्णों तथा ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास—इन चार आश्रमोंमेमानव-सृष्टिको विभक्त किया है। श्रीभगवान् ने चारों वर्णों एवं आश्रमोंके कर्तव्योंका श्रीगीतामें अर्जुनको उपलक्ष्य कर सबको उपदेश किया है। अपने-अपने वर्णाश्रमके कर्तव्योंका पालन करना ही सदाचार है। उनका पालन न करना असदाचारकी ओर जाना है। वर्णाश्रम-धर्मके पालनसे सर्वप्राणियोंकी संतुष्टिकी तो क्या बात, श्रीभगवान् भी संतुष्ट होते हैं—

वर्णाश्रमाचारवता पुरुषेण परः पुमान् ।
हरिराराध्यते पन्था नान्यत्तत्तोषकारणम् ॥
(श्रीविष्णुपु० ३ । ८ । ९)

३-आहार—आहारका सदाचार-पालनमेबहुत बड़ा हाथ है। ‘जैसा अन्न वैसा मन’—यह लोकोंकि प्रसिद्ध है। तामसी और राजसी आहारोंसे मनकी वृत्ति तामसी और राजसी हो जाती है। उन मनोवृत्तियोंसे काम, क्रोध, लोभ, कपट, हिंसादि आसुरी आचरणोंमेप्रवृत्ति होती है और सात्त्विक आहार करनेवाले मनुष्यकी मनोवृत्ति सात्त्विक होती है और वह सत्य, अहिंसा, सुख, शान्ति आदि गुणोंसे सम्पन्न होकर सबका हित-चिन्तन करनेवाला होता है। अतः काम, क्रोध, हिंसा, व्यभिचार, शत्रुता, स्वार्थपरायणता आदि पाश्चिक आचरणोंसे बचनेके लिये आहारकी शुद्धिका होना आवश्यक है। श्रुतिका कथन है—

‘आहारशुद्धौः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः ।’
(छान्दो० ७ । २६ । २)

‘आहारशुद्धिसे सत्त्वशुद्धि होती है और सत्त्वशुद्धिसे परमात्माकी ध्रुवानुसृति होती है।’ सत्त्व-शुद्धिसे

दैवीगुणोंका उद्घव अभिप्रेत है। ध्यानपूर्वक देखा जाय तो दैवीगुणोंसे रहित होना और परमात्माकी विस्मृति सब दोपोंकी जड है। यदि मृत्यु और परमात्माकी याद रहे तो फिर क्यों कोई दूसरेकी हिसावरे, व्यमिचार, शूसखोरी और असत्यादि दुष्कर्मोंमें प्रवृत्त हो ? यहाँ आहारयुद्धिसे केवल भोजन-युद्ध ही अभिप्रेत नहीं है, समस्त इन्द्रियोंको शुद्ध आहारकी आवश्यकता है। औंखोंको शुभ दृश्यदर्शन एवं सद्ग्रन्थोंका अवलोकन चाहिये। कानोंको सच्चरित्र-श्रवण और वाणीको सद्गानके आहारकी आवश्यकता है। इस प्रकार सत्त्व-युद्धिके लिये सात्त्विक आहार अनिवार्य है।

४-सङ्ग एवं शिक्षा—चरित्रके निर्माण तथा भ्रष्ट करनेमें उपर्युक्त तीनों बातोंसे भी अधिक प्रभावशाली है—सङ्ग और शिक्षा। शिक्षा भी सङ्गकी अनुवर्तिनी है। जैसा सङ्ग होगा, उसी प्रकारकी शिक्षा और फिर उसी प्रकारका आचरण होगा। सत्कुल-जातिमें तथा उच्च वर्णोंमें भी नीचाचरण करनेवाले मनुष्य देखे गये हैं—प्राक्तन संस्कार अथवा सङ्गदोष उनके सदाचरणको भ्रष्ट कर देता है; यथा—‘विधि वन्म सुजन कुनंगति परर्ह ।’ और ‘सठ सुवर्हि सत्मंगति पाई ।’ (मानस १।२।५) अतः चरित्र-निर्माणमें अथवा सच्चरित्रियकी रक्षामें सङ्गका सबसे बड़ा हाय है। विष्णुपुराणका कथन है—

शायवः श्रीणदोपाश्च सच्छब्दः साधुवाचकः ।
तेषामाचरणं यतु सदाचारः स उच्यते ॥

‘सदाचारी व्यक्ति सत्पुरुष या साधु है। सद् शब्द साधुवाचक है और सत्पुरुषका आचरण ही सदाचार है।’ अतः सच्चरित्र वननेंके लिये सत्पुरुषोंका सङ्ग और सद्ग्रन्थोंका अव्ययन-मनन-चिन्तन अपेक्षाकृत आवश्यक है।

५-अनुशासन—अनुशासनसे राज-अनुशासन तथा धर्म-अनुशासन दोनों अभियंत हैं। राजा यदि स्वयं सदाचारी हो तो उसकी प्रजा सच्चरित्र हुआ करती है। माता-पिता या अभिमानक यदि सच्चरित्र हों तो सन्नान भी सच्चरित्र होती है। इसी प्रकार शिक्षक, गुरु यदि सदाचारी हो तो छात्र और शिष्यगण सदाचारी हुआ करते हैं। किंतु यह सब तभी सम्भव होता है, जब राजा, पिता-माता एवं गुरु-शिक्षकों मन, शरीर, वाणीएवं धर्मका शासन हो और सदाचार-सच्चरित्राका उल्लङ्घन करनेवाले ढण्डित होते हों।

अनादिकालसे भारतकी मन्त्रस्थिति और संस्कृति की स्थस्थिताका एकमात्र प्राग रहा है—धर्म-शासन और पापमय। राजा पृथु, राजा श्रीराम आदिके धर्मशासन मानवकी सच्चरित्राके ज्वलन्त उदाहरण हैं। जब राज-अनुशासनमें धर्मकी उपेक्षा हो जाती है और राजा-प्रजाके मनमें धर्म और पापका भय निकल जाता है, तब सच्चरित्राकी रक्षा और उमसी उपलब्धि होना कठिन हुआ करती है। अतः चरित्रके आवारोंका भी मूल स्तम्भ है—धर्म।

अन्तमें हम इस निष्कर्षपर पहुँचते हैं कि सच्चरित्रके मौलिक तत्व हैं—जानि-कुल-धर्म, वर्णाश्रम-धर्म, आहारादि युद्धपूर्वक आध्यात्मिक धर्म तथा सत्सङ्गादि पारमार्थिक धर्म। सबके मूलमें धर्म अर्थात् मानव-कर्तव्य निहित है। चरित्र-निर्माणके लिये अथवा सच्चरित्राके लिये मानव-धर्मोंका शासन और पापोंका भय होना आवश्यक है। अतः चरित्रका मूल आधार है—मानव-धर्म, जिसपर सच्चात्रिय प्रतिष्ठित है और युगोंतक प्रतिष्ठित रह सकता है।

चरित्र-निर्माणमें धर्मकी भूमिका

(लेखक—डॉ० श्री ला० च० अहीरवाल, एम्०ए०, पी-एच०डी०, साहित्यरत्न)

चरित्र-निर्माणमें धर्मकी भूमिका महत्वपूर्ण रही है। आज भी राष्ट्र एवं व्यक्तिके चरित्र-निर्माणमें इसकी नितान्त आवश्यकता है। ब्रह्मसृष्टिके उपरान्त ऋषियोंने समाज तथा राष्ट्रके चारुसंचालन-हेतु अनेक विधि-निषेधोंकी रचना की। उन्होंने व्यक्ति और समाजके कर्तव्य तथा अधिकारोंकी एक आचार-संहिताका निर्माण किया, जो मानव-धर्मसंहिता कहलायी। युगोतक व्यक्ति तथा समाजके कार्योंपर इन धर्मोंका पूर्ण प्रभाव रहा। धर्म-विरुद्ध आचरण करनेका साहस न मनुष्यमें था और न समाजमें। धर्म-विरुद्ध आचरण करनेवालेको जाति तथा समाजसे च्युत कर दिया जाता था और उसकी सामाजिक प्रतिष्ठा भी भङ्ग कर दी जाती थी।

व्यक्तिके दैनिक क्रिया-कलापपर धर्मकी सदा छाप रही। मानव निश्चित रूपरेखा एवं कार्यक्रमके अनुसार प्रारम्भसे ही आचरण करता आया है। उसके जीवनका न तो कोई विचार ऐसा होता था और न ही कोई ऐसा कार्य, जिसका समाधान धर्मद्वारा न होता हो। आजके युगमें भी इसकी आवश्यकता है। व्यक्तिका चरित्र-विकास धार्मिक विधि-निषेधोंके आधारपर होना चाहिये। विज्ञानने धर्मको निर्वल कर दिया है। आज धर्मका प्रभाव बहुत कम हो गया है। व्यक्ति समाजकी महत्वपूर्ण ईकाई है। वह समाजकी गतिशीलतामें योगदान देनेवाला घटक है। अतः विधि-निषेध कार्य भी युग-सापेक्ष होनेसे अनिवार्य है। आचारसंहिता व्यक्ति और समाज दोनोंपर अङ्गुश लगाती है। व्यक्तिका चरित्र-निर्माण विकसित सामाजिक परिस्थितियोंके संदर्भमें होना चाहिये।

चरित्र-निर्माण क्या है?—मनोविज्ञानवेत्ता चरित्रके दो घटक खीकार करते हैं—पहला स्थूल घटक और

दूसरा सूक्ष्म घटक। स्थूल घटकके अन्तर्गत व्यक्तिके शरीरावयवोंकी रचना—मुखाकृति, वेशभूषा, चाल-ढाल तथा संघटना आती है और सूक्ष्म घटकके अन्तर्गत व्यक्तिका विवेक, संकल्प, चिन्तन, नैतिक मान्यता, आत्मगौरवकी भावना, कार्यारम्भकी क्षमता, दृढ़ता, भावुकता, कठोरता, धार्मिक-विश्वास, कर्तव्य-प्रारयणता, सदाचार, स्वावलम्बन, परोपकार और मानसिक विचारादिकी गणना की जाती है।

चरित्रकी परिभाषा—चरित्र व्यक्तिकी वह महान् शक्ति है, जिससे उसके आन्तरिक सदूगुणोंका प्रकाश दूसरोंको अपनी ओर आकृष्ट करता है। व्यक्तिके आन्तरिक गुण, उसका सत्य, परोपकार, प्रेम, करुणा, अहिंसा, शुचिता, दया, क्षमा, सहानुभूति, सदूभावना और प्राणिमात्रके प्रति सच्चा प्रेम ही तो हैं। ये गुण व्यक्तिकी आत्माको महान् बनाते हैं तथा उसके चरित्र-निर्माणमें महान् योग देते हैं। चरित्रवान् व्यक्तिकी ओर दूसरे खतः आकृष्ट होते हैं। व्यक्तिकी सच्ची पहचान उसकी सञ्चरिता एवं हार्दिक विनयशीलतासे होती है। निःसदेह व्यक्तिका चरित्र ही उसकी अमूल्य निधि है, जिसकी उसे रक्षा करनी चाहिये तथा चरित्रको उत्तम-से-उत्तम बनानेकी कोशिश करनी चाहिये।

चरित्र-निर्माणमें धर्मका योग—आदियुगसे मानवके चरित्र-निर्माणमें धर्मका सतत महत्वपूर्ण योग रहा है। धर्मकी सर्वमान्य परिभाषा है ‘यः प्रजाः धार्यते स धर्मः।’ तात्पर्य यह कि जिस आचरणमें समाजके धारण करनेकी शक्ति है, वही धर्म है। इस प्रकार धर्मका अर्थ हुआ—समाजकी रक्षा या कर्तव्यपालन करानेवाला। यहों रक्षाका सम्बन्ध व्यक्ति तथा समाज दोनोंके साथ है और कर्तव्य-पालनका वेगळ

व्यक्तिके साथ। तात्पर्य यह है कि धर्म व्यक्ति और समाज दोनोंकी रक्षा करता है। वह व्यक्तिको पतित होनेसे बचाता है, कुमारों होनेसे रोकता है और असामाजिक कार्योंका शिकार नहीं होने देता। इस प्रकार धर्म व्यक्तिकी रक्षा करता है। धर्म समाजके सुचारू-संचालन तथा व्यवस्थापनमें भी योग देता है। इस प्रकार वह समाजकी रक्षा करता है। कर्तव्यपालन व्यक्तिका पावन अनुष्ठान है। वही (व्यक्ति ही) उसका निर्माता है, वही रक्षक तथा संहारक है। अतः समाजके निर्माण तथा रक्षणकी दिशामें व्यक्तिके अनेक कर्तव्य हैं। धर्म ही व्यक्तिको उसके कर्तव्योंका ज्ञान कराता है। धर्म ही व्यक्तिके चरित्र-निर्माणमें महत्वपूर्ण योग देता है। मनुस्मृतिमें धर्मके दस लक्षण बताये गये हैं—

**धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमकोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥**

‘धैर्य, क्षमा, दम, चोरी न करना, पावनता, इन्द्रियों-पर विजय, शुद्ध वुद्धि, विद्या, सत्यभाषिता और अक्रोध—ये धर्मके दस लक्षण हैं।

चरित्र-निर्माणकी शर्तें—चरित्र-निर्माणकी पहली शर्त है—धैर्यपूर्वक कार्य करना। धार्मिक ग्रन्थ और धार्मिक व्यक्ति कहा करते हैं कि किसी भी कार्यमें जल्दी करना शैतानका काम है। जल्दीमें या उतावलेमें किया गया काम बिगड़ जाता है या गलत हो जाता है। अतः हमें जल्दीमें, उतावलीमें कोई कार्य नहीं करना चाहिये। हमें हर काम सोच-समझकर खिंचेकसे उसके अच्छे-बुरे परिणामको देखकर करना चाहिये। धैर्यपूर्वक आचरण करनेवाला व्यक्ति चरित्रवान् माना जाता है। तुलसीदासकी—धीरज धरम मित्र अह नारी। आपत फ़ाल परिखिअहिं चारी॥ यह पङ्कि व्यक्तिको धैर्यका उपदेश देती है। ‘Slow and steady wins the race’ में भी यही भाव है। सहिष्णुता, सहनशीलता और क्षमा धर्मके प्रमुख अङ्ग हैं। क्षमा ज्ञानका अलंकार है—

नरस्याभरणं रूपं रूपस्याभरणं गुणः।
गुणस्याभरणं ज्ञानं ज्ञानस्याभरणं अमा॥

‘देवो दुर्वलघातकः’ देवता (भी) निर्वलके शत्रु होते हैं—आदि उक्तियाँ व्यक्तिको शक्तिके उपार्जनका संदेश देती हैं। धार्मिक पुस्तकें भी मनुष्यको यही बताती हैं—

**उद्यमः साहसं धैर्यं वुद्धिः शक्तिः पराक्रमः।
पडेते यत्र विद्यन्ते तत्र देवः सहायकृत्॥**

‘उद्यम, साहस, धैर्य, वुद्धि, शक्ति और पराक्रम—ये छः गुण जहाँ होते हैं, वहाँ देवता सहायक होते हैं।’ धर्मकी यह उक्ति व्यक्तिको पराक्रमी और उद्यमी होनेकी प्रेरणा देती है। अधोलिखित उक्ति व्यक्तिको विद्वान्, तपस्वी, दानप्रिय, ज्ञानवान्, शीलसम्पन्न, गुणज्ञ तथा धर्मरत बनाती है—

**येषां न विद्या न तपो न दानं
ज्ञानं न शीलं न गुणो न धर्मः।
ते मर्त्यलोके भुवि भास्त्रभूता
मनुष्यस्तेषण मृगाश्वरन्ति॥**

‘को धर्मो भूतदया’—धर्म क्या है? प्राणियोपर दया। ‘किं सौख्यं नित्यमरोगिता जगति’—सुख क्या है? संसारमें सदैव स्वस्थ रहना। ‘कः स्तेहः सद्गाव’—प्रेम क्या है? सद्गाव (अच्छे विचार) रखना। और—‘किं पाण्डित्यं परिच्छेदः’—विद्वता क्या है? विवेक (सत् और असत्का निर्णय करना)। धर्मकी दृष्टि व्यक्तिको विद्वान्, सत्यभाषी, त्यागी और अनासत्त बनानेकी ओर रहती है। व्यक्तिके चरित्र-निर्माणका सही उत्कर्ष इन्हीं गुणोंसे होता है। महाभारतमें कहा गया है—

**नास्ति विद्यासमं चक्षुर्नास्ति सत्यसमं तपः।
नास्ति रागसमं दुःखं नास्ति त्यागसमं सुखम्॥**

विद्याके समान चक्षु, सत्यके बराबर तप, आसक्तिके समान दुःख और त्यागके समान सुख

नहीं होता ।' चरित्रवान् व्यक्ति विद्यासे सम्पन्न होता है । विद्यासे ज्ञान प्राप्त होता है । ज्ञानसे संसारके सत् और असत् का भेद मालूम होता है । विद्यासे नम्रता प्राप्त होती है । हितोपदेशमें भी कहा गया है—

विद्या ददाति विजयं विजयाद्याति पात्रताम् ।
पात्रत्वाद्वल्माप्नोति धनाद् धर्मस्ततः सुखम् ॥

'विद्या नम्रता देती है । नम्रतासे पात्रता (योग्यता) आती है । योग्यतासे धन प्राप्त होता है और धनसे धर्म (होता है), उसके बाद सुख (होता) है ।' धर्म मनुष्यको श्रमके महत्वका ज्ञान, स्वावलम्बनकी महत्वाका ज्ञापन, ब्रह्मचर्यकी शक्तिका परिचय और चरित्रकी विशिष्टताका अङ्कन करना सिखलाता है । ऋग्वेदका कथन है—'न ऋूते थ्रान्तस्य सख्याय देवाः । जो श्रम नहीं करते, उसके साथ देवता मित्रता नहीं करते ।' ऋग्वेदसंहिताका कथन है—'न सृषा थ्रान्तं यद्वन्ति देवाः'—'यह ठीक है कि देवता उसकी सहायता करते हैं जो श्रम करता है ।' इसी प्रकार ऐतरेय ग्राहणमें प्रार्थना की गयी है—'कृष्णे न ऊर्ध्वा चरथाय जीवसे'—'अग्निदेव ! हमें उद्योगशील जीवनके लिये समुन्नत कीजिये ।' सारांश यह है कि उद्योगशीलता तथा परिश्रमप्रियता व्यक्तिके उत्कर्षके मूलधार है और धर्म इन दोनों गुणोंके विकासपर बल देता है । इस तरह धर्म व्यक्तिके निर्माणमें योग देता है । भारतीय धर्म-साधनामें इन्द्रिय-निप्रह और ब्रह्मचर्यका बहुत महत्व है । अथर्ववेदका कथन है—

‘ब्रह्मचारी ब्रह्म भाजद् विभर्ति

तस्मिन् देवा अधि विद्वे समोताः ।’

‘ब्रह्मचर्यको धारण करनेवाला समस्त दैवी शक्तियोसे प्रकाश और प्रेरणाको प्राप्त करता है ।' धर्म जीवनको एक यज्ञ मानता है और उसकी सफलताके लिये जीवनके प्रारम्भमें ही ब्रह्मचर्य-त्रतके पालनपर बल देता है । इस तरह धर्मकी दृष्टि सदैव व्यक्तिके चरित्र-निर्माणके उन्मेषपर रहती है ।

‘किं सम्पाद्यं मनुजौः विद्या वित्तं यशः पुण्यम् ।’

अर्यात्—व्यक्तिको क्या (सम्पादन) करना चाहिये ? विद्यारूपी धन तथा यश-(कीर्ति)-रूपी पुण्य । जीवनकी सफलता तथा व्यक्तिके चरित्र-निर्माणके लिये भारतीय धर्म-साधनामें उत्तम चरित्रका महत्वपूर्ण स्थान है । भारतीय ऋषि प्रार्थना करता आया है—‘परि माग्ने दुश्चरिताद् वाधस्वा मा सुचरिते भज’—‘प्रकाशस्तरूप अग्निदेव ! मुझे दुश्चरितसे वचाकर सुचरितमें दृढतया स्थापित कीजिये ।' यही नहीं, धर्म मानव-को मनमे शुभ तथा कल्याणमय संकल्प धारण करनेकी प्रेरणा देता है—‘तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ।’

कौन उन्नति करता है ? विनम्र पुरुष । किसे छोड़ देना चाहिये ? जो घमण्डी है । कौन विश्वास योग्य नहीं है ? जो निरन्तर असत्य बोलता है—

को वर्धते विनीतः को वा हीयेत यो द्वप्तः ।
को न प्रत्येतव्यः ब्रूते वश्चान्तृतं शश्वत् ॥

वेदारम्भके अवसरपर आचार्य ब्रह्मचारीको जो उपदेश देता है, उसमें उसके व्यक्तित्व-निर्माणकी समस्त दिशाएँ संनिहित हैं । वह कहता है—‘दिवा मा स्वाप्सीः । आचार्याधीनो भव । धर्माचरणात् मा प्रमदोः । नित्यं युक्ताहारविहारवान् विद्योपार्जनेन यत्कर्वांश्च भव ।' अर्यात् दिनमे न सोओ । अधर्माचरणको त्यागकर आचार्यके अवीन रहो । आहार-विहारमें यथोचित नियमोंका पालन करते हुए सदा विद्योपार्जनमें प्रयत्नशील रहो ।' इस प्रकार स्पष्ट है कि धर्म उन सभी गुणोंके विकासपर बल देता है, जिनकी अन्धे व्यक्तिके चरित्र-निर्माणहेतु आवश्यकता है ।

व्यक्तिके चित्तन और कर्ममें धर्मका योग सोनेमें सुगंधके सदृश है । धर्मकी भावनाके विरुद्ध आचरण करना चरित्रशील व्यक्तिके लिये मृत्युके समान है । धर्म व्यक्तिको चरित्र-विकासकी दिशा प्रदान करता है ।

वह व्यक्तिको उद्योगी, संयमी, खावलम्बी, धैर्यवान्, सहिष्णु, पावन और इन्द्रियजयी बनाता है। वह पापसे घृणा, चोरीके कार्यसे विमुख और असत्य-भावणसे बचाता है। इतिहास इस बातका साक्षी है कि वही व्यक्ति महान् चरित्रशाली बन सकता है, जिसने धर्मके मूल तथा सत्य सिद्धान्तोंका पालन किया है। धर्मके नामपर आडम्बर तथा अन्यविश्वासीका अन्यानुकरण चरित्र-निर्माणके विकासकी दिशामें कोई योग नहीं देता। धर्मके मूल दस सिद्धान्त—धैर्य, क्षमा, शक्ति, चोरी न करना, पावनता, इन्द्रियोंपर विजय, विद्या, सत्यभाषिता और क्रोधहीनता आदि गुण व्यक्तिके चरित्र-निर्माणमें महत्वपूर्ण योग देते हैं तथा व्यक्तिके चरित्रको महान् बनाते हैं। चरित्रवान् व्यक्ति ही किसी समाज और राष्ट्रके निर्माणकी महत्वपूर्ण धुरी होते हैं। उत्तम चरित्र ही व्यक्तिके जीवनकी सफलताकी कुञ्जी है।

धर्म व्यक्तित्वके बाह्य घटकके निर्माणमें भी योग देता है। धर्मकी दृष्टि श्रम, संयम, कसरत और शरीरावयवके

मांसल निर्माणपर भी रहता है। वह सज्जनेचित वेयभूषाको भी निर्वाण करता है। निष्कर्ष यह कि धर्म मानवके चरित्र-निर्माणके बहुमुखी विकास तथा उसे महान् व्यक्तित्व या उत्तम चरित्रवान् बनानेपर भी दृष्टि रखता है।

भारतीय धर्म-साधनमें उत्तम चरित्रवान् महापुरुषके रूपमें श्रीरामका सर्वोच्च स्थान है। उनके महान् आदर्शसे संसार युग-युगोंसे प्रेरणा लेता आया है। वे सभीके प्रेरणाके स्रोत भी रहे हैं। भरत भी अपने महान् आदर्शके लिये विद्युत है। अर्वाचीन एवं नवीन महापुरुष भी चरित्रके धनी रहे। वस्तुतः महापुरुष तो भगवद्विभूति ही होते हैं। उन सभीके चरित्र-निर्माणमें धर्मकी भावना निहित रही है तथा उनके चिन्तन तथा कर्ममें धर्मका महान् योग रहा है। अतः चरित्रशीलको धर्मपथपर चलना चाहिये। आचार ही परम धर्म कहा गया है—

‘आचारः परमो धर्मः’।

चरित्र-निर्माणका मौलिक तत्त्व-चिन्तन

(लेखक—श्रीशिंह नारायण गौड़)

चरित्रिका रूढार्थ कुछ भी रहा हो आज व्यवहारमें इसका वही अर्थ है, जो अंग्रेजीमें मारेलिटी, हिन्दीमें सदाचार और संस्कृतमें चारित्र्यका होता है। संयोगसे लेटिन ‘मोटास’ और ग्रीक ‘एथास’का सम्बन्ध भी रूढ़ि और रूढ़ आचार या सदाचारसे ही है और अन्ततः हम इसी निष्कर्षपर पहुँचते हैं कि चरित्र और आचार समानार्थी हैं और इस सामान्य व्यवहारसे आदर्शको भिन्न बतानेके लिये उसे चारित्र्य या सदाचारके निशिष्ट नामसे पुकारा जाता है।

वैसे चरित्र सभीका होता है, पशु-पक्षियोंका भी चरित्र या व्यक्तित्व होता है; पर उसे सदाचार या उन

व्यक्तियोंको सदाचारी तभी कहा जा सकता है जब हम उन्हें किसी आदर्शसे जोड़ते हैं। सभी पक्षी उड़ते हैं पर जो हंस नलके पास दमयन्तीका संदेश ले गया था वही परोपकारी हो गया। सभी बन्दर फल-फूल खाते या पेड़ तोड़ते हैं, पर कोई हनुमान्‌की तरह आततायी रावणकी वाटिकाको उजाइकर सती सीताकी रक्षा करता है तो वह उपकारी बन जाता है। यों करनेको तो प्रत्येक मनुष्य जीवन भर कुछ-न-कुछ करता रहता ही है, पर उसके सभी काम आचारकी श्रेणीमें नहीं आते। सौंस लेना, सोना या खाना-पीना मानवकी सहज कियाएँ हैं, पर इनमेंसे जो भी सोहेल्य बन जाती हैं, वे

आचारका अहं बन जाती हैं। सौंस लेना एक सहज या अनिवार्य क्रिया है, पर उसे हल्का या गहरा बनाना या समाविकी स्थितिमें नहुँचा देना आचार बन जाता है। खाना हम सहजरूपसे खाते हैं पर खानेके पदार्थ, समय और क्रियाका नियमन करना आचार बन जाता है।

प्रत्येक आचार, चरित्र, धार्मिक क्रिया उसी प्रकारकी क्रिया है जिस प्रकार क्रोध, तोड़-फोड़, आलस्य या संहार क्रियाएँ हैं। दोनोंमें भेद इसी बातका है कि प्रथमका उद्देश्य एवं फल दूसरीसे भिन्न है। अतः क्रियाके रूपमें समानता रहते हुए भी उद्देश्य या फलकी भिन्नतासे एक ही क्रिया सत्-असत्, भली-बुरी, सदाचार या दुराचार बन जाती है।

किसीको थप्पड़ मार देना बुरी बात है, पर किसी उत्तेजित दुष्टको थप्पड़ मार देना बुरा नहीं माना जाता और साँप काटेका सुन्देश लानेवालेको थप्पड़ मारना उसका डलाज हो जाना है। किसीके शरीरको चीरना-फाड़ना अपराध है, पर डाक्यर कहीं भी चीरा लगा सकता या किसी भी अझको काटकर फेक सकता है और वह पुण्यका कार्य बन जाता है। यो किसीकी नकळ उतारना बुरा लगता है, पर बहुरूपिया बनकर या नाटकमें अभिनय करके जो कुछ क्रिया जाता है, वह मनोरञ्जक और कलात्मक बन जाता है। जान-बूझकर किसीका बुरा सोचना भी अनुचित है पर अनजानमें कोई दवाके भरोसे जहर ढे ढे तब भी क्षम्य माना जा सकता है। अकेलेमें किसी शत्रुको भी मारना पाप है पर युद्धमें मित्र, रिश्तेदार कोई भी सामने आ जाये तो मारे जाने योग्य बन जाता है।

इस प्रकार परिस्थिति, भावना और फलके आधारपर ही भली-बुरे, सापराव-निरपराव, पाप या पुण्यका विचार होता है। अतः प्रश्न सहज ही उठता है कि

वे आधार क्या हैं, जो किसी कामको भला या बुरा बनाते हैं? भला-बुराका व्यवहार किस मापदण्डसे होता है?

इसके उत्तरमें शास्त्र, महापुरुषोंके आचरण या आत्माकी आवाजको ही भिन्न-भिन्न रूपोंमें प्रस्तुत किया जाता है। उदाहरणके लिये कहा गया है कि 'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्' दूसरे स्थानपर आते हैं। 'स्मृतिशीले च तद्विदामः अथवा 'महाजनो येन गतः स पन्थाः' इनके अनुसार किसी महापुरुषका चरित्र या सामाजिक रुद्धियाँ इस श्रेणीमें आती हैं।

अन्तिम आधार है—विवेक अथवा अन्तरात्मा, जो प्रत्येकको किसी भी विषम परिस्थितिमें उचित-अनुचितका निर्णय करनेमें सहायक होती है। सामान्य क्षणोंमें तो वह शास्त्रोंसे सहायता ले सकता है, रुद्धियोंको ध्यानमें रखकर या किसी भले आदमीकी राय लेकर काम चला सकता है, पर उस स्थितिमें जब यकायक कोई घटना घट जाये, वह अकेला हो या अजननियोंके बीच या किसी नयी उलझनमें फँस जाये तो वह किससे पूछे, कैसे निर्णय करे? ऐसी स्थितिमें एक ही उपाय बचता है कि वह यह स्व-विवेकसे काम ले, स्वयं निर्णय करे। इस आत्मनिर्णयके लिये ही कहा गया है—'स्वस्य च प्रियमात्मजः' अर्थात्—जो बात अपने आत्माको प्रिय लगे, यानी जो अपनेको सबसे अधिक उपयुक्त लगे, वही वरणीय और करणीय है।

सच पूछा जाय तो परिस्थिति कैसी ही हो, शास्त्र या समाज उपदेशक या महापुरुष कुछ भी कहे या करे, अन्तिम निर्णय तो व्यक्तिको स्वयं ही करना पड़ता है कि वह क्या करे? उसे वार-बार अनुभव होता है कि— 'तकोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्ना नैको ऋषिर्यस्य मतं न भिन्नम्।'

किसी रुद्ध विचारकी रुद्ध प्रणालियोंको छोड़ दें तो मनुष्यको प्रत्येक काममें प्रत्येक बार अपनी ओरसे निर्णय

करना पड़ता है। चाहे मैंने राम-भरोसेपर विश्वास किया हो, पर उससे धोखा खाकर अब मैं विश्वास नहीं कर सकता, किंतु अगली बार यदि पश्चात्तापसे उसका हृदय छुट्ट हो जाये तो वह फिरसे विश्वसनीय बन जाता है। यही दशा दान, उदारता, करुणा, अकोष या सहयोग—इन सभीकी है। कोई भी वात या काम कहीं अन्तिम नहीं माना जा सकता। डाक्टर रोगीके साथ उदारता नहीं बरत सकता, योद्धा शत्रुपर दया नहीं दिखा सकता, दानी किसी बनावटी गरीबको दान नहीं दे सकता, किसी आत्मायीके आगे निश्चल सत्य नहीं बोला जा सकता।

अतः इसी निष्कर्षपर पहुँचना पड़ता है कि भलाई या बुराई किसी क्रियामें नहीं होती; क्योंकि वही क्रिया परिस्थिति-मेदसे भली या बुरी कुछ भी हो सकती है। वही क्रिया बनावटी, दिखावटी, नाटकीय या हास्य-व्यङ्ग-भरी बनकर अपना रूप ही बदल सकती है। परिणामको सोचकर कभी अच्छे काम भी अकरणीय बन जाते और बुरे काम भी ग्राह्य हो जाते हैं। इसलिये निर्णय क्रियाकी दृष्टिसे नहीं क्रिया जा सकता।

अब बचते हैं—कर्ता या फल। जहाँतक फलका प्रश्न है, किसी बुरे कामका भी अच्छा परिणाम निकल सकता है। कोई चोरी करके भी उस पैसेसे किसी रोगीका उत्तरार करवा सकते, दान दे सकते, मन्दिर बनवा सकते हैं। अंधविश्वासके सहारे भी लोगोंसे अच्छे काम करवा सकते हैं। अपने-आपको सिद्ध पुरुप सिद्ध करके उनकी भाषनाओंको भली या धार्मिक बना सकते हैं। पर इन सबके मूलमें तत्त्वतः गड़वड़ियाँ हैं, अतः केवल परिणामकी अच्छाईसे ही इन्हें भला नहीं माना जा सकता; अन्यथा हरेक मुफ्तखोर, भगवाचारी, कालाचाजारी, चोर-डाकू-लुटेरा, ढोगी या धोखेवाज अपने कामोंके सुन्दर फल बताकर इन दुर्गुणोंको भी सद्गुण सिद्ध करनेका ग्रथास करेगा और परिणामोंकी अच्छाईके आधारपर हमे उसे वैसा मानना पड़ सकता है।

इसीलिये तो महामा गर्वाने साथ ही नहीं, साधनांकी भी पवित्रतापर जोर दिया था। गात्रीय मूल प्रवृत्ति राध्यकी अच्छाईके साथ साधनकी पवित्रताको भी आवश्यक मानती है। यदि उद्देश्यकी पूर्ति या फल-प्राप्ति ही सब कुछ हो तो यह तो भले-बुरे किसी भी साधनमें की जा सकती है। किसी आदर्मीको भला बनाना या उससे भला काम करवाना हो तो यह उसकी स्वेच्छामें करवा सकते हैं और अनिष्टामें भी करवा सकते हैं; जवरदस्ती करवा सकते हैं, प्रलोभनमें करवा सकते हैं, वोखेसे भी करवा सकते हैं। पर इस प्रकार जवरदस्तीमें अज्ञानपूर्वक या धोखेमें किये गये अच्छे काम भी क्या अच्छे माने जा सकते हैं? मान लीजिये कोई शर्त जीतने में लिये आप मन्दिरमें तन्मयनामें पूजा करते हैं तो वह क्या भक्तिके अन्वर्ग आती है? धनके लिये पूजा करनेवाला पुजारी क्या वैसा ही भक्त है जैसे तुकाराम थे?

निदान, हम इसी निष्कर्षपर पहुँचते हैं कि किसी कार्यकी अच्छाई-बुराई न क्रियामें है, न उसके फलमें। जो कुछ निर्णायिक है, वह है—वह व्यक्ति, जो किसी क्रियाको करके उसे किसी परिणामतक पहुँचाता है। कर्तासे कर्मतक जो प्रवाह चलता है वह कर्ताद्वारा ही निर्णीत होता है। यदि वहाँसे ‘बन’ विजली निकलती है तो कर्मतक वैसा ही प्रवाह चलता है और ‘ऋग’से सारा प्रवाह ‘ऋग’ हो जाता है।

पाणिनिने इनकी भाषागत ही नहीं, भावगत परिभाषा भी बड़े सूक्ष्मरूपसे की है। कर्म वही है जो कर्ताका अभीप्सिततम है। जो काम वह करना ही नहीं चाहता, वह आनुप्रङ्गिक, अप्रासङ्गिक या सांयोगिक हो, तब भी उसे कर्ताद्वारा कृत नहीं माना जा सकता। कर्ता उठा, इससे चोर भाग गया, फिर भगानेका काम उस उठनेवालेका नहीं था। कर्ताने किसीके चाँड़ा मार दिया और वह सुनने लग गया, इसीसे कोई डाक्टर नहीं बन जाता।

जबतक कोई काम जान-बुझकर, इच्छापूर्वक नहीं किया जाता तबतक वह किसीका कर्म नहीं कहा जा सकता। पर एक बार किसीने कोई काम विचारपूर्वक ही (जरूरी नहीं कि वह विवेकपूर्वक ही हुआ हो) किया कि वह उससे बँध जाता है और फिर वह अपनेको या दूसरोंको धोखा दिये विना यह नहीं कह सकता कि यह मैंने नहीं किया या इसके लिये अमुक व्यक्ति उत्तरदायी है। यदि सचमुचमे कोई व्यक्ति कोई काम अनजानमे करता है, धोखेमे कर डालता या जोर-जबरदस्तीसे करनेको विवश कर दिया जाता है तो उसे कर्ता नहीं माना जा सकता। यहाँ भी पाणिनिने कर्ता उसीको माना है जो स्वतन्त्र हो (स्वतन्त्रः कर्ता); स्वयं अपने कार्यका निर्णयिक हो, जिसके काममें न दबाव हो न गलतफहमी।

वैसी दशामे निर्णयिक न किया होती है न कर्म; अन्तिम निर्णयिक है उसकी स्वतन्त्रता, जिसे अंग्रेजीमें या आधारशास्त्रमें 'फ्रीडम आफ विल' कहा गया है। हरेक मनुष्यको कुछ भी करनेकी स्वतन्त्रता है; यहाँतक कि ईश्वर भी इस क्षेत्रमे कोई हस्तक्षेप नहीं करता; क्योंकि उसे जो करना था वह तो निर्माणके समय कर चुका, उसके बाद तो उसका खिलौना स्वयं चालित होकर स्वयंकी इच्छासे कुछ भी करनेको स्वतन्त्र है। वह कोरा यन्त्र नहीं कि यन्त्र-मानवकी तरह वही करनेको वाल्य हो, जैसा करनेका आदेश मनुष्यद्वारा उसमें भर दिया जाता है। मनुष्यका खिलौना यदि अपने निर्माताके आदेश या निर्देश माननेको स्वतन्त्र है तो वह दैवी यन्त्र तो उससे भी अधिक स्वतन्त्र है और उसे किसीका आदेश मानना ही है तो वह है उसकी आत्मा या अन्तरात्मा। जो कोई कर्ताके रूपमें परिस्थिति उसकी आवश्यकताके अनुसार उसका मार्गदर्शन भी करती रहती है।

यही आत्माकी आत्मासे भिन्नता या शब्दुता है। बाहर न कोई शब्द है न मित्र, जो भी है वह भीतर

बैठा है, वह हम खुद है जो अपने भले कर्मांसे अपने मित्र बनते और अपने बुरे कर्मांसे अपने ही शब्द बन जाते हैं। हमारे अपने ही कर्म यदि भले हैं तो हमारी भलाई करते हैं और बुरे हैं तो बुराई करते हैं। अब प्रश्न उठता है कि आत्मा, हम या हमारा मन कुछ भी करनेको स्वतन्त्र है तो वह वस्तु या गुण क्या है, जो किसी कामको भला या बुरा बनाकर हमें भी भला या बुरा अथवा सदाचारी या दुराचारी बना देता है?

यहाँ हमें फिर उसी कर्मकी ओर मुड़ना पड़ता है, जिसे इस क्षेत्रमे अविचारणीय मानकर हमने छोड़ दिया था। कर्ताको यदि विचार ही करना होता तो वह सद्भाव, सद्विचार या सत्कल्पनासे ही अपना काम चला लेता और बुराईका विचार करनेकी आवश्यकता ही नहीं रह जाती। पर मनुष्यका काम केवल विचारसे नहीं चल सकता। उसे पल-पलपर कर्म करने पड़ते हैं और उनके परिणामोंसे हम उन्हे अच्छा या बुरा मानते या उसके कर्ताको भला या बुरा कहते हैं।

जहाँतक सहज कियाओ या जीवनकी अनिवार्य आवश्यकताओंका प्रश्न है उन्हे न हम भला कह सकते हैं न बुरा। हम श्वास लेते, आँखे झपकाते या आगसे हाथ हटा लेते हैं, ये सब सहज कियाएँ हैं। पर जब हम इन या ऐसी ही अन्य कियाओंको किसी उद्देश्यसे जोड़ देते हैं तब उस उद्देश्यके विचारसे वह भली या बुरी हो जाती है। जो बात किसी भले उद्देश्यकी पूर्ति करती है, वह भली है और जो उसे पूरा नहीं करती, उसमें वादा डालती या उसके विपरीत काम करती है, वह बुरी है।

फिर उद्देश्य क्या है? जीवनका सबसे पहला उद्देश्य है—जीना। अतः जो भी कार्य जीवनोपयोगी है, वे भले हैं। इसीलिये भर्तृहरिने जो आहार-निद्रा-भय-मैथुन आदि सामान्य गुण बताये वे हर प्राणीपर

लागू होते हैं; किंतु इनपर भले-बुरेका विचार लागू नहीं होता तथा होता भी है तो इस रूपमें कि ये ही क्रियाएँ जीवनके लिये कहीं हानिकर तो नहीं बन गयी हैं। भोजन आवश्यक है, अतः भोजन करना कोई न अच्छा काम है न बुरा, पर कोई इतना भोजन करने लगे कि जीना ही दूभर हो जाय तो वह बुरा हो जाता है। इस प्रकार जिजीविपाकी सहज क्रिया सामान्यतः आचारके क्षेत्रमें नहीं आती, पर वह अपने उद्देश्यके विपरीन चले या उसका हितवर्धन करे तो उसे भी बुराई-भलाईके क्षेत्रमें सम्मिलित क्रिया जा सकता है।

जिजीविपा अच्छी वात है; क्योंकि यह संसारका मूलाधार है, पर संसारमें हम अकेले ही तो हैं नहीं। जो वात हमारे लिये सत्य है, वह सभीपर लागू होती है। हमें अपनी ही नहीं, अन्योंकी जिजीविपाका भी ध्यान रखना चाहिये। हम खुद नहीं जिएँ, औरोंको भी जीवित रहने दे। सामान्यतया प्राणिजगतमें जिजीविपा किसी भी मूल्यपर वनाये रखनेका प्रयास वित्या जाता है, किर वह औरोंको समाप्त करके ही क्यों न हो। वैसे नियम तो वहाँ भी सहयोग और सहअस्तित्वका है, पर वहाँ सब कुछ सहजवृत्तिसे होता है। मनुष्य सज्जान है, स्थतन्त्र है, सचेत है। इसीलिये वह जीवनको अपनेतक ही सीमित नहीं रखता, विश्वव्यापी वना देता है। इसीलिये वह कामना करता है कि 'सर्वे भवन्तु सुखिनः' और 'थावस्त्वस्त्वपर्यन्तं शुभं भूयात् सर्वजगताम्'। वह अकेला ही जीना नहीं चाहता 'जीओ और जीने दो' में विश्वास करता है। इसीको अहिंसा कहा गया है और उसके व्यावहारिक रूपको गाँधीजीने साध्य और साधनकी पवित्रताके रूपमें प्रस्तुत किया है।

सच पूछा जाय तो इस 'स्व-पर'की जिजीविपामें भलाई, सदाचार, चरित्र, मरोड़ीटी, एथास—सभीका सार आ जाना है। पर इन्हे सदाचारका आधार बना

पाना इतना सरल नहीं है। किस सीमातक मनुष्य परायी जिजीविपाके लिये अपनी जिजीविपाको संयत या सीमित करे, यहाँसे सारा ज्ञान ग्राम्भ होता है।

उसे कहा तो गया है कि 'केवलाद्वो भवति केवलादी'—अकेला खानेवाला केवल पापी होता है, अतः वह अकेला नहीं खायेगा, वाल-तच्चोंको खिलाकर खायेगा, पर इसके आगे वह क्या करे? क्या वह दुनियाभरको खिला सकता है? दूसरोंको खिलाकर खयं कितने दिन भूखा रह सकता? और, खिलानेमें खाना ही नहीं आता, कपड़े आते हैं, मकान आता है, जीवनकी सारी सुविधाएँ आती हैं। इनका उपर्जन तथा वितरण वह किस प्रकार करे? यह जटिल समस्या है जहाँ सिद्धान्तको संकुचित होना पड़ता है।

यदि संसारमें साधन-विपुलता हो तो कोई समस्या ही उत्पन्न नहीं हो सकती, जिसको जितनी आवश्यकता हो उतना ले लेता और वाकी दूसरोंके लिये छोड़ देता। पर संसारमें चीजे कम हैं और हमारी माँग अधिक है। फिर हमारी आवश्यकताएँ भी यथार्थपर कहों एकती हैं? हमें इतनेसे ही सन्तोष कहों होता है कि हमारा पेट आज भर जावे या कलतक भरनेकी गारंटी (निश्चिति) हो। हम तो जीवन भरकी गारंटी चाहते हैं, अपनोंकी गारंटी चाहते और न जाने कितनी पीढ़ियोंकी गारंटीके बाद भी सन्तुष्ट नहीं होते।

यह धातक आक्रामक जिजीविपा ही हमारी सारी बुराइयोंकी जड़ है। हमारी आवश्यकताओंकी पूर्तिका सही रास्ता है—श्रम। हमारा कर्तव्य है कि हम जो भी पावे अपने श्रमसे प्राप्त करे। पर हम या तो थोड़े श्रमके बहुत चाहते हैं या बिना श्रमके ही मनमाना प्राप्त करनेका प्रयास करते जाते हैं। इतना ही नहीं, हम दूसरोंके श्रमपर जीते या औरोंके श्रमसे अपने पास अधिकाधिक जमा करके जाते हैं। अन्तमें स्थिति यह हो जाती है कि कुछ लोग अधिक खाते, अधिक कमाते

और उससे भी अधिक जमा करते जाते हैं। इससे हमारी जिजीविषा औरोके लिये घातक बनती जाती है और संसारका सन्तुलन विगड़ा जाता है।

यदि भल्ड और बुराई, कर्तव्य-अकर्तव्य अथवा सदाचार-अनाचारके रूपमें देखना हो तो इनका एक ही आधार है कि हमारे काम इस प्रकारके हो कि हम खुद ही नहीं जियें, दूसरोंको भी इसी प्रकार जीवित रहनेकी सुविधा प्रदान करे। इसीलिये कहा है—‘आत्मनः प्रतिकूलानि परेयां न समाचरेत्’। जो काम इस उद्देश्यकी पूर्तिमें जितने सफल होते हैं, वे उतने भी भले या आदर्श हैं और जो इसमें जितने विद्यातक होते हैं वे उतने ही बुरे हैं।

इस समस्याको हल करनेके लिये धर्मने भी त्याग, अपरिह, यथालाभ-संतोषके रूपमें रहनेका उपदेश देकर एक आधार प्रस्तुत किया था। मार्क्सने भी ‘हरेक शक्तिभर काम करे और आवश्यकताभर ले’ के रूपमें एक दूसरा रास्ता दिखाया। पर यह मार्ग अच्छे उद्देश्यके लिये गलत साधनोंकी भी हिमायत करता है, इसीलिये भले आदमियोंके गले नहीं उतरता। उसमें साध्य पवित्र और साधन चाहे जैसा हो का विधान है।

महात्मा गांधीने मार्क्सके रास्तेको प्राचीन भारतीय धार्मिक आधार देकर साध्यके साथ साधनकी गुच्छिताका भी विचार करते हुए दूसरोंके लिये अपना स्वार्थ न्यागनेकी शिक्षा दी जो ‘तेन त्यक्तेन भुज्जीयाः’का ही व्यावहारिक रूप है।

विस्तारमें चरित्र, सदाचार या नैतिकतामें किन्हीं गुणोंका समावेश या वहिष्कार किया जावे उसका मूलाधार एक ही हो सकता है—जीओं और जीने दो। वाकी सब वाते इसके भाष्यमात्र हैं।

फिर भी एक समस्या रह ही जाती है कि मनुष्य इन दोनोंमें सन्तुलन किस प्रकार करे? ज्ञानके लिये कहा तो गया है कि वह मनुष्यकी विशेषता है, वह मनुष्यकी शक्ति है, पर कोरा ज्ञान मनुष्यको स्वार्थी भी बना सकता है। इसीलिये इस खतरेसे सावधान रहते हुए इस वातका प्रयास करना चाहिये कि इसका उपयोग भावनाओंके पीछे दौड़नेके लिये न होकर उनपर सवारी करनेके लिये होना चाहिये। तभी उस मनस्यी सारथिपर विश्वास किया जा सकता है कि वह हमारा मित्र बनेगा और उसीके भरोसे हम ‘मनःपूर्तं समाचरेत्’—मनके छननेसे छानकर या विवेकके तराजूपर तौलकर सदाचारी बन सकेंगे।

धर्मराजका चरित्र-सम्बन्धी उपदेश

(लेखक—डॉ० श्रीहरिनारायणजी तिवारी, एम.ए०, पी-एच० डी०, साहित्याचार्य)

धर्मराजके उपदेश कृष्णयजुर्वेदके कठशाखासे सम्बन्धित कठोपनिषद्में उपलब्ध होते हैं। नचिकेना आदर्श गुरुभक्त आरुणिके पुत्र थे। आरुणि आयोढ धौम्यके तीन प्रधान शिष्योंमेंसे एक थे। एक वार खेतकी मेंड बौधनेमें असमर्थ आरुणिने स्वयं बौधको स्वरूप धारण किया। एवं कुछ देर बाद गुरुके पुकारनेपर मेडको विदीर्णकर बाहर निकले। इस कारण गुरुजीने उनका नाम ‘उद्धाळक’ रख दिया एवं समग्र विद्या-प्राप्तिका आशीर्वाद दे दिया। यही उद्धाळक अपने

कर रहे थे। सम्पत्तिके नामपर वाजश्रवा (उद्धाळक)—‘वाजमन्नं तद्वानादिनिमित्तं थ्रवो यशो यस्य, स वाजश्रवा रूढितो वा (शाङ्करभाष्य)के पास ‘पीतोदका जग्धतृणा दुधधदोहा निरिन्द्रिया’ अर्थात् समग्र क्रियाओंसे रहित मरणासन्न गाये मात्र थीं। आदर्श पितृभक्त नचिकेनाने उन गायोंको दान देनेके परिणाम-स्वरूप मिलनेवाले सुखरहित लोकोंको जाननेके कारण, स्वयंको अपने पिताकी एक उत्तम सम्पत्ति मानकर, बाल-स्वभाववश तीन बार अपने पितासे कहा है—‘तत कस्मै मां दास्यसीति।’ बालककी जिद्दपर कुद्द

होकर महर्पि उदालक कहते हैं—‘मृत्युवे त्वा ददामीति ।’ पिताके इस आदेशपर उत्तम-मध्यमाधम शिष्य-परम्परामे अपनेको मध्यम श्रेणीका मानते हुए अपने पिताको सान्त्वना देनेके लिये एक पूर्ण आध्यात्मिक वचन कहता है—

‘स्स्यमिव मर्त्यः पञ्चते सस्यमिवाजायते पुनः ॥’
(कठो० १।२।६)

फिर पितृआज्ञाको शिरोधार्य करके यम-सदन पहुँचकर, नचिकेता यमराजके प्रवासके कारण तीन रात्रियोंतक उपवास करता है । यमराजके आगमनपर वैदिक परम्परामे अनुप्राणित यमपन्नी ब्राह्मण अतिथिके महत्त्वको प्रतिपादित करते हुए तकाल सूर्य-पुत्र यमराजमे कहती है—‘सूर्यपुत्र ! स्वय अनिदेवता ही ब्राह्मण अतिथिके रूपमे घरपर प्रवेश करते हैं । अतः सज्जन मनुष्य अर्य-पादादिके द्वारा उसकी शान्ति करते हैं । अतः आप भी जल ले जाइये; क्योंकि जिसके घरपर ब्राह्मण अतिथि बिना भोजन किये रहता है, उस मन्दबुद्धि पुरुषकी ज्ञात और अज्ञात बस्तुओंकी प्रातिकी इच्छाओ, उनके संबोगसे प्राप्त होनेवाले यागादि इष्ट एवं दद्यानादि पूर्त कर्मकी फल तथा समस्त पुत्र और पशु आडिको वह नष्ट कर देता है—

वैश्वानरः प्रविशत्यतिथिर्वाहणो गृहान् ।
तस्यैताऽशान्तिं कुर्वन्ति हर वैवस्वतोदकम् ॥
आशाप्रतीक्षे संगतं सूचृतां च
इष्टापूर्ते पुत्रपशुंश्च सर्वान् ।
एतद् ब्रुड्के पुरुषस्यात्पमेधसो
यस्यानन्दन् वसति ब्राह्मणो गृहे ॥
(कठो० १।२।७-८)

अतिथिके उपवास शान्त्यर्थ आचार्य यमराज जब तीन वर्दान माँगनेका आदेश देते हैं तो पितृपरितोपके रूपमे प्रथम वरके लिये नचिकेता कहता है—‘यमराज ! जिससे मेरे पिता बाजश्रबन्स् मेरे प्रति शान्तसंकल्प, प्रसन्नचित्त और क्रोधरहित हो जायें तथा आपके मेजनेपर मुझे

पहचानकर बानचीत करें—यह मे आपके द्विये हुए तीन वरोंमेसे पहला वर माँगता हूँ—

शान्तसंकल्पः सुमना यथा स्या-
द्वीतमन्युर्गांतमो माभि मृत्यो ।
त्वत्प्रसृष्टं माभिवदेत्प्रतीत
पतत्वयाणां प्रथमं वरं ब्रुणे ॥
(कठो० १।१।१०)

द्वितीय वरके रूपमे नचिकेता स्वार्णके सावनभूत अनिविद्याको माँगता है, जिसे जानकर देबतालोग अमरत्व प्राप्त कर लेते हैं । अनिविद्याके रहस्यको उपदेशित वर पुनः उसके अनुरूप श्रवणसे संतुष्ट हो आचार्य यमराज अनिरिक्त वर प्रदान करते हुए उस अनिविद्याको नचिकेता अनिविद्याके नामसे प्रयित होनेका आशीर्वाद दंकर एक विचित्र रत्नोंकी माला प्रदान करते हैं ।

तृतीय वरके रूपमे आत्म-विद्याके रहस्यकी याचना करते हुए नचिकेता कहता है—‘आचार्य ! मेरे हुए मनुष्यके विश्वमे जो यह संशय है कि आत्मा है या नहीं—कुछ लोग कहते हैं कि यह आत्मा रहता है तथा दूसरे कहते हैं कि यह नहीं रहता है तो आपके द्वारा उपदेशित मै इस रहस्यमयी विद्याको भली-भाँति समझ लूँ—

येयं प्रते विचित्रित्सा मद्वृष्टे-
स्तोत्येके नामभस्तीति चैके ।
षतहिंचामनुरिष्टस्त्वयाहं

वराणासेप वरस्तृतोयः ॥
(कठो० १।१।२०)

इस तृतीय वरकी गम्भीरता एवं सूक्ष्मताको प्रतिपादित कर तथा इसके अतिरिक्त प्रेयके सर्वपूर्ण साधनोंके जैसे—मनुष्यलोकके दुर्लभ भोगकी सामग्रियाँ रथ, घोड़े इत्यादि—प्रलोभनोंके देनेके बाद भी अध्यात्म-भाव सम्पन्न नचिकेता अन्ततः यह कह देता है—‘तवैव वाहास्त्व बृत्यर्गते ।’ और अध्यात्म-विद्याके रहस्यको तृतीय वरके रूपमे जाननेका आग्रह करता है ।

इस प्रकार नचिकेताके वैराग्य-भाव, अनासक्ति एवं निष्काम भावनाको देखकर संसारमे प्रचलित श्रेय और प्रेय कि वा निद्या और अविद्या अपरनामधेय ज्ञान और

अज्ञानका प्रतिपादन कर यमराज नचिकेताके विशुद्ध मति एवं धैर्यकी प्रशंसा करते हुए कहते हैं—

नैपा	तर्कण	मतिरापनेया
	प्रोक्तान्येनैव	सुजानाय प्रेष्ट ।
यां	त्वमापः	सत्यधृतिर्वतासि
	त्वाहुड्नो	भूयान्नचिकेतः प्रष्टा ॥
		(कठो० १ २ । १ ०)

नचिकेताकी आध्यात्मिक बुद्धिकी प्रशंसाको उपस्थित कर आमतत्त्वके महत्त्वको प्राप्तिपादित कर उसे ओकार पढ़से अभिहित करते हुए पुनः यमराज कहते हैं—

सर्वे	बेदा	यत्पदमामन्त्रन्ति
	तपाःसि सर्वाणि च यद्वदन्ति ।	
यदिक्लृन्तो	ब्रह्मचर्यं चरन्ति,	
	तत्त्वे पदं संत्रहेण ब्रह्मस्योमित्येतत् ॥	(कठो० १ २ । १ ५)

इस प्रकार प्रस्तुत प्रसङ्गमें हम देखते हैं कि पितृ-भक्तिके बीजसे अद्वृति नचिकेताका जीवन-वृक्ष पितृ-परितोपसे सिचित हो अग्नि-विद्याके रहस्यसे पल्लवित होता हुआ आकर्षक भोगोके अन्नाचातको प्रभावहीन कर आमतत्त्व या परमात्मनत्त्वके फलसे परिपूर्ण हो इस लोकमें एक साझोपान्न पूर्ण आदर्श-चरित्रको उपस्थित करता है।

नीति-ग्रन्थोंका चरित्र-निर्माणकारी उद्घोषन

[पञ्चतन्त्रमें चरित्र-निर्माणके प्रेरक तत्त्व]

(लेखक—डॉ० श्रीसूर्यमणिजी त्रिपाठी, एम० ए०, साहित्याचार्य, पी-एच० डी०)

शाखोकी परम्परामें ही लोकसंप्रहिणी भावनासे प्रेरित होकर नीतिकारोने अनेक नीति-ग्रन्थोंकी रचना की है। इनमें आचार्य विष्णुशर्माद्वारा रचित 'पञ्चतन्त्र' विशेष सरल होनेपर भी वहे महत्त्वका है। यह नीतिग्रन्थ भारतीय जनताके लिये ही प्रेरक नहीं रहा, बल्कि इसकी लोक-प्रियता निश्चयापिनी ही है। यह नात इसके सैकड़ों विदेशी भाषाओंके अनुवादों तथा दो सौसे अधिक संस्कृणोंसे प्रमाणित होती है। * विभिन्न निष्कर्षोंके आधारपर इनिहासकारोने इसकी रचनाका समय १० ३०० पूर्वके लगभग खीकार किया है। कथामुख-खण्डके प्रस्तावनाके रूपमें ग्राम होनेके कारण शेष पॉच तन्मोमें निवद्ध होकर यह 'पञ्चतन्त्र' नामको सफल करता है। कथामुख-भागमें भारतीय परम्परानुसार देवस्मरण इस प्रकार किया गया है—

व्रद्धा	रुद्रः	कुमारो हरि-
	यस्त्रयमा	वह्निरन्द्रः कुधेर-
इच्छादित्यो		सरस्वत्यु-
	इधियुग्नगा	धायुर्वांमुजद्धाः ।

सिद्धा	नद्योऽग्निनौ	श्रीर्दिनि-
	रदितिष्ठुता	मानरथ्यण्डिकाद्यः ।
नेदास्तीर्थानि	यज्ञा	गणवस्तु-
		मुनवः पान्तु नित्यं ग्रष्टाश्च ॥

(श्लोक १३)

इन सबका स्मरण निर्विक्ष प्रन्थकी समाप्तिके साथ दोक्कल्याणकी भावनाको लेकर प्रकट किया गया है। व्यक्तिगत भावनाओंसे उठका लेखकने लोकसंस्कृतकी भावना प्रकट की है। आचार्यने नीनिशाखकी परम्पराका स्मरण ग्रन्थके दूसरे श्लोकमें कर दिया है—

मनवे वाचस्पतये शुक्राय पराशराय ससुताय ।
चाणक्याय च विदुपेनमोऽस्तु नयनालकर्तृभ्यः ॥
स्वकलार्यग्राल्यसारं जगति सदालोक्य विष्णुशमेदम् ।
तन्जैः पञ्चभिरेतत्त्वकार सुमनोहरं गाल्यम् ॥

(२-३)

कथामुखमें ही आचार्य विष्णुशमनि भनु, वृहस्पति, शुक्र, व्यास, पराशर एवं चाणक्यादि नीनिशाखज्ञोंको स्मरण किया है। कथाकारके इस कवितासे स्पष्ट हो

* इसका विश्वमें प्रचारकम देखनेके लिये [Hindi](#) निर्मित नूची देखनी चाहिये।

जाता है कि कथाकार धर्मशास्त्रका पूर्ण पण्डित था। रागी कायाएँ पौच तन्त्रोमें विभक्त हैं। कहते हैं, दत्तिणमें महिलारोप्य नामक नगरमें अमरशक्ति नामक एक राजा था। उसके ग्रहणक्ति, उप्रशक्ति और अनन्तशक्ति नामके तीन पुत्र थे। ये तीनोंही महामूर्ख थे। उसने इन वाल्मीकी सुवुद्र बनानेके लिये विष्णुशर्मा नामक विद्वान्को इन्हें सौंप दिया था। वे कथा सुनकर सुवुद्र बने। नीतिकारने अपने प्रन्थकी उपयोगितापर बल देने हुए लिखा है—

अधीते य इदं नित्यं नीतिद्वास्त्रं शृणोति च ।
न पराभवमास्त्वानि शकादपि कदाचन ॥ १७ ॥

इस फलश्रुतिके साथ कथामुखभाग समाप्त हो जाता है। शेष प्रन्थ मित्रभेद, मित्रसम्प्राप्ति, काकोद्धकीय, लब्धप्रणाश एवं अपरीक्षितकारक नामक पौच तन्त्रोमें विभक्त हैं। पौचों तन्त्रोंको मिलाकर ७१ कथाएँ हैं। इन कथाओंमें से २२ मित्रभेद, ८ मित्रसम्प्राप्ति, १६ काकोद्धकीय, १२ लब्धप्रणाश एवं १३ कथाएँ अपरीक्षितकारक तन्त्रमें आयी हैं। इनमें से ४५ कथाओंमें पशुओं एवं पक्षियोंको पात्र बनाया गया है। शेष २६ कथाओंमें मनुष्याओंको पात्र बनाया गया है। * स्मृतियोंके अध्ययनसे नीरसतापूर्वक राजकुमारोंको सुशिखित किया जा सकता था, किंतु इस विशाल साहित्यसे लोकव्यवहारके रूपमें प्रस्तुत करना साधारण कार्य न था। इसी भावनासे प्रेरित होकर कवीकारने साहित्यमें लालित्यका समावेश किया। कथाओंके वीच-वीच नीतिकारोंका भी अनेक स्थलोंमें प्रन्थकारने स्मरण किया है। अस्तु! यहाँ हमें कथाके मात्र उन्हीं अंशोंपर विचार करना है, जो आचरणप्रेरक हो। इसमें नीतिकारके लिये पिशुनकर्म महान् दोषके रूपमें खीकार हुआ है। इसका मित्रभेद नामके प्रयम तन्त्रके प्रारम्भमें ही—‘पिशुनेत्तानि लुभ्येन जम्बुकेन विनाशितः’ कहकर पिशुन-कर्मको अनि गर्हित कहा गया है।

* इसके अनेक संस्करणोंमें कथासंख्याओंमें कुछ भिन्नता है। सबमें निर्णयसागरप्रेसका संस्करण विशेष प्रामाणिक है।

इसके बाद विना कामके काम करनेवाले व्यक्तिको अपने आप ही नष्ट हो जाना निर्दिष्ट है। उथा, मटिरापान और कामवासनाओं निन्दनीय तथा द्वितीयनमें वाधक कहा गया है। धनोपार्जनके लिये कभी भी मनुष्यको अनीनिका सहाया नहीं देना चाहिये; क्योंकि अन्यायसे अर्जित किया हुआ धन नष्ट तो हो ही जाता है, अर्जनकर्ता ख्यात भी नष्ट हो जाता है। इस काल्य कथाकारने धनोपार्जनके लिये—‘भिक्षया, नृपसंवयः, कृपिकर्मणा, विद्योपार्जनेन, व्यवहारण, विष्णुकर्मणा वा’ कहकर नीतिपूर्वक धन अर्जित करनेमें लिये कड़ा है। नीतिके अनुसार कभी भी किसी व्यक्तिपर पूर्ण विश्वास कर अपनी गुप्त जानकारी नहीं देनी चाहिये। वर्दीपर असत्य-भावणगर भी रोक लगायी गयी है। प्रत्येक स्थानपर एक-जैसी ही नीतिका पालन नहीं करना चाहिये। देवताओं और राजके समझ योंडा भी छृष्ट नहीं बोलना चाहिये। अनिविसन्कालपर धल देने हुए कहा गया है कि अनिविसा खागत करनेसे अग्नि, आसन-दान करनेसे इन्द्र, चरण बोनेसे पितर और अर्ध देनेसे शिवजी प्रसन्न हो जाते हैं। कासुक नारियोंकी भर्मना करते हुए कथाकारने लिखा है—

अन्तर्विष्मया ह्यता वहिश्चैव मनोरमाः ।
गुञ्जाफलसमाकारा योपितः केत निर्मिताः ॥ २०२ ॥

लियोंके अन्तरद्ध और वहिरङ्ग भावोंको स्पष्ट करनेके लिये मापनेकी सबसे ढोयी इक्काई गुञ्जाको ग्रहण कर कथाकारने कामिनीसे सदा भवेन रहनेके लिये कहा है। इतना कहनेपर भी खीकी रक्षाके लिये सदा तत्पर रहनेके लिये भी कहा गया है। गौ, ब्राह्मण, स्वामी, खी और स्थानके निर्मित जो लोग प्राणयाग करते हैं, उन्हें सनातनलोक प्राप्त होता है। किसीको भूमि, मित्र और सुवर्णके लिये ही मुद्रामिसुख होना चाहिये। उदरपोषण-की प्रमुखतापर वल देते हुए कथाकारने कहा है कि ‘उदरपोषणके लिये मनुष्य असत्य बोलता है, असेव्यकी

सेवा करता है, विदेश जाता है। किसीका जो स्वभाव बन गया है, वह अपरिवर्तनीय है। पानीको चाहे जितना गर्म कर दिया जाय, पर कुछ देर बाद वह अपने स्वाभाविक गुण ठण्डेपनमे बदल जायगा।' सेवक और पतिकी तुलना करते हुए कहा गया है—

सेवकस्य पतेर्यद्विव्ययः पापधर्मजः ॥

सेवक सब कुछ पापके निमित्त करता है और स्वामी धर्मके लिये, यही दोनोंमे अन्तर है। इसमें जहाँ मित्रद्वोहको जघन्य अपराव कहा गया है, वहाँ शत्रुताको प्रेम या उपेक्षादिसे जैसे-तैसे दूर करनेकी बात भी कही गयी है। अपनी जातिका कभी अनिष्ट नहीं करना चाहिये। इसमें धर्मबुद्धिकी परिभाषा करते हुए कहा गया है—

**मातृवत् परदाराणि परद्व्याणि लोष्टवत् ।
आत्मवत् सर्वभूतानि वीक्षन्ते धर्मबुद्धयः ॥**
(१।४३५)

धर्मबुद्धियोंके लिये परखी माता, परघन मिट्ठी और सभी प्राणी आत्मवत् ही दिखायी पड़ते हैं। मित्र-सम्प्राप्तिमे प्रीतिके छः लक्षण बताये गये हैं—

**ददाति प्रतिगृह्णाति गुह्यमाख्याति पृच्छति ।
भुङ्गके भोजयते चैव पड़विधं प्रीतिलक्षणम् ॥**
(पञ्च० २।५१, स्कन्दपु० ६। २४१। १४६, शुक्लसत्ति० ६। ६० आदि)

देना-लेना, गुह्य बात कहना, और पूछना, खाना-खिलाना प्रीतिके छः लक्षण कहे गये हैं। मनुष्यके लिये तीन कार्य वर्ज्य हैं—

**अयशः प्राप्यते येन येन चोपगतिर्भवेत् ।
स्वर्गाच्च भ्रंशयते येन तत्कर्म न समाचरेत् ॥**
(२।११५)

अपयश, दुर्गति और स्वर्गभ्रंशका कार्य मनुष्यको नहीं करना चाहिये। शत्रु और रोगको कभी भी नहीं बढ़ाना चाहिये। इनपर ध्यान न देनेसे ये विनाशके कारण बनते हैं। कथाकारने कहा है—

य उपेक्षेत शत्रुं स्वं प्रसरन्तं यद्वच्छया ।
रोगं चालस्यसंयुक्तः स शनैस्तेन हन्यते ॥
(३।२)

शत्रु और रोगकी यदि उपेक्षा की जाती है तो ये धीरे-धीरे इतना प्रभावपूर्ण हो जाते हैं कि मृत्युका कारण बनते हैं। इसी प्रकार खी, शत्रु, कुमित्र और वेश्याओंको भी कथाकारने मृत्युकारक कहा है—

**खीणां शत्रोः कुमित्रस्य पण्यस्त्रीणां विशेषतः ।
यो भवेदेकभावेन न स जीवति मानवः ॥**
(३।६२)

इन चारोंसे मित्रता करनेवाला कभी भी जीवित नहीं बच सकता। प्राण और धनकी रक्षा प्रत्येक स्थितिमें मनुष्यको करनी चाहिये—

**सर्वनाशे च संज्ञाते प्राणानामपि संशये ।
अपि शत्रुं प्रणम्यापि रक्षेत् प्राणान् धलानि च ॥**
(४।२२)

'प्राणनाशकी स्थितिमें शत्रुको भी प्रणाम कर प्राण और धनकी रक्षा करनी चाहिये।' इस प्रकार 'पञ्चतन्त्रमें राजनीति आदिके साथ लोकनीतिका निर्वारण है। कहानियोंके अधिक पात्र पशु-पक्षी हैं। मार्कंडेयपुराणके अधिकांश भागके वक्ता पक्षी ही है। इससे यह प्रमाणित होता है कि मनुष्य तो विशेष बोधयुक्त प्राणी है, अतः वह नीतिगत विषयोंमें पशु-पक्षियोंकी अपेक्षा विज्ञ हो, यहो इट है।

यद्यपि ग्रन्थके कथामुख-भागमे अमरशक्ति नामके राजाके पुत्रोंको ज्ञानवान् बनानेके लिये इसके आचार्य विष्णुशर्माद्वारा रचनाकी बात है, किंतु रचनाके उद्देश्यके प्रतिपादनमें कथाकार यह प्रतिज्ञावाक्य भी दुहराता है कि संसारमे अल्प ज्ञान रखनेवालोंके श्रेयके लिये यह ग्रन्थ भूतलमे प्रवृत्त रहेगा। इससे यह प्रमाणित हो जाता है कि ग्रन्थकी रचना सर्वसामान्य जनोंके कल्याणकी भावनासे अनुप्राणित होकर ही की गयी है।

* यह श्लोक गरुडपुराण १। १११। १२, स्कन्दपुराण, ब्रह्मखण्ड, धर्मराण्य २। ११। ९, हितोपदेश १। १४ तथा चाणक्यनीति १२। १४ आदिसे भी प्राप्त होता है।

चरित्र-निर्माणकी महत्ता

(लेखक—डॉ० श्रीविद्याधरजी धसाना, एम० ए०, एम० ओ० एल०, पी-एच० डी०, शास्त्री, साहित्याचार्य)

चरित्रवान् मनुष्य आत्मज्ञानका अधिकारी होता है। जो दुराचारी है, जिसकी इन्द्रियों और चित्त शान्त नहीं हैं, वह ज्ञानी होकर भी आत्माका साक्षात्कार नहीं कर सकता ।^१ गोखामी तुलसीदासजीने चरित्रवान् व्यक्तिको भगवान् रामके समान देखा है। इसी दृष्टिसे उन्होंने कहा—‘जिस मनुष्यके हृदयपर परकीय नारीके नयन-ब्राण नहीं लगते, जो क्रोधरूपी अन्धकारसे भरी रात्रिमें जागता रहता है और जिसके गलेमें लोभकी रस्सी नहीं बँधी है, प्रभो ! वह तो आपके समान ही है’— नारि नयन सर जाहि नलागा। धोर क्रोध तम निसि जो जागा ॥ लोभ पाँस जेहि गर न बँधाया । सो नर तुम्ह समान रघुराया ॥

(मानस ४ । २० । २-३)

अतः चरित्रनिर्माणकी मानवमात्रको बड़ी आवश्यकता है।

चरित्र क्या है ? ‘चर’ धातुसे ‘इत्र’ प्रत्ययद्वारा ‘चरित्र’ और आड़ उपसर्गपूर्वक चर धातुसे ल्युट् प्रत्ययसे आचरण पद बनता है। किसीकी भी आचरणों और वृत्तियोंकी चरित्र संज्ञा है। मनुष्यके बुरे कामों तथा निकृष्ट वृत्तियोंको दुश्वरित्र कहा जाता है। बादरि नामके आचार्यने चरित्र शब्दसे सुकृत और दुष्कृत दोनोंका ही ग्रहण किया है—‘सुकृतदुष्कृते एवेति तु वादरिः’ (ब्रह्मसूत्र ३ । १ । ११)। आचार्य शंकरने भी चरण, अनुष्ठान और कर्मको पर्यायवाचक माना है—‘चरणमनुष्ठानं कर्मत्यनर्थान्तरम्’ (ब्र० सू० ३ । १ । ११ शा० भा०)। अतः चरित्रके अन्तर्गत शुभ और अशुभ दोनों प्रकारके कर्मोंके और उत्कृष्ट तथा निकृष्ट दोनों वृत्तियोंके जौते हुए भी चरित्र शब्द शुभ कर्मों और उत्कृष्ट वृत्तियोंपर ही रुढ़ है। इसीलिये किसी शुभ कर्म

करनेवाले उदात्त वृत्तिके मानवको ही चरित्रवान् कहा जाता है। जब सगरने ऋषिसे गृहस्थ मनुष्योंके लिये सदाचार जाननेकी कामना की—‘गृहस्थस्य सदाचारं श्रोतुमिच्छाम्यहं मुने ।’ (विष्णुपुराण ३ । ११ । १) तो मुनिने सत्य भाषण, मधुर भाषण, द्रुष्टकी संगति न करना, उदय और अस्तके समय सूर्यको न देखना, किसीके धनका अपहरण न करना, नग्न होकर स्तान न करना इत्यादि कर्तव्य कर्मोंको ही सदाचार कहा ।

वस्तुतः चरित्रका ताना-भाना शीलपर आधारित है। हारीतने तेह प्रकारके शील माने हैं—‘आस्तिकता, देव-पितृ-भक्ति, सज्जनता, किसीको कष्ट न देना, ईर्ष्या न करना, कोमल ख्यावका होना, किसीके प्रति भी क्रूर न होना, मधुर बोलना, सबको मित्रकी दृष्टिसे देखना, कृतज्ञ होना, शरण देना, पराये दुःखमें करुणार्द्द होना तथा शान्त-चित्त रहना’। धर्मशास्त्रोंने अहिंसा, सत्य, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय-निप्रह, दान, दया, दम और क्षान्ति नामकी वृत्तियोंको धर्मका साधन स्वीकार किया है—

अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिप्रहः ।
दानं दया दमः क्षान्तिः सर्वेषां धर्मसाधनम् ॥
(याज्ञवल्क्यस्मृति १ । १२२)

ये ही वृत्तियाँ सच्चारित्रियके भी साधन हैं। वस्तुतः धर्म और सच्चारित्र अन्योऽन्याश्रयी हैं। चरित्रनिर्माणके लिये सात्त्विक भोजन, सत्सङ्ग तथा सद्ग्रन्थोंका स्वाध्याय करना चाहिये; इससे बुद्धि सात्त्विक होती है। सात्त्विक बुद्धिके विवर्तमें वह सद् और असद्, प्रवृत्ति और निवृत्ति, कार्य और अकार्य, भय और अभय तथा बन्ध और मोक्ष—सब कुछ स्यं ही जाना जा सकता है—

१-कठोपनिषद् १ । २ । २४ २-द्रष्टव्य मनुस्मृति २ । ६ की मन्वर्थमुक्तावलिङ्गाख्या ।

प्रचुर्ति च निचृति च कार्याकार्ये भयाभये ।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥
(गीता १८।३०)

जिन पदार्थोंके भक्षणसे बुद्धिमें राजसिक और तामसिक विवर्त प्रस्तुत होता है, उनसे सर्वथा दूर रहना चाहिये । कुत्सित भोजन करनेसे तथा नीचोंके सहवाससे बुद्धि भी तामसी हो जाती है । इससे मनुष्य हिंसक, लुण्ठक, आततायी, दुराचारी, व्यभिचारी, मिथ्याभापी, पिश्चित और परनिन्दक बन जाता है । अतः बुराईसे बचनेके लिये मनुष्यको बुराईके मार्गसे बचना चाहिये । जो अपने चरित्रका निर्माण चाहते हैं, वे सर्वप्रथम अपने भोजनपर नियन्त्रण रखते हैं, सज्जन पुरुषोंके साथ बैठते हैं और अश्लील साहित्य कभी भी नहीं पढ़ते । यह बात बहुत प्रसिद्ध है—‘जैसा अन्न वैसा मन ।’

इस सम्बन्धमें एक कथा इस प्रकार है—एक राजा-का एक बड़ा विश्वासपात्र सेवक था । जब कभी राजा शयन करता तो वह सेवक तलवार लेकर पहरा देता । एक दिन जब राजा सो रहा था तो सेवकके मनमें बुरे विचार आने लगे और उन्हीं नीच विचारोंके कारण उसने प्रसुप राजाके शरीरपर प्रहार करने और उसके गलेमें पड़े रत्नजटित सुवर्णके कण्ठेको लेनेका निश्चय किया । उसने नंगी तलवार उठायी । पर ज्यो-ही उसने प्रसुप राजाके शरीरपर प्रहार करना चाहा, तबतक पीछेसे किसी अन्य सेवकने उसे पकड़ लिया । उस सेवकने राजाको जगाकर उस दुष्ट सेवकके दुष्कर्मकी

सूचना दी और राजासे प्रार्थना की कि उस दुष्ट सेवकको प्राणदण्ड दिया जाय । किंतु राजा बड़ा चरित्रवान् और विचारशील व्यक्ति था । उसे लेशमात्र भी क्रोध न आया । उसने सोचा कि यह सेवक समस्त जीवन मेरी निष्कपट सेवा करता रहा, अतः आज अवश्य इसने कुछ निन्दित भोजन किया होगा, जिसने इसके विचारोंमें इतना परिवर्तन किया । राजाने उसके भोजनके विषयमें पूछा तो उसने कहा कि उसने एक पेड़के नीचे बैठकर वह जली हुई बासी खिचड़ी खायी, जिसे ऊपरसे उस पेड़पर बैठा राक्षस देख रहा था । राजा तत्क्षण ही समझ गया कि यह दोप उस निष्कृष्ट भोजनका ही है, इसीलिये राजाने उसे तीन दिनतक उपवास रहनेका दण्ड दिया । तीन दिनके उपवाससे उस सेवकके मस्तिष्कमें बुरे भोजनसे उत्पन्न विचार मिट गये और वह पहलेकी ही भाँति फिरसे राजाकी निष्कपट सेवामें तल्लीन हो गया । अतः चरित्रके निर्माणमें भोजनका सविशेष महत्व है ।

इस प्रकार सिद्ध हो जाता है कि शील, सदाचार, धर्म और सच्चरित्र परस्पर एक दूसरेपर निर्भर हैं । चरित्रवान् व्यक्ति ही सुशील-सदाचारी और धार्मिक बन सकता है, जब कि एक सुशील, सदाचारी और धार्मिक व्यक्ति ही चरित्रवान् माना जा सकता है । मानवीय जीवनके लिये जो धर्म, अर्थ, काम और मोक्षरूप उद्देश्य निश्चित है, उनकी प्राप्ति मनुष्यको सञ्चारित्रसे ही हो सकती है ।

पवित्र चरित्रकी अभिव्यक्ति

(रचयिता—श्रीअयोध्याप्रसादजी पाण्डेय; 'निर्मल')

सोधिये ! ज्योति जीवन ! सचिर चृत्तसे ।
शुभ्र सत्कार्य ! यशमें बदल जायगा ।
भावकी व्यञ्जनामें सरसता रहे,
वाग्मधुरता न उससे पृथक हो कहीं ॥

प्रेम-पथपर सु-निर्मल ! परमशिष्ट यों,
पाँच रक्खें ! उमचकर बढ़ायें नहीं ।
मार्ग जिंगध है, खूब सँभल कर चलें,
पूर्ण संतोषसे द्वेष जल जायगा ॥

सती मदालसा

आदर्श विदुषी, सती एवं आदर्श माता मदालसा गन्धर्वराज विश्वावसुकी पुत्री थी। उसका विवाह राजा शत्रुघ्निके पुत्र ऋतध्वजके साथ हुआ था। दोनोंका दाम्पत्य-जीवन बड़ा सुखमय था। सती मदालसा अपनी सेवासे सास-ससुर तथा पतिको सदा संतुष्ट रखती थी। राजकुमार ऋतध्वजको भगवान् सूर्यका दिया हुआ एक दिव्य अश्व 'कुवलय' प्राप्त हुआ था। उसकी आकाश-पाताल सर्वत्र अवाध गति थी। उसका आरोही अजेय एवं दुर्धर्ष होता था। पिताकी आज्ञासे राजकुमार ऋतध्वज, जिसका दूसरा नाम उस अश्वकी सवारीसे कुवलयाश्व भी था, उस घोड़ेपर सवार होकर विप्रोंके रक्षाहेतु पृथ्वीपर विचरण करता था। एक दिन वह एक आश्रमपर पहुँचा, जहाँ इसके पूर्व वैरी दैत्य पातालकेतुका भाई तालकेतु आश्रम बनाकर मुनिवेषमें रहता था। राजकुमारने उसे मुनि जानकर प्रणाम किया। उस कपटापसने कहा—
राजकुमार! मैं धर्मके लिये यज्ञ करना चाहता हूँ। पर दक्षिणाके लिये मेरे पास धन नहीं है। तुम अपने गलेकी रत्नमाला मुझे दे दो और यहाँ मेरे आश्रमकी रक्षा करो। मैं जलमें वरुणदेवकी स्तुति कर शीघ्र वापस आऊँगा। यह कहकर वह माला-सहित जलमें धुसा और अदृश्य होकर राजा शत्रुघ्निके पास प्रकट हुआ। वहाँ राजासे वह बोला—'महाराज! आपका पुत्र दैत्योंके साथ युद्ध करते हुए मारा गया है। यह उसकी रत्नमाला है।' यह कहकर वह लौट गया।

अब राजमहलमे कुहराम मच गया। मदालसाने पतिमरण सुनकर प्राण-त्याग कर दिया। उधर तालकेतु यमुनाजलसे प्रकट होकर राजकुमारसे बोला—'मैं कृतज्ञ हुआ। अब आप नगरको प्रस्थान करें।' राजकुमारने घर आकर जब सारा समाचार सुना तो शोकाकुल हो मदालसाके

लिये तिलाङ्गलि दी और प्रतिज्ञा की कि मैं मदालसाके अतिरिक्त किसी अन्य खीसे विवाह या सुखोपभोग नहीं करूँगा। वे खी-सुखसे विमुख हो अपने मित्रोंके साथ मन वहलाने लगे। उनके दो मित्र नागराज अश्वतरके पुत्र थे, जो मनुष्यरूपमे पृथ्वीपर नित्य विचरण करने आते थे और राजकुमार ऋतध्वजके साथ क्रीड़ा-भनोरंजन करते थे। उन्होंने अपने पिता अश्वतरसे राजकुमारकी स्थिति बतलायी। नागराजने भगवान् शंकरकी आराधना कर मदालसाको पुत्रीके रूपमे प्राप्त कर लिया। उसने अपने पुत्रोंके द्वारा ऋतध्वजको बुलाकर मदालसाकी पुनः उत्पत्तिकी कथा कह सुनायी और मदालसाको उसे सौंप दिया। उसी समय उसका अश्व भी वहाँ प्रकट हो गया। अश्वारूढ़ हो राजकुमार पल्नीसहित अपने नगर लौट आया और नगरमे बड़ा आनन्दोत्सव मनाया गया।

कालान्तरमें पिताके स्वर्ग सिवारनेपर ऋतध्वज राजा हुए। रानी मदालसाके प्रथम पुत्रका नाम गुजाने 'विक्रात' रखा। नाम सुनकर मदालसा हँसने लगी। कालक्रमसे दो पुत्र और उत्पन्न हुए, जिनका नाम राजाने सुवाहु और शत्रुमर्दन रखा। इन दोनोंके नामपर भी मदालसाको हँसी आयी। वह इन तीनोंपुत्रोंको लोरियाँ गानेके व्याङ्गसे विशुद्ध आत्मज्ञानका उपदेश देती थी—

शुद्धोऽसि न बुद्धोऽसि नाम निरञ्जनोऽसि
संसारमायापरिवर्जितोऽसि ।
संसारस्वप्नं त्यज मोहनिद्रां
मदालसा वाक्यसुवाच्च पुत्रम् ॥

लोरी गाती हुई मदालसा पुत्रसे कहती है—'अरे। तू नित्य शुद्ध है, ज्ञानखरूप है, निर्विकार है, संसारकी मायासे निर्लिप्त है। अतः संसारमें जन्म-मरणके चक्रमें डालनेवाली इस मोहनिद्राका त्याग कर जाग्रत् हो।'

शुद्धोऽसि रे तात न तेऽस्ति नाम
कृतं हि ते कल्पनयाधुर्मैव ।
पञ्चात्मकं देहमिदं न तेऽस्ति
नैवास्य त्वं रोदिषि कस्य हेतोः ॥
(गार्ग० २६ । ११)

‘तात ! तू शुद्ध आत्मा है, तेरा कोई नाम नहीं है । यह कल्पित नाम तो तुझे अभी मिला है । यह शरीर भी पञ्चभूतोंका बना हुआ है । न यह तेरा है, न तू इसका है । तो फिर किसलिये रो रहा है ?’

इस प्रकारके आत्मतत्त्वके ज्ञानोपदेशसे रानी मदालसा अपने बढ़ते हुए पुत्रोंको ममताशून्य करने लगी । कुछ दिनोंके बाद चौथा पुत्र हुआ । जब राजा उसका नामकरण करने चले तो देखा कि मदालसा पूर्ववत् मुस्करा रही है । राजाने कहा—‘मेरे नाम रखनेपर तुम हँसती हो तो लो अब इस पुत्रका नाम तुम्हीं रखो ।’ रानीने कहा—‘आज्ञा स्वीकार है । इसका नाम अल्क रखती हूँ ।’ राजा हँस पड़े—‘अल्कका क्या अर्थ है ?’ मदालसा बोली—‘नामसे आत्माका कोई सम्बन्ध नहीं है । संसारका व्यवहार चलानेके लिये कोई नाम कल्पना करके रख लिया जाता है । वह संज्ञामात्र है, संकेतात्मक शब्द है । उसका कोई अर्थ नहीं । जैसे आपने तीन नाम रखे, उनका आत्मासे कोई सम्बन्ध नहीं है, वैसे ही इस अल्कका इसकी आत्मासे कोई सम्बन्ध नहीं है ।

राजा निरुत्तर हो गये । जब मदालसा उसे भी पालने-में सुलाकर झुलाते समय लोरी-गानद्वारा आत्मतत्त्वका उपदेश करने लगी, तब राजाने आपत्ति करते हुए कहा—‘देवि ! इसे भी ज्ञानोपदेश कर क्यों मेरी वंशपरम्पराका उन्मूलन करनेपर तुली हो ? इसे प्रवृत्तिमार्गमें लगाओ और उसके अनुकूल उपदेश दो ।’ मदालसाने । तिकी आज्ञा शिरोवार्य कर ली और उसने अल्कको वचपनमें ही व्यवहारशाला, चारित्र्य और राजनीतिका पूर्ण पण्डित बना दिया । उसके उपदेश ये थे—

धन्योऽसि रे यो वसुधामशत्रु-
रेकश्विरं पालयितासि पुत्र ।
तत्पालनादस्तु सुखोपभोगो
धर्मात् फलं प्राप्स्यसि चामरत्वम् ॥
(मा० पु० २६ । ३५)

‘वेदा ! तू धन्य है, जो शत्रुरहित होकर एकच्छत्र चिरकालतक इस वसुन्धराका पालन करता रहेगा । पृथिवीके पालनसे तुझे सुखोपभोगकी प्राप्ति होगी और उस धर्मके फलस्वरूप तुझे अमरता मिलेगी ।’ तुम अपने चारित्रिको इस प्रकार बनाना—

धरामरान् पर्वसु तर्पयेथाः
समीहितं वन्धुपु पूरयेथाः ।
हितं परस्मै हृदि चिन्तयेथा ।
मनः परस्त्रापु निर्वत्येथाः ॥
(वही, श्लोक ३६)

‘पर्वों, उत्सवोंपर ब्राह्मणोंको भोजनसे तृप्त करना, वन्धु-ब्रान्ववोंकी इच्छापूर्ति करना, अपने हृदयमें परोपकारका ध्यान रखना और मनको परायी ख्ययोंसे विमुख रखना ।’ चारित्र्यके इन गुणोंको अपनाकर ही तुम श्रेष्ठ राजा हो सकते हो ।

सदा मुरारिं हृदि चिन्तयेथा-
स्तद्ध्यानतोऽन्तःपद्मरीज जयेथाः ।
मायां प्रवोधेन निवारयेथा ।
ह्यनिन्यतामेव विचिन्तयेथाः ॥
(मार्कण्डेयपुराण २६ । ३७)

‘अपने हृदयमें सदा हरिका चिन्तन करना, उनके ध्यानसे अन्तःकरणके काम-क्रोधादि छः शत्रुओंको जीतना, ज्ञानके द्वारा मायाका निवारण करना, संसार असार-अनित्य है—यह पूरा ध्यान रखना ।’

अर्थागमाय ध्यतिपाञ्जयेथा
यशोऽर्जनायार्थमपि व्ययेथाः ।
परापवादश्ववणाद्विभीता
विपत्समुद्राजनमुद्धरेथाः ॥
(वही, श्लोक ३९)

‘धन-प्राप्तिके लिये राजाओंको जीतना, यश प्राप्त करनेके लिये धन भी व्यय कर देना । परायी निन्दा सुननेमें उरते रहना तथा विपत्तिके समुद्रसे लोगोंका उद्धर करना ।’ सदा असहायोंकी सहायता करना । ये चरित्रके उत्तम गुण हैं ।

राज्यं कुर्वन् सुहृदो नन्दयेथाः

साधून् रक्षस्तात् यश्चैर्यजेथाः ।

दुष्टान् निघ्नन् वैरिणश्चाजिमध्ये

गोविप्रार्थं वत्स मृत्युं ब्रजेथाः ॥

(वही ४१)

‘तात् । राज्य करते हुए मित्रोंको प्रसन्न करना, साधुओंकी रक्षा करते हुए यज्ञोंसे हरियजन-पूजन करना, और पुत्र ! रणक्षेत्रमें दुष्ट वैरियोंका विनाश करते हुए गौ और ब्राह्मणोंके लिये प्राणोंकी वाजी लगा देना (मृत्युको स्वीकार कर भी गो-ब्राह्मणकी रक्षा अवश्य करना) ।’

मदालसासे पूर्ण राजनीनि-ज्ञान प्राप्तकर अल्क धर्म, अर्थ, काममें प्रवीण हो गया । राजा-रानी दोनोंने अलर्कको राजगढ़ी देकर बानप्रस्थ प्रहण किया और भगवान्‌की तपश्चर्यामें लीन हो गये । अलर्कने गङ्गायमुनाके संगमपर अलर्कपुरीको—‘जिसे आज अंडल कहते हैं— अपनी राजधानी बनाया ।

इस प्रकार महासनी मदालसाने अपने विशुद्ध चरित्रबलसे पालनेमें ही अपने बच्चोंको तत्त्वज्ञान, ब्रह्मज्ञान और राजनीतिके व्यावहारिक ज्ञानकी चारित्रिक शिक्षा देकर उनका जीवन उज्ज्वलतर बनाया और स्वयं भी पतिके साथ परमात्म-चिन्तनमें मन लगाकर अल्पकालमें ही मोक्षस्वरूप परमपदको प्राप्त कर लिया । आज चरित्रबलके लिये ऐसे ही भातृ-उपदेशकी आवश्यकता है ।

सती सावित्री

मददेशके राजा अश्वपति धर्मात्मा एवं प्रजापालक थे; पर वे निःसंतान थे । संतानप्राप्तिकी इच्छासे उन्होंने सावित्री (गायत्री) देवीकी आराधना की । उनकी कृपासे राजाको कन्या-रन्नकी प्राप्ति हुई । चूँकि सावित्रीकी कृपासे वह पुत्री प्राप्त हुई थी, अतः उन्होंने उस पुत्रीका नाम सावित्री रखा ।

सावित्री जब सयानी—विवाह-योग्य हो गयी, तब राजाने उससे कहा—‘पुत्रि ! तू अपने योग्य वर स्वयं ढूँढ ले । तेरी सहायताके लिये मेरे वृद्ध मन्त्री साथ जायेंगे ।’ सावित्रीने संकोचके साथ पिताकी आज्ञा स्वीकार कर ली । वह संयमी, चरित्रशील एवं धर्मात्मा पति चाहती थी, अतः राजपर्वियोंके आश्रमों एवं तपोवनको देखने लगी ।

जब सावित्री यात्रासे लौटी तब राजाके पास देवर्षि नारद निराजमान थे । कन्याने देवर्षि-सहित राजाको प्रणाम किया । देवर्षिने राजासे पूछा—आपकी यह

पुत्री कहाँ गयी थी ? यह विवाहके योग्य हो गयी है । इसका विवाह क्यों नहीं कर देते ?

राजाने बताया कि मैंने इसी कामके लिये इसे भेजा था । आप स्वयं पूछ लें कि यह किसे वर चुनकर लौटी है :

नारदजीके पूछनेपर सावित्रीने बताया कि शाल्वदेशके राजा द्वामत्सेन बड़े धर्मात्मा थे । पर वादमें अन्धे हो गये । शत्रुओंने देखा कि राजा अन्धे है और उनका पुत्र अभी बालक है तो उन्होंने उनका राज्य हड्डप लिया । अब राजा पुत्र एवं पतीके साथ वनमें आकर तप कर रहे हैं । उनका पुत्र सत्यवान् वड़ा हो गया है । वह पिताके साथ वनमें ही रहता है; वह मेरे अनुरूप है । मैंने उसे ही पति-रूपमें वरण किया है । देवर्षि नारदने कहा—‘कुमार सत्यवान् सर्वगुणसम्पन्न है, पर उसमें एक दोष ऐसा है, जो सब गुणोंको दबा देता है । वह दोष यह है कि आजसे ठीक एक वर्ष बाद सत्यवान्‌की मृत्यु हो जायगी ।’

सुनते ही राजाने कहा—‘पुत्री सावित्रि ! नारदजी सत्यवान्‌को अल्पायु बताते हैं । अतः तुम फिर जाओ और अन्य किसी उपयुक्त वरको हूँडो ।’

सावित्रीने कहा—‘कन्यादान एक ही बार किया जाता है ।* कोई विचार पहले मनमें आता है, फिर उसे बचनसे कहा जाता है और अन्तमें उसे किया जाता है । इसमें मेरा मन ही प्रमाण है । सत्यवान्‌ दीर्घायु हो या अल्पायु, मैंने उसे मनसे पति मान लिया है । अब किसी अन्य पुरुषका वरण मैं नहीं कर सकती । सचमुच ऐसा करना आर्य-शीलके विरुद्ध है ।’

देवर्षि और राजाने कन्याकी चारित्रिक दृढ़ता देखकर अपनी-अपनी स्त्रीकृति दे दी । राजा अश्वपतिने बड़े धूमधामसे तपोवनमें कन्याका विवाह सत्यवान्‌के साथ कर दिया । विवाहके बाद सावित्रीने पतिके अनुरूप तपस्विनीका वेश धारण कर लिया । वह पति तथा सास-संसुखकी सेवामें संलग्न हो गयी । इस प्रकार जब एक वर्ष बीतनेको हुआ तो तीन दिन पूर्व सावित्रीने व्रत धारण कर लिया । वह रात-दिन एकाप्र ध्यानस्थ बैठी रही । चौथे दिन (जिस दिन सत्यवान्‌का मृत्यु निश्चित थी) प्रातःकाल स्नानादिसे पुनीत हो, उसने विश्रो-गुरुजनोंको प्रणाम किया । उसी समय सत्यवान्‌ समिधाके लिये आश्रमसे निकले । सावित्री भी उनके साथ चल पड़ी । यद्यपि सत्यवान्‌ उसकी निर्बलताके कारण उसे नहीं ले जाना चाहते थे, पर माता-पिताके कहने एवं सावित्रीकी प्रार्थनापर उसे साथ लेते गये ।

मनमें सत्यवान्‌ लकड़ियाँ काट रहे थे कि उनके मस्तकमें पीड़ा होने लगी । वे वृक्षके नीचे सावित्रीकी गोदमें सिर रखकर लेट गये । इतनेमें सूर्यके समान

तेजस्वी एक भयंकर पुरुष वहाँ उपस्थित हुआ । उसे देख सावित्री खड़ी हो गयी और हाथ जोड़कर कातर स्वरमें पूछा—‘आप कौन हैं ? यहाँ कैसे आये हैं ?’ उस पुरुषने कहा—‘मैं यम हूँ । तुम्हारे पतिकी आयु समाप्त हो चुकी है । अतः मैं स्वयं इसे लेने आया हूँ । चूँकि यह धर्मात्मा तथा गुणी है, अतएव मेरे दूत इसे नहीं ले जा सकते थे ।’

यमने सत्यवान्‌के शरीरसे अङ्गूठेके बारावर जीवको पाशमें बाँधकर निकाला और उसे लेकर दक्षिणकी ओर चल पड़े । दुखिया सावित्रीने भी उनका अनुगमन किया । यमने कहा—‘अब तू लौट जा और अपने पतिका अन्तिम संस्कार कर । अब तुम्हें आगे नहीं जाना चाहिये ।’

सावित्री बोली—‘जहाँ मेरे पति जायेंगे, वहाँ मुझे भी जाना चाहिये । तपस्या, पतिभक्ति और आपकी कृपाके प्रभावसे मेरी गति कहाँ रुक नहीं सकती ।’

यमने कहा—‘तुम्हारी पतिभक्ति एवं सत्यनिष्ठासे मैं संतुष्ट हूँ । तुम सत्यवान्‌के जीवनको छोड़कर कोई एक वरदान माँग लो ।’

सावित्रीने वरदान माँगा—‘मेरे अंधे श्वसुरको नेत्र प्राप्त हो जायें और वे बलिष्ठ एवं तेजस्वी हो जायें ।’ यमने कहा—‘एवमस्तु’ और उसे लौट जानेको कहा । सावित्रीने कहा—‘जहाँ मेरे पतिदेव रहें वहाँ मुझे रहना चाहिये । सत्पुरुषोंका एक वाका भी सङ्ग कभी निष्फल नहीं होता ।’ तब यमने प्रसन्न होकर सत्यवान्‌के जीवनको छोड़कर कोई एक और वरदान देनेको कहा । सावित्रीने कहा—‘मेरे श्वसुरका छिना राज्य उन्हे प्राप्त हो जाय ।’ यमराजने कहा—‘एवमस्तु’ और उसे फिर लौटनेको कहा । सावित्री बोली—‘सभी जीवोंपर दया

करना, दान देना सत्पुरुषोंका धर्म है। सभी यथाशक्ति को मलताका वर्ताव करते हैं, पर सत्पुरुष तो शरणागत शत्रुपर भी दया करते हैं। कृपया मुझे पतिदेवके साथ चलने दे।'

यमराजने सावित्रीकी प्रशंसा की और सत्यवान्‌के जीवनको छोड़कर कोई एक और वरदान माँगनेको कहा। सावित्रीने कहा—‘मेरे पिताके कोई पुत्र नहीं हैं। उन्हें वंशवृद्धि करनेवाले सौ पुत्र प्राप्त हों।’ यमराजने ‘एवमस्तु’ कहकर सावित्रीको पुनः लौट जानेको कहा। सावित्री बोली—‘आप धर्मराज हैं, सत्पुरुष हैं, न्यायी हैं। क्या यही आपका धर्म और न्याय है कि पतिव्रता नारीको उसके पनिसे पृथक् कर दें।’ यमराजने सत्यवान्‌के जीवनको छोड़कर उससे एक वरदान और माँगनेको कहा। सावित्रीने कहा—‘सत्यवान्‌के द्वारा मेरे सौ बलिष्ठ एवं पराक्रमी पुत्र हों।’ यमराजने कहा—‘एवमस्तु’ और फिर उसे लौट जानेको कहा। सावित्रीने कहा—‘आपने सत्यवान्‌से मुझे पुत्र होनेका वरदान दिया है, फिर पतिके बिना मैं कैसे लौट सकती हूँ। उनके बिना कैसे आपका वचन (वरदान) सत्य होगा। क्या आप धर्मराज होकर अर्धम करना चाहते हैं या मुझ पतिव्रतासे अर्धम कराना चाहते हैं?’ धर्मराज बोले—‘देवि ! तुम्हारी विजय हुई, मैं हार गया।’ यह कहकर उन्होंने सत्यवान्‌के बन्धन खोल दिये और खयं अन्तर्धान हो गये। सावित्री वृक्षके नीचे पतिके शरीरके पास लौट आयी। पतिके सिरको गोदमे लेकर बैठी ही थी कि सत्यवान् ऑगड़ाई लेकर उठ बैठा और बाते करने लगा। सूर्यास्त हो चुका था। वनमे अन्धकार फैल रहा था। दोनों शीघ्रतासे आश्रमको

चल पड़े। चरित्रिके चमत्कारकी यह घटना सदा स्मरणीय रहेगी।

इधर आश्रममें द्युमत्सेनको दृष्टि प्राप्त हो गयी थी। उन्हें नेत्र-लाभकी तो प्रसन्नता थी, पर पुत्र अभीतक नहीं लौटा, अतः दुःखी भी थे। इतनेमें सावित्री-सत्यवान् आश्रममें पहुँच गये। इन्हें देख सभी प्रसन्न हो उठे। विलभ्वका कारण पूछनेपर सावित्रीने सारी घटना, जो वनमें हुई थी, बता दी। सब उसके पातिव्रत-धर्मकी प्रशंसा करने लगे। पतिव्रता नारी-चरित्रिका यह आदर्श आचन्द्रदिवाकर स्तुत्य रहेगा।

दूसरे दिन शाल्वदेशके राजकर्मचारी आश्रममें पहुँचे। उन्होंने द्युमत्सेनसे कहा—‘महाराज ! आपके शत्रु राजाको उसीके मन्त्रीने मार डाला है। उसकी सेना भाग गयी है। प्रजाने आपको ही राजा बनानेका निश्चय किया है और इसीलिये हमें आपके पास भेजा है। आप राजधानी पधारें और हम सबका पालन करें। सवारियाँ तथा सेना भी साथ आयी हैं।’ राजाने सहर्प मङ्गलघोपके साथ राजधानीको प्रस्थान किया। उनका राजनिलक हुआ। यथासमय सावित्रीके पिता अश्वपतिको सौ पुत्र प्राप्त हुए तथा कालान्तरमें सावित्री-सत्यवान्‌के भी सौ पराक्रमी पुत्र हुए। सावित्री-सत्यवान्‌की कथा अमर हो गयी।

यह था सावित्रीका चरित्रबल, जिसने न केवल अपने मृत पतिको जीवित कर दिया, अपितु अपने माता-पिता, सास-ससुरको भी सर्वथा सुखी बनाया। यमको भी उससे पराजय खीकार करनी पड़ी।

(महाभारत, वनपर्व २९३-९९, अध्यायोंके आधारपर)

चरित्र-निर्माणमें ब्रह्मचर्यकी उपयोगिता

(लेखक—श्रीशिवनाथजी दुवे, एम०काम०, एम०ए०, साहित्यरत्न)

जीवनका आधार ब्रह्मचर्य है। इसलिये जीवनका अधिकांश भाग ब्रह्मचर्यके नियमोंके लिये नियत है। ब्रह्मचर्य-आश्रम पुरुषार्थचतुष्टय (धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष)को प्राप्त करा सकता है, यदि हृदयसे उसे व्रतकी संज्ञा दी जाय। उसका परिपालक इससे अपनी अभीप्सित वस्तुओंको करतल, कर सकता है। यदि उसे^१ यम-नियमोंमें संमिलितकर योगका पालन किया जाय तो साधक शक्ति-सम्पन्न बन सकता है। चरित्र-निर्माणकी आधार-शिला ब्रह्मचर्य है। इसलिये भारतीय मनीषियोंने ब्रह्मचर्यके पालनपर बल देते हुए उसकी मुक्त-कण्ठसे सराहना की और उसे धारण करनेका संदेश विश्वके कोने-कोनेका पहुँचाया। ब्रह्मचर्यका सामान्य अर्थ ‘काम-संयम’ है। पर इसके मूलमें वासनाओं या विकारोंका निरोध भी समाहित समझना चाहिये। जबतक सभी इन्द्रियोंका संतुलित एवं संतोषजनक संयम न हो, तबतक काम-संयम नहीं रखा जा सकता; क्योंकि सभी इन्द्रियाँ अन्योन्याश्रित हैं।

मन ग्याहवाँ करण (इन्द्रिय) है। मनसे विकृत मनुष्य ब्रह्मचर्यका पालन नहीं कर सकता; क्योंकि वासनाओं एवं विकारोंका मनमें उदय होनेपर काम-संयम अत्यन्त कठिन हो जाता है।

ब्रह्मचर्यका शाद्विक अर्थ है—‘ब्रह्मकी खोज’ जो अल्तज्ञानके माध्यमसे ही सम्भव है। अतः मनसा, वाचा तथा कर्मणा समस्त इन्द्रियोंका सभी विषयोंमें संयम ही ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य अर्थात् ब्रह्म या सत्यके शोधमें प्रवृत्त होना अथवा तद्विषयक

आचार ब्रह्मचर्य है। ब्रह्म या सत्यके शोधके लिये विकाररहित होना नितान्त अपेक्षित है। इन्द्रियोंके निग्रह विना अर्थात् ब्रह्मचर्यके अभावमें मन विकाररहित नहीं हो सकता। चरित्र-निर्माणके लिये ब्रह्मचर्यका पालन अनिवार्य है।

ब्रह्मचर्यका पालक—ब्रह्मचारी स्वभावतः साधक होता है। ब्रह्मचर्यके अभावमें आसुरी प्रवृत्तियोंको प्रोत्साहन मिलता है और दैवी प्रवृत्तियोंका विनाश होता है, जब कि चरित्र-निर्माणके लिये दैवी प्रवृत्तियोंसे सुसम्पन्न होना अत्यवश्यक होता है। जीवविज्ञानके विशेषज्ञोंके मतानुसार पश्च जिस सीमातक ब्रह्मचर्यका पालन करता है, मानव उस सीमातक नहीं; क्योंकि पश्च जीवित रहनेके लिये खाता है और मानव खानेके लिये जीवित रहता है। साधकको अपने आहार-विहारपर सदैव पूर्ण संयम रखना चाढ़नीय है। ब्रह्मचर्यका पालन करनेवाले ब्रह्मचारी निर्विकारी होते हैं। वे लोग एक प्रकारसे ईश्वरके ही समान होते हैं। गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने कहा है—

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्टा निवर्तते ॥
(गीता २।५९)

चरित्र-निर्माणके लिये अल्पाहार, उत्तम साहित्य, आदर्श शिक्षा, उपयुक्त मनोरञ्जन, कार्यका निश्चित समय, साधारण पहनावा, रात्रिके प्रथम प्रहरके अन्ततक सोना और ब्राह्मसुहृत्तमें जगना, शुद्ध वातावरण, तन-मन दोनोंका स्थान होना, रहन-सहन इत्यादि सब संतुलित होना चाहिये। सर्वोपरि तथ्य

^१ अहिंसासत्यमस्तेयव्रह्मचर्यापरिग्रहा यमः। (पातञ्जलयोग, साधनपाद ३१)

द्यौचेत्या च तपो दानं स्वाध्यायोपस्थनिग्रहम्। त्रितोपवास्मौनानि स्थानं च नियमा दश ॥

(याज्ञवल्क्यस्मृति)

यह है कि संयमित जीवन व्यतीत करने एवं भगवान्‌को प्राप्त करने हेतु, उनसे सायुज्य लाभकी उत्कट अभिलापाका होना ब्रह्मचारीका प्रमुख कार्य है।

यहाँ चरित्र-निर्माणहेतु ब्रह्मचारीके लिये कुछ आदर्श नियमोंपर विचार किया जा रहा है। जो ब्रह्मचारी अपने आचार्यकी कृपाका पात्र बननेमें सक्षम होता है एवं उनके चरणोंकी छायामें रहकर उनके महान् चरित्रसे तथा पुनीत जीवनसे अनुप्राणित होनेका सुअवसर प्राप्त करनेकी क्षमता रखता है, वही वेदारम्भ-संस्कारसे संस्कृत होकर कम-से-कम पचीस वर्षतक ब्रह्मचर्यके कठिन तपस्याका अनुष्ठान कर पुरुषार्थचतुष्टयकी प्राप्तिहेतु—‘आयुरस्मासु धेहि, अमृतत्वमाचार्याय’ इस श्रुतिवान्यको अङ्गीकार करनेका पात्र बन जाता है।

आचार्यके पुनीत आश्रममें बन, पर्वत एवं सरिताके सांनिध्यमें—गुलमलता, बनस्पति, ओषधि, विहङ्ग, गवादि पशुओंके मध्य सूर्य-चन्द्र, नक्षत्र, जल, अग्नि, वायु तथा आकाशके प्रभावसे प्रभावित होकर कह सकता है—‘माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः’—मैं पृथ्वीका पुत्र हूँ और भूमि मेरी माता है। इन्हीं पुनीत आश्रमोंमें जिज्ञासु ब्रह्मचारी पुनीत ऋचाओंको आत्मसात् करनेका सक्रिय प्रयास करता है और ऐसे साधकके लिये ‘तस्मै सरस्वती दुः खीरं सर्पिर्मधूदकम्’—सरस्वती कामघेनु बनकर पुरुषार्थ-चतुष्टयको स्थयं प्रस्तुत करती है। शिक्षाके समाप्त होनेपर आचार्यका अपने विद्यार्थी ब्रह्मचारीके लिये आदेश, निर्देश एवं उपदेश होता है—

धर्मात् प्रमदितव्यम्। कुशलान्नं प्रमदितव्यम्।
भूत्यै न प्रमदितव्यम्। स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्। देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम्।’
(तैत्तिरीय शिक्षावल्ली)

जब यह आदर्श शिक्षा ब्रह्मचारीद्वारा अनुष्ठित होती है, तब आदर्श चरित्रका निर्माण होता है। कामपर विजय पाना बड़ा कठिन है, पर जो कामपर

विजय पा लेता है, वह विश्वविजयी हो जाता है एवं भवसागरको पारकर आवागमनके बन्धनसे मुक्त हो जाता है। ऐसी वस्तुके प्राप्तिहेतु महान् धैर्यकी आवश्यकता होती है। अल्पाहार अथवा निराहार मनोविजयका श्रेष्ठ साधन है। यदि अग्निपर पकायी गयीं वस्तुएँ कम खायी जायें तो अति उत्तम है। कामोत्तेजक पदार्थोंका सेवन न किया जाय। यद्यपि मात्र आहार-त्यागसे, कामसे मुक्ति सम्भव नहीं, फिर भी विकारोत्तेजक पदार्थोंका सेवन करनेवालोंसे ब्रह्मचर्यके निर्वाहकी अपेक्षा नहीं की जा सकती। चरित्र-निर्माण एवं ब्रह्मचर्यके पालनमें जिन तत्त्वोंके दर्शन, श्रवणादिसे विकारोंकी उत्पत्ति हो, वे ग्राह्य नहीं हैं। आवास-कक्षमें ऐसे चित्र लो होने चाहिये, जिन चित्रोंके पीछे कोई महान् चरित्र छिपा हो। आदर्श चरित्र-निर्माणके लिये अश्लील चित्र एवं अश्लील साहित्यका अवलोकन सर्वथा वर्जित है। अश्लीलताका वीजारोपण तो चलचित्र-जगतद्वारा किया जाता है, जो ब्रह्मचर्यत्रतके पालन एवं चरित्र-निर्माणमें बाधक होता है।

ब्रह्मचर्यका व्यावहारिक रूप यह होना चाहिये कि इस त्रतको जिससे जितना बन सके, उतना अवश्य पालन करे, उसमें कोई बनावटीपन न होने पाये। अपनी शक्तिके अनुसार जिससे जितना हो सके, उस आदर्शतक पहुँचनेका सक्रिय प्रयास करे, इसमें कोई लज्जा या दुःख-की बात नहीं है। साथ ही काम-वासनाका दमन एवं इन्द्रियनिग्रह तथा आध्यात्मिक वातावरण आदर्श चरित्रके लिये अपरिहार्य हैं। आध्यात्मिक विचार, समाज-सेवा, देश-सेवा इत्यादि चरित्र-निर्माणके लिये उपयोगी हैं। इसी प्रकार सत्यका पालन, असत्यका त्याग, कर्मनिष्ठा, मधुर एवं अल्प भाषण, सदैव कार्यरत रहना, सदाचार, अतिथिसेवा, सत्सङ्ग, भगवन्नाम-जप, श्रवण, मनन, कीर्तन, इत्यादि आदर्श चरित्र-निर्माणके लिये नितान्त उपयोगी हैं। चरित्र-निर्माणके लिये अपने धर्म-ग्रन्थोंका अवलोकन

एवं धार्मिक निर्देशोंका अनुपालन तथा शास्त्रवाणीमें विश्वास और उसका अनुसरण करना भी उपयोगी होता है।

**धृतिः क्षमा द्व्योऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमकोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥**

(मनुस्मृति ६ । ९२)

इसके अनुसार धृति, क्षमा, दम, शौच, अस्तेय, धी, इन्द्रिय-निग्रह, विद्या, सत्य एवं अक्रोध—ये धर्मके दस लक्षण हैं। इन सद्गुण-समूहोंका आचरण करनेवाला व्यक्ति चरित्रवान् होता है।

यहाँपर चरित्र-निर्माणमें उपयोगी ब्रह्मचर्यविषयक कतिपय नियमोंको अङ्कित किया जाता है—(१) मन, शरीर एवं वाणीसे वीर्यकी रक्षा करना, (२) विलासितका शिकार न बनना, (३) सदैव लँगोट बाँधना, (४) प्रतिदिन एक बार नियमितरूपसे व्यायाम करना, (५) एकाकी शयन करना, (६) छः घंटेसे अधिक न सोना और दिनमें न सोना, (७) अनावश्यक वार्ते न करना तथा कम बोलना, (८) किसीके द्वारा प्रयोगमें लाये हुए कपड़ोंको न पहनना तथा किसीका जूठन न खाना, (९) अनावश्यक किसीको स्वर्ण न करना, (१०) हल्का तथा सात्त्विक एवं सुपाच्य भोजन करना और मिताहारी बनना, (११) पूर्णिमा, एकादशी तथा अन्य त्रित करना, (१२) सदैव कार्यरत रहना,

(१३) मनको सदैव उत्तम वातोंको सोचनेमें, सुन्दर भावनाओंके धारण करनेमें, अच्छे ग्रन्थोंके पठन-पाठनमें, भगवान्‌के नाम लेने, भगवान्‌के रूपका ध्यान करने और स्तुति-पाठ करनेमें लगाना, (१४) यदि मनमें कोई असत् भावना जाग्रत् हो जाय तो अपने इष्टदेवके नामका जप करना तथा उसका प्रायश्चित्त करना और भगवान्‌से तर्दर्थ क्षमा-न्याचना करना, (१५) प्रतिदिन नियमितरूपसे सोते समय सभी चिन्ताओंको त्यागकर भगवान्‌के नामका जप और ध्यान करना, (१६) प्रतिदिन अपने सद्विचारों, आदर्श चरित्र और नियमोंका परीक्षण करना तथा दैनंदिनी लिखना, (१७) नित्य श्रीमद्भगवद्गीता और श्रीरामचरित-मानसका पाठ करना एवं उसे कण्ठाग्र करना और (१८) नित्य न्यूनतम दो घंटे भगवान्‌के नामका जप, ध्यान एवं आराधना करना सबके लिये लाभकर है।

आत्म-संयमसे मनुष्य मेधावी एवं चरित्रसम्पन्न हो सकता है। वासनाओंकी समाप्तिसे आत्मसुखद्वारा मनुष्यको वास्तविक सुखकी प्राप्ति हो सकती है; क्योंकि इन्द्रियोंको विषयोंसे पृथक् रहनेसे विषय तो विनष्ट हो ही जाते हैं, साथ-साथ आदर्श चरित्रका निर्माण भी होता है। इससे बुद्धि शीघ्र ही स्थिर हो जाती है। इन सभीका मूल है ब्रह्मचर्य, जो आदर्श चरित्र-निर्माणके लिये परम उपयोगी है।

शुभ चरित्रका शुभ और अशुभका अशुभ फल मिलता है

यत् करोति यदद्वन्नाति शुभं चा यदि वाशुभम्। नाकृतं भुज्यते कर्म न कृतं नश्यते फलम्॥
शुभकर्मसमाचारः शुभमेवाप्नुते फलम्। तथाऽशुभसमाचारो ह्यशुभं समवाप्नुते॥

(महाभारत अनुशासनपर्ब)

‘मनुष्य जो शुभ या अशुभ आचरण करता है, उसका वैसा ही फल भोगता है। विना किये हुए कर्मका फल किसीको नहीं भोगना पड़ता तथा किये हुए कर्मका फल भोगके विना नष्ट नहीं होता है। जो शुभ कर्मका आचरण करता है, उसे शुभ फलकी प्राप्ति होती है और जो अशुभ कर्म करता है, वह अशुभ फलका ही भागी होता है।’

मानवका भचरित्र ही उसकी मर्वोपरि मानवता है

(लेखक—पं० श्रीगोविन्ददासजी ('संत', धर्मगान्धी, पुराणीर्थ)

इस स्थावर-जङ्गमात्मक संसारमें प्रत्येक पदार्थका जोड़ा है। जैसे—सुग्गन्दुःख, दिन-रात, अम-हानि, सच-झूठ, सदाचार-दुराचार, सचरित्र और दुश्चरित्र इत्यादि। बिना असत्के सत्का भी महत्व प्रतीत नहीं होता। सदाचार पृथ्वे सद्विचार मानवके चरित्र-निर्माणमें परम सहायक हैं। सद्विचारवान् मानव ही चरित्रवान् वन सकता है। यदि मानवमें चरित्रबल है तो उसकी मानवता सार्थक है, अन्यथा चरित्रहीन व्यक्तिका जीवन ही व्यर्थ है; अर्थात् चरित्र है तो सब कुछ है और चरित्र गया तो सब कुछ गया। शास्त्रोंमें ग्रन्थ है—‘आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः’, सदाचारहीन व्यक्तिको वेद भी पवित्र नहीं कर सकते, चरित्रहीन व्यक्तिका इतना पतन हो जाता है। चरित्र-हीनता मानवको दानव बना देती है। गोस्थामी श्रीतुलसीदासजीके शब्दोंमें—

मानहिं मातु पिता नहिं देवा। साधुहृष्ट मन करवावहिं सेवा॥
जिन्ह के यह आचरन भवानी। ते जानेहु निश्चिचर सब प्रानी॥

(मानस १ । १८४ । १-२)

भगवान् शंकर कहते हैं—‘पार्वति ! जो अपने माता-पिताको नहीं मानते अर्थात् सेवा नहीं करते और देवी-देवनाओंको नहीं मानते तथा श्रेष्ठ (पूज्य) जनोंसे उल्टी अपनी सेवा करताने हैं, जिनके ऐसे आचरण हैं, वे प्राणी निश्चिचर-(राक्षसो-) के समान ही हैं।’

राक्षसराज रावण ब्रह्माजीका ही प्रपौत्र था। ब्रह्माजीके पुत्र ‘पुलस्त्य’, पुलस्त्यके ‘विश्रवा’ और विश्रवाके रावण। उत्तम कुलमें उत्पत्ति^५ और वेद-शास्त्रोंका जाता, महान्

बलशाली यह सब कुछ होनेपर भी चरित्रहीन होनेके कारण उसकी क्या दुर्दशा हूईँ; इस वातसे तो रामायण पढ़नेवाले सभी महानुभाव सुपरिचित हैं। प्रतिवर्ष विजयादशमीको उसका पुतला बनाकर जलाया जाता है। हम पहले ही कह आये हैं कि शास्त्रोंमें अच्छे या बुरे अर्थात् सचरित्र और दुश्चरित्र इन ढोनोंके उडाहरण मिलते हैं। जहाँ मर्यादा-मुरुपोत्तम भगवान् श्रीरामका चरित्र है, वहीं उसके विपरीत दुश्चरित्रवान् रावणका है। एक ओर वीलाविहारी भगवान् श्रीकृष्णका चरित्र है तो दूसरी ओर कंसका। महाभारतमें धर्मराज युधिष्ठिरके साथ ही अन्यायी पापात्मा दुर्योधनका चरित्र है। पापकी भयंकरताको दिखाये विना धर्मका महत्व प्रकट नहीं हो सकता। इन्हें पढ़नेका अर्थ है—

‘रामाद्विद् चर्तितव्यं न कविद् रावणादिवत्।’

‘भगवान् श्रीरामका-सा आचरण हो, रावण-सा नहीं।’ देखिये, भगवान् श्रीरामके चरित्र-सम्बन्धमें महर्षि श्रीवाल्मीकि देवर्पि श्रीनारदजीसे पूछते हैं—
मुने ! इस समय इस संसारमें गुणवान्, वीर्यवान्, धर्मज्ञ और किये हुए उपकारको माननेवाला, सत्यवक्ता तथा दृढप्रतिज्ञ कौन है ? सदाचार (सचरित्र) से युक्त, समस्त प्राणियोंका हितंपी, विद्वान्, सर्वसमर्थ और एकमात्र जिसका दर्शन प्रिय ल्लो—ऐसा सुन्दर पुरुष कौन है ? मनपर अविकार रखनेवाला, क्रोधको जीतनेवाला, कान्तिमान् और किसीकी निन्दा न करनेवाला कौन है ? तथा संप्राममें कुपित होनेपर देवता भी जिससे भय खाते हो ऐसा पुरुष कौन है ? महर्षे ! यह सब मै

* मातृकुलके कारण वैश्रवण कुव्रेको क्षत्रिय कहा गया है। वात्मीकीवरामायणमें रावणको भी—‘गतिः अत्रिय-समिता। क्षत्रियो निहतः संस्थे न योन्य इति निश्चयः॥ (६ । १०९ । १८) आदि अनेक स्थलोंपर क्षत्रिय कहा गया है। लोकप्रसिद्ध उसके ब्राह्मण होनेकी भी है। शास्त्रोंमें राक्षसोंकी जाति भी क्षत्रिय ही मानी गयी है। अम्बक, मरिच आदि वा० रा० व्याख्याता अनेक प्रमाणोंसे उसे क्षत्रिय ही सिद्ध करते हैं।

सुनना चाहता हूँ, मुझे बड़ी उत्कण्ठा है और आप ऐसे पुरुषको जाननेमें समर्थ भी हैं।’
 कोन्वसिन् साम्प्रतं लोके गुणवान् कश्च वीर्यवान् ।
 धर्मजश्च कृतजश्च सत्यवाक्यो दृढव्रतः ॥
 चारिचेण च को युक्तः सर्वभूतेषु को हितः ।
 विद्वान् कः कः समर्यश्च कद्यैकप्रियदर्शनः ॥
 (वा० रा० १ । १ । २-३)

देवर्षि श्रीनारदने उत्तर देते हुए कहा—

इद्वाकुवंशप्रभवो रामो नाम जनैः श्रुतः ।
 नियतात्मा महावीर्यो द्युतिमान् ध्युतिमान् वर्णा ॥
 (वा० रा० १ । १ । ८)

‘इद्वाकु’ के वर्णमें उत्पन्न हुए एक ऐसे पुरुष हैं, जो लोगोंमें ‘राम’ के नामसे विख्यात हैं। वे ही मनको वर्णमें रखनेवाले, महावल्यान्, कान्तिमान्, धैर्यवान् और जितेन्द्रिय हैं।’ इसके आगे वाल्मीकीय रामायण वालकाण्ड सर्ग १ के उपर्युक्त ८ वें श्लोकसे १९ वें श्लोकपर्यन्त १२ श्लोकोंमें श्रीनारदजीद्वारा भगवान् श्रीरामके उत्तमोत्तम उन सद्गुणोंका वर्णन किया गया है, जो चरित्र-निर्माणमें परम सहायक हैं, पढ़ने और मनन करने योग्य हैं।

वास्तवमें मर्यादा-पुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामका परम पावन दिव्य चरित्र पढ़ने, सुनने तथा स्वरूपका चिन्तन करनेपर साधकोंका मन सच्चरित्रताकी ओर प्रवृत्त होने लगता है। उनके स्वरूपका ध्यान करते ही मनमें उनके-से भाव ही झलकने लगते हैं।

जब राम और रावणका युद्ध चल रहा था, तब युद्ध-हेतु रावणने अपने भाई कुम्भकर्णको जगाया। कुम्भकर्ण जग और उसने अपने बड़े भाई रावणको उदास देखा और उससे पूछा। सभी वात सुनकर उसने रावणसे कहा कि तुम रामका रूप धारणकर सीताको वर्णमें क्यों नहीं कर लेते? तो वह बोला—

रामको रूप धरयो जब मैं
 तब मातुसमान लखी पर नारी ।

यह है चरित्रका प्रभाव। चरित्रशील श्रीरामका स्वरूप धारण करते ही राक्षसके भी हृदयके कुसित भाव बढ़ल जाते हैं। एक बार वनवासमें रहते हुए भगवान् श्रीरामने लोक-शिक्षा-हेतु लक्ष्मणजीसे इसी चरित्रवलके सम्बन्धमें प्रश्न किया—

पुष्पं द्वप्ता फलं द्वप्ता द्वप्ता योपिद्यौवनम् ।
 वीणि पतानि द्वप्ट्यैव कस्य नोच्चलते मनः ॥

‘लक्ष्मण! खिला हुआ पुष्प, पका हुआ फल तथा युवावस्थावाली सुन्दर स्त्री—इन तीनोंको देखकर किसका मन चलायमान नहीं होता?’

इसपर लक्ष्मणजीने कहा—

पिता यस्य शुचिर्भूतो माता यस्य पतिव्रता ।
 ताभ्यां यः सू तुरुपन्नो तस्य नोच्चलते मनः ॥

‘प्रभो! जिसका पिता सदाचार-परायण तथा माता पतिव्रता धर्मपरायणा हो, उन दोनोंसे जो सन्तान उत्पन्न हो, उसका मन चलायमान नहीं होता।’ इसी प्रकार आगे चलकर सीता-हरण होनेके पश्चात् जब सुग्रीवजीसे मिलना हुआ तो उन्होंने रावणद्वारा अपहरणके समय जानकीजीद्वारा गिराये गये आमूरणोंको दिखाया। भगवान् रामने लक्ष्मणजीसे कहा—‘इनको पहचानो।’ इसपर लक्ष्मणजीने कहा—

कङ्कणे नैव जानामि नैव जानामि कुण्डले ।
 नूपुरवेव जानामि नित्यं पादाभिवन्दनात् ॥

‘मैं कङ्कण और कुण्डलोंको नहीं पहचानता। हाँ, नूपुर मैं पहचानता हूँ; कारण, नित्य उनके चरणोंमें अभिवादन करते समय इनके दर्शन हो जाते थे।’

इस चरित्रसे हमे शिक्षा मिलती है कि ज्येष्ठ भ्राताकी पत्नी माताके समान और छोटे भाईकी पत्नीको पुत्रीके समान मानते हुए कर्तव्य-पालन करे। यह लक्ष्मणके चरित्रवलका उदाहरण है। भगवान् श्रीरामने भी कहा है—

अनुजवधू भगिनी सुत नारी । सुनु सठ कन्या सम ए चारी ॥
इन्हहि कुद्धिविलोकइ जोई । ताहि बर्वे कदु पाप न होई ॥
(मानस ४ । ९ । ४)

एक समयकी वात है, उदालक आदि मुनिवृन्द राजा अश्वपतिके यहाँ पहुँचे। राजाने उठकर अभिवादन करते हुए अर्थ, पादादिपूर्वक चरण-पूजन किया और कुछ समयतक अपने यहाँ निवास करनेके लिये प्रार्थना की; किंतु मुनिगणोंको आवश्यक कार्य हेतु शीत्र ही आगे जाना था, अतः ठहरनेसे इन्कार कर दिया। इधर राजाने देखा, मुनिगण निषेव क्यों कर रहे हैं। कोई और तो कारण नहीं समझ रहे हैं। अपने यहाँके शुद्ध वातावरणका परिचय देते हुए अश्वपति राजाने निवेदन किया—

न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मयपः ।
नानाहितान्निर्नाविद्वान् न स्वैरी स्त्रैरिणी कुतः ॥

‘भगवन् ! मेरे राज्यमे न कोई चोर है और न कृपण ही है तथा न कोई ऐसा ही है, जो नव्यपान करता हो। कोई ऐसा भी नहीं है, जो अनिनोत्र न करता हो। कोई मूर्ख भी नहीं है, कोई स्वैरी कामी ली-पुरुष भी नहीं हैं, स्त्रैरिणीकी तो वात ही क्या है। फिर आपको यहाँ निवास करनेमे क्या शङ्का है ?’

इस प्रकार राजाके चरित्रपूर्ण शुद्ध भाव देख उत्तिष्ठोने शीत्रतासे आगे जानेका कारण वताते हुए उनको आशीर्वाद देकर प्रस्थान किया। यह है चरित्रबलका सच्चा उदाहरण। आज अश्वपतिका अनुसरण करनेवाले विश्वमे कितने शासक हैं ?

एक प्रसङ्ग उस समयका है जिस समय पाण्डव वनमें निवास कर रहे थे। महर्षि वेदव्यासके आदेशानुसार अर्जुन इन्द्रके यहाँ शख विद्या सीखने गये थे। एक दिन इन्द्रने रातमे उर्वशी नामकी अप्सराको अर्जुनकी चरित्रसम्बन्धी परीक्षा लेनेहेतु भेजा। उसने आधी रातमें जाकर अर्जुनका दरवाजा खट-खटाया। अर्जुन उठे और सामने देखा—उर्वशी सश्वर खड़ी है।

अर्जुनने कहा—साध्वि ! तुम कौन हो ? कहाँसे आयी हो ? और मुझसे क्या कार्य है। उत्तर देनेसे पहले यह सोच लेना कि हम भारतीय हैं, कुरुकुलमी सन्तान कभी अर्वमंत्री ओर प्रवृत्त नहीं होगी।

ज्यो ही उर्वशीने अपने भाव प्रकट किये, जिस निमित्तओ लेकर वह आयी थी, ज्यो ही अर्जुनने दोनों हाथ जोड़ चरण-वन्दना करते हुए कहा—‘हय-हय तुम ऐसा क्यों कह रही हो, तुम तो मेरे वंशकी जननी साक्षात् माताँके समान हो—

यथा कुन्ती च माद्री च शाचो चैव ममानये ।
तथा च वंशजननी त्वं हि मेऽद्य गरीयसी ॥
गच्छ मूर्धा प्रपञ्चोऽसि पादौ ते चरचर्णिनि ।
त्वं हि मे मातृवत् पूज्या रक्ष्योऽहं पुत्रवत् त्वया ॥
(म० भा० वनपर्व ४६ । ४६-४७)

‘अनवे ! मेरी दृष्टिमे कुन्ती, माद्री औं शची (इन्द्राणी-) का जो स्थान है, वही तुम्हारा भी है। तुम पुरु-वंशकी जननी होनेके कारण मेरे लिये सदा परम गुरुस्वरूप हो। वर्वर्णिनि ! मैं तुम्हारे चरणोंमें मस्तक रखकर तुम्हारी शरण हूँ, तुम लौट जाओ। मेरी दृष्टिमें तुम माताँके समान परम पूजनीया हो, अतः तुम्हे पुत्रके समान मानकर मेरी रक्षा करनी चाहिये।’

जब अर्जुन अपने वास्तविक लक्ष्यसे न डिगे तो उर्वशीने अन्तमें उन्हें क्रोधमे आकर शाप दे दिया—‘जाओ तुम नपुंसक वन जाओगे।’ यह कहकर वह चली गयी। इन्द्र अर्जुनकी इस विजयपर परम प्रसन्न हुए और वरदान देते हुए उन्होने कहा—‘जाओ वेदा यह शाप भी तुम्हारे अज्ञातवासमे तुग्हारे लिये हितकर होगा। राज विराट्के यहाँ एक वर्ष अज्ञातवास करते हुए ‘वृहन्नला’ के नामसे राजकुमारी उत्तराको नाच-गान-विद्यामें निपुण करके अपना एक वर्ष सुविवापूर्वक काट सकोगे। पश्चात् इस शापसे मुक्त भी हो जाओगे।’ धन्य है ! ऐसे-ऐसे महापुरुषोंको, जो घोर कठिन

परिस्थितियोंके आनेपर भी चरित्रबद्धारा विचलित न हो सके।

एक दूसरी घटना है। राजा दुष्पत्त शिकार-हेतु बनमे गये हुए थे। महर्षि कण्वके आश्रममें बैठी हुई एक परमसुन्दरी कन्याको देखा और पूछा—

का त्वं कमलपत्राक्षि कस्यासि हृदयंगमे ।
किं वा चिकीर्षितं त्वत्र भवत्या निर्जने वने ॥
व्यक्तं राजन्यतनयां वेदस्यहं त्वां सुमध्यमे ।
न हि चेतः पौरवाणामधर्मे रमते क्वचित् ॥

(श्रीमद्भा० ९ । २० । ११-१२)

‘कमलदल्लोचने ! तुम कौन हो और किसकी पुत्री हो ? मेरे हृदयको अपनी ओर आकर्षित करनेवाली सुन्दरि ! तुम इस निर्जन बनमे निवास कर क्या करना चाहती हो ? सुन्दरि ! मै स्पष्ट जान रहा हूँ कि तुम किसी क्षत्रियकी कन्या हो; क्योंकि पुरुषविश्योका चित्त कभी अधर्मकी ओर नहीं झुकता ।’ यह है चरित्रबद्धकी विशेषता ।

नीतिशास्त्रमें भी बताया है—

मातृवत् परदारेषु परद्वयेषु लोप्रवत् ।
आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति स पण्डितः ॥*

पांश्चात्य मनीषियोंका चरित्र-चिन्तन

(लेखक—श्रीचंद्रलालजी डकराल, एम० ए० (संस्कृत-अंग्रेजी), काव्यतीर्थ)

वर्तमान युगको कही चिन्तक—‘Crisis of Character’ का युग कहते हैं। यह ब्रात ब्राती है कि समाजके बुद्धिनिष्ठवर्गको वर्तमान चारित्रिक परिस्थितिसे सर्वथा संतोष नहीं है। महामनीषी सोलनकी दृष्टिमें विचार-क्रान्ति ही व्यापक चरित्र-निर्माणका उपाय है; क्योंकि मनुष्य जैसे विचारोका चिन्तन करता है, वह वैसा ही बन जाता है—‘As a man thinketh in his heart, so is he.’

विचारोमें बड़ी शक्ति है, इस बातको ध्यानमें रखकर आर्नोल्ड ग्लासोने कहा है—

‘जो परखी माताके समान, परथन मिट्टीके ढेलेके समान तथा सब प्राणियोका सुख-दुःख अपनी आत्माके समान देखता है, वही संसारमे पण्डित (ज्ञानीजन) है।’ यदि मानव जीवनपर्यन्त उपर्युक्त इन तीनों ब्रातोको विवित् पालन कर ले तो ये तीनों भी चरित्र-बद्धमे परम सहायक हैं। दूसरोकी वहन-वेटियोपर कुट्टिं डालना अर्थात् उनका अपहरण करना दूसरेके धनको हड्डप लेना तथा दूसरोके साथ हिंसावृत्तिका व्यवहार करना, इन सब ग्रातोंकी रोकथामके लिये ही तो सरकारका आरक्षी विभाग है। यदि ‘मातृवत् परदारेषु, इस शास्त्रीय वाक्यके आदेशानुसार मानव चलने लगे तो वतलाइये, हमारी सरकारके आरक्षी विभागको कितनी सुविधा मिल जाय। कानूनकी अपेक्षा धर्मसे संसारकी अधिक भलाई होती है।

वास्तवमें चरित्रबद्ध ही महान् है। झूठ, कपट, छल-छिद्र, राग-द्वेष, हिंसा-वृत्ति, शोक, मोह, काम, क्रोध, मद, लोभ, ससारासक्ति, मात्सर्य, निन्दा-स्तुति आदि कुसित वृत्तियोंका परित्याग ही चरित्रबद्ध है। चरित्रबद्धसे मानवका जीवन उज्ज्वल बनकर उच्चस्तरका हो जाता है अर्थात् मानव मानव ही नहीं, वह देवकोटिमें पहुँच सकता है।

‘All your thinkings work either for good or for bad. Positive thinking can make you stronger. Negative thinking is exhausting.’

विचार विधेयात्मक एवं विनाशात्मक दोनों प्रकारके होते हैं। यही कारण है कि ब्रह्मर्षियोंने समाजको अच्छे विचारोको प्रदान किया। हमारे युगके एक महामनीषी वर्नार्दि शाने कहा है—‘Men are, what they were.’ ‘मनुष्य जो अपने भूतकालमें था, वैसा-ही वर्तमानमें भी है।’ ‘जैसा हमारा वर्तमान होगा, वैसा ही हमारा भविष्य

भी होगा' यह उसी महासिद्धान्तका एक उपसिद्धान्त है। चरित्रके लिये उसके प्रत्येक घटक तथा प्रत्येक सद्गुणको अर्जित करना पड़ता है। वह कभी विरासतके रूपमें या भेटके रूपमें प्राप्त नहीं होता—'Character is a victory, not a gift.' विजय आन्तरिक होती है, बाह्य नहीं। भारतीय मनीषियोंने दैवी सम्पदके गुणोंको अर्जित करनेका आदेश दिया है। यह तीव्र प्रयास ख्यां ही करना पड़ता है। एक विद्वान्का यह कथन साक्षी है कि—'What a man has, may depend upon others, but what he is, depends upon him alone'—केवल अपने आपके बलपर ही आन्तरिक समृद्धिको अर्जित किया जा सकता है। और एक बार जब इस प्रकारकी आन्तरिक सज्जता हासिल हो जाती है, तब हम किसी अन्यके लिये उदाहरण बन सकते हैं।

चरित्र इहलोक और परलोकके बीच एक सेतुका निर्माण करता है। इसी विशेषताकी ओर निर्देश करते हुए किसी विचारकने कहा है—‘चरित्र यहाँ अर्जित किया जाता है और यही एक ऐसी वस्तु है, जिसे हम परलोकतक ले जा सकते हैं। अन्य चीजोंके बारेमें तो हमारा पुराना अनुभव है कि उनको तनिक भी ले जाना कभी सम्भव नहीं है। किसी भारतीय विद्वान्ने इस बातका प्रतिपादन बड़ी अच्छी तरहसे किया है—

धनानि भूमौ पशवश्च गोष्ठे
भार्या गृहद्वारि जनाः इमशाने ।
देहश्चितायां परलोकमार्गं
धर्मानुगो गच्छति जीव एकः ॥

यदि धनको गाड़ दिया जाय तो वह जमीनमें ही रह जाता है। पशु अपनी पशुशालमें ही बैंबै हुए रह जाते हैं। पली भी घरके द्वारसे आगे जाकर विदा नहीं देती। मित्र-वर्ग एवं सज्जन भी शमशानतक आकर ही—विदा हो जाते हैं। देह भी चितासे बढ़कर

आगे नहीं जा सकती। जब जीव परलोककी दिशामें प्रस्थान करता है, तब उसके साथ अपने कर्म—चारित्रिक पाथेय ही जाते हैं। चारित्रिक इमारतकी नींवकी ईटोंका या आधारशिलाओंका निर्देश करते हुए एक महामनीयी कैष्टन पट्टवर्ड रिकनवेकरने व्रताया है कि उनकी संख्या चार है और वे हैं—

(१) अपने-आप कुछ करनेकी वृत्ति पहलकड़मी या उपक्रमक्षमता (Initiative), (२) कल्पनाशालिता, (३) वैयक्तिक प्रतिभा (Individuality), एवं (४) खातन्त्र्य। और जिन लोगोंके पास ये चार सद्गुण रहते हैं, वे ही चरित्र एवं संस्कृतिका निर्माण कर सकते हैं और उनकी यह विशेषता रहती है कि वे ही लोग अन्यमें रहे हुए उन गुणोंकी कद्र कर सकते हैं। जब प्रजामें इन गुणोंका हास होता है तो राष्ट्रकी बड़ी हानि होती है।

वैयक्तिक चरित्र राष्ट्रकी अक्षय-निधि है। समाज वैयक्तिक चरित्रपर बड़ी आशा करता है; क्योंकि समाजका गठन व्यक्तियोंसे बना है और समाजकी यह दृढ़ प्रतीति होनी चाहिये कि चरित्र ही नियन्ति है। यह बात राष्ट्रिय और जागतिक स्तरपर तो और भी सत्य है।

इस बातको अधिक प्रभावपूर्ण ढंगसे चुनावकी परिभाषामें प्रकट करते हुए एक विद्वान्ने कहा है— सारा समय चुनाव चलता ही रहता है। ईश्वर आपके पक्षमें अपना मत देता है और शैतान आपके विरुद्ध मतदान करता है और इस गजग्राहमें निर्णायिक मत तो आपका ही रहता है। वैयक्तिक चरित्रके बारेमें इससे बढ़कर कौन-सा तर्क प्रस्तुत किया जा सकता है? इस निर्णायिक मतके विषयमें भी हम यह न भूलें कि हमारे चारित्रिक गठनमें भी बहुत-सी शक्तियोंका मिश्रण रहता है। जिसे हम आत्मनिर्मित मनुष्य कह सकें ऐसा कोई मनुष्य है ही नहीं। इस विषयमें 'ज्योर्ज मेथ्यू अडेम्स'का विधान चिन्तनीय है—

पूर्ण आत्मनिर्मित कोई मनुष्य नहीं हो सकता। हजारों अन्य लोगोंके द्वारा हमारा निर्माण हुआ है। जिन लोगोंने करुणासे प्रेरित होकर हमारा कार्य कर दिया या जिन्होंने हमें उत्साहित किया उन लोगोंने हमारे निर्माणमें सहयोग किया है। हमारे विचारोंके निर्माण एवं हमारी सफलताओंमें उनका योगदान रहा है। जो बात दूसरोंकी करुणासे किये हुए कार्योंके बारेमें बनती है, वही बात निष्कर्षण व्यवहारोंसे घटती भी है। केवल उनका प्रभाव विपरीत पड़ता है। यह विपरीत प्रभाव भी हमारे चारित्रिक गठनका एक अंश है।

किसी मनीषीने कहा है—‘Reputation is no character,’—‘मनुष्यकी प्रतिष्ठा कोई चरित्र नहीं है।’ मनुष्यद्वारा जिस प्रकारके कार्य किये जाते हैं, उनके द्वारा ही उसका चारित्रिक निर्माण होता है। किसीके चारित्र्यका पता उसके छोटेसे कार्यसे भी चढ़ जाता है—‘Character is revealed by very triffl actions’—आल्फेड बरेटे; बूँदसे गयी हुई प्रतिष्ठा हौजोंसे नहीं आती, यह बात तो सुविदित है ही। इस बातको ध्यानमें रखते हुए हम विद्यात मनीषी एविकटेसके निम्नलिखित विद्यानको समझनेका प्रयत्न करें। वे कहते हैं—‘जैसे छोटी-छोटी लकड़ीसे किये हुए प्रकाशपुञ्ज बंदरगाहपर रहकर समुद्रपर भटकती

नौकाओंको सहायता पहुँचाते हैं, उसी तरह अशान्तिप्रस्तु नगरोंमें अल्पसंतोषी मनुष्य अपने बान्धव नागरिकोंको अपने आशीर्वाद भेज सकता है। संतोषवाले मनुष्यका चारित्रिक गठन कितना प्रभावपूर्ण बन जाता है, यहाँ इस तथ्यका प्रतिपादन किया गया है। नगरोंमें लोगोंकी एक शिकायत रहती है; वह यह कि हम संयोगोंके शिकार बने हुए हैं। हम संयोगोंमें कुछ परिवर्तन कर नहीं सकते। ऐसे लोगोंकी समस्याका हल सूचित करते हुए अंग्रेज चिन्तक कार्लाइलने बड़ा बोधप्रद वचन कहा है—‘मनुष्य संयोगोंका सर्जन है। कहीं वह संयोगोंका निर्माता भी है, ऐसा मानना चाहिये। संयोगोंमें वह अपना अस्तित्व चारित्रिक गठनद्वारा बना लेता है। इमारतका निर्माण करनेकी सामग्री एक ही होती है—चूना-इंट आदि। किंतु एक उससे महालयका निर्माण करता है और दूसरा गंदी वस्तीका; एक उसमेंसे संप्रहालयका निर्माण करता है तो दूसरा बुन्दर निवास-स्थानका। जो कच्ची सामग्री होती है, वह तो जो होती है वही होती है, उसमेंसे क्या बनाना है, यह बात निर्मातापर निर्भर करती है।’

हम इन तथ्योंका रहस्य समझ लें और उनको जीवनमें स्थान देकर उनसे लाभान्वित होनेका सन्निष्ठ प्रयास करते रहें। तो बहुत लाभ होगा।

संतकी आदर्श क्षमाशीलता

एक संत कहों जा रहे थे। एक दुष्ट व्यक्ति भी उन्हें गालियाँ देता हुआ उनके पीछे-पीछे चलता जा रहा था। संतने उससे कुछ भी न कहा। वे बहुत देरतक चुपचाप ही चलते रहे। पर्यास आगे बढ़नेपर कुछ घर दिखायी पड़ने लगे। अब वे खड़े हो गये और उन्होंने उस व्यक्तिसे कहा—‘भाई! देखो! तुम्हें जो कुछ कहना है, यहीं कह लो। मैं खड़ा हूँ। आगे उन घरोंमें मुझसे सहानुभूति रखनेवाले लोग रहते हैं। वे तुम्हारी बातें सुनेंगे तो तुम्हें तंग कर सकते हैं। इससे मुझे बड़ा क्लेश होगा।’

इसपर वह दुष्ट व्यक्ति संतके इस आशाके विपरीत व्यवहारको देखकर बड़ा लज्जित हुआ और पश्चात्तापपूर्वक क्षमा माँगने लगा।

मत्य ही चरित्र है

(लेखक—डॉ० धीसर्वानन्दजी पाठक, एम० ए०, गी-एन० हो० (द्रव), डी० लिट०)

सत्याचरण और चरित्र दोनों अभिन्न तत्त्व हैं। जो व्यक्ति सत्याचारी नहीं, उसे चरित्रहीन कहना असम्भव नहीं है। पाणिनिके भ्वादिगणीय 'चर्-गति-भक्षणायोऽकं आगे इत्र' प्रत्ययके योगसे चरित्र शब्द वृत्तता है। इसका व्युत्पन्नार्थ होता है—आचरण, व्यवहार, व्यापार, चाल-चलन, शील, सदाचार, दुराचार, स्वभाव, कर्मफल, गमन, भक्षण, संदेह आदि। अपने व्रचन या प्रतिज्ञापालन न करनेवाले असत्यभाषी व्यक्तिको भी 'चरित्रहीन' शब्दसे विशेषित किया जाता है; यथा—'अमुक व्यक्तिका कोई चरित्र नहीं, वह प्रायः असत्य बोलता रहता है, अपनी बातपर अटल नहीं रहता अतः वह चरित्रहीन है; वह व्यक्ति कथमपि विश्वसनीय नहीं हो सकता है।'

चरित्रके परिभाषण या अर्थ-विश्लेषणमें पातञ्जल-योग एक मान्यतम गाढ़ है। पतञ्जलि मुनिने अपने अष्टाङ्गयोगशास्त्रमें 'यम'को सर्वप्रथम स्थान दिया है। 'यम'के पैच उपाङ्ग है—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिह्र। इन पैचोंमें सभी एक दूसरेके पूरक हैं। यदि कोई व्यक्ति केवल एक अहिंसामें सम्यक् रूपसे प्रतिष्ठित हो जाता है तो उसके लिये शेष चार—सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिह्रका मार्ग अनायास खुल जाता है। इसी प्रकार सत्यमें पूर्ण प्रतिष्ठित होनेपर अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिह्र सभी सुगम होने लगते हैं। तदुपरि अस्तेय (चोरी न करना) इस तृतीय उपाङ्ग-साधनमें प्रतिष्ठा पा लेनेपर अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य और अपरिह्रका मार्ग सुगम हो जाता है। पुनः ब्रह्मचर्यकी शक्तिमें पूर्ण सिद्ध हो जानेपर अहिंसा, सत्य, अस्तेय और

अपरिह्र-रूप साधन-चतुष्प्रय सुगम हो जाता है। इसी तरह अन्तिम अपरिह्र अर्थात् यथाप्राप्त वस्तुसे संतुष्टि-व्यक्तिके लिये चिन्ता न करना-रूप योगमें पूर्ण सफल हो जानेपर शेष अहिंसा, सत्य, अस्तेय और ब्रह्मचर्य-चरणका पथ अत्यन्त सरल हो जाता है। अहिंसा आदि पाँचों उपाङ्गोंकी सिद्धि हो जानेपर अप्रिम शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधानरूप पाँच नियम स्थूल सिद्ध होने लगते हैं। वस्तुतः यम और नियममें सिद्ध व्यक्ति ही चरित्रवान् है तथा इनमें असिद्ध व्यक्ति तो निश्चित ही चरित्रहीन है।

उपर्युक्त यम-नियम चरित्र-निर्माणके मुख्य स्रोपान हैं। इनमें सिद्धिप्राप्त व्यक्ति योगके अवशिष्ट अङ्ग—आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यानमें प्रतिष्ठा होनेके पश्चात् ही समाधि अर्थात् सद्बोध और निर्वौज-रूप समाधि उपलब्ध कर सकता है।

उपर्युक्त यम और नियमोंमें वास्तविक रूपसे सत्यका आचरण ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। सत्याचरण भी केवल मुखसे उच्चारणमात्र ही आदर्श सत्य नहीं है। मुखसे उच्चारण करनेके अतिरिक्त मनमें सत्यका ही चिन्तन और तदनुसार ही आचरण करना यथार्थ सत्य है—चाहे उसके लिये समाजसे च्युत होना पड़े, या आजीवन जेलमें रहना पड़े। एतदर्थ इसके लिये समस्त यातना सहनेके लिये तैयार रहना होगा। इतना होनेपर ही—

सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्।

(पा० यो० २। ३६)

—क्रियाफलके आश्रयका भाव आ सकता है; अर्थात् जब व्यक्ति सत्यका पालन करनेमें पूर्णरूपसे परिपक्व हो जाता है, उसमें किसी प्रकारकी न्यूनता नहीं रहती तब उस व्यक्तिके उच्चारित अशेष व्रचन सञ्चे हो जाने

है। वह स्थलको जलमें और जलको स्थलमें बदल सकता है। उसका कोई वचन निर्यक न होगा। प्रतिज्ञाका उछङ्घन भी चरित्रहीनता ही है। सत्यवादी राजा हरिश्चन्द्रको भी प्रतिज्ञाच्युत होनेपर वरुणदेवके शापसे जलोदर-जैसे असाध्य रोगसे पीड़ित होना पड़ा था। एक बार उन्हें खप्तमें प्रतिज्ञात राज्य विश्वामित्रको देनेमें शिखिलताके कारण घोर कष्ट उठाना पड़ा था। दाशरथि श्रीराम सत्यप्रतिज्ञ थे—वे अपनी वात नहीं बदलते थे—‘रामो द्विर्नावभापते।’ (वा० रा० १) सत्यवादित्व आदि रामके सिद्धान्त तथा व्यवहार भी थे।

सत्यमहिमाके सम्बन्धमें भारतीय संस्कृतिका प्रतिपादन है कि ‘सहस्रो अश्वमेघ यज्ञ तराजूके एक पलड़ेपर रखा जाय और दूसरेपर केवल सत्यको, तो तौलनेपर सत्यका ही पलड़ा भारी उतरेगा।’ इतनी बड़ी

सत्यकी महिमा है। कितू कैसा सत्य! इस समस्याके समाधानमें नीतिकारकी उक्ति ही आदर्श एवं प्राद्य प्रतीत होती है; यथा—‘यथार्थ वचन मुँहसे उच्चारण करना और तदनुसार ही व्यावहारिक आचरण करना वास्तविक सत्य है। ऐसे कर्मण्य व्यक्तिको महात्मा कहा गया है और तद्विपरीत सत्यपालनकी उपेक्षा करनेवालोंको दुरात्मा या चरित्रहीन कहना असंगत नहीं है।—
मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम् ।
प्रनम्यन्यद्वचस्यन्यत्कर्मण्यन्यद् दुरात्मनाम् ॥

(द्वितीय)

साराशतः आचारित सत्य तथा पालित प्रतिज्ञा चरित्र या सदाचार है और तद्विपरीत अनाचारित सत्य या उपेक्षित प्रतिज्ञा चरित्रहीनता अथवा दुराचार है। अत चरित्रहीनतामें वचकर चरित्र-निर्माण करना चाहिये।

आन्तरिक शक्ति एवं चरित्र-निर्माण

(लेखक—डॉ० श्रीयोगेन्द्रनारायणजी मिश्र, एम० ए० (अग्रेजी तथा समाजशास्त्र), वी-एच० फ० ०)

विश्वके जितने भी महान् व्यक्ति हुए हैं, उनकी महत्ता किसी शक्ति-बलके कारण नहीं, बल्कि उनके चरित्र-बलके कारण थी। आज राष्ट्रिय चरित्रके हासकी वात तो सभी करते हैं, परंतु उसमें समाहित अपने दायित्वसे प्रायः हम सभी मुकर जाते हैं। यदि आजकी युवा-पीढ़ी दिग्भान्त है, उसमें राष्ट्रिय चरित्रकी कमी दिखलायी पड़ती है, तो उसके लिये वह कम तथा प्रबुद्ध एवं प्रौढ़वर्ग ही अधिक दोषी हैं। चारित्रिक कमजोरीके प्रमुख दो कारण हैं—प्रथम यह कि समाजका प्रबुद्ध एवं श्रेष्ठ वर्ग, जिसके हाथमें समाजका नेतृत्व है, वह अपना आदर्श चरित्र युवावर्गके समक्ष प्रस्तुत कर सकनेमें अक्षम और असफल रहा; दूसरे यह कि अधिकतर युवावर्ग अपनी खयंकी क्षमताको पहचानने तथा उसका समुचित उपयोग कर सकनेके योग्य नहीं बन पा रहा है। अतः उससे जो अपेक्षाएँ की जाती हैं, उनका उसे

भान तक नहीं है। अतः आवश्यकता इस बातकी है कि हम अपने अन्दर सही नेतृत्व दें सकनेकी क्षमताका विकास करें तथा इस प्रकारके ब्रातावरणके सूजनमें सहयोगीं करें जिसके अन्तर्गत युवावर्ग अपनी अन्तः-किंकिको पहचान सके और उसका उपयोग कर अपना तथा राष्ट्रका विकास कर सकें।

प्रारम्भसे ही हमारी शिक्षाके खोत अरण्य रहे हैं वे आज भी हो सकते हैं। इसका तार्पण यह नहीं कि हमें जंगलोंमें जानेकी आवश्यकता है। हम समाजमें रहकर भी पेड़-पौधोंसे शिक्षा तो प्रहण कर ही सकते हैं। वृक्ष सूर्यकी किरणोंसे, वायुसे, जलसे अपनी खुराक लेता है, जड़ोंको मजबूत बनाता है; इस जड़से ही जो शक्ति पौधोंको छिटी है, उसीसे वह अपना समुचित विकास करता है। इक्षके रूपमें विकसित होकर अपना ऊम औरोंको देता है; यही स्थिति हमारी अपनी भी होनी

चाहिये। शरीरके अन्दर आत्मा है। आत्मा परमात्माका अश छोनेके कारण पूर्णतः अत्यन्त शक्तिशाली है। उसका सीधा सम्बन्ध परमात्मासे है। यदि लोग अपनी इस शक्तिको पहचान लें और परमात्माको समरण कर अपने कर्तव्योंका निष्पादन करें तो कहीं भी जाति, धर्म, संस्कृति आदिकी विभिन्नताके कारण विलगावया विघटनकारी तत्त्वोंका अन्युदय न हो। हम अपनी आत्मशक्तिको न पहचानने तथा उस आदि भ्रोतके प्रति निष्ठाके अभावके कारण भ्रान्त हो जाते हैं, चक्कर लगाते रहते हैं। हमारा विकास उस सीमातक तथा उस दिशामें नहीं हो पाता, जिसके लिये हम पूर्णस्वप्से क्षमता और ओग्यना रखते हैं। लोगोंकी विशेषताएँ उनके अन्दर छिपी रहती हैं। वे न तो उसका लाभ ख्य उठा पाने हैं और न समाजको ही दे पाते हैं। ऐसा माना गया है कि प्रत्येक व्यक्तिके पास कुछ-न-कुछ अद्भुत क्षमता होती है। इस क्षमताकी जानकारी जिसको जितनी जल्दी हो पाती है, वह उतनी ही जल्दी संसारका, उस क्षेत्रका सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति बन जाता है। किंतु अन्य जन ऐसे ही अपना पूर्ण जीवन अर्थमें व्यतीत कर देते हैं। अतः आवश्यकता इस बानकी है कि लोगोंका ध्यान उनकी विशिष्टताओंकी ओर ले जाया जाय। इससे जहाँ उनकी छिपी शक्ति उभर कर ऊपर आयेगी तथा उससे समाज लाभान्वित होगा, वहीं उसकी अनुपस्थितिके कारण पनपनेवाली चारित्रिक कमजोरियाँ भी घटेंगी। उननिशील शक्तिका विकास और अवनतिशील शक्तिका हास चरित्रनिर्माणके लिये आवश्यक वस्तुतत्त्व है।

व्यक्तिके व्यक्तित्वका विकास समाजमें होता है। विकासके लिये बातावरण प्रदान करना समाजकी जिम्मेदारी है तथा व्यक्तिको विकसित होकर अपने गुणोंका लाभ

समाजको दंना करत्वय है। उसका समाजमें अलग हटकर कोई महत्व नहीं होता। अब यिनि विन्दुल विपरीत हैं। सामाजिक दायित्वोंमें हटकर व्यक्ति अपने स्वपर वा गया है। वह समाजसे हट गया है, उसमें न तो उसका विकास ही हो पा रहा है और न उसकी क्षमताओंका लाभ ही समाजको मिल पा रहा है। यह स्थिति अच्छी नहीं कही जा सकती। अतः हमें उन परिस्थितियोंका निर्माण करना होगा, जिनमें व्यक्तियोंका पूर्ण विकास हो। इससे समाजको उनका समुचित लाभ मिल सकेगा। यह तभी सम्भव है, जब हम अपनी आन्तरिक शक्तिको पहचानें तथा उसके बल्यर अपने विकासका प्रयास करें। परिवार ही वह इकाई है जहाँसे इसका प्रारम्भ किया जा सकता है। प्रत्येक परिवारका मुखिया तथा अन्य बड़े लोग अपने आचरणको अनुकरणीय बनायें। ऐसा करनेमें कुछ लोगोंको कुछ समयका कठिनाइयोंका सामना करना पड़ सकता है। परंतु आगे चलकर उसके सुपरिणाम अवश्य निकलेंगे तथा भागी पीढ़ी भी दिग्भान्त होनेसे बच सकेंगी।

चरित्र-निर्माणकी चुनौती हमारे समझ है। इसके अभावमें व्यक्ति और समाज दोनों ही कष्टमें हैं। इसका समाधान हम करना नहीं चाहते। यदि चाहें तो कार्य कठिन नहीं है। जीवनका महत्व त्यागमें है। त्यागमय जीवनसे थोड़े समयके लिये कठिनाई अवश्य हो सकती है, परंतु आगे उससे लाभ ही मिलना है। इसके लिये हमें अपनी ही शक्तिको पहचानना है तथा उसीपर अपने तथा समाजके विकासके लिये निर्भय रहना है। अपनी आन्तरिक शक्तियों पहचान लेनेपर हमें किसी बाह्य शक्तिके सहारेकी आवश्यकता नहीं होगी। यह आत्मशक्ति ही सुदृढ़ चरित्र प्रदान करेगी जो व्यक्ति, समाज और गष्टको आगे बढ़ानेमें सहायक होगी। अतः आत्मशक्तिको पहचानो; उठो, जागो, बड़ोंके पास जाकर समझो-बूझो—‘उत्तिष्ठन जाप्तन, प्राप्य वराजिवोधत।’

चरित्र-निर्माता आचार्यका दायित्व

(लेखक—श्रीनवसिंहजी तिवारी, एम.० छ० (अंग्रेजी, समाजशास्त्र), बा० एड०)

वर्तमान समयमें चारित्रिक उच्छयनकी अत्यधिक आवश्यकता अनुभव की जा रही है। इसका शास्त्रीय कारण यह है कि चरित्र ही धर्म, अर्थ, काम एवं सोक्ष-प्राप्तिकी आधारशिला है। ताल्कालिक आवश्यकता है कि राष्ट्रमें व्यवस्था बनी रहे। आज जीवनके विभिन्न क्षेत्रोंमें विकासकी गति निःसंदेह पूर्वापेक्षा तीव्रतर है; किंतु चारित्रिक दृष्टिसे हमारा समाज क्रमशः निर्बलतर होता जा रहा है। यह चिन्ताकी बास है। यही कारण है कि न केवल शिक्षा-शास्त्रियोंने चरित्र-निर्माणपर बल दिया है, वरन् युगपुरुष गाँधी एवं विनोबाने भी चरित्र-निर्माणकी आवश्यकताका अनुभव किया।

अब प्रश्न यह उठता है कि बालकके चरित्र-निर्माण-का दायित्व समाजके किस वर्गपर अधिक है? यह निर्विवाद सत्य है कि समाज देशकी भावी पीढ़ीको शिक्षकके हाथोंमें इस विद्यासके साथ सौंपता है कि वह उसके सर्वांगीण विकासकी योजना बनाये और उसे क्रियान्वित करे। अतः इसका सम्पूर्ण उत्तरदायित्व अध्यापक, शिक्षक या आचार्यवर्गपर हो जाता है। शिक्षासे यदि चरित्र न बना तो शिक्षाकी अनन्य साधारण उपयोगिता ही क्या रही? वास्तवमें शिक्षाका उद्देश्य भी पहले चरित्र-निर्माण ही रहा है। प्लेटो, अरस्तु तथा सुकरात आदिने शिक्षाका मुख्य उद्देश्य चरित्र-निर्माण ही बताया है। आज शिक्षाका उद्देश्य जीविकोपर्जन हो गया है। हम चरित्र-निर्माणके पावन उद्देश्यसे अपनेको विरत नहीं कर सकते। यही कारण है कि आधुनिक भारतीय शिक्षा-शास्त्रियोंमें आचार्य नरेन्द्रदेव एवं सर राधाकृष्णन् ने भी शिक्षाके पाठ्यक्रममें चरित्र-निर्माणसम्बन्धी नैतिक मूल्योंके समायेशपर पूर्ण बल दिया था। इसीका यह द्व्युपरिणाम है कि खत्तमालाके ३५ वर्षोंके लम्बे अन्तरालके बाद ही सदी, पर हमारी

सरकारने माध्यमिक विद्यालयोंके पाठ्यक्रममें नैतिक शिक्षाका समावेश किया है। पर हमें पाठ्यक्रममें नैतिक शिक्षाके समावेशमात्रसे ही सतुष्ट नहीं हो जाना चाहिये। चरित्र-निर्माणका सम्बन्ध उपदेशकी अपेक्षा आचरणसे अधिक है। उपदेश देना तो सरल है, किंतु उस उपदेशको व्यक्तिगत जीवनमें आचरणकर शिक्षा देते थे, वे ही आचार्य कहलाते थे। उनका मानसम्मान भी समाजमें अत्यन्त उत्कृष्ट कोटिका था।

शिक्षा हमें अंधकारसे प्रकाशकी ओर लाती है, अतः चरित्र-निर्माणमें आचार्य अथवा अध्यापक या शिक्षककी भूमिका निर्विवाद महत्वपूर्ण है। आचार्य अपने इस दायित्वसे उदासीन नहीं रह सकता। आचार्यका शास्त्रिक अर्थ-स्वारस्य है कि जो स्वयं आचरण करता हुआ शिष्योंको सदाचरणकी शिक्षा दे, वह आचार्य है। बालक अपने शैशवकालसे ही आचार्यका सानिध्य प्राप्त कर लेता है। प्राचीनकालमें शिक्षा देनेका कार्य आचार्य नपने आश्रमोंमें करते थे। आज वह व्यवस्था लुप्त हो चुकी है। आचार्य अपने आचरणसे बालकपर ऐसा प्रभाव डालते थे कि बालक उसी रंगमें रँग जाता था। उसमें धैर्य, क्षमा एवं अस्तेय आदि गुणोंका स्वतं समावेश होकर विकास हो जाता था।

आज परिवर्तित सामाजिक परिवेशमें भी युगपुरुष गाँधी एवं सन्त विनोबाने उपदेशपर कम, किंतु आचरणकी सम्यतापर विशेष बल दिया है। यदि हम ऋषि-महर्षियों-की बाणी नहीं समझ सकते थपत्रा समझकर भी नहीं मानते तो भी युग-पुरुषकी बात तो माननी ही चाहिये। गाँधीजीने तो राजनीतिके क्षेत्रमें भी नैतिकशाका खाग नहीं किया। उनकी नैतिकताने उन्हें 'महात्मा' बनाया।

आज समाज सक्रमणकी लिंगिसे गुजर रहा है। ऐसी दशामें आचार्यको खतः आगे आना होगा। उसे चरित्र-निर्माणके अपने गुरुतर दायित्वको खयं बहन करना होगा। बालकको अपने आचार्यका सांनिध्य प्राप्त है। उनसे गुण लेना चाहिये। आचार्यको चाहिये कि वह अपने छात्रोंमें ऐसे सद्गुणोंका समावेश करे, जिसकी संजीवनी शक्ति लेकर बालक समाजके विभिन्न क्षेत्रोंमें प्रवेश कर राष्ट्रका गौरववर्द्धन कर सके। चरित्रवल सबसे बड़ा बल होता है। जिस व्यक्ति अथवा राष्ट्रमें चरित्र-बल नहीं होता वह शीघ्र ही अपना अस्तित्व खो बैठता है। आज चारित्रिक गिरावट हमारे लिये सबसे बड़ी चुनौती है। इस चुनौतीका समर्थ रचनात्मक समाधान वास्तवमें शिक्षकके ही पास है। अतः आजके समाजको शिक्षकसे यह अपेक्षा है कि वह इस चुनौतीको अद्वीकार कर अपने छात्रोंके चरित्र-निर्माणके कठिन कार्यमें अपनेको मनसा, वाचा एवं कर्मणा समर्पित कर दे। वह उनमें व्याग, दया, शील, सहानुभूति, स्वावलम्बन, सत्य, शौर्य एवं विश्ववन्धुवके पावन एवं शाश्वत गुणोंका समावेश करे। इससे बालक चरित्रवान् नामक होकर समाजके विभिन्न दायित्वोंका सफलतापूर्वक बहन कर सकेगा। आज राष्ट्रको आणविक शक्तिसे अधिक

चारित्रिक शक्तिकी आवश्यकता है। इस आवश्यकताको समाजके क्षषा एवं वास्तविक द्रष्टा आचार्य ही पूर्ण कर सकते हैं। भारतका भविष्य आज शिक्षकोंके हाथोंमें सुरक्षित है। शिक्षकोंसे भी यही अपेक्षा है कि वे अपने छात्रोंमें रामका शौर्य, भरतका त्याग एवं लक्ष्मणका सेवाभाव भरें। भारतके ये भावी नागरिक तब भविष्यकी हर चुनौतीका सामना करनेमें समर्थ हो सकेंगे। इसमें रंचमात्र संदेह नहीं कि आजकी विषम एवं विपरीत परिस्थितियोंमें भी यदि आचार्य दृढ़ संकल्पके साथ तैयार हो जायें तो वे देशकी भावी पीढ़ीको चरित्रवान् नागरिक बनाकर उसे अधःपतनके गतमें जानेसे बचा सकते हैं। महात्मा कवीरने ठीक कहा है—गुरु अथवा शिक्षक 'गोविन्द'का ज्ञान करानेमें सक्षम है। वह अपने राष्ट्रको चरित्रवलसे ही सुदृढ़ बना सकता है। आवश्यकता है कि आचार्य, प्राव्यापक, अच्यापक या शिक्षकके गौरवमण्डित पदपर प्रतिष्ठित व्यक्ति इस ओर अप्रसर हो। वे आत्म-कर्तव्य मानकर दायित्वपूर्ण कार्यक्रमोंसे इस अपेक्षाकी पूर्ति करे। यदि यह वर्ग ऐसा कर सका—जो आज भी इस स्थितिमें भी समर्थ है तो भारत पुनः विश्वका जगद्गुरुत्व या आचार्यत्व कर सकेगा।

छात्रोंमें चरित्र-निर्माणकी आवश्यकता

(लेखक— आचार्य श्रीरेवानन्दजी गोड)

शिक्षा-जगत्का अधिष्ठाता आचार्य या गुरु है। एक ममय था, जब गुरु गौरवशाली, ब्रह्मज्ञानी, त्यागी, तपस्ती और समाज-संचालक थे। उस समय वे सर्वाधिकारी होकर दिव्य गुणोंके आधारपर खतन्त्र विचरण करते थे। भारतीय संस्कृतके पोषक गुरु अपने जीवनमें शिष्यसे— पुनर्से पराजय चाहते हैं—‘पुत्राच्छिष्यात् पराजयम्।’ इसी गरिमाके कारण वे पन्टनीय, महनीय और गोविन्दसे भी उत्थते थे। उन्हें—‘गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेऽब्रह्मः

कहकर सम्मानित किया जाता था। पर आज वरतन्तु, समर्थ गुरु रामदास, मुनि सांदीपनि, गर्गचार्य आदिकी कल्पनामात्र शेष है। शिक्षाजगत्के प्रहरी मानो सुप्त हैं।

शिक्षाजगत्की आधारशिला है—विद्यार्थी। उसका मन, उसकी दुनिं बड़ी कोमल और स्वच्छ होती है। मातापिता पहले उसके चरित्र-निर्माणके लिये विज्ञ आचार्योंके पास मेजाते थे। वही उसके दृट्यमें खर्जिम राशियाँ उदय होती थी। वह ‘आचार्यदेवो भव’ का पात्र वा समग्र

समता, सतोष, स्वाव्यायको परमनिधि समझता था। वृद्धोंकी सेवा और गुरुजनोंकी प्रणतिसे आयु, विद्या, यश और ब्रह्मवल्लकी वृद्धिसे 'साक्षा जीवन उच्च विचार' उसके व्यक्तिव्याप्ति में साकार हो उठता था। उपनिषदें प्रमाण हैं— 'तद्विज्ञानार्थं सः गुरुमेवाभिसंगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्।' उसे वहाँ आत्मदर्शन भी होता था—'आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः।'

गुरुके आश्रम अरण्यमें थे। राजा लोग तन-मन-धन-अन्नसे उनकी सेवा करते थे। विद्यार्थी समाजके अन्नसे पलता और राष्ट्रसे संरक्षण पाता था। वह समाज और राष्ट्रका क्रृति था। आजीवन समाज-सेवा, राष्ट्र-संरक्षण ही उसका चिन्तन था। वह अपने लिये नहीं, परार्थके लिये जीवित था। विद्यार्थीका एक सार्थक नाम छात्र है। छात्र शब्द छत्रसे बना है। छत्र (छाता) वर्षा-आतंपसे रक्षा करता है। विद्यार्थी भी गुरुके दोषोंको आच्छादित कर समाज और राष्ट्रकी छत्रवत् सेवा करता था। वह स्वयं आपत्तियोंको झेलता, जलता और मरता, पर दूसरोंकी अहर्निश सेवा करता था। वह— 'जागृयाम वर्यं राष्ट्रे पुरोहिताः' का प्रतीक था। अतः रामकृष्ण, एकलब्ध्य, उपमन्यु, कौत्स, गाँधी-जैसे उच्चादर्श छात्र इतिहासके रूप बन गये। पर आज शिक्षाका आधार पूर्णतः ढाँचाडोल है। विद्या विवेककी जननी है। मनुष्यका सर्वोत्तम आभूषण विद्याका सौरभ है—विनय। विनयकी परिणिति है—पात्रता, योग्यता। उससे धन, धनसे धर्म और धर्मसे प्राप्त होता है—आन्तरिक सुख। विद्याके बिना मनुष्य पशु है। वह आत्मस्वरूपसे विमुख रहता है। मानव-जीवनमें विद्या सर्वोपरि है। कृष्णियोंने पद-पदपर कहा है—'सा विद्या या विमुक्तये, विद्यया-मृतमश्नुते।' विद्याका लौकिक क्रमिक फल या धर्म एवं सुख—विद्या दक्षानि विनयं विनयाद्याति पात्रताम्।

पात्रत्वाद् धनमाप्नोति धनाद्वर्मस्ततः सुखम्

विद्याका लक्ष्य केवल अर्थोपार्जन, उदारपूर्ति नहीं था। शिक्षा काष्ठन-कामिनी-कामनासे दूर—धर्म, मोक्ष-प्राप्तिका सोपान थी। वह अध्यात्म-विचारोंकी अधिष्ठात्री, मानवीय गुणोंकी उपदेशिका और अध्यात्मचरित्रकी उन्नायिका थी।

आज स्थिति भयावह है। इस जगत्के शिक्षक, शिक्षार्थी और शिक्षा ये तीनों अङ्ग आत्मस्वरूपसे विमुख हैं। इसका प्रमुख कारण है—धर्म-निरपेक्ष प्रशासनका अनर्थीकरण, धर्मनिरपेक्षताका वास्तविक अर्थ न जानकर धर्म, नीति, सत्कृतिपर कुठाराघात। लाड मेकालेकी दुरभिसंघि सफल हुई, जो शिक्षा अमृतलता थी, वह विश्ववल्लरी बन गयी। उसका विष राष्ट्रके हर क्षेत्रमें फैलता जा रहा है। इसका सबसे अधिक कुप्रभाव विद्यार्थि-वर्गपर पड़ा। इससे वह वेषभूषा, आचार-विचारसे कलका नास्तिक डॉक्टर, इंजीनियर और अध्यापक बनकर अपने बातावरणको दूप्रिति करता रहेगा।

धर्मविहीन आधुनिक शिक्षाने युवाओंको ऐवरेस्टकी चोटीसे उत्तर पर एक ऐसी अधेरी तलहटीमें और्धे मुँह पटक लिया है, जहाँ उसकी चेतना, मानवीय भावना, सार्थकीय, राष्ट्रिय और धार्मिक साधना लुप्त हो गयी है। सद्वाव, सत्साहित्य और सत्सङ्गसे विमुख होकर हड्डताल, तोड़-फोड़, लूट-खसोट करनेमें गुरुजनोंकी अवहेलना, किशोरवस्थामें अनायास सुलभ दुर्योगोंमें फँसना, अनु-शासनहीनता, नेतागिरी, निन्दनीय कार्योंमें नेतृत्व करना उसकी शान है। वह ढोल बजाकर अपने साथियोंको वरगलाता हुआ कहता है—'गुरुमे श्रद्धा रखना दक्षियानूसी, सेवा करना चापद्धसी, आज्ञा मानना भोन्दूपन और अनुशासनमें रहना पराधीनता है। अध्यापक पढ़ाता है तो क्या एहसान करता है। वह तो वेतन पाता है।'

भारतमाताकी आशाके केन्द्र शिक्षा-मन्दिरके वेदार्थियोंके लिये धर्म-निरपेक्ष शिक्षा अभिशाप बन गयी।

धर्मनिरपेक्षताकी आङ्गमें शिक्षा धर्मविमुख, चरित्रहीन होती जा रही है। आज देशमें प्रत्येक स्तरपर हर दिशामें जन-जनके मानसमें त्रास, पतन, उथल-पुथल मच रही है; राजनीतिमें अनाचार, भ्रष्टाचार, समाजमें बलात्कार, चौरी, डकैती, अपहरण, हत्या बढ़ रही है। व्यक्तिमें सजावट, दिखावट, दनावट पनप रही है। भारतीयता ठुकरायी जा रही है। हिन्दुत्व मिटाया जा रहा है। संस्कृति-पर नया रंग पोता जा रहा है। शिक्षाके प्राण चरित्रका हनन हो रहा है। अत्यन्त विप्रम परिस्थिति तो यह है कि विद्यार्थीका जीवन जर्जर है। उसके कर्तव्य, आदर्श और धर्म लूपसे हैं। फलतः उसमें विनयके स्थानपर उदाहरण, खतन्त्रताके नामपर खच्छन्दता और अनुशासनमें बन्धनकी गन्ध आने लगी है। फलतः ऋषिभूमि और ज्ञानभूमिका विद्यार्थी वीहड़ी और ऊपर भूमि बनकर रह गया। एक समय था, जब आचार्य द्वोणके संकेतपर एकलव्यने अँगूठा काटकर उन्हें गुरुदक्षिणा दी थी। पर आजका विद्यार्थी गुरुदक्षिणामें गुरुको अँगूठा दिखा देता है। माँ सरस्वतीके पावन शुभांगिदरका पुजारी जुआरी, विद्यालय भ्रष्ट राजनीतिके अंखोंमें खात्रावास असामाजिक तत्त्वोंके अझे दने हैं। वर्तमानमें उसमें न संयत आचरण है और न विद्याकी कोई बात ही।

ऐसी विप्रम परिस्थितिमें समाज और प्रशासनका चिन्तित होना सामानिक है। उसके आदर्शों और चरित्रकी रक्षाके लिये अनेक समितियाँ बनीं, आयोग गठित हुए। राष्ट्रपति तथा प्रधान मन्त्रीतकने शिक्षामें आमूलचूल परिवर्तनकी बात कही। सभीने एकमतसे शिक्षामें धर्म-शिक्षा-नीतिकताके समावेशकी महत्ता स्तीकार की। पर विचार-विचार ही रह गये। छल है, पर महक नहीं। इन्सान है, इन्सानियत नहीं। शिक्षा है, पर सदाचार नहीं। संख्यात्मक दृष्टिसे शिक्षा, शिक्षालय, शिक्षार्थी, शिक्षकोंकी भरमार है। पर गुणात्मक दृष्टिसे कुछ नहीं।

विद्यार्थी सुषिका शृङ्खार है। उसमें चरित्रनिर्माण हो, ऐसी नैतिक शिक्षा नितान्त आवश्यक है। धर्म

नैतिकताका जनक है, अतः धर्मसमन्वित शिक्षा ही नैतिक शिक्षा है। सत्-असत्-मूचक शिक्षा विद्यार्थी-जीवनमें राडारयंत्र है। धार्मिक शिक्षा समाजको स्वस्थ, सतुलित रख धर्म-अर्थके लिये प्रेरित करती है तथा वैयक्तिक-सामाजिक विकास, देश, काल, पात्रकी मूल्य विवेचनाको जन्म देती है। यह केवल धर्मतक ही सीमित नहीं, अपितु जीवनको सदैव संस्कृत-परिष्कृत करती है। सत्-शिक्षा वह दिव्यौपवित्र है जिसके सेवनसे विद्यार्थी वर्ग सन्मार्गपर चलेगा। धार्मिक शिक्षातंत्र ही विद्यार्थीको प्रगतिशील और उदीयमान प्रकाशकी भाँति चमकायेगा।

विद्यार्थी समाजका श्रेष्ठ अङ्ग है। उसका अन्तःकरण खच्छ दर्पण है। उसपर समाजके दुरुचित्रियोंका, विधान-सभा-लोकसभाके अभद्र क्रियाकलापोंका, अश्लील चलचित्रोंका, चमकीली चुस्त वेशभूपाका, 'सेक्स' पुस्तकोंका और छात्रावासकी कुसङ्ग व्याधिका प्रभाव स्तरः हा जाता है। निन्दनीय नेता, व्यसनी आचार्य, अन्धा, गूंगा, बहरा प्रशासन भी उसके अधःपतनके कारण हैं। अतः विद्यार्थीयोंके चरित्रनिर्माणके लिये इन बाधक तत्त्वोंको मिटाना आवश्यक है, अन्यथा इस अवसरकी जरा भी भूल जीवनभरके लिये अभिशाप बन सकती है। उसके सुधारके लिये माता-पिता, गुरु, परिवार, मित्र-मण्डल और प्रशासनतंत्रकी खच्छता अत्यावश्यक है। एक विद्यार्थीका सुधार केवल एक इकाईका सुधार नहीं, वह सैकड़ों व्यक्तियोंका सुधार है।

विद्यार्थीके चरित्र-निर्माणके लिये ये दस बातें नितान्त अपेक्षित हैं— १—सुसंस्कृत बालक ही जीवनमें प्रकाश और शक्ति दोनों प्राप्त करते हैं, २—उनकी प्रारम्भिक शिक्षा योग्य सदाचारी आचार्यद्वारा सम्पन्न हो, ३—विद्यालयोंमें दार्शनिक महात्माओंको आमंत्रित कर प्रवचनकी व्यवस्था हो, ४—अश्लील साहित्य, चलचित्र, रोमांटिक जासूसी

पुस्तकोंपर प्रतिबन्ध लगे, ५—पूर्ण मनोयोगके साथ अध्ययन, ६—गुरुजनोंका अभिवादन, ७—नित्यका काम नित्य करना, ८—सादा जीवन, ९—ब्रह्मचर्यव्रत-पालन तथा १०—मादक पदार्थोंका त्याग भी आवश्यक है।

आज विद्यार्थीके चरित्र-निर्माणकी व्यापक आवश्यकता है। इस विषम परिस्थितिमें इन सिद्धान्तोंको नकारा नहीं जा सकता। अतः समाज और प्रशासनका सब ओरसे ध्यान केन्द्रित कर पक्क इसका सुधार अवश्य करना चाहिये।

राष्ट्रिय चरित्र-निर्माण—आजका जाग्रत् प्रश्न

(लेखक—श्रीविन्द्येश्वरीप्रसादजी मिश्र, 'विनय' एम्० ए०)

भारतवर्ष अपनी सम्यता और संस्कृतिके उषःकालसे ही लोकोत्तर चारित्र्य-सम्पदासे समन्वित एक दिव्य देश रहा है। यहाँ माताकी गोदसे ही चरित्र-निर्माणकी शिक्षा आरम्भ हो जाती थी। वही परिणतवयमें दिग्न्त-ध्वल, अनुकरणीय विभूति बनकर समग्र राष्ट्र किंवा विश्व-ब्रह्माण्डको विद्योतित करती थी। ऋग्वेद ५।५१।१५ की मन्त्रशृङ्खलामें अनुप्रथित है—

स्वस्ति पन्थामनुचरेम सूर्यचन्द्रमसाविव ।

'हम कल्याणमार्गके उपदेश—जाग्रत् प्रहरी सूर्य और चन्द्रका अनुसरण करते हुए अपना चरित्र-निर्माण करें'—यह इस राष्ट्रकी सामान्य जनभावना थी। इसने इसको 'विश्वगुरु'की महनीय पदवीमें प्रतिष्ठित कर दिया था। इसीलिये भारत 'भारत' (सारखत-शेषुषी-संलग्न) था; क्योंकि यह मूलतः आयोंकी मातृभूमि, तपःस्थली-'आर्यावर्त' था। आर्यशीलता यहाँ नागरिकताका अनिवार्य शर्त रही।

'आर्य' किसी ऐतिहासिक जातिका अभिधान नहीं है, प्रत्युत प्रधानतः जीवनकी प्राञ्जल अर्थवत्ताका वोधक चारित्र्य-सकेत है। आर्य वह है, जो कर्तव्यका आचरण और

अकर्तव्यका परियाग करे। प्रकृतिके नियमोंका अतिवर्तन न करते हुए जो देश-काल, परिस्थितिके अनुसार अपने शास्त्रोचित समुदाचारका पालन करें।' अपने सुखमें जो अधिक इतराता नहीं और दूसरेको कष्टमें देखकर प्रसन्न नहीं होता। जो विहित दान आदि धर्म्याचरणोंमें धनका व्यय करके फिर लोभवश पश्चात्ताप नहीं करता।' प्राचीन भारतमें आर्यशील सत्पुरुषका यह वृत्तविशेष ही समष्टिका चारित्रिक-मानदण्ड माना जाता था। यहाँका प्रत्येक व्यक्ति इसी आदर्शके अनुसार अपनेको ढालनेकी चेष्टा करता था। दूसरे शब्दोंमें आर्यशीलताकी यह साधना ही चूर्णित हुए थे। पद्धति थी। इसके द्वारा व्यक्ति, परिवार-जन्म और समाजके क्रमसे सम्पूर्ण राष्ट्र उपकृत होता था।

इस देशके मन्त्रदृष्टा मनीषियोंने मानव-मनोविज्ञानका निशेषतया अध्ययन किया था। उन्होंने यह जान लिया था कि उन्मुक्त स्वेच्छाचार उसके हितमें नहीं है। मनुष्यके लिये देवत्व और अमृतत्वकी ओर पदन्यास करनेमें निर्गल-आचरण सर्वदा बाधक रहा है। मानव-व्यक्तिका संघटन उसके आचार-न्यवहारसे ही निश्चित होता है। श्रुतिका निर्णय है—

*—कर्तव्यमाचरन् काममकर्तव्यमनाचरन्। तिष्ठति प्राकृताचारे यः स आर्य इति स्मृतः ॥
यथाचारं यथाशास्त्रं यथोचित् यथास्थितिः ॥ व्यवहारमुपादत्ते यः स आर्य इति स्मृतः ॥

(योगवासिष्ठ ६।२।१२६।५४५५)

+—न स्वे सुखे वै कुशते प्रहरे नान्यस्य दुःखे भवति प्रदृष्टः। दत्त्वा न पश्चात् कुशतेऽनुतापं स कश्यते सत्पुरुषार्यशीलः ॥
(महाभागत, विद्वरप्रजागर० २। ३९)

स्त्र यथाकारी यथाचारी तथा भवति :
(बृह० उप० ४ । ८ । ६)

‘जो जैसा कर्म तथा आचरण करता है, वह क्रमशः वैसा ही होता जाता है ।’ साधु कर्मोंका अनुष्ठान सच्चित्र तथा दुष्कर्मोंका आचरण करनेवाला दुश्चित्र हुए बिना नहीं रह सकता । ‘यथाकारी’—‘यथाचारी’का तात्पर्य क्रमशः इस प्रकार है—

‘करणं नाम नियता क्रिया, विधिप्रनिषेधादिगम्या । चरणं नामानियतमिति विशेषः ॥’ (उक्त बृहदा० ४ । ४ । ५ पर शाक्रभाष्य)

‘यथाकारी’में करणका तात्पर्य ‘यह करो—यह मत करो’—इस प्रकारकी विधि-निषेध-प्रणालीसे उपलक्षित शास्त्रीय धर्माचरणसे है । ‘यथाचारी’में ‘चरण’ पट विधि-निषेध-निर्मुक्त अनियत स्वैराचारका वोधक है । नियम यह है कि जिन कार्योंका विवेकपूर्वक सावधानतासे अनवरत अनुष्ठान किया जाता है, वे ही आगे अत्यन्त सहज बनकर चरित्र, आचार, वृत्त और शीलकी संज्ञा प्राप्त कर लेते हैं—चरणं चरित्रं चरणं शीलमित्य-नर्थान्तरम् (ब्रह्मसद्गुरु ३ । १ । १८ पर शब्दः शब्दः २) ।

सद्वृत्तोंके बीज वशपरम्परासे दायके हैं प्राप्ति प्राप्त हो सकते हैं । पर उन्हें अङ्गुष्ठित करके सर्वभौम चारित्र्यवृत्त बनानेके लिये व्यक्तिको स्वय अथक साधना और अध्यवसाय करनेकी आवश्यकता है । भारतमें सद्वृत्तसे हीन कोई व्यक्ति केवल अपने उज्ज्वल कुल या महनीय वंशपरम्पराके आधारपर ही महत्व नहीं प्राप्त कर सकता था—

न कुलं दृत्यहीनस्य प्रमाणमिति मे सतिः ।
(महा० उद्योगपर्व ३६ । ३०)-

विदुरकी यह उक्ति इसका प्रमाण है । चरित्र-निर्माण निजके बल-ब्रूतेका कार्य है । आनुवंशिक

रम्परा, पर्यावरण और परिस्थिति केवल उसकी प्रेरणा ही हो सकते हैं, उसका म्यान नहीं हो सकते । निष्कार्य यह कि चारित्र्य अर्जित किया जाता है, उत्तराधिकारमें प्राप्त नहीं हो जाता ।

यह अर्जित सच्चात्तिय भी सर्वथा निर्विक्षण नहीं है जाने कौन-सी ऐसी परिस्थिति आ जाय, जिसमें प्रभावित होकर हम अपने आदर्शभूत ‘र्णाल’का परित्याग कर दें । इस वातको लक्षित करके ही भारतीय महापुरुषोंने इसे कुल, धन, किंवद्दना जीवनसे भी अत्रिक महत्वशाली निवृत्ति किया है ॥ । यो तो सद्वृत्तका विधात करनेमें अनेक स्थितियाँ कारण हो सकती हैं, किंतु कामोपभोगार्थ, अधिक धनसंग्रह करनेकी मानसिक स्थिति अर्थात् लोभकी वृत्ति इसमें प्रमुखत्वपूर्वक कार्य करती है । कहा जाता है—‘लोभः पापम्य कारणम् ।’

जब व्यक्ति समाज या राष्ट्रमें ‘वर्मार्थकाममोक्ष’ के पुरुषार्थचतुष्टयमें केवल ‘काम’ और उसके प्रमुख साधन ‘अर्थ’ को ही अपना या अपने युगका परम पुरुषार्थ मानने लगता है, तब सारे उदात्त आदर्शोंकी आन्तर-भित्ति शानैः-शानैः वराशायी होने लग जाती है । फलतः व्यष्टि या समष्टिका चरित्र-निर्माण संकल्पमें पड़ जाता है । कालके प्रभावसे आज हमारे भारतवर्षकी यही चिन्त्य दुःस्थिति हो रही है । पाथात्य भौतिकवादी विचारधाराने क्रमशः कुछ ही शताव्दियोंमें सहस्रान्तियोंसे चली आ रही सांस्कृतिक-शेवथि एवं आध्यात्मिक चिन्तन-वाराको अस्त-व्यस्त और छिन्न-भिन्न कर दिया है । विश्वकी अंधाधुन्ध प्रागतिक दौड़में अब किसीको कुछ झण रुक कर सोचने-विचारनेका भी अवकाश नहीं रह गया है । आजका सम्पूर्ण प्राप्तव्य ‘भोग’ है, जिसके लिये सर्वात्मना अर्थोपार्जन ही अनिवार्य आवश्यकता

* शील प्रभानं पुरुषे तद्यस्तेष्ट प्रणव्यति । न तस्य जीवितेनार्थे न कुलेन धनेन च ॥

(महा० भा० ८ । ३५)

बन गया है। विज्ञानके अन्यथिक यान्त्रिक विनियोगसे उत्पन्न जड़ताने भारतकी आर्षचरित्र-मर्यादाको भी अक्षुण्ण नहीं रखा; परिणामतः सर्वत्र अशान्ति और उद्भ्रान्तिके बादल मँडराते दीखते हैं।

हमारी प्राचीन राष्ट्रिय मान्यता सर्वथा निवृत्तिपरक रही हो, ऐसी बात नहीं है। यहाँ धन-सम्पत्तिका अर्जन, संरक्षण और उपभोग—तीनों विहित आवश्यक कार्य माने जाते थे; किंतु तब इन सबके मूलमें शुद्ध-सात्त्विकताकी प्रेरणा अनिवार्य वस्तु थी। वैदिक ऋषि न्यक्ति और राष्ट्रकी सुख-समृद्धिके लिये शुद्ध उपार्जनका ही आश्रय लेते थे। पुण्य-शालिनी लक्ष्मी ही उनकी उपास्या थी। पतनकारिणी पापमयी वैभव-विभूति उन्हें आकाङ्क्षित न थी। अर्थवेद-(७। ११५। ४) के मन्त्र-द्वया ऋषिका कथन है—‘पुण्यसे अर्जित की गयी सम्पत्ति ही मुझे प्राप्त हो, पापसे धन कमानेकी वृत्तिको मैंने नष्ट कर डाला है’—

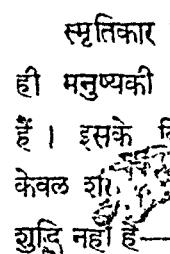
रमन्तां पुण्या लक्ष्मी याः पापास्ता अनीनशम्।

पर आज स्थिति सर्वथा विपरीत है। पाप-पुण्यका विचार अन्धविश्वास बन गया है। शास्त्रों और स्मृतियोंमें प्रतिपादित अनुशासनों और चारित्र्य-विधायक सूक्तियोंका मात्र साहित्यिक या ऐतिहासिक दृष्टिकोणसे उपयोग किया जा रहा है अथवा अपनी दैनिकचयमें इन आदर्शोंका उसी सीमातक पालन किया जा रहा है, जहाँतक वे प्रभूत द्रव्यसंग्रहमें बाधा न डालते हो। उठारता भी प्रचारकता की साधिका हो रही है। सारांशतः व्यक्तिके कमसे सम्पूर्ण राष्ट्र आज अर्थको उद्देश्य बनाकर चल रहा है। परिसर्जना या राजनीति, शासकीय-सेवा हो या साहित्यिक गतिविधि अथवा समाजके उत्थानकी कोई योजना हो, सर्वत्र सबके मूलमें अन्धी अर्थनीति ही अनुस्यूत दीखती है। इसके लिये इमें अपने सुन्दर सास्कृतिक चरित्रकी ही चक्षि-

देनेको विवश नहीं तो साहसिक होना पड़ता है। हमारे राष्ट्रिय प्रन्थ महाभारतमें अनेक ‘वित्त-संरक्षण’-की अपेक्षा वृत्त-संरक्षण अर्थात् चरित्र-रक्षाका ही माहात्म्य अधिक वर्णित है। वित्त अर्थात् धन-सम्पत्ति तो आने-जानेवाली है, अतएव उसके लिये अपने व्यक्तित्वके स्थैर्य-भूत चारित्र्यकी उपेक्षा करनी उचित नहीं है। धन-सम्पत्ति वस्तुतः व्यक्तित्वका अङ्ग नहीं है, अतएव उसके क्षीण हो जानेपर भी व्यक्तित्वकी कोई क्षति नहीं होती; किंतु चरित्र तो व्यक्तित्वका साधारण अङ्ग ही नहीं, अपितु उसका प्राग है; अतः उसके नष्ट हो जानेपर तो व्यक्तिका सामाजिक-सांस्कृतिक खरूप ही नष्ट हो जाता है—

बृत्तं यत्नेन संरक्षेद् वित्तमेति च याति च।
अक्षीणो वित्ततः क्षीणो बृत्ततस्तु हतो हतः॥

(महाभारत ५। ३५)

स्मृतिकार महाराज मनु भी अर्थोपार्जनकी शुद्धिको ही मनुष्यकी सूक्ष्मशुद्धि (और अलंकृति) मानते हैं। इसके साथौरा (साबुन) और जल आदिसे केवल शूद्धि वस्त्रोंकी शुद्धि कर लेना वास्तविक शुद्धि नहीं है—

सर्वप्रमेव शौचानामर्थशौचं परं स्मृतम्।
योऽर्थं शुचिः स हि शुचिर्न मृद्वारिशुचिः शुचिः॥

(मनुस्मृति ५। १०६)

अर्थकी शुचिताका यह शास्त्रीय सिद्धान्त पूर्णतया वैज्ञानिक भूमिपर स्थित है। अन्याय और असदाचारसे उपर्जित धन प्रारम्भसे ही दुर्भवना-दूषित होता है, फिर इसके उपभोगसे और भी अधिक दुर्भवनाएँ जागती हैं; परिणामतः अन्य और दुराचारका यह चक्र एक व्यापक वृत्त-सा बनकर सार्वजनीन ‘चरित्र’ का हनन करने लग जाता है। आज यह व्यापक—वल्कि विराट् रूप धारण कर चुका है। यद्यपि मानवके चरित्रनिर्माणमें अर्गशुचिनाके अनिक्त और भी अनेक

तत्त्व हैं, (जिनकी चर्चा कारणवश यहाँ नहीं की जा सकी है) तथापि उन सबके मूलमें प्रथमतया इसीका उल्लेख शास्त्रकारोंने किया है। अतएव यहाँ हमने कुछ विस्तारसे इसपर विचार किया है।

अब यह देखना है कि व्यक्तिकी अर्थ-लोलुपतासे समाज और राष्ट्रके चरित्रपर क्या प्रभाव पड़ता है! व्यक्तिविशेषके शिथिलचरित्र होनेसे पूरे राष्ट्रपर चरित्र-संकट कैसे उपस्थित हो जाता है। वस्तुतः व्यक्ति पूरे राष्ट्रका एक घटक है। अनेक व्यक्तियोंसे मिलकर एक परिवार, अनेक परिवारोंसे एक दुल, अनेक दुलिंगसे एक जाति या समाज तथा अनेकानेक जातियों और समाज-समुदायोंसे मिलकर ही एक राष्ट्र बनता है। आज लोग जब राष्ट्रिय चरित्र-निर्माणकी बात करते हैं, तब वे स्थायं उस राष्ट्रके एक आचरक घटक हैं—इस बातको प्रायः विस्मृत कर जाते हैं। इस अनियन्त्रित व्यवहारद्वारा भोगसंचय करके धोरेंगे तो सच्चरित्रताका उपदेश देते हैं; वाणीसे, लेहरीसे और कभी-कभी ऊपरी आचार-व्यवहारसे इसके पृथिवी-कुँन्हों सचिन्त प्रदर्शित करते हैं। पर जब जीवनमें उत्तरेंकी बात आती है, तब सम्यता और संस्कृतिके बदलते मानदण्डों का हवाला एवं समय और परिस्थितिको उपालम्भ देकर मुक्त हो जाते हैं। हमारा यह नैतिक छद्माकरण समूचे राष्ट्रमें संक्रामक-विभीषिका बनकर प्रसृत हो गया है और हमारे न चाहते हुए भी प्रतिक्रियाकी भाँति और भी सशक्त होकर स्थायं हमारे ही पास लौट आता जा रहा है। क्या हम इस विभीषिकासे भयाक्रान्त एवं संत्रस्त नहीं हैं?

अर्योपार्जनका कौशल और क्षमता अपने-आपमें बहुत ही श्लाघ्य वस्तु है। इसके द्वारा सुख-समृद्धिके

साथ-साथ पौरुष, श्रमशीलता और यात्मानिर्भरता-जैसे सद्गुणोंका प्रचार-प्रसार भी होता है; किंतु इस कौशल या क्षमताका विनियोग संकीर्ण स्वार्थमें नहीं होना चाहिये; अभी ये चारित्र-निर्माणके मुद्दोंमें व्रत सकते हैं। अर्थवेद (३।२४।५) कहता है—

शतशस्त समाधर सहच्रहस्त संकिर।

‘सौ हाथोंसे उपार्जन करो और द्वारा हाथोंसे उसका वितरण करो।’ वेद भगवान्का यह आदेश जबतक हमारा आदर्श नहीं बनेगा, तबतक उपार्जित द्रव्यको हम समाज या राष्ट्रके हितमें प्रयुक्त नहीं कर सकेंगे और तबतक हम मानवजीवनके उच्चस्तर नहीं पा सकेंगे। मनुष्यकी कामनाएँ अनन्त हैं। ‘पृथ्वीमें प्राप्य सभी व्रीहिन्यवादि अन्त, सुवर्णार्दिधन, पशु तथा खियाँ कामनासे पीड़ित किसी एक मनुष्यको भी उस नहीं कर सकते।’ अतः वर्जनमें जबतक वितरणकी मावनाका संनिवेश न होगा, वह आर्यशीलताको अक्षुण्ण रखनेसे अक्षम ही रहेगा। पर क्या हमारी अर्थ-लोलुपता इस दिशामें हमें बढ़ने देगी?

अर्यकी इसी विषमताके कारण अन्य देशोंकी भाँति भारतमें भी वर्गसंघर्ष और सामाजिक-क्रातिकी सत्रेगात्मक धाराएँ छठ पड़ी हैं। इससे आये दिन केवल खण्ड-प्रलयके दृश्य उपस्थित हो जाते हैं। समाजमें सामूहिक रूपसे चरित्र-हननकी भावना भी दृढ़ होती जा रही है। उदात्त चारित्र्यके अभावमें यह सामाजिक-सा हो जाता है, जो अल्पन्त चिन्त्य है।

एक वर्ग, जिसने येन केन प्रकारेण आवश्यकनासे अधिक धन संचय कर लिया है, विलासके चित्र-विचित्र उपादानों और अन्याय-अनाचारके साधनोंसे राष्ट्रको जर्जर कर रहा है तो दूसरा वर्ग जो श्रमिक और शोपित

कहा जाता है, विलास-सामग्रियोंकी चकाचौंधसे उन्मत्त होकर उन्हें प्राप्त करनेके लिये हिंसा और विव्वसंसके कगारपर आ खड़ा हो जाता है। विभिन्न औद्योगिक संस्थानोंमें आये दिन होनेवाली हड्डियाँ और तालाबन्दी, मारपीट और धर-पकड़ इसके प्रत्यक्ष परिणामी उदाहरण हैं।

देशकी अन्तरराष्ट्रिय राजनीतिसे लेकर सामान्य प्रशासन व्यवस्थातक सर्वत्र संकीर्ण स्वार्थ, छल-कपट, दम्भ, जाति, प्रान्त और भाषावादका प्रभाव, राष्ट्रकी चारित्रिक दीसिको धूमिल बना रहे हैं। आध्यात्मिक भावनाके अभाव तथा नैतिकताकी दोलायमान परिस्थितिमें आज केवल क्षुद्रस्वार्थकी पूर्तिके लिये व्यक्ति व्यक्तिसे पृथक् हो रहा है, परिवार खण्डित हो रहे हैं, सम्बन्ध विवर रहे हैं और अब तो राष्ट्रके भी खण्ड-खण्ड होनेकी स्थिति पहुँचायी जा रही है! पर इसके लिये किसे चिन्ता है? नेता हो, प्रशासक हो, समाजसुधारक हो या साहित्य-प्रणेता—सभी इस सर्वग्रासी अन्धकारमें निश्चेष्ट हो रहे हैं। आज तो देवदुर्लभ भारतवर्षके विषयमें भी यह कहनेको विवश होना पड़ता है कि पीत्वा मोहम्मदी प्रमादमदिरामुन्मत्तभूतं जगत्।

आज वैदिक ऋषियों राष्ट्रके सभी संदर्भमें जागरूक रखनेवाला—‘वयं राष्ट्रे जागृयाम पुरोहिताः’ (यजुर्वेद १ । २३)

(हम राष्ट्रको आगे ले चलनेवाले (पुरोहित—मनीषिण) सदैव जाग्रत् रहे) यह मन्त्र आज हमारे लिये प्रेरणाशून्य बन गया है; इसे अपने दुर्भाग्यके अतिरिक्त और क्या कहा जाय?

राष्ट्रिय चरित्र-निर्माण कैसे हो? यह आजका समसामयिक अथव जाग्रत् प्रश्न है, किंतु ऐसी स्थितिमें भी यह सर्वथा अनुत्तरित नहीं है। हम आज भी गम्भीरतासे विचार करके इस समस्याका समाधान निकाल सकते हैं। प्राचीनकालमें भी ऐसी स्थिति रही है—

ऐसा प्रतीत होता है। भारतवर्षमें अनेक बार इसी प्रकारके राष्ट्रिय प्रश्न उठे होंगे, ऐसे ही चारित्रिक संकट भी आये होंगे, तभी तो उस समय हमारे युगद्रष्टा महर्षियोंने राष्ट्रके कल्याण-हेतु अपने वैयक्तिक सुखोंका बलिदान करके त्याग, तपश्चर्या और सर्वभूतोंके हितकारी यज्ञ, दानादिकी दीक्षाके द्वारा समाजका—मोहाच्छन्न मानवताका—उद्बोधन किया और तब यह राष्ट्र पुनः बल और ओजसे भास्तर हो उठा था—

भद्रमिच्छन्त ऋषयः स्वर्विद्वस्तपोदीक्षामुप-
निषेदुरग्रे । ततो राष्ट्रं वलमोजश्च जातम् ॥
(अथर्ववेद १९ । ४१ । १)

भारतवर्ष जीवनकी प्रत्येक दिशाकी भाँति चारित्रिक दिशामें भी जगद्गुरु रहा है। यह वही देश है, जहाँका (अश्वपति-जैसा) प्रशासक मुक्तकण्ठसे कहता था—‘मेरे देशमें कहीं कोई चोर, कृपण, मध्यपायी, दैनिक अग्निहोत्र न करनेवाला, मूर्ख और स्वैराचारी व्यक्ति निवास नहीं करता; फिर स्वैराचरण करनेवाली जी तो हो ही कैसे सकती है?’

न मे द्वे न द्वे न कद्यो न मद्यपः ।
नानाहि भैविद्वन् न स्वैरी स्वैरिणी कुतः ॥
(छान्दोग्य-उप० ५ । ११ । ५)

इसकी चरित्र-सम्पत्ति इतनी विराट् और सार्वभौम थी कि ‘सारे विश्वके मानव इससे अपने-अपने चरित्रिकी शिक्षा ले सकते थे, यहाँका अग्रजन्मा ही विश्वका अप्रचेता महापुरुष था*’। ऐसे अप्रतिम देशके लिये राष्ट्रिय चरित्र-निर्माण कोई असम्भावित वात नहीं है। आवश्यकता बस उसी स्वर्णिम अतीतपथपर दृष्टिपात करके चल देनेकी है; सत्य और ऋतका पथ सुगम है। सत्य और ऋतका मार्ग कभी विषम और कण्टकाकीर्ण नहीं होता—‘सुगा ऋतस्य पन्थाः’ (ऋग्वेद ८ । ३१ । १३)।

'इरहित महतारी...' 'भद्रमुत रूप विचारी।' इसीसे यहाँ केवल 'कौसल्या-हितकारी' पद आया है। जब भगवान् ने पूर्व वरदानकी कथाको श्रीकौसल्याजीसे कहकर उनको संतुष्ट कर दिया—

कहि कथा सुहाई मातु बुझाई जेहि प्रकार सुत प्रेम लहै।

—तब उन्होने प्रार्थना की कि 'प्रभो ! अब आप शिशुलीला करें।'

कीजै सिसुलीला अति प्रिय सीला यह सुख परम अनूपा।

उसके पश्चात् भगवान् जब नर-बालक बनकर रुदन करने लगे—

सुनि बचन सुजाना रोदन डाना होइ बालक सुर भूपा॥

—तब दूसरोंको ज्ञात हुआ। श्रीदशरथादिजीको भी नर-बालकरूपका ही दर्गन मिल सका। पर वह गौ, ब्राह्मण, देवता और संत आदि सवका हितकारी हुआ—

विम धेनु सुर संत हित लौन्ह मनुज अवतार।

तथापि भगवान्‌के बाल-चरित्रके मूलमे दशरथ और कौसल्याका तप ही विशेष हेतु था, पर विवेकादिकी लीलाएँ अकेले कौसल्याजीके ही सामने रहीं—

एक बार जननी अन्हवाए। करि सिंगार पलनाँ पौढाए॥
निज कुल इष्टदेव भगवाना। पूजा हेतु कीन्ह असनाना॥
करि पूजा नैवेद्य चढावा। आपु गई जहौ पाक चनावा॥
बहुरि मातु तहवाँ चलि भाई। भोजन करत देखि सुत जाई॥
गै जननी सिसु पर्हि भयभीता। देखा बाल तहों पुनि सूता॥
बहुरि भाइ देखा सुत सोई। हृदयं कंप मन धीर न होई॥
इहाँ उहाँ हुइ बालक देखा। मतिअम मीर कि भान विसेषा॥
देखि राम जननी अकुलानी। प्रभु हँसि दीन्ह मधुर सुसुकानी॥

देसरावा मातहि निज अद्भुत रूप अखंड।

अब जनि कबहूं व्यापै प्रभु मोहि माया तोरि॥

(राम० च० १ । २००-२०१)

सुर्यवशी कुलके इष्टदेव भगवान् श्रीरङ्गनाथजीकी पूजाके समय जब नैवेद्यका भोग लगाया गया तो श्रीरामजी स्वयं भोजन करते पाये गये और इधर पालनेपर भी सोते हुए दिखायी पडे। अतः दोनों जगह

एक ही समान दो बालकोंको टेवकर माता श्रीकौसल्याजी आकुल हो उठी। तब श्रीभगवान् ने मुसकराकर अपने उस अद्भुत रूपको, जिसके रोम-रोममें कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड थे, दिखाया। परंतु इस रूपका दर्शन कौसल्याजीको ही हुआ, श्रीदशरथजीको नहीं। बल्कि श्रीमुखसे इस रहस्यको दूसरोंसे बतलाना भी रोक दिया गया—

हरि जननी बहुचिदि नसुझाई। यह जनि कतहूँ कहसि सुनु माई॥

अतएव भगवान्‌के माधुर्यचरित्र—जैसे बाललीला, कर्णवेघ, उपवीत, विवाहादिका सुख दम्पतिको मिला तथा ऐश्वर्यलीला अर्थात् चतुर्भुजरूप और विश्वरूपके दर्गनादिका आनन्द केवल कौसल्याजीको प्राप्त हुआ। जब बनगमनकी लीलाका अवसर आया और श्रीरघुनाथजी माता कौसल्यासे विदा लेने लगे, तब श्रीअम्बाजीने विवेकसूचक वचनोंसे उन्हें रीति-नीतिकी कैसी शिक्षा दी, उसे देखिए—

राखि न सकइ न हृदय एक जाहू। दुहूँ भाँति उर दारून दाहू॥
धरम सनेह उर दारू देवी। भइ गति साँप छुंदुंदरि करी॥
राखउँ दूर देव उर दारू दुरोधू। धरमु जाहू अरु चंधु बिरोधू॥
कहउँ दूर तौ बडि हानी। संकट सोच विवस भहू रानी॥
बहुरि समुझतिय धर्म सयानी। रामु भरतु दोउ सुत सम जानी॥
बाल सुभाउ राम महतारी। बोली बचन धीर धरि भारी॥
तात जाउ बलि कीन्हेहू नीका। पितु आयसु सब धरमक टोका॥

राजु देन कहि दीन्ह बनु मोहि न सो दुख लेसु।

तुम्ह चिनु भरतहि भूपतिहि प्रजहि प्रचंद कलेसु॥

जौं केवल पितु अयसु ताता। तौ जनि जाहू जानि बडि माता॥
जौं पितु मातु कहेउ बन जाना। तौ कानन सत अवध समाना॥

यह चिचारि नहिं करउ हठ क्षठ सनेहु चढाहू।

मानि मातु कर नात बलि सुरति चिमरि जनि जाइ॥

कौसल्यामाताने जब वर्मका विचार किया तो 'नारि धर्म पतिदेव न दूजा' ही समुचित जान पड़ा। पर हृदयमें पुत्रस्नेहकी भी पराकाष्ठा थी। अतएव वर्म और स्नेह दोनोंने उनकी बुद्धिको धेर लिया। न

रोकते बनता था और न जानेकी आज्ञा देनेका ही साहस होता था। सोचने लगी—‘यदि पुत्रको रोकती हूँ तो अपना पातिक्रत-धर्म जाता है। आपसमें बन्धु-विरोध भी होता है। यदि जानेके लिये कह देती हूँ तो बड़ी हानि है।’ ऐसे धर्म-संकट और वियोग-दुःखकी चिन्तामें पड़कर रानी विवश हो गयी। उनकी दशा साँप और छह्यूँदरकी-सी हो गयी।* पर सोचकर उन्होने पातिक्रतधर्मको प्रधानता दी और अपने सगे पुत्र राम तथा सौतेले पुत्र भरतको एक समान मानकर सरल खभावसे बोली—‘तात ! तुमने बहुत उत्तम निश्चय किया है। पिताकी आज्ञाका पालन करना ही सब धर्मोंमें श्रेष्ठ है। तुमको पिताने राज्य देनेका वचन दिया था, परंतु बन दे दिया—‘सका मुझको लेशमात्र भी दुःख नहीं है। चिन्ता इस ब्रातकी है कि तुम्हारे बिना भरत, स्थय श्रीराजाजी और समस्त प्रजा आदि सबको बड़ा भारी कष्ट होगा। अतएव यदि केवल पिताकी आज्ञा है तो माताजी की आज्ञा न होनेके कारण तुम अपने इस धर्मका विकास करके रुक सकते हो कि ‘पुत्रको पिता-माता दोनों अप्याइसेति’^५ भूताकी आज्ञाको सहस्रगुना अधिक गौरव देना चाहिये।

सहस्रं तु पितॄन् माता गौरवेणातिरिच्यते ।
(मनुस्मृति २। १४५)

पर यदि दोनोंकी आज्ञा है, तो तुमको बनको ही सौ अयोध्याके समान मानना उचित है। यदि मैं तुम्हारे साथ चलनेके लिये कहती हूँ तो तुम्हारे मनमें संदेह पैदा हो जायगा। (जैसे—माताजी मुझको तो ऐसी धर्म-शिक्षा दे रही हैं और स्थयं पातिक्रत-धर्मसे हट रही हैं। ऐसी धर्मज्ञा माताके इस कथनमें अवश्य कोई संदेहकी

* यदि साँप छह्यूँदरको पकड़कर निगल जाता है तो उसके कुष्ठरोगसे पीड़ित होकर मर जानेका भय रहता है और यदि छोड़ देता है तो उसकी इवासे अनधा हो जानेकी आशङ्का रहती है। अतएव दोनोंमेंसे उसे कोई भी करते नहीं बनता।

बात है अबवा पिताकी आज्ञा उदासीन होकर रहनेकी है और एक माता साथमें चलनेके लिये कहती हैं तो मैं किसकी आज्ञाका पाठन करूँ ?) अतएव मैं साथ चलनेके लिये नहीं कहती हूँ।’ पुत्र ! तुम सबको परम प्यारे हो—सबके आत्मा हो। सबके प्राणोंके प्राण हो और सब जीवोंके जीवन अर्यात् साक्षात् परमात्मा हो। फिर भी तुम हमको अपनी माता बनाकर—स्थयं पुत्र बनकर मुझसे कह रहे हो—मैं बनको जा रहा हूँ।’ और ऐसे हृदयन्वेषक वचनको सुनकर भी मैं जीकित हूँ—बैठी-बैठी पछता रही हूँ (अर्यात् ऐसी अवस्थामें मुझको मर जाना उचित था)। अतः मैं अपने स्नेहको झूठा मानती हूँ और ऐसे झूठे स्नेहको बढ़ाकर हठ करना अनुचित समझती हूँ। तुमको पुत्र माननेका मेरा नाना तो झूठा हो गया, परंतु तुम जो मुझको अपनी माता मान चुके हो उस नाते मेरी स्मृति न मुला देना।’

श्रीकौसल्या माताके चत्तिरमें प्रब्रल पातिक्रत-धर्मकी शिक्षाके साथ तो ब्रातें विशेष स्वेच्छा हैं। पहली बात यह कि शियोंको अपनी छोटी-बड़ी सभी सौतों—जेठानी-देवरानियोंके साथ कैसा अवहार रखना चाहिये—इसकी शिक्षा इनके चत्तिरसे ही मिलती है। यथापि कैकेयीजी-की ओर अनीति उनके सामने थी, वे बिना अपराधके ही प्यारे पुत्र रामजीको बनमें भेजवाकर कोई भी हक न रखनेवाले अपने बेटे भरतको राजगद्दी दिलवा रही थी, तथापि श्रीकौसल्या माताके हृदयमें तनिक भी द्वेषका संचार नहीं हुआ। बल्कि वे अपने प्राणप्रिय पुत्रको ही शिक्षा देने लगीं—

जौं पितु मातु कहेऽ बन जाना। तौ कानन सत अवध समाना ॥

दूसरी बात यह कि सारे जगत्की माताओंको अपने सगे-सौतेले आदि लड़कोंके साथ कैसा प्रेम

रखना उचित है—इसकी भी शिक्षा श्रीकौसल्यामातासे ही मिलती है। उन्होंने वैसी द्वेषजनक परिस्थितिमें पड़कर भी—‘राम भरत दोउ सुत सम जानी’के निश्चयको हृद रखा। इतना ही नहीं, दोनों पुत्रोंको समानरूपसे जाननेका प्रमाण भी दे दिया। जिस समय श्रीभरतजी अपने ननिहालसे छौटकर आये और विकल होकर श्रीकौसल्यामातासे मिलने गये, उस समयकी अवस्था देखिये—

भरतहि देखि भातु उठि धाईं। मुरुछित अवनि परी झैँड आई॥
सरक सुभाय भा॑ हिये लाए। अति हित भनहु राम फिरि आए॥

* * *

मत तुम्हार यह जो जग कहहों। मो सपनेहु सुख सुगति न लहही॥
अस कहि सादुभरतु हिये लाए। थन पय ज्वरहि नयन जल ढाए॥

श्रीभरतजीको देखते ही वे आतुर होकर दौड़ीं, परंतु निर्बलताके कारण मूर्च्छित होकर पृथ्वीपर गिर पड़ीं। जब भरतजी जल्दीसे उनके समीप पहुँचे, तब उनको हृदयसे लगाकर इस तरह सुखी हुई, मानो श्रीरामजी ही उनसे छौटकर आ गये। श्रीभरतजी नाना प्रकारसे शपथ खा-खाकर अपनेको निर्दोष साक्रित करने लगे। इसपर श्रीकौसल्यामाताजीने यह कहा कि ‘इस कार्यमें जो कोई तुम्हारी सम्पति बतलायेगा, वह खम्ममें भी सुख और सुशक्ति कामी न होगा’ और फिर ‘श्रीभरतजीको हृदयसे लगा लिया। उस समय उनके दोनों स्तनोंसे दूधकी धारा बहने लगी और नेत्रोंमें प्रेमाश्रु भर गये। भला ‘राम भरत दोउ सुत सम जानी’का इससे अधिक प्रबल प्रमाण और क्या होगा? क्योंकि माताके स्तनोंमें अपने ही बच्चेके लिये दूध टपकता है, दूसरेके बच्चेके लिये नहीं। इसके अनिरिक्त जब चित्रकूटमें जनकजीकी धर्मपत्नी सुनयनासे भेंट हुई, उस समयके ‘मोरे सोन्च भरत कर भारी’ तथा—

पूँछ सनेह भरत घन माही। रहे नीक मोहि कागच भाही॥

—आदि वचन इस कथनकी और भी पुष्टि कर रहे हैं।

श्रीकौसल्याजीके चरित्रमें पातिव्रतधर्मकी शिक्षा कूट-कूटकर भरी पड़ी है। उनके सम्पूर्ण आदर्श चरित्र एकमात्र पतिदेवताकी अनुकूलताके लिये ही थे। मानस-में प्रमाण देखिये—

कौसल्यादि नारि प्रिय लल आचरन पुनीत ।

पति अनुकूल प्रेम हृद हरि पद रुमक विनीत ॥

परंतु उनके चरित्रसे एक और भी शिक्षा मिलती है; वह यह कि लोकहितके लिये पतिका अनुगमन छोड़कर दूसरी राह पकड़नेकी धृष्टताको कौन कहे, परलोक-हितके लिये भी यदि कोई खी अपने पतिके अनुगमनको छोड़कर आगे बढ़ती है तो उसके परिणाममें उसको पश्चात्ताप करना पड़ेगा। उदाहरणमें पूर्वोक्त गृहमें श्रीकौसल्यामाता ने ही छीजिये। वे जब श्रीशतरुपाजीके रूपमें थीं, तब उन्होंने श्रीमनु महाराजसे आगे बढ़कर विवेकादिका वरद लिया था। अतः उसके फलखरुप श्रीकौसल्यारूपमें विवेकादिका वरद लिया था। अपने ही मुँहसे उन्होंने अनेहको छोड़ा बताना पड़ा, अपने ही मुँहसे उन्होंने सकनक कारण—

अस लिचारि नहि करऊँ इ लुँ सनेहु बदाह ।

—तक कहना पड़ा। साथ ही अपने पतिदेव श्रीदशरथजीके उसी ‘सुत विपद्धक पद रति’को जो उनको मतुरुपमें बरदानके नाते—‘फनि विनु मनि जिमि जल बिनु मीना’की तरह प्राप्त हुआ था और ‘खर्ज त्रैस जेहि राम पद’के रूपमें पर्यवसित हुआ, उन्हें मुँह सराहना करनी पड़ी—

जिएं मरै भल भूपति जाना। मांर हृदय सत कुलिस समाना ॥

इसलिये धर्मज्ञ और पतिव्रता खियोज्ञे श्रीकौसल्याके चरित्रसे शिक्षा लेकर लोक-परलोक दोनों अयोग्यमें पतिकी अनुगमित्वा बनना चाहिये। इसीमें कल्याण है।

सत्यवादी युधिष्ठिर

महाराज पाण्डुकी दो रानियाँ थीं—कुन्ती और माद्री। कुन्तीके ज्येष्ठ पुत्र युधिष्ठिर थे। ये धर्मके अंशावतार थे, अतः धर्मराज भी कहलाते थे।

युधिष्ठिर सभावसे ही वैर-क्रोध एवं अमिमानशून्य थे। ये अमार्गीउ, धैर्यवान्, सत्यनिष्ठ, विद्वान्, शान्त, मृदु, पवित्रात्मा, उदार, त्यागी तथा समदर्शी थे। इसीक्रिये ये अजातशत्रु भी कहलाते थे। उदात्त चरित्रके सभी गुण इनमें विद्यमान थे। ये चरित्रके आदर्श प्रयोक्ता थे।

युधिष्ठिरका आरम्भिक जीवन बड़े कष्ट एवं अपमानमें व्यतीत हुआ। पिता पाण्डु असमय मृत्युको प्राप्त हुए। अन्ये धृतराष्ट्र लोक-लाजवश पाण्डवोंका कुछ ध्यान रखते थे, पर अपने उद्धण्ड पुत्र द्वर्योधनके आगे उनकी एक न चलती थी। अतः ये द्वर्योधनके विव वद्यन्त्रोके शिकार हुए। इन्हें राजसी सुरुप्राप्ति प्राप्त नहीं हुई। द्वर्योधनने लाक्षागृहमें सभी पात्रोंसे नला दिया था। इनके भाई भीमको विव दिया गया। उन्हें उन्हें द्वर्योधनका धूतनिमन्त्रण स्वीकार कर लिया। उसमें शकुनिके छलसे वे हार गये। स्त्री भी दावपर लग गयी। राज्य चला गया। वे सर्वस्वहार गये। मिला उन्हें वनवास—जो १२ वर्षका सामान्य तथा एक वर्षका अज्ञातवास था। युधिष्ठिरने सब सहन किया। समर्प होने हुए भी वे भाइयोंके साथ बन चले गये।

भीमपितामहने अपने सत्प्रयाससे कौरवो-पाण्डवों दोनोंकी शिक्षाके लिये द्वोणाचार्यजीको हस्तिनापुर बुला लिया था। वे सभी राजकुर्मारिको शास्त्र-ज्ञानके साथ-साथ अन्ध-शक्तिकी भी शिक्षा देते थे। पाण्डवोंपर उनका विशेष प्रेम था। गुरु द्वोणाचार्य अपने शिष्योंसे मिठ्ठा पाठ भी पूछते रहते थे। एक दिन जब सब कुमारोंने कई पूष्ट पाठ याद कर सुनाया तब युधिष्ठिरने अपनी वारीपर बताया कि उन्हें केवल दो वाक्य याद हैं, वे भी अभी अपूर्ण हैं। गुरुको क्रोध आ गया।

उन्होंने युधिष्ठिरको दो-तीन छड़ी जड़ दी। पर युधिष्ठिर शान्त रहे। इनके मुखपर कोई भाव-परिवर्तन न देखकर द्वोणको आश्र्य हुआ। उन्होंने पूछा—‘तुम्हें कौनसे दो वाक्य याद हैं?’ युधिष्ठिरने कहा—‘सत्य बोलना और क्रोध न करना’; जब आप मुझे छड़ीसे मार रहे थे, तब मैं अपने मनको समझा रहा था कि क्रोध नहीं करना चाहिये। यह सुनकर आचार्य पानी-पानी हो गये। उन्होंने युधिष्ठिरको गले लगाते हुए कहा—‘यथार्थ पाठ तो तुम्हाँने पढ़ा है।’ क्रोध न करना चरित्रिका मूल गुण है।

तत्कालीन परिपाटीके अनुसार अत्रियोके लिये युद्ध और जुआ दोनों धर्मसंगत थे। दोनोंमेंसे किसी एकका भी निमन्त्रण अस्वीकार करना क्षत्रियके लिये कलङ्क माना जाता था। इसी धर्मसंकटमें पड़कर युधिष्ठिरने द्वर्योधनका धूतनिमन्त्रण स्वीकार कर लिया। उसमें शकुनिके छलसे वे हार गये। स्त्री भी दावपर लग गयी। राज्य चला गया। वे सर्वस्वहार गये। मिला उन्हें वनवास—जो १२ वर्षका सामान्य तथा एक वर्षका अज्ञातवास था। युधिष्ठिरने सब सहन किया। समर्प होने हुए भी वे भाइयोंके साथ बन चले गये।

युधिष्ठिर दस हजार श्रोत्रिय ब्राह्मणोंको भोजन कराकर ही यज्ञका शेपान्न भोजन करते थे। वे ब्राह्मण भी उनके साथ बन चल पड़े। युधिष्ठिर वडे धर्म-संकटमें पड़े। स्वयंके भोजनका ठिकाना नहीं था, इन्हें कैसे खिलाते। अन्तमें उन्होंने भगवान् सूर्यकी स्तुति की। सूर्यने उन्हें एक बट्टर्डी (अन्नपत्र) दी। उसकी यह विशेषता थी कि जबतक द्वौपदी भोजन नहीं कर लेती, तबतक उसमें पका रखा अन्न समाप्त नहीं होता था; चाहे जितने व्यक्ति उससे भोजन कर सकते थे। पर द्वौपदीके भोजन कर

लेनेपर भोजन समाप्त हो जाता था । इस पात्रके प्रभावसे वनवासमे भी धर्मराज युधिष्ठिरने अपना अन्नसत्र—त्राहण-भोजन निरन्तर चाल्द रखा ।

वनमे दुर्योधन पाण्डवोंकी हत्याके लिये गया था, पर अर्जुनके मित्र गन्धर्व चित्रसेनने कौरवों तथा उनकी खियोंको पकड़कर बन्दी बना लिया । उनकी चीख-पुकार सुनकर जहाँ भीम प्रसन्न हुए, वहाँ युधिष्ठिर को अपमान प्रतीत हुआ । उन्होने कहा—

ते शतं हि वर्यं पञ्च परस्परविवादने ।
परैस्तु विग्रहे प्राप्ते वर्यं पञ्चाधिकं शतम् ॥'

'पुरुषसिंहो ! दौड़ो और कुरुकुलकी लाज बचाओ ।' फिर क्या था ? गाण्डीवी अर्जुनने धनुषकी टंकार करते हुए गन्धवोंको ललकारा तथा उनसे कौरवों तथा उनकी खियोंकी रक्षा की । वनवासकी अवधिमें ही प्यासे पाण्डव पानीकी खोजमें एक-एक कर यक्ष-सरोवरके पास पहुँचे और यक्षके प्रश्नोंका उत्तर दिये बिना प्यासकी बेचैनीमें जल पीते ही मरने लगे; तब सहदेव-नकुल-अर्जुन-भीमकी मृत्यु हो जानेके बाद धर्मराज युधिष्ठिर जलाशय पर पहुँचे । यक्षने उनसे भी वही प्रश्न किया । युधिष्ठिर ज्ञानीके साथ-साथ धर्मात्मा भी थे । उन्होने अपनी तृष्णाके बढ़ते वेगको रोककर यक्षके प्रश्नोंका यथोचित उत्तर दिया, जो यक्ष युनिष्टि-संवादके नामसे महाभारतमें प्रसिद्ध है; जैसे यक्षने पूछा—'किमाश्चर्यमतः परम् ।'

युधिष्ठिरने उत्तर दिया—

अहन्यहनि भूतानि गच्छन्ति यममन्दिरम् ।
शेषाः स्थातुमिच्छन्ति किमाश्चर्यमतः परम् ॥

'नित्य (आये दिन) प्राणी यमपुरीकी यात्रा करते हैं, पर शेष यहाँ स्थायी निवास करना चाहते हैं—इससे बढ़कर अन्य कोई आश्र्य क्या हो सकता है ?'

^१—'परस्परके शगड़ेमें तो कौरव भी भाई हैं और हम पौन्च भाई हैं, पर दूसरोंके माथ झगड़ा होनेपर हम दोनों मिलकर एक सौ पौन्च भाई हैं ।' यदि भारतवासियोंने युधिष्ठिरके इस चरित्रसे शिक्षा ली होती तो भारतके दुकड़े न हुए होते । अब भी यह आदर्श उपदेय है ।

यक्ष युधिष्ठिरके वचनोंसे सन्तुष्ट होकर बोला—'तुम चारोंमेंसे किसी एकको, जिसे कहो, मैं जीवित कर दूँ ।' युधिष्ठिरने कहा—'नकुलको जीवित कर दीजिये ।' यक्षने हँसते हुए कहा—'युधिष्ठिर ! तुम बड़े भोले हो । क्या नकुलकी सहायतासे तुम महाभारत युद्ध लड़ोगे ? उसके लिये तो भीम और अर्जुनकी अत्यन्त आवश्यकता है । तुमने नकुलको क्यों मांगा ?'

युधिष्ठिरने कहा—'यक्षराज ! मेरी दो माताएँ हैं, कुन्ती और माद्री । कुन्तीका एक पुत्र मैं जीवित हूँ । माद्रीका भी एक पुत्र जीवित रहना चाहिये । मुझे राज्यकी चिन्ता नहीं है ।' यह था युधिष्ठिरका न्याय, उनका धर्म, उनका आदर्श चरित्र । यँहोने प्रसन्न होकर सबको जीवित कर दिया ।

वनमे द्वौपदी और भीमने युधिष्ठिरको बहुत उक्साया कि समर्थ क्षेत्रीय होकर आपका वनमें तापस-जीवन विताना शोभा नहीं देता । आपको छलसे जुएमें हराकर राज्य छीनकर दिया गया है । आप इस शर्तको न मानें—तब युद्ध करें । पर युधिष्ठिरने स्पष्ट मना कर दिया ।

मम प्रतिज्ञां च निवोध सत्यं
वृणे धर्ममसृताज्ञीविताश्च ।
राज्यं च पुत्राश्च यशोधनं च
सर्वं न सत्यस्य कलासुपैति ॥

'मेरी सत्य प्रतिज्ञा सुनो । मैं धर्मको अमर् एवं जीवनसे श्रेष्ठ समश्वता हूँ । सत्यके समक्ष राज्य, पुत्र, यश, धन आदिका कोई मूल्य नहीं है ।' धर्मनिष्ठा ही चारित्र्यकी नींव है ।

महाभारतके युद्धके पीछे कुछ दिन राज्य करनेके पश्चात् युधिष्ठिरको वैराग्य हो गया । वे पौँचों पाण्डव

द्वौपदी-सहित हिमालयमें गलने चले गये । जब द्वौपदी-सहदेव-नकुल-अर्जुन-भीम सभी हिममें बिलीन हो गये तो युधिष्ठिरने पीछे मुड़कर देखातक नहीं । कुत्ता इनके साथ अन्ततक रहा । देवराज इन्द्र रथ लेकर प्रस्तुत हुए । वे बोले—‘धर्मराज ! आप इस रथपर सवार हो सदेह स्वर्ग चलें ।’ युधिष्ठिरनेकहा—‘मेरे साथ अन्ततक यह कुत्ता रहा है । इसे छोड़कर अकेला स्वर्ग जाना मुझे स्वीकार नहीं है । मैं शरणागतको नहीं छोड़ सकता ।’ इन्हें बहुत समझाया; पर युधिष्ठिर अपने निश्चयपर दृढ़ रहे ।

— २५० —

चारित्रिक व्यवस्था

(लेखक—स्वामी श्रीशंकरानन्दजी सरस्वती)

आस्तिक-नास्तिक, वैदिक-अवैदिक, सभी राष्ट्रोंको उन्नति एवं सुख-शान्तिके लिये अपने देश-काल-परिस्थितिको ध्यानमें रखते हुए चरित्र-विग्रहकी सदा आवश्यकता रही है और रहेगी । ‘यह करो, यह न करो’—इस प्रकार हितकारक राष्ट्रोंका विधान ही चरित्रविधान शब्दसे निर्दिष्ट होता है । विधि-निपेदात्मक चरित्र-विधान यदि न बनाये तो तो नासमझ मरुष्य अपनी चरित्रहीनतासे राष्ट्रकी ही नहीं अपितु अपनी सुख-शान्तिका भी सत्यानाश कर डाले । इससे रपट हो जाता है कि चरित्रकी आवश्यकता सभी राष्ट्रोंको सदा रहनी चाहिये ।

‘किसीके धनके प्रति लोभ न करो’—इस निपंधात्मक हितकारक राष्ट्रके चरित्रविधानका जो लोग प्रकटरूपमें अतिक्रमण करते हैं, सरकार उन्हें कारागार मेज देती है । किसीने एकान्तमें किसीको मारकर दस लाख रुपये लूट लिये । उस धनसे सारा जीवन आनन्दमय बिताकर वह मर गया । यहाँ यह प्रश्न होता है कि उसे चरित्रविधानके अतिक्रमणका कुछ दण्ड देंगा या नहीं ?

अन्तमें कुत्ता अदृश्य हो गया और वहाँ साक्षात् धर्म खड़े थे । वे बोले—‘मैं आपकी परीक्षा ले रहा था । आप सफल निकले । अब आप स्वर्ग चलें ।’ धर्मराज युधिष्ठिर अपने धर्माचरणके बलपर सदेह उस रथपर आरूढ़ हो इन्द्र और धर्मके साथ स्वर्गको प्रयाण कर गये ।

युधिष्ठिर सत्यधर्म और अपने वचनके पक्के राजविंश्ये । उनका अवदात चरित्र चरित्रगठन करनेवालोंके लिये सदा आदर्श बना रहेगा ।

जो राष्ट्र ऐसा मानेगा कि ‘जब वह मर ही गया, तब उसे दण्ड कैसे मिलेगा ?’ तो वह राष्ट्र शब्दान्तरमें यह स्पष्ट कह रहा है कि एकान्तमें चरित्रविधानका अतिक्रमण करनेसे कोई दण्ड नहीं होता । ऐसा कहनेवाला राष्ट्र कभी भी अपनी उन्नति तथा सुख-शान्तिकी स्थापना न कर सकेगा; क्योंकि लोग एकान्तमें चरित्रविधानका अतिक्रमण करनेसे न ढरेगे । अतः प्रकटरूपमें या एकान्तमें जब अपराध किया है तो उसका दण्ड प्राप्त होना ही चाहिये । इस न्याययुक्त दृष्टिसे तथा राष्ट्रकी उन्नति, सुख-शान्तिकी दृष्टिसे ‘एकान्तके अपराधका भी दण्ड होता है, यह स्वीकार करना चाहिये । जो सरकार इसे स्वीकार करेगी, उसे जन्मान्तर भी स्वीकार करना पड़ेगा; क्योंकि जब इस जीवनमें दण्ड नहीं मिला, तब जन्मान्तरमें दण्ड मिलेगा, इसे माने बिना समस्याकी संगति नहीं लग सकेगी ।

जन्मान्तर मान लेनेपर ईश्वरको भी स्वीकार अवश्य करना पड़ेगा; क्योंकि किस जीवने एकान्तमें कब, कहाँ और क्या अपराध किया है तथा उसे जन्मान्तरमें—कब, कहाँ और क्या दण्ड देना चाहिये, यह कार्य सर्वज्ञ, सर्वसमर्थ ईश्वर ही जान पावं कर सकता है ।

यदि यह कहा जाय कि जिस राष्ट्रका चरित्र-विधान ईश्वरीय विधानके अनुरूप होगा, उसके अनुसार ईश्वर जन्मान्तरमें दण्ड-विधान करेगा तो यह प्रलङ्घ होता है कि उस अनादि ईश्वरीय चरित्र-विधानका प्रतिपादन दो, चार, दस-बीस हजार वर्षवाले सादि पौरुषेय शास्त्रोद्वारा नहीं हो सकता । ऐसी दशामें अनादि अपौरुषेय वेदोंको ही अनादि ईश्वरीय चरित्र-विधानका प्रतिपादक मानना होगा । तभी चरित्रविधानकी सम्यक् व्यवस्था हो सकेगी । इसके अनुसार जन्मान्तरमें ईश्वर दण्ड दे सकेगा । इसी प्रकार एकान्तमें किये गये 'परोपकार'-रूप विवेयात्मक चरित्रविधानका फल भी ईश्वर जन्मान्तरमें तभी देगा, जब वह विधान ईश्वरीय चरित्रविधानके अनुरूप होगा ।

ऊपर किये गये विवेचनका मनोयोग्यरूपक मनन करनेवाले मानवोंको यह स्पष्ट ज्ञान हो जायेगा कि राष्ट्रकी उन्नति एवं सुखशान्तिके लिये चरित्रविधानकी आवश्यकता

सभीको सदा रहती है और रहेगी । एकान्तमें किये गये चरित्रविधानके पालन-अपालनका फल पानेके लिये जन्मान्तर तथा सर्वज्ञ-सर्वसमर्थ ईश्वरका मानना अनिवार्य है । चरित्रविधानकी सम्यक् व्यवस्था अनादि ईश्वरीय चरित्रविधान-प्रतिपादक अनादि वेदोंसे ही हो सकती है, सादि शास्त्रोंसे नहीं हो सकती ।

इस विवेचनसे यह भी सिद्ध हो जाता है कि जो राष्ट्र चरित्रविधानके पालन-अपालनका कनो शरीरको ही मानते हैं, उसीके लिये इसी जीवनमें तथा इसी लोकमें दण्डादिकी व्यवस्था करते हैं, उनकी व्यवस्था अचूरी है । शरीरसे पृथक् जीवात्मा मानकर जन्मान्तरमें तथा परलोकमें भी दण्डादिकी व्यवस्था करनेवाले वैदिकोंकी अनादि सनातन धर्मानुसार की गयी व्यवस्था ही पूर्ण है । अतः चरित्र-निर्माताको चाहिये कि वेद और नेत्रानुसारी प्रन्थोंसे चरित्र-विधान जानकर तदनुसार आचरण करें ।

सत्यकामं जावालं

गौतम ऋषिके आश्रममें एक दिन एक छोटा-सा बालक आया । उसने बड़ी नम्रतासे ऋषिके चरणोंमें प्रणाम कर प्रार्थना की—'भगवन् । मैं ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए आपके चरणोंकी सेवा करना चाहता हूँ । आप मुझे स्त्रीकृति प्रदान करें ।' महर्षिने स्नेहपूर्वक पूछा—'क्वत्स । तुम्हारा गोत्र क्या है ?'

बालक बोला—'मैंने अपनी मातासे यह बात पूछी थी । उसने बताया कि जब वह त्रृष्णी थी, तब मेरे पिताके घर बहुत-से अतिथि आया करते थे । मेरी माँ उनकी सेवामें बराबर लगी रहती थी । इसीसे वह पितासे गोत्र न पूछ सकी । मेरी शैशवावस्थामें ही पिता परलोक सिधार गये । इसलिये मुझे इतना ही ज्ञात है कि मैं अपनी माता जबालाका पुत्र सत्यकाम हूँ ।'

ऋग्वेदसन होकर कहा—'सौम्य ! ब्राह्मणको छुनकर अन्य कोई भी इस प्रकार सरल भावसे सच्ची बात नहीं कह सकता । तुम निश्चय ही ब्राह्मण हो । मैं तुम्हारा उपनयन संस्कार कर देता हूँ ।'

उपनयनके पश्चात् ऋग्विने अपनी गोशालाकी चार सौ दुबली-पतली गाएँ चुनकर सत्यकामको दीं और कहा—'पुत्र ! इन्हें चराने वनमें ले जाओ । जबतक इनकी संख्या एक सहस्र न हो जाय, तबतक लौटकर यहाँ भत आना ।'

बालक सत्यकामने गुरुकी आज्ञा सहर्ष स्वीकार की । धैर्यके धनी ज्ञानपिपासु उस सच्चरित्र बालकने गयोंको चारे-पानीकी पर्याप्त सुविधावाले वनमें ले जाकर उनकी स्नेह आगम्भ कर दी । उसकी सेवामें कुल ही क्षणोंमें

गोवंशकी संख्या हजारार पहुँच गयी। तब एक दिन वृषभने आकर मनुष्यकी वाणीमें उससे कहा—‘सत्यकाम। अब हमारी संख्या एक सहस्र हो चुकी है। तुम हमें गुरुदेवके आश्रममें ले चलो। मैं तुम्हें ब्रह्मके एकपादका उपदेश करता हूँ। दूसरे पादका उपदेश अग्निदेव करेंगे।’ सत्यकामने श्रद्धापूर्वक उनसे ब्रह्मके एकपाद प्रकाशवान्का उपदेश ग्रहण किया और वह गायोंसहित गुरुके आश्रमको चल पड़ा।

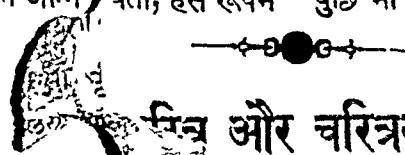
अगले दिन सायकाल उसका पड़ाव एक जलाशयके टटपर पड़ा। वहाँ अग्निदेवने प्रकट होकर ‘अनन्तवान’ नामक ब्रह्मके द्वितीय पादका उपदेश उसे दिया। तीसरे पड़ावपर हंसने ‘ज्योतिष्मान’ नामक ब्रह्मके तृतीय पादका उपदेश दिया। चौथे पड़ावपर जलमुर्गने ‘आयतनवान, रूपसे ब्रह्मका उपदेश दिया।

इस प्रकार सत्यकामने गुरुसेवा तथा ग्रेसेवाके प्रतापसे वृषभरूपमें वायुदेवता, अग्निरूपमें अग्नि वता, हंस रूपमें

सूर्यदेवता तथा जलमुर्गरूपमें प्राणदेवतासे ब्रह्मज्ञान प्राप्त किया। एक सहस्र खस्थ गाँ लेकर जब वह गुरुदेवके आश्रममें पहुँचा, उसका मुखमण्डल ब्रह्मनेजसे देढीप्यमान हो रहा था। उसे खस्थ एवं नेत्रोमय देखकर महर्षिने पूछा—‘पुत्र तू ब्रह्मज्ञानीके समान दिखायी देता है। तुझे किसने ब्रह्मज्ञान दिया?’

विनीत होकर सत्यकामने कहा—‘भगवन्। मुझे मनुष्येतरोंसे ब्रह्मज्ञानका उपदेश प्राप्त हुआ है। पर आप जैसे आचार्यद्वारा प्राप्त विद्या ही श्रेष्ठ होती है। अब आप मुझे उपदेश करें—कहकर सत्यकामने विद्याप्राप्तिकी पूरी बात कह सुनायी।

अपने भक्त सेवक एवं विनम्र उस सच्चरित्र शिष्यको अश्विने हृदयसे लगाकर आशीर्वाद दिया—‘पुत्र। तूने जो कुछ जाना है, वही ब्रह्मतत्त्व है। अब तुम्हारे लिये कुछ भी जानना शोप नहीं है।’



पित्र और चरित्रवान्

(लेखक—आचार्यैश्वरीसीतारामजी चतुर्वेदी, प८० प०)

संसारके सभी देशोंमें प्रत्येक नागरिकसे सदा ह आशा की जाती रही है कि वह समाजका उपयोगी अङ्ग बनकर समाजमें शाश्वत शान्ति, सद्गाव और सहयोगके साथ दूसरेका हित करनेवाली भावनासे कार्य करता रहेगा। शिष्ट, सम्य और सुशील नागरिक बननेके लिये वाणी और व्यवहारकी शुद्धि या भाव-शुचिता आवश्यक और अपरिहार्य है। प्रत्येक नागरिकको अपनी वाणी और व्यवहारसे अपने सम्पर्कमें आनेवाले प्रत्येक व्यक्तिको संतुष्ट करनेका यत्न करना चाहिये। यही शील है। यही चरित्रका आधार है। वाणी और व्यवहारकी इस शुचिताके लिये यह आवश्यक है कि प्रारम्भिक अवस्थामें ही माता-पिता, अभिभावक या गुरु उनसे सामाजिक शिष्टाचारकी शिक्षा प्रदान करें। इससे वह

अपने घरमें और समाजमें अपनेसे बड़ों, अपने बावर-बालों और अपनेसे छोटोंके साथ आदर, सद्गाव और स्नेहका व्यवहार करेगा। इसीलिये प्राचीनकालमें गुरुकुलोंमें यह नियम था कि वालकको गुरु सर्वप्रथम शौच, शिष्टाचार आदि ही सिखाने थे—

उपनीय गुरुः शिष्यं शिष्येच्छौचमादितः ।
आचारमग्नि कार्यं च संध्योपासनमेव च ॥
(मनु० २।६९)

शिष्टाचारके अन्तर्गत घरके वृद्धजन—पितामह-पितामही, माता, पिता, चाचा आदिके प्रति आदरपूर्ण, श्रद्धापूर्ण तथा सेवाभावित व्यवहार, अपने भाई-बहनोंमेंसे बड़ोंका आदर और सम्मान, छोटोंके प्रति स्नेह और सद्गाव, उनकी भावनाओंका आदर और तोपण, उन्हें

सुखी, प्रसन्न और संतुष्ट करनेका प्रयत्न, घरके सेवकोंके प्रति सदय व्यवहार, अपने पडोसियोंसे स्नेह और सहयोगके साथ निर्वाह, गुरुकुल या विद्यालयमें अपने गुरुओंके प्रति आदर और सेवाका भाव, अपनेसे बडे छात्रोंके प्रति आदर और अपने समवयस्क साथी सहपाठियोंके प्रति सहयोग, सत्यनिष्ठा, और सहायताका भाव तथा अपनेसे छोटी कक्षाके छात्रोंके प्रति उदारता, सहयोग, स्नेहका भाव आदि सब संनिहित हैं। समाजमें वृद्धजनोंका आदर और सम्मान करना, मन्दिर, सभा आदि सार्वजनिक स्थलोंमें शान्त और मौन होकर वहाँके क्रियाकलापमें मर्यादा और शान्तिपूर्वक आवश्यक सहयोग एवं परामर्श देना, अपने देशके प्रति पूर्ण भक्ति तथा निष्ठा रखते हुए (अपने देशके) पर्वत, नदी, नगर, प्राम, पश्च, पक्षी, वृक्ष, बनस्पति आदि सबके प्रति ममत्पूर्ण स्नेह बनाये रखना और उनकी निरन्तर रक्षा करनेमें तत्पर रहना, कोई भी ऐसा काम न करना जिससे देशका असम्मान हो तथा अन्य धर्मों, धर्मस्थानों एवं धर्मावलम्बियोंके प्रति हार्दिक सङ्घाव और सहन-शीलता बनाये रखना—शिष्टाचार, शील या चरित्रिका प्रथम सोपान है।

इन समस्त शिष्टाचारोंका बीज वाणीके संस्कारपर पूर्णतः निहित है। इसीलिये—‘वाण्येका समलंकरोति पुरुषं या संस्कृता धार्यते’* कहा गया है। गोखामी तुलसीदासजीने भी कहा है—

तुलसी मीठे बचन तें सुख उपजत चहुँ और
बसीकरन इक मंत्र है, परिहर बचन कडोर ॥

वाणी और व्यवहारका यह माधुर्य ही समर्थिरूपसे शील या चरित्र कहलाता है। अपने मनका सम्पूर्ण अहंकार निकालकर ऐसी स्तिंघ वाणीका प्रयोग करना चाहिये, जिसका प्रयोग स्वयंको भी अच्छा लगे और

* सुसंस्कृत वाणी ही मनुष्यका ऐसा सिद्ध अलंकार है, जिससे मनुष्य सदा सम्मानित और लोकप्रिय होता है।

दूसरोंको भी सुख दे। शीलवान् पुरुषका मुख्य लक्षण भी यही है कि वह अपनी वाणीसे कभी किसीको किसी प्रकारका मानसिक कष्ट नहीं पहुँचाता। वह जिससे बात करता है, वह उसकी बातपर ही मुख्य होता रहता है। इसीलिये कहा जाता है कि गुड़ न देतो गुड़कीसी बात ही कहे। इस प्रकारकी वाणीका व्यवहार करनेवाले शीलवान् पुरुषका सर्वत्र समादर होता है। उसका लक्षण ही यह है कि वह न तो अपने मुँहसे अपनी बड़ाई करता है, न दूसरोंसे ही अपनी बड़ाई कराता है और यदि कोई उसकी प्रशंसा करने भी लगता है तो वह तत्काल उसे टाल जाता है। शीलवान् पुरुषका दूसरा लक्षण यह है कि वह ‘अभुवनमुपकारश्चेणिभिः प्राणयन्तः’—सदा दूसरोंका उपकार करता रहता है, पर वह भूलकर भी कभी किसीसे उसकी चर्चा नहीं करता। फारसीमें कहावत है—‘नेकी कुन् बदरियां अंदाज़’—‘दूसरेकी भलाई करो और उस भलाईकी बदीमें वहा दो।’ भलाई करके उसका ढंका लेने की बात उस भलाईके महत्वको समाप्त कर देती है।

शीलवान् पुरुषका तीसरा लक्षण यह है कि—यदि उसकी प्रति किसीने छोटा-से-छोटा भी उपकार किया हो या उसकी सहायता की हो तो वह उसे सदा बहुत बड़ा बनाकर निरन्तर कृतज्ञतापूर्वक उसकी प्रशंसा करता रहता है। अपने प्रति किये हुए उपकारको जो नहीं मानता, वह कृतज्ञ नराधम व्यक्ति समाजमें रहनेके योग्य ही नहीं है। भगवान् रामके शीलके सम्बन्धमें कहा जाता है—

सुनि सीतापति सील-सुभाउ ।

मोद न मन, तनपुलक, नयन जल सो नर खेहर खाउ ।

श्रीहनुमान्-जीने उनके लिये सीताजीकी खोजका सेवा-कार्य किया था। उसके लिये वे हनुमान्-जीके

श्रद्धि निरन्तर करनी है (दृग्मश) बने रहे । शब्दरिते जो उन्हें देख विद्या दिये थे, उन वेरोंके शास्त्रको वे मिथिला और अयोध्याके गजमी भोगोंकी अपेक्षा कहीं अधिक व्याहिष्ट बनाने रहे । इसके अनिरिक्त अपने पिता-माता—यहाँनकर्का बनवास दिल्लीनेवाली विमाताके प्रति भी उन्हाँने मदा शीलयुक्त व्यवहार किया । अपने भाइयों, अपने मंत्र विभीषण और सुप्रीव तथा अपनी प्रजाके प्रति भी उनका प्रेम आड़श रहा । महर्पि विश्वामित्र और गुरु विमिथुके प्रति उनका आदर-भाव संसारमें अद्वितीय रहा है । ऐसा शीलयुक्त व्यवहार मनुष्यताका प्रथम और नितान्त अभीष्ट अङ्ग है, जिसका आधार हृदयकी उदारता और वाणीका माधुर्य है ।

शीलयुक्त वाणीके चार अङ्ग माने जाते हैं—वह शुद्ध हो, अर्थात् वाणीमें व्याकरण अथवा सामाजिक शीलकी कोई त्रुटि न हो; कलात्मक हो, अर्थात् उसे मूलकर श्रोता तत्काल उसकी ओर आकृष्ट होकर विल उठे । वह नार्णा इनी मधुर हो कि उसके बोलनेके द्वंद्वपर ही मुख नो उठे; साथ (उसके) वाणी प्रभावशाली भी हो; अर्थात् ऐसी मधुमताके साथ (उसके) हो कि श्रोताम् उमदा यमुनित प्रभाव पड़े और वह कोहनेबालेके मनका समर्थन करने लगे । इसीलिये संसारके (भी देशोंके, महायुद्धों, मनीणियों तथा महान् शिक्षा-गान्धियोंने शीलको दी मदसे अधिक महत्व दिया है और इसीलिये सभी देशोंमें सुमान रूपसे उन सब तत्त्वोंका आवश्यक दिक्षाके अन्तर्गत व्याकृत कर लिया गया है, जिनसे मनुष्यमें मनुष्यता आती है । सार्वभीम, सर्वकालीन अर्थात् जाग्रन शिक्षाके सर्वमान्य सिद्धान्तोंके अनुसार प्रत्यक्ष ब्रह्म नागण्यको अर्द्धशाष्ट, सम्य, स्वस्थ, पर-द्वितीय तथा परार्थभावित नागण्यक होना ही चाहिये । इन गुणोंकी पुष्टिके लिये उपर्युक्त वाणीका माधुर्य और व्यवहारकी शुद्धि अर्थात् सत्यनिष्ठा परम आवश्यक है । वही सम्पर्कता है ।

योगक्षेम-प्रत्येक व्यक्तिको अपना जीवन-निर्वाह तो करना ही पड़ता है । इसके लिये उसे अपनी योग्यता, परिस्थिति, वातावरण, साधन तथा परिवेशके अनुसार तत्त्वस्थानीय सुदृढ पदार्थों और अवसरोंके आधारपर सत्यता और सदृश्वत्ति-(ईमानदारी) के साथ अपना और अपने आश्रितोंका योगदेश बहन करनेके लिये अपने परिवारके बड़े-बड़ों अथवा गुणीजनोंसे अपने कुल व्यवसाय-(कुर्मीनिका-)का वह आवश्यक कौशल अवश्य प्राप्त कर लेना चाहिये, जिसके द्वारा वह सबको संतुष्ट करते हुए सदृश्वत्तिके साथ अपने कर्तव्य और अधिकारका निर्वाह करते हुए अपने परिवारका पोषण कर सके । साथ ही जिन व्यक्तियोंके समर्कमें वह आये, उन्हें अपनी मधुर वाणी, स्नेहपूर्ण व्यवहार, सत्यनिष्ठा, तत्परता और सद्वाक्षसे तृती मी कर सके । केवल अर्थकरी विद्या प्राप्त करना ही अर्थ-सिद्धिके लिये आवश्यक नहीं है, उसके साथ व्यवहारशुद्धि (ईमानदारी), शील और वचनपालन भी नितान्त आवश्यक है—‘अर्थशौचं परं स्मृतम् ।’ (मनुसृ० ५ । १०६ ।)

पारिवारिक चरित्र-प्रभेक व्यक्ति अपने परिवारका लाभाविक अङ्ग होता है, चाहे वह परिवार माता-पिता, मार्द-बहनका हो, चाहे किसी आश्रममें गुरु अथवा सहयोगी अन्तेवासियों या सहाय्यायियोंका हो, चाहे अन्य किसी समुदायका हो । पर आवश्यक यह है कि प्रत्येक व्यक्तिको अपने उस परिवारके लिये उपकारी अवश्य सिद्ध होना चाहिये । अर्थात् मनुष्य जिस प्रकारके परिवारमें भी रहे, वह युद्धतम पारस्परिक सद्वाक्ष, सहयोग, सहायता और सेवाकी भावनासे कार्य करे, दूसरोंपर आतङ्क जमाने, प्रमुख दिखाने और दूसरोंको वरमें करनेकी भावना उसमें न हो । उसका धर्म यह होना चाहिये कि वह स्वयं कष्ट और असुविधा सहकर भी अपने परिवारके अन्य सदस्योंके हित और कल्याणका उपाय सोचे और पथाशकि सबकी सहायता करत्य रहे ।

સામાજિક શૈલે—પ્રત્યેક વ્યક્તિ જહાં એક ઝાડ પરિવારકા આવદ્યક ઔર ખામાદિક અદ્ભુત હોતા હૈ, વર્ષીય વહ ઉસ સમાજકા મી અદ્ભુત હોતા હૈ, જિસમે વહ જન્મ લેતા, જિસકે નીચે વહ રહતા, કામ કરતા, અપની જીવિકા ચલાતા તથા વ્યવહાર કરતા હૈ । ઇસ દૃષ્ટિસે પ્રત્યેક વ્યક્તિકે કર્દી પ્રકારકે સમાજ બન જાતે હૈનું । પરિવારકા એક સમાજ, જાતિકા દૂસરા સમાજ, પડ્ગોસકા તીસરા સમાજ, ધર્મકા ચૌથા સમાજ, વ્યવસાયકા પાઁચવાં સમાજ, ખેલકૂદ યા વિનોદ આદિકા છ્ઠા સમાજ, વિદ્યા ઔર શિલ્પકા સાતવાં સમાજ, વિચાર યા રાજનીતિક બાદકા આઠવાં સમાજ આદિ અનેક પ્રકારકે સમાજોમેં પ્રત્યેક વ્યક્તિ એક હોતે હુએ મી અલગ-અલગ ઢંગસે અપને વિભિન્ન સમાજોની નીતિકે અનુસાર વ્યવહાર કરતા હૈ । ઇન સમી પ્રકારકે સમાજોમેં ઉસે ઉપકારી, સહયોગી, સહનશીલ ઔર સેવાપરાયણ હોનેકે સાથ-સાથ સદ્ગ્રાવ-માનવિત હોના હી ચાહિયે । તમી વહ અપને ઇષ્ટ સમાજકા સમુચ્ચિત સેવા મી કર સકતા હૈ, ઉસ સમાજમે આદર મી પ્રાપ્ત કર સકતા હૈ, ઉસ સમાજકો સમુનત મી કર સકતા હૈ ઔર ઉસકે દ્વારા લોક-કલ્યાણકે કાર્ય મી કર સકતા હૈ ।

દેશભક્તિ ઔર માનવતા—જૈસે પ્રત્યેક વ્યક્તિ એક પરિવાર યા સમાજમે રહતા ઔર વ્યવહાર કરતા હૈ, ઉસી પ્રકાર વહ એક દેશમે મી રહતા હૈ । ઉસ દેશકે જન-માનવાદી ભાવનાઓ, આમનાઓ, આકાંક્ષાઓ, અમિલાગાઓ આદિ—સબ્સે ઉસકા મી યથોચિત ભાવ, અધિકાર ઔર કર્તવ્ય ગ્રથિત રહતા હૈ । દેશકે નિવાસીકે રૂપમે વહ અપને દેશકે વિભિન્ન સમુદાયો, ધાર્મિક સમ્પ્રદાયો, રાજનીતિક દલો તથા સમૂર્ણ જન-સમાજકા અનિવાર્ય અદ્ભુત બન જાતા હૈ । એસો સ્થિતિમેં ઉસકા ક. વ્ય હૈ જાતા હૈ કિ ન તો સ્વયં વહ કોઈ એસા કાન કરે ન દૂસરોનો કરને દે, જિસને દેશકે ભર્યાન, સમ્પર્િય હૈનું ખાત્માભિમાનકો છેસ છો । ઉસે સબ્સે મિલકર ઇસ

પ્રકાર પ્રયત્ન કરના ચાહેયે કિ દેશ સમૃદ્ધ, શક્તિશાલી ઔર સમુન્નત હો । ઉસપર કિસી અન્ય દેશ, જાતિ અથવા વ્યક્તિકા શાસન ન હોને પાયે । જો દેશકે વિરોધી યા શત્રુ હો, ઉન્હેં નષ્ટ કરનેકે લિયે ઉસે અપના સર્વસ્વ ત્યાગ કરનેકો મી સર્વદા ઉદ્ઘાત રહના ચાહિયે । જો બ્યાંધિ, જાતિ, રાષ્ટ્ર યા સમાજ અપને દેશકો કિસી પ્રકારકી હાનિ પહુંચાનેકા પ્રયત્ન કરે અથવા અપના યા અપને પરિવારકા સ્વાર્થ સિહ કરના ચાહેં, ઉનકા નિર્ભય ઔર નિપ્પણ હોકર વિરોધ કરના ચાહિયે । ઉસ વિરોધકે લિયે જો મી કષ્ટ સહના પઢે, ઉમકે લિયું મી સદા તત્પર રહના ચાહિયે ।

દેશ-ભક્તિકી ભાવનાસે મી ઊંચી માનવવાદી યા વિશ્વહિતકી ભાવના હૈ, જિસકે અનુસાર પ્રત્યેક વ્યક્તિકો પ્રયત્નપૂર્વક યહ મનાતે રહના ચાહિયે કિ વિશ્વકે સારે પ્રાણી સદા સુખી હો, ઔર સુખી રહેં । પરસ્પર વાનુષ્ય-માનવસે એક દૂસરેકી સહાયતા કરો । પ્રેમ ઔર સદ્ગ્રાવકે સાથ રહેં, સમર્પણ-સત્તે લોક-કલ્યાણકા ઉપાય કરતે રહેં ઔર કોઈ કોઈ કાર્ય ન કરો, જિસસે માનવજાતિ, યહાંતદર્શિ, પશુ-ચીંઠી યા વૃક્ષાદિકા મી સંદૂર ઔર વિનાશદારીનીકસી મી પ્રકાર સમ્ભાવના ન હો—

॥ત્રિવ્યુચ્ચિનઃ સન્તુ સર્વે સન્તુ નિરામયઃ ।
સર્વે ભદ્રાળિ પશ્યન્તુ મા કથ્વિદ્ધ દુર્ખભાગ્ ભવેત् ॥

સ્વસ્ય શરીર ઔર સંતુલિત મન—જીપર પ્રત્યેક સન્ચારિત્ર નાગરિકો લિયે જો અનેક પ્રકારકે વ્યવહારો ઔર કર્તવ્યોકા નિર્દેશ દિયા ગયા હૈ, વહ તત્ત્વક સમ્ભવ નહીં હૈ, જવતક મનુષ્યકા શરીર પૂર્ણત: સ્વસ્ય દ્વીર્ઘ સક્રિય ન હો, ઉસકા મન ડિંગિ, નિર્ભય ઔર સંતુલિત ન હો ઔર ઉસમે ઉદાર શીલયુક્ત વ્યવહાર-નુદ્દિ ન હો । જવતક મનુષ્યકા શરીર સક્રિય નહીં હોતા, ઉસકા મન વ્યવસ્થિત, સ્થિર ઔર સન્તુલિત નહીં હોતા તથા ઉસકી બુદ્ધિ વ્યવહારશીલ નહીં હોતી, તવતક વહ પરિવાર, સમાજ યા દેશમે રહકર મી અપને કર્તવ્યકા પાલન નહીં

कर सकता । इसलिये सर्वतोभावेन मनुष्यको नीरोग रहनेके लिये सरल, सात्त्विक भोजन, नियमित और संयत जीवन, निरालस कार्य-संलग्नता और तप्तता नितान्त आवश्यक है । जबतक वह सामर्थ्य नहीं होती, तबतक वह किसी प्रकारसे भी अपना या दूसरोंका कोई हित-साधन नहीं कर सकता । समाजका प्रत्येक व्यक्ति सब प्रकारके माटक पदार्थोंका त्याग करके यदि संतुलित, सात्त्विक आहारका आश्रय ले, ठीक समयपर रातको शीत्र सोकर प्रातः शीत्र उठकर समयसे व्यायाम, प्राणायाम, भोजन एवं भगवद्भग्न करके अपना नित्य और नैमित्तिक कर्म करता रहे तथा गर्मी, सर्दी वर्षासे पुरक्षित रहकर ऋतु-परिवर्तनके दोषोंसे बचता हुआ जीवन-प्राप्ति करे, ईश्वरमें अद्वा रखकर और निर्वैर होकर कार्य करे तो वह चरित्रान् पुरुष निश्चय ही दीर्घजीवी होकर आत्मकल्याण और लोक-कल्याण करना हुआ सबका श्रद्धाभाजन बनकर यथा और कीर्ति अर्जित कर सकता है—



सर्वलक्षणहीनोऽपि यः सदाचारान्
अद्धानोऽनस्यथ शतं वर्याणि जीवति ॥ मनु० ॥

धार्मिक सहिष्णुता—संसारमें वहन-से देश है ॥
उनमें अनेक प्रकारके सम्प्रदाय और धर्म प्रचलित हैं । उन सभीकी उपासना-पद्धति, कर्मकाण्ड और सिद्धान्त भिन्न-भिन्न हैं । प्रत्येक व्यक्तिस्थित वृद्धि और संतुलित व्यक्तिवताले सदाचारी पुरुषका धर्म है कि वह अपने विश्वासके अनुसार अपनी उपासना-पद्धति और कर्म-काण्डका अनुगमन करे, पर यथासम्भव उसे दूसरोंकी उपासना-पद्धति, कर्मकाण्डका तथा उनके धार्मिक उत्सवों और पर्वोंका भी सम्मान करना चाहिये । दंशमें, और विश्वमें शान्ति बनाये रखनेके लिये इस प्रकारकी

धार्मिक सहनशीलता आवश्यक है । यह शृंगि तभी आ सकती है, जब प्रत्येक व्यक्तिमें धर्मवृद्धि अर्थात् सदा दृसरेका हित सोचनेकी, किसीकी हिता न करनेकी और लोक-कल्याण करनेकी भावना विशमान हो । यह भावना तभी पुष्ट होती है, जब प्रत्येक देशका नागरिक अपने देशके सब निवासियोंकी भावनाओंका आदर करना सीख ले और अपने देशके महापुरुष, पर्वत, नदी, नद, तीर्थस्थान, नग, पशु, पक्षी, विल, तुलसी आदि वृक्ष-पौधे सबको अपना आदरणीय एवं आनीय समझकर सबके संरक्षण और समुद्रगणके लिये निरन्तर प्रयास करना रहे । जब हम इस प्रकारकी व्यापक उडार भावना अपने देशके नागरिकोंमें भर सकें, तब हमें समझना चाहिये कि हम उन्हें उच्च चमिक्री और अप्रसर कर रहे हैं ।

आजकल प्रायः लोग यह कहते सुने जाने हैं कि हमारी शिक्षा-प्रणाली बड़ी दृढ़ित है, किंतु इसी शिक्षा-प्रणालीमेंसे ही तो महामना मालवीयजी, महात्मा रांधी, खीन्द्रनाय ठाकुर तथा अन्य अनेक उदाचेता देशभक्त, यशस्वी, सदाचारावान्, महापुरुष उनका हुए हैं । अनः शिक्षा-प्रणाली जो भी हो, हम निश्चिन्तरूपसे इसी शिक्षा-प्रणालीके अन्तर्गत चरित्र-शिक्षाकी योजना भी सिद्ध कर सकते हैं । किंतु उसके लिये ऐसे नियोजित और मुन्यवस्थित व्यक्तित्वाले अन्याङ्कों और धार्मिक नेताओंकी आवश्यकता है, जो चारित्रिक शिक्षामें निष्ठाके साथ विश्वास रखने हों और स्वयं आदर्शचत्रित्र हों । चारित्रिक-आदर्श पुस्तकों, व्याख्यानोंकी अपेक्षा आचरणसे अधिक प्रभावकारी होता है । अतः उसकी विशेष आवश्यकता है । सारे संसारको चरित्रकी शिक्षा देनेवाला भारत तब अपना आदर्श पुनः स्थापित कर सकता है ।

महान् चरित्र-निर्माता समर्थ गुरु रामदास

(लेखक—डॉ० श्रीकैश्वरविष्णुजी मुखे)

आज विश्वमें जो चरित्रहीनताका दर्शन होता है, प्रायः कुछ वैसी ही चरित्रहीनता समर्थ गुरु रामदासस्थामीजीके समय थी। यवनोंके बारंबार होनेवाले आक्रमणोंसे सर्वत्र अंधकार छा गया था। खियोंको भ्रष्ट किया जा रहा था। सर्वत्र धन, धान्य, संपत्ति और खियोंका अपहरण होता था। ‘जिसकी लाठी उसकी. मैस’ कहावत चरितार्थ हो रही थी। इस अंधाधुंध बर्तावसे समाजमें अनीति, चरित्रहीनता, दुर्व्यसन तथा नैराश्य आदिकी घृद्धि हो रही थी। इन्हीं दिनों श्रीरामदासस्थामीजीने बाहु सालतक भारतवर्षमें आसेतुहिमाचल तीर्थाटन किया। इस यात्रामें उन्होंने भारतीय जनतामें फैले चारित्र्यहीनताका सूक्ष्म दृष्टिसे अवलोकन किया और इस चारित्र्यहीनताको दूर करनेके लिये क्या किया जाय? यह विचार कर वे जनतामें सच्चरित्राका प्रसार करनेके लिये कटिबद्ध हुए।

उन्होंने जनतामें फैली हुई निराशाको दूर करनेके लिये सर्वप्रथम युवकोंको शक्ति-बुद्धिके देवता श्रीहनुमान्-जीकी उपासनाकी ओर प्रेरित किया। पिर व्यायाम और तरुणोंके खेलोंद्वारा उनका विशेष संघटन किया। उन्होंने अपने उपदेशोंके माध्यमसे लोगोंको सच्चारित्र्यकी भी शिक्षा दी। श्रीरामदासस्थामीजीने इसके लिये प्रायः एक हजार प्रचार-संस्थान अर्थात् मठ, अखाडे भारतमें स्थापित किये और वहाँ अत्यन्त शीलसम्पन्न, अनुभवी, विचारशील प्रचारकोंको भेजकर, रखकर जनसामान्यको चारित्र्यवान् बनानेका प्रयास किया। उन्होंने ग्राम-ग्राममें शक्ति-बल-बुद्धिदाता श्रीमहारुद्र हनुमान्-जीकी मूर्तिकी स्थापना कर प्रत्येकके सामने हनुमान्-जीका आदर्श रखनेका प्रयत्न किया। इनके परिणामस्थरूप उन्हींके सत्‌शिष्य छत्रपति श्रीशिवाजी महाराजद्वारा महाराष्ट्रदेश यवनोंकी दासतासे मुक्त होकर खतन्त्रता प्राप्त कर सका।

उन्होंने अपने ‘दासबोध’ तथा अन्य दूसरे काव्यों-द्वारा कलियुगी चारित्र्यहीनताका दर्शन करवाया है। साथ ही इस चारित्र्यहीनताको हटाकर चारित्र्यसम्पन्नता कैसे प्राप्त की जाय, इसका भी योग्य मार्गदर्शन अपने काव्योंमें तथा प्रथराज ‘दासबोध’में कराया। वे कहते हैं—

रूप लावण्य अभ्यासता न ये। सहज गुणांसी न चले उपाये।
कां हीतरी धवावी सोये, आगंतुक गुणाची त
(दासबोध)

मानव अपना नैसर्गिक रूप तो नहीं बदल सकता, किंतु अपनेमें जो दुर्गुण निवास कर रहे हैं, उन्हें प्रयत्न कर सद्गुणोंमें परिवर्तित कर सकता है। इसकिये उन्होंने अपने ग्रन्थ ‘दासबोध’में ‘उत्तम लक्षण’ आदि प्रकरणोंद्वारा और वृत्त-से काव्योंद्वारा सच्चारित्र्यवान् मानव बननेके लिये अनेकों प्रदर्शित किये हैं। वालक और विद्यार्थियोंसे सदृश वर्ताव सम्पन्नता हो—इसके लिये उन्होंने बहुत से काव्य रचे। एक काव्यमें वे कहते हैं—‘बच्चो! सत्य बोलो। बुद्धिको विवेकयुक्त रखो और चित्तमें सदा सद्गुणोंको ही धारण करो। अपना शरीर और वस्त्र खच्छ रखो। गंदगीसे सदा दूर रहो। अपनेमें जो वयोवृद्ध, ज्ञानवृद्ध हैं उनकी सेवा करो, उनका सम्मान करो और उनके उपदेश राढ़ा हृदयमें धारण करो।’

श्रीरामदासस्थामीजीका ‘भनोबोध’ अर्थात् मनको बोध नामक २०४ श्लोकोंका काव्य है। इसे उपनिषद्-सार समझा जाता है। इसका महाराष्ट्रके घर-घरमें पठन किया जाता है। इसका काव्यके आरम्भिक इक्कीस श्लोकतक स्थामीजीने सच्चरित्राके लिये कैसा वर्ताव करना चाहिये, इसका अत्यन्त सुंदर मार्गदर्शन किया

हैं। वैसे कहें तो श्रीरामदासखामीजीने अपने सम्पूर्ण वाच्यद्वारा चारित्र्यहीन मानवको चारित्र्यसम्पन्न बनानेका महान् प्रयास किया है। उनके सम्पूर्ण वाच्यका यथार्थ दर्शन करनेका प्रयत्न इस लेखके द्वारा करना यथार्थ दर्शन करनेका प्रयत्न इस लेखके द्वारा करना है।

'जय जय श्रीखुबीर समर्थ'

श्रावीन भारतमें शिक्षासे चरित्रनिर्माण

(लेखिका—डॉ० (क०) कृष्ण गुप्त, एम० ए०, पी-एच० डी०)

भारतवर्ष प्राचीनकालसे ही ज्ञान एवं विज्ञानका प्रेमी रहा है। 'ग्राहणोऽस्य मुखमासीद्' के अनुसार इस देशमें प्रमुख व्रात्यर्थ अर्थात् दार्शनिक और वैज्ञानिक ही रहे हैं। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चारों पुरुषार्थोंके सम्बन्धमें भारतके विद्वानोंने इनी गवेषणा की है और इन्हें श्रेष्ठ प्रन्थोंकी रचना की है, जिससे सारा संसार उनके सामने नतमस्तक है। अतीत इस बातका साक्षी है कि भारतीय सम्बता और संस्कृति अपने आध्यात्मिक खरूपको अचल रखते हैं। देशको गौरवान्वित किया है। यहाँकी आदर्श अमीरी संस्कृतिकी आत्माका दर्शन यहाँकी विद्यामें होता है। हमारे पूर्वजोंकी विद्या रही है—'ज्ञान जहाँसे मिरे वहाँसे प्राप्त करो और युक्तियुक्त, न्याययुक्त और ज्ञानवर्क के विद्याको प्रहण करो।' वैदिक धारणाके अनुसार देवता लोग सर्वज्ञ होते हैं—'विद्वांसा हि देवा' (शतपथ० ३। ७। ३। १)। मनुष्यमें भी विद्यासे दिव्यताका प्रवेश होता है। विद्याविदोंने विद्याको नेत्र, कल्पलता और कामघेतुतक माना है—

मातेव रक्षति पितेव हिते लियुड्के
काम्प्टेव चापि रमयत्यपनीय खेदम्।
लक्ष्मी ततोति विततोति च दिक्षु कीर्तिं
कि कि न साध्यनि कल्पलतेव विद्या॥
(भोजप्रकरण)

अर्थवेदके अनुसार विद्या एवं ज्ञानसे चक्षु, प्राण और प्रजा पानेकी विशेषता है—

विस्तारभयके कारण असंभव है। प्रथराज‘दासबोध’ और ‘मनोबोध’—इन दोनों प्रयोगोंके हिंदी भाषान्तर प्रकाशित हो चुके हैं। वाचकवर्ग इन प्रयोगोंमें ऊपर निर्दिष्ट प्रकरणोंको देखकर लाभ उठा सकते हैं।

यो वै तं व्रात्यर्थो वेदास्तेनावृत्तां पुरम्।

तस्मै व्रहु च व्रात्यर्थ चक्षुः प्राणं प्रजां ददुः॥

(अर्थव० १०। १। २९)

उपनिषदोंमें तो व्रहज्ञानका सर्वाधिक महत्व रहा। व्रहज्ञानके द्वारा स्वयं ब्रह्म बनाना, अपने कुलकी, ब्रह्मज्ञानकी प्रतिष्ठा करना, शोकको पार करना, पापरहित होना, अमरता तथा गुहा-प्रन्थिसे मुक्ति पाना सम्भव माना गया है। (मुं० २० ३। २। ९) अन्ययन और नैष्ठिक ब्रह्मचर्यको धर्मका प्रमुख अङ्ग माना गया है। (छा० १। २३। १) विद्यासे अमरता पानेकी भी सम्भावना बतायी गयी है (३० ११, वृ० ३० १। ५। १६)। अर्यशाल-(३। २०) में पूज्य लोगोंमें विद्या और बुद्धिसे सुशोभित लोगोंके लिये सर्वोच्च स्थान नियत किया गया है (अर्यशाल ३। २०)। महाभारतके अनुसार भी व्रात्यर्थोंमें पूज्यता विद्यासे उत्पन्न होती है—

यो विद्यया तपसा जन्मना वा
द्युम्भः स पूज्यो भवति द्विजानाम्।

(महा० १। ८४। २)

मनुने व्रात्यर्थ-समाजकी प्रतिष्ठाका आधार ज्ञानको ही बताया है। उनके अनुसार वही व्रात्यर्थ ज्येष्ठ है, जो सबसे अधिक ज्ञानी है। अशिक्षित व्रात्यर्थ काठके हाथीके सदृश अपने नामको सार्थक नहीं करता (मनु० २। १३५-६)। मनुने विद्याकी प्रशंसा करते हुए विवेचन किया है कि व्रात्यर्थके लिये तप और विद्या

दोनों निःश्रेयस्कर हैं। इनसे तपके द्वारा वह पापको नष्ट करता है और विद्याके द्वारा अमरपद पाता है। ज्ञानकी महिमाका निर्देश करते हुए मनुने कहा है—

वेदशास्त्रार्थतत्त्वज्ञो यत्र तत्त्वाश्रमे वसन् ।

इहैव लोके तिष्ठन् स ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥

(मनु० १२। १०२)

पुराणोमें वेदोका ज्ञान एवं अध्ययन महत्त्वपूर्ण माना गया। इनका अध्ययन उतना ही महत्त्वपूर्ण माना गया है, जितना वस्त्रोको धारण करना। वेद मानवताके लिये परिधान-सदृश हैं—

ज्ञानमेव वरं ब्रह्म ज्ञानं वन्ध्याय चेष्टते ।

ज्ञानात्मकमिदं विश्वं न ज्ञानाद्विद्यते परम् ॥

(विं पु० २। ६। ४९)

इस प्रकार विद्या और ज्ञानको मनुष्यका जीवन प्रदान करनेवाला माना गया है और इसीके द्वारा ब्रह्मत्व प्राप्त होता है। यह विद्या धन, वन्धु, कर्म, जाति, अवस्था सबसे प्रमुख है और ज्ञान इनसे भी श्रेष्ठ माना है—“विद्या ददाति विनयम्”—विद्यासे विनय प्राप्त होती है। वित्तं वन्धुकर्मजातिविद्याचयांसि मान्यानि । पदं परं वर्लीयांसि । श्रुतं तु सर्वेभ्यो गरोदः । (गौतमघर्मसूत्र ६। २०-२२)

उन दिनोंमें प्रायः प्रत्येक आचार्यकी यही कामना रहती थी कि उसका शिष्य विद्वान् बनकर सुधार दें। इससे शिष्यपरम्परासे ज्ञान अमर रहेगा। विद्यार्थीको अपनानेसे पूर्व आचार्य उसके शील और चरित्रकी परीक्षा लेते थे। पूर्णलादने कौसल्यको प्राण-विद्याकी शिक्षाके योग्य इसी कारण माना था कि वह ब्रह्मनिष्ठ था। कौपीतकित्राल्पणोपनिषद्- (१। १) के अनुसार मान- (अभिमान-)का न होना विद्या प्राप्त करनेके लिये सर्वोच्च गुण था। प्राचीन भारतमें शिक्षाकी कल्पना विस्तृत एवं बहुमुखी थी। विद्या सभी प्रकारकी

लौकिक सम्पदा एवं पारलौकिक आनन्दकी आधार थी। विद्याके द्वारा विद्यार्थी अपनी वैयक्तिक चेतनाओंको जागरित तथा अपने व्यक्तित्वका विकास करके आन्यासिक अभ्युदयके लिये प्रवृत्त होता था। ऐसे विद्यार्थीके लिये आविभौतिक ऐश्वर्यकी मनोहारिता बहुत अधिक स्पृहणीय नहीं होती थी। दिग्विजयी राजा भी उसकी चरणरज पाकर अपनेको धन्य मानता था। ईशावास्योपनिषद्-में उपासनाके दो भेद माने गये हैं—ज्ञान एवं कर्म—

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयः सह ।
अविद्याया सृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽसृतमच्छ्रुते ॥

(ईशोप० ११)

‘विद्या या ज्ञानके द्वारा विद्यार्थी अमरत्वको प्राप्त करता है एवं कर्मके द्वारा भौतिक समृद्धिको। उपासकके द्वारा कामना की गयी है कि परमात्मा उसे असत्त्वसे सत्, तमसे ज्योति एवं मृत्युसे अमरत्वकी ओर ले चले—

असतो मा सद्गमय । तमसो मा ज्योतिर्गमय ।
मृत्योर्मा अमृतं गाहूः ॥ (बृद्धा० ३५०) ।

प्राचीन भारतीय धार्याका जीवन ज्ञान एवं कर्तव्य-पालनमें व्यतीत होता था। उस सनय किना आच्युतपालनके शिक्षाके आदर्शोंकी प्राप्ति प्रायः असंभव थी। शिक्षाका आदर्श मात्र बौद्धिक ज्ञान प्राप्त करना न था। उससे कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण उसका आचरण था। इसके द्वारा विद्यार्थीमें अनेक मानवीय गुणोंका विकास होता था। उसका सम्पूर्ण व्यक्तित्व विद्यासित होता था। विद्यार्थी जीवनके नैसर्गिक धरातलसे सारंकृतिक धरातलको प्राप्त करता था, जिसके द्वारा शैक्षणिक हंस्कारों-विद्यारम्भ, उपनयन, वेदारम्भ आदिका जन्म हुआ। इन संस्कारोंके साथ उसको नियमित दिनचर्या व्यतीत करनी पड़ती थी, जिसके द्वारा उसका “आचर” अनुशासन एवं शील्युक्त होता था। इस प्रकार एक विशेष संचयमें छला हुआ विद्यार्थी बुद्धिसे प्रखर एवं मनसे महान् होता था—‘अक्षण्यन्तः

कर्णधन्नः सनोजचंपसमा वसुवुः (श्र० १० । ७१ । ७) । विद्यार्थीं एक विशेष प्रकारका तेज, परिज्ञान एवं नेतृत्व प्राप्त होता था । सुसंस्कृत व्यक्ति विद्यासे सुख, यश, कीर्ति, ज्ञान, स्वर्ग और मोक्षको प्राप्त करता था—

विद्यया प्राप्यते सौख्यं यशः कीर्तिस्तथातुल्ला ।
ज्ञानं स्वर्गः सुमोक्षश्च तस्माद्विद्याप्रसाधनम् ॥
(पद्मपुराण)

प्रचीनकालमें शिक्षाके आदर्श मूलरूपमें व्यावहारिक थे । इस समय विद्याव्ययन केवल गौणरूपसे ही धन कमानेके लिये हैं । उस समय सुसंस्कृत छात्र ही सच्चे

अर्थोमिं विद्यार्थी बनते थे एवं समाजके लिये उपयोगी नागरिक होते थे । उनका जीवन विनय, आदि एवं संयम आदि गुणोंसे परिपूर्ण होता था । उनका चित्त स्वाध्यायसे एकाग्र हो जाता था । इससे इन्द्रियोपर संयम होता था । उनकी प्रज्ञा बढ़ जाती थी । उन्हें लौकिक यशकी प्राप्ति होती थी और वे लोकको अनुदयकी ओर लगा देते थे । वे अपने ज्ञानके द्वारा समाजके प्रति उत्तरदायित्वको पूर्ण करते थे । इसके बड़ले सुमाज अपनी आदर भावनासे, दानसे और सुरक्षासे उन्हें संतुष्ट करता था ।

चरित्र-सम्बन्धी कुछ प्रेरक प्रसङ्ग

(लेखक—श्रीरामग्रन्थापजी व्यास, व्याख्याता, एम० ८०, एम० एट०, साहित्यरत्न)

चारित्र्य सम्पूर्ण गुणोंका एक ऐसा जगमगाता पुक्ष है, जो दानवको मानव एवं मानवको देवत्वकी श्रेणीमें ला खड़ा कर देता है । चरित्रवान् च य समाजमें सदासे पूजनीय रहे हैं । उनके सद्गुरुः ज्ञारो मनुष्योंको प्रेरणापैः मिली हैं और अपने जीवनको सन्मार्गोंकी ओर मोड़नेमें लोगोंने सफलताएँ प्राप्त की हैं । यहों चरित्र-सम्बन्धी करित्य महायुरुपोके जीवनसे कुछ ऐसे ही प्रेरक प्रसङ्ग दिये जा रहे हैं—

१—‘आप मेरी माता हैं’

छत्रसाल बड़े प्रजापालक थे । वे अपनी प्रजाकी पुत्रवत् देखभाल करते थे । वे राज्यका दौरा करते और जनतासे उसकी कठिनाइयाँ पूछते थे । एक बार एक युवती महाराजकी ओर आकर्पित हुई । वह उनके पास आकर बोली—‘राजन् ! आपके राज्यमें मैं दुःखी हूँ ।’ यह सुनकर छत्रसाल बड़े दुःखी हुए । वे बड़े सोचमें पड़ गये । मन-ही-मन कहने लगे—‘मेरे लगातार प्रयत्नशील रहनेपर भी राज्यकी जनता दुःखी रहे, यह मेरे लिये असह्य है ।’

उन्होंने महिलासे कहा—‘देवि ! बताइये आपको क्या कष्ट है । मैं उसे दूर करनेका यथाशक्ति प्रयत्न करूँगा ।’

‘ऐसा आश्वासनभरी वाते सभी करते हैं, पर उसे पूरी करनेवाले विरले ही होते हैं । पहले आप वचन दें तो मैं अपनी वात बता सकती हूँ—युवतीका उत्तर था ।

‘हाँ ! हाँ !! आप अपनी वात निःसंकोच करिये—सरल हृदयी महाराजका उत्तर था ।

‘मैं चाहती हूँ कि आप जैसी संतान मेरे भी हो’—रमणीका जवाब था ।

महाराज यह सुनकर स्तव्य रह गये । फिर विवेक व संयमसे काम लेते हुए उन्होंने उस नारीके चरणोंमें मरतक झुकाकर निवेदन किया—‘माँ । आप जिस पुत्रकी कल्पना कर रही हैं, सम्भव है, वह मेरी तरह न हो, इसलिये आजसे आप मुझे ही अपना पुत्र स्थीकार करें ।’

नरेशका यह उत्तर सुनकर नारीकी मूर्छा जगी । उसे अपनी त्रुटिका बोध हो गया । राजा जीवनभर उसके प्रति राजमाताके समान सम्मान रखते रहे ।

२—सम्यताकी कसौटी

स्वामी विवेकानन्द जब अमेरिका गये थे तो एक दिन वे जब गेस्ट वर्से एक सड़कसे गुजर रहे थे, तो कुछ लोगोंको उन्हे देखकर बड़ा आर्थर्य लगा । वे लोग उनके पीछे-पीछे चलने एवं हँसी-मजाक बनाने लगे । शायद उन लोगोंने सोचा होगा कि यह कोई मूर्ख है ।

जब काफी भीड़ इकट्ठी हो गयी, तो स्वामीजी पीछे मुड़कर भीड़की ओर देखकर बोले—‘श्रीमानो ! आगे यहाँ सम्यताकी कसौटी पोशाक है, पर हमारे देशमे मनुष्यकी पहचान उसके कपड़ोंसे नहीं; चरित्रसे होती है ।’

स्वामीजीका इतना कहना था कि भीड़ धीरे-धीरे बिखर गयी ।

३—सचाई हर जगह चलती है

देशबन्धु चित्तरञ्जनदास जब छोटे थे, तब उनके चाचाने उनसे पूछा—‘तुम बड़े होकर क्या बनाए पसन्द करोगे ?’

भैं चाहे जो बनें, किंतु बकील न बनेंगा । चित्त-रञ्जनदासने उत्तर दिया । चाचा फिर बोले—‘ऐसा क्यों, भला ।’

‘वकालत करनेवालेको कदम-कदमपर झूठ बोलना पड़ता है । वे इमानी करनी पड़ती है’—दासने कहा ।

परंतु भाग्यकी विडम्बना देखिये कि चित्तरञ्जनदास बड़े होकर बकील ही बने । किंतु उनकी वकालत दूसरोंसे भिन्न थी । वे झूठे मुकदमे करनी न लेते । अपना

पारिश्रमिक भी जितनी मेहनत करते उतना ही लेते । उनकी योग्यताका लाभ दीन-हीन, असहाय एवं देशभक्त ही उठाते । कभी-कभी गरीबोंकी पैरवी वे निःशुल्क ही करते । जो भी मुकदमा लेते, उसमें पूरी रुचि दिखाते तथा सम्बन्धित व्यक्तिको जीतानेका प्रयत्न करते । साथ-ही ऐसा प्रयत्न करते कि उसे कम-से-कम सजा मिले ।

इस प्रकार चित्तरञ्जनदासने यह सिद्ध कर दिया कि वकालत-जैसा बदनाम व्यवसाय भी सत्य, न्याय तथा ईमानदारीके साथ सम्पन्न किया जा सकता है ।

४—सर्वोत्तम शक्ति चरित्र

चन्द्रगुप्त इस ब्रातसे घबराया-सा था कि मेरी इतनी कम सेना नन्दवंशका सामना किस प्रकार कर सकेगी ? वह अपनी शंकाको दूर करने गुरुदेव कौटिल्यके पास गया तथा अपना मन्त्रव्य कह सुनाया । चाणक्य पहले मुस्कराये हैं, फिर बोले—‘इन्द्रियवशवर्ती चतुरझोड़िपि अनेन्द्रयति’—यदि किसीके पास विशाल बहुरङ्गी सेना हो, किंतु चरित्र न हो, तो वह अपनी इयं दुबलताके कारण शीघ्र ही नष्ट हो जाता है ।

चन्द्रगुप्तको गुरुकौटिल्यका आशय ज्ञात हो चुका था । उसने शीघ्र ही मगधपर आक्रमण कर दिया और विजय प्राप्त की ।

चरित्र-बलके ऐसे सैकड़ों प्रसङ्ग गिनाये जा सकते हैं, जिनपर चलकर उन महापुरुषोंने अपना जीवन तो सफल बनाया ही है, साथ-ही प्रकाशस्तम्भ बनकर औरोंके जीवनको भी बदल दिया है । धन्य हैं, वे महापुरुष तथा धन्य हैं, वे अनुगामी जिन्होंने उनसे प्रेरणा पाकर मानव-समाजको एक आदर्श पाठ पढ़ाया है ।

इसी विचार-क्रान्तिकी अवधिमें गोपा (यशोधरा) को एक सुन्दर पुत्र उत्पन्न हुआ। अब गौतमकी वैराग्य भावना और उत्कट हो उठी। एक रात्रि पुत्रको हृदयसे लगाकर सोती हुई यशोधराको छोड़कर उन्होंने बनकी रह ली।

प्रातः उठनेपर यशोधराने देखा, उनके पतिदेवका कोई पता न था। उन्होंने पता लगाया, पर कहीं उनका पता न चल। यह जानकर कि उनका प्रिय अश्व कन्थक तथा सारथि छन्दक भी नहीं हैं, गौतमके पलायनका निश्चय हो गया। लौटकर छन्दकने जो वृत्तान्त सुनाया उससे तो उसे स्वप्नकी घटना प्रत्यक्ष सत्य होती हुई दिखायी पड़ी।

पतिपरायणा गोपाको पति-वियोग असद्य हो गया। वह बहुत दुखी हुई। उसकी दासियाँ, सखियाँ उसे सान्त्वना देतीं, समझातीं। किसी तरह अपनेको आश्रस्त कर धैर्य धारण कर उसने भी संयम ब्रनका जीवन आरम्भ कर दिया। पर उसे पतिके चुपकेसे पलायनकी टीस मारे डालती थी। वह सखियोंसे कहती—

सिद्धि हेतु स्वामी गये यह गौरवकी बात।
पर चोरी चोरी गये, यही बड़ा अ्यावात॥

× × ×

सखि वे मुझसे कहकर जाते।
कह तो क्या मुझको वे पथ-बाधा ही पाते।

× × ×

स्वयं सुसज्जित करके क्षणमें, प्रियतमको प्राणोंके पाणमें।
हमी भेज देती हैं रण में, क्षात्र धर्मके नाते।
सखि वे मुझसे कहकर जाते।

अर्थात्-हम क्षत्राणियों जब अपने पतिको, पुत्रको खयं सजाकर, आरती उतारकर, टीका कर रणके लिये भेज देती है तो क्या सिद्धिके लिये प्रस्थान करनेवाले सामीको न भेजती जो कि मेरे लिये गौरवकी बात होती। इसमें चोरी-चोरी जानेकी बात मुझे टीसती रहती है।

च० नि० अ० २२—

पति बनमें तप कर रहा है, पत्नी गोपा राजमहलमें संन्यासिनीके समान सादा वेश बनाकर तप कर रही है; साथ ही पतिकी थाती पुत्र 'राहुल'का भी क्षत्रियोचित पालन करती है। जब वह मचलता है तब उसे सारी व्यथा कथा कहनी पड़ती है। इस विपत्तिमें राहुल ही उसका अवलम्बन है, सम्बल है। वह सखियोंसे कहती है कि आर्यपुत्र तो परीक्षा दे चुके, अब मेरी बारी है। मुझे बज्रसे कठोर और कुसुमसे भी कोमल बनना पड़ेगा। वह पतिकी सफलता-हेतु मङ्गल कामना करती है कि 'हे नाथ ! तुम्हे सिद्धि, मुक्ति प्राप्त हो, तुम्हारी तपश्चर्यामें अप्सराओंका विनाश न आ सके; क्योंकि तुमने यशोधराका पाणिग्रहण किया है।'

अन्तमें गौतमकी तपस्या फलीभूत हुई। बुद्धत्वकी प्राप्ति हुई। वे पदयात्रा करते हुए सारनाथ, काशी आदि सर्वत्र धर्मप्रचार-धर्मोपदेश देते कपिलवस्तु भी पधारे, पर राजकुमारके रूपमें नहीं, भिक्षुकके रूपमें—मुंदित शिर, नग्न पैर, गैरिक चीर, धारण किये भिक्षापात्र हाथमें लिये।

सारा कपिलवस्तु उनके खागतमें उमड़ पड़ा, सब बाहर आ गये—राजद्वारपर, राजपथपर महलोकी छतपर। पर गोपा अपने कक्षमें शान्तभावसे बैठी रही। सखियोंके, सास-समुद्रके बारम्बार समझानेपर भी वह बाहर न निकली। उसने नम्रतासे यही कहा, मैंने उन्हें नहीं छोड़ा है, अपितु वे ही मुझे छोड़कर गये हैं। अतः जहाँसे मुझे छोड़कर गये हैं, वहीं दर्शन देने आयेगे।

अन्तमे यशोधराकी विजय हुई। गौतम बुद्धको यशोधराके उस कक्षमें आना पड़ा, जहाँ उसे सोती हुई छोड़कर वे रातमें चुपकेसे चले गये थे। यशोधराने भी उठकर द्वारपर आये सन्यासीका खागत किया—

पधारो भव भवके भगवान्।

आज गोपाको गौतमकी महत्त्वाका वास्तविक पता चला। वह कृतार्थ हुई। किंतु इतने महान् भिखारीको

उसके और अपने अनुरूप मिश्ना देनी चाहिये, आखिर वह क्षत्राणी राजपुत्री जो ठहरी। अन्तमें उसने गौतमकी थाती, अपने लाल राहुलको मिश्नामें उन्हे समर्पित कर दिया—

तुम भिक्षुक बन कर आये थे, गोपा क्या देती स्वामी ?
था अनुरूप एक राहुल ही, रहे सदा यह अनुगामी ।

धन्य है गोपा, जिसने पत्तिके अपनाये मार्गपर मौन पर कठोर व्रतका आचरण कर अपना सर्वस्व समर्पित कर दिया। गौतमकी सिद्धिमें गोपाका त्याग, उसकी तपश्चर्वा अविक सहायक हुई। गोपाके आदर्श त्याग, तप एवं चरित्र वल्लपर ही गौतम महात्मा गौतम बुद्ध हो सके।

—५७७—

चरित्रकी विशेषता

(लेखक—महाकवि श्रीवनमालीदासजी जात्मी)

पूर्वपुण्यविभवव्ययलब्धाः
सम्पदो विपद् एव विमृद्धाः ।
पात्रपाणिकमलार्पणमासां
तासु शान्तिकविधिर्विधिविष्टः ॥
(नैषधीयचरित ५ । १७)

स्वर्गमें अपने निकट आये हुए श्रीनारदजीसे इन्द्रने कहा था—‘देवर्पे ! पहले जन्मके किये हुए पुण्यके प्रतिफलमें ही सम्पत्तियाँ प्राप्त होती हैं । पर विचार करनेपर वे बहुत पुण्य नष्ट करनेवाली एवं अन्तमें हुःखदायिनी दीखती है । अतः मुझे तो वे विपत्तियाँ ही प्रतीत होती । । पर इन्हे ही यदि किसी योग्य पात्रके करकमलोंमें अर्पण कर दें तो वे शान्तिकारक हैं । यही विधि शाखोंमें देखी गयी है । किंवा ब्रह्माजीने ऐसा कहा है ।’ (नारायणी टीकाका सारांश ।) आज यहाँ इस प्रसङ्गमें पात्रका ही विचार करना है । गीताके वक्ता श्रीकृष्ण एवं विदुर आदि भी कहते हैं—‘देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥’, (गीता १७ । २०; विदुरनीति,) पवित्र देशमें, पुण्यप्रद कालमें एवं योग्य पात्रको दिया गया दान सात्त्विक कहा गया है । योग्य पात्रका लक्षण याज्ञवल्क्यने इस प्रकार बतलाया है—

न विद्यया केवलया तपसा वापि पात्रता ।
यत्र वृत्तमिमे चोभे तद्वि पात्रं प्रकीर्तितम् ॥
(याज्ञवल्क्यस्मृति १ । २००)

‘केवल विद्या या तपके द्वारा पात्रता प्राप्त नहीं होती, जिस व्यक्तिमें चरित्र (सदाचरण) विद्या एवं तप—ये

तीनो विद्यमान हों, वही योग्य पात्र है ।’ इसके विपरीत दुराचारी व्यक्तिको तो जैसे पंख निकलनेपर पक्षी घोसलेको छोड़कर उड़ जाते हैं, उसी प्रकार वेद भी अन्तकालमें छोड़ देते हैं । शाखोंमें कहा है—

छन्दांस्येनं सृत्युकाले त्यजन्ति
नीडं शकुन्ता इव जातपक्षाः ।

चरित्रहीन व्यक्तिके विषयमें ‘मृच्छकार्तिक’नाटकके आठवें अङ्कमें कहा गया है—

शिरो मुण्डितं तुष्णं मुण्डितं
चित्तं न मुण्डितं तं किं मुण्डितम् ।
यस्य पुनश्चित्तं मुण्डितं
साधु सुष्ठु शिरस्तस्य मुण्डितम् ॥
(शिलमुण्डित, आदि प्राकृतकी छाया ८ । ३)

‘जिस व्यक्तिने सिरका मुण्डन करा लिया, मूँछ भी मुड़ा ली, परंतु अपने चितका मुण्डन न किया तो क्या मुण्डित किया ? और जिसके चितका मुण्डन हो गया, उसीके सिरका मुण्डन भलीभाँतिसे हुआ है, ऐसा समशना चाहिये ।’ इस नाटकके उसी अङ्कमें कहा गया है—

संयच्छत निजोदरं नित्यं जायत ध्यानपट्टहेन ।
विषमा इन्द्रियचौरा हरन्ति चिरसंचितं धर्मम् ॥
(प्राकृतकी छाया १-२)

‘अपने उदरको वर्षमें रखो तथा ध्यानरूपी नगाड़े-की चोटसे नित्य ही जागते रहो । ये इन्द्रियरूपी

चोर बडे भयंकर है । ये चिरकालसंचित धर्मरूपी धनको शीत्र ही छट लेते हैं । जिस व्यक्ति ने इन्द्रियरूपी पौच दुष्टजनोंको मार दिया है, और मायारूपिणी कामिनीको मारकर शरीररूपी ग्रामको सुरक्षित कर लिया एवं निर्बल कामरूपी चाण्डालको मार दिया, वह मनुष्य अवश्य ही सर्गका अनुशीलन कर रहा है ।

ऐलोपाख्यानमें भगवान् ने भी उद्घवसे कहा है—
किं विद्यया किं तपसा किं त्यागेन श्रुतेन वा ।
किं विविक्तेन मौनेन स्त्रीभिर्यस्य मनो हृतम् ॥

(श्रीमद्भा० ११ । २६ । १२)

जिसके मनको ख्योने अपहरण कर लिया, उसकी विद्या व्यर्थ है । उसे तपस्या, त्याग और शाश्वाभ्याससे भी कोई लाभ नहीं । उसका एकान्त सेवन और मौन भी निष्कल ही है । अतएव महाभारतके अनुसार श्रीरूप-गोख्यामीने अपने 'उपदेशमृत'में ठीक ही कहा है कि—

वाचो वेगं मनसः क्रोधवेगं
जिह्वावेगमुदरोपस्थवेगम् ।
एतान् वेगान् यो विषहेत मर्त्यः
सर्वामपीमां पृथिवीं स शिष्यात् ॥
(महा० ५)

—६३४—

जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यकी सच्चारित्र्य-शिक्षा

(लेखक—श्रीअवधिकिशोरदासजी वैष्णव, प्रेमनिधि)

सच्चरित्र-निर्माणके लिये आचार्य श्रीरामानन्द प्रभुने प्रत्येक मन्त्रोपदेशक सद्गुरुको आदेश दिया है कि वे सान्निध्यमें आये मुमुक्षुको एक-वर्तपर्यन्त अपने अनुशासनमें रखकर पूर्ण सुयोग्यताकी परीक्षाके लिये मन्त्रोपदेश करे—

परीक्ष्य शिष्यं समुपासकं गुरुं
वर्षं समभ्यर्च्यं हिरण्यरेतसम् ।

अन्य सभी आगमोंमें भी ऐसा ही निर्देश है । यदि इस आज्ञाका यथार्थ पालन किया जाय तो आज एक महान् सम्माननीय साधु-समाजका निर्माण हो सकता

'अपने हृदयको शुद्ध बनानेके लिये जो धीर व्यक्ति अपनी वाणीके वेगको, मनके वेगको, क्रोधके वेगको, जिह्वाके वेगको, उदरके वेगको एवं जननेन्द्रियके वेगको सहन करनेमें समर्य हो जाता है, वह समस्त पृथ्वीका शासन कर सकता है; अर्थात्—ऐसे जितेन्द्रिय व्यक्तिके प्रायः सभी जन वशवर्ती हो जाते हैं ।' तात्पर्य काम-क्रोध-लोभ आदि दोष मानवके मनमें उत्पन्न होकर, वाणीके वेगद्वारा अर्थात् प्राणिमात्रको उद्विग्न करनेवाले वचनके प्रयोगके द्वारा, मनके वेगद्वारा अर्थात् अनेक प्रकारके मनोरथोंके द्वारा, क्रोधके वेगके द्वारा अर्थात् प्रतिशूल्य कटु वचनोंके प्रयोगद्वारा, जिह्वाके वेगद्वारा अर्थात् खड़े-मीठे रसोंकी लालसाके द्वारा, उदरके वेगद्वारा अर्थात् अधिक भोजनके द्वारा, उपस्थके वेगद्वारा अर्थात् स्त्री-पुरुष संयोगरूप लालसाद्वारा मनको असदूचितयोंमें आविष्ट कर देते हैं । ऐसे दूषित मनमें शुद्ध भक्तिका अनुशीलन नहीं हो पाता । भक्ति-अनुशीलनके समय, उक्त छः प्रकारके वेग कञ्चे साधकके साधनमें भारी वाधा ढालते हैं । अतः भजनशील व्यक्तिको इन छः वेगोंको रोकनेका झुदा प्रयत्न करते रहना चाहिये । तभी चरित्रकी विशेषता होती है ।

है । प्रारम्भिक युगसे लेकर अवतारके सभी सन्त इस दिशामें सर्वथा एकमत हैं; क्योंकि सच्चरित्रा ही सन्तोंका भूपूर्ण है—'सन्तस्थारित्र्यमूष्पाः' (वाल्मी० युद्र० ११६) । भगवान् श्रीरामका सम्पूर्ण जीवन ही चरित्र-निर्माणसे ओत-प्रोत है । श्रीशुकदेवजी श्रीहनुमान् जीके द्वारा 'मर्त्यवितारस्त्वद् मर्त्यशिशणम्'—आपका मानव-लोकमें अवतार मानव-धर्मकी शिक्षा प्रदान करनेके लिये ही हुआ है, ऐसा कहलाया है । वस्तुतः श्रीराम साक्षात् मूर्तिमान् धर्म हैं—'रामो विग्रहवान् धर्मः ।'

भगवान् श्रीरामके भक्तोंके लिये भी 'रहे जाने नाम तामें आवै गुण रामके' यह लक्षण निर्देश किया गया है। नाम-संकीर्तन एवं नामजपपरायण श्रीरामभक्तोंको भी श्रीरामके गुणगतोंसे अलगुत होना ही चाहिये। यह श्रीसीतारामनामजापक सत्तोंका अकाद्य सिद्धान्त है। आचार्य श्रीरामानन्द श्रीरामगतिके प्रधान आचार्य हैं। अतः उनका इस सिद्धान्तका समर्थक होना सर्वथा उचित है। आपने आपने सुप्रसिद्ध 'श्रीवैष्णवमनानन्दमास्कर' प्रन्थमें चत्विरक्षा तथा चत्वि-निर्माणके लिये जो उपदेश दिया है 'कल्याण'के मुखी पाठकोंकी सेवामें उसका यत्किंचित् दिग्दर्शन कराया जा रहा है।

किनने लोग श्रीरामनाम और शरणागतिका आनन्द लेकर 'सर्वधर्मान् परित्यज्य'का उल्टा अर्थ लगाकर धर्म-कर्म-सदाचारकी अवहेलना करने लगते हैं, इसपर आचार्यचरण अपना सिद्धान्त व्यक्त करते हैं—

काम्यानां कर्मणां त्यागः स्वरूपस्याखिलस्य दि ।
धर्मत्याग ज्ञाति ग्रोत्तं परमैकान्तिकैर्दुर्धैः ॥

काम्यकर्मोंका परित्याग ही धर्मत्याग है। आसपिरहित अपने कर्तव्य-कर्मोंका अनुष्ठान तो करना ही राहिये। प्रभुकृपा-प्राप्तिके लिये—'तन मन बचन विकार बिछान् । भजत कृपा करिहहि रघुराह ॥' सच्चत्रिवान् बनकर भजन करनेकी स्वतन्त्रता प्रभुने प्रदान की है। अतएव सदाचार-सत्कर्मका अनुष्ठान करते ही रहना चाहिये। यथापि अपना कल्याण श्रीरामनामजप तथा शरणागति-मात्रसे ही हो जाता है—

लोकसंग्रहवृद्ध्यैव श्रुतिचोदितकर्मणाम् ।
शेषभूतैरसुष्ठानं क्रियते किकरैः प्रभोः ॥

हम प्रभुके सेवक हैं अतः हमको भगवान्‌की आज्ञा मानकर शास्त्रविहित सत्कर्मोंका पालन करना ही चाहिये। अन्यथा अनधिकारी मनुष्य हमारे धर्मत्यागको देखकर पश्चात् हो जायेंगे; अतएव लोक-शिक्षाके लिये भी जब-

तक व्यवहारका ज्ञान है, तबतक शाश्वतोंका सत्कर्मका दृष्टापूर्वक अनुष्ठान करना ही चाहिये। 'पर्मो धर्मः कः' इस पद्मम प्रदनके उत्तरमें श्रीरामानन्दाचार्य मठाप्रमु उपदेश देते हैं—

उत्तमं सर्वधर्माणां शृणु धर्मं ननाननम् ॥ ११२ ॥
ज्ञानं न एस्तीर्थनिषेचणां जपो
न चास्त्र्यादिन्मायदद्वी श्रुभाग्निः ।
हित्तामतस्तां परिचर्जेत्यन्तुयोः
नदर्मनिष्ठः परधर्मञ्जुलये ॥ ११३ ॥

'दान-नप-जीर्य-जगदिके गर्भी धर्म अस्मिन्नान्दयानुष्ठानके समान युगमन्नाद नहीं हो सकते हैं। अतः अपने परन्तर्मयकी दृष्टिके लिये मद्रमनिष्ठ सज्जनोंको हित्तामा सर्वथा परित्याग कर देना चाहिये।' इसी प्रस्तुतमें आपने मांसमध्याकी ओर जिन्दा की है तथा मांसाहारी हित्तको सर्वान्तर्यामी प्रभुका वातक भगवद्गीर्ही माना है। आगे चलकर अनन्यभक्तको हेषवृद्धिका सर्वथा परित्याग करनेकी आज्ञा प्रदान करते हैं—

देष्वुहिन्तु देवैव देष्वन्येषु संततम् ।
तथा स्वस्यैव ज्ञानिः स्याद् देष्वरीलं भवेन्मनः ॥
मननो निर्मलन्वेन रामधामाधिगम्यते ।
मनसः समलन्वेन रामाद्दूरं वजेन्नरः ॥

श्रीरामभक्तोंको किनी भी देवी-देवताके प्रति द्वेष-भावना नहीं रखनी चाहिये। इससे अपनी ही हानि होती है तथा मन भी द्वेषवील हो जाता है। मनकी निर्मलता ही श्रीरामग्रामकी प्राप्ति करती है एवं मनकी मलिनता ही श्रीराममे दूर फेंक देती है। आचार्यचरण आज्ञा देते हैं—

मानृतवृ परनार्पिषु पश्येयुर्वैष्णवाः सदा ।

श्रीवैष्णवोंको 'परतिय मातु समान' देखना चाहिये। सदाचार-संरक्षणका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये सदैव निरत्तर—

विकालसंध्यामनुपास्य वाचा
क्षिपेत्सदैवादिकवेश कालम् ।
रामार्चनेनेष्टमेन गीता-
दिना सभाष्येण च भारतेन वा ॥१५५॥
स्यान्वेदशक्तः पृष्ठुयात् कुतश्चिद्
अन्थानमून् शुद्धतमाद्विशुद्धः ।
संकीर्तनं श्रीरामनाम्नो
द्वयानुसंधानमयो विद्ध्यात् ॥१५६॥

—विकाल-सन्ध्योपासन करना चाहिये, श्रीमद्-वाल्मीकीय रामायगका पाठ करना चाहिये । श्रीरामपूजन करना चाहिये तथा श्रीमद्गवीनीता, आचार्यप्रणीति भाष्य तथा भारतादिक सदूग्रन्थ पढ़ते रहना चाहिये । यदि पढ़नेकी शक्ति न हो तो किसी सञ्चित्रि शुद्ध श्रीवैष्णवके मुखसे विशुद्ध होकर सुनना चाहिये । श्रीराम-नामका संकीर्तन अथवा मन्त्र-मन्त्रार्थका अनुसन्धान करते रहना चाहिये । इन प्रभु-कर्मोंको प्रभुके श्रीचरणोंमें समर्पण करना चाहिये ।

शुभानि कर्मणि समर्पयेत् सदा
रामाय भक्ष्यं निवेद्य भक्षयेत् ।
अहर्दिवं स्वाधनिवृत्तकामिनो
विमुक्तधीः स्याद् भवभीतिवर्जितः ॥१५७॥

श्रीरामजीको नैवेद्य भोग लगाकर उसी प्रभु-प्रसादका मोजन करना चाहिये, रात-दिन अपने पापोंका निवारण

कर विमुक्तिकी इच्छासे जो इस प्रकार करता है, वह भवभयसे छूट जाता है । वाह सदाचारमें भी—
धृतोर्ध्वपुण्ड्रस्तुलसीसमुद्धवां
दध्वच्च मालाममलो हि कन्धरम् ।
सज्जन्मकर्मणि हरेः सदा सरेत्
गुणांश्च नामानि शुभप्रदानि ॥१५७॥

ऊर्ध्वपुण्ड्र तिळक, तुलसीमाला धारणकर प्रभुके पावन जन्म-कर्मोंका स्मरण करता हुआ अपना जीवन व्यनीत करे । इस प्रकार—

जितेन्द्रियः प्रपञ्चस्तं वृध आत्मरतिर्हस्ति ।
आप्नुयात्परमं स्थानं योऽनुतिष्ठेदिदं भतम् ॥

प्रभुका प्रपञ्चशरणागत विचारवान् विवेकी जितेन्द्रिय आत्मा जो इस सिद्धान्तको मानकर श्रीप्रभुसे प्रेम करता है, वह श्रीरामके परमधामको प्राप्त करता है । इस प्रकार आपने सञ्चित्रिवान् वनकर प्रभुकी शरणागति प्रहण करनेवालेको आहीर्वाद दिया है । सभी धर्मचार्योंने सञ्चित्रि-निर्माणपर पूर्ण सावधानी रखनेका दिव्य उपदेश दिया है; विशेषतः वैदिक श्रीवैष्णवाचार्योंने तो प्रभु-कृपाप्रसिद्धिका आधार ही चरित्रि-निर्माण बताया है । खासी श्रीरामानन्दाचार्यकी यह शिक्षा सभीका परम कल्याण करन्वाली ओर चरित्रि-निर्माणमें साधकको सम्बल प्रदान करनेवाला है । इसका श्रद्धासे अनुप्रान करना कर्तव्य है ।

चरित्र-प्रधान भारतीय संस्कृति—संस्कृतभाषाके दर्पणमें

(लेखक—डॉ० श्रीशशिधरजी शामी, 'आचार्य', एम० ए०, डी० लिट०, अध्यक्ष संस्कृत वि० चण्डीग० वि० वि०)

भारतीय संस्कृति चरित्रि-प्रवान मानी गयी है । 'चरित्रि' शब्द गत्यर्थक भ्वादि (१।५५९) परस्मैपदी सेट चर् धातुसे कृत्प्रत्यय 'इत्र' लगाकर बनता है । प्रकृतमें गतिका अर्थ होगा—आचरण, अर्थात् आचार । सामर्थ्यात् सदाचारको ही चरित्रि कहा गया है । इस शब्दकी व्याख्या करते हुए मनुस्मृतिके टीकाकार कुलद्वकभद्वने स्पष्ट किया है कि वह शिष्ट पुरुषोंका आचार है—'शिष्टसमाचारम् ।' (देखिये 'स्वां प्रसूति-

चरित्रं व ।' (मनु० ९।७) परमन्वय मुक्तावली व्याख्या ।)

भारतको धर्मप्राण देश माना गया है । धर्मका मूल भी सदाचार ही है । शास्त्रविहित अनिन्य कर्म ही वर्म है । महर्षि जैमिनिने धर्मका लक्षण कहा है—'चोद्वनालक्षणोऽर्थो धर्मः' (मीमांसा १।२) । मनुके शब्दोंमें तो 'आचारः परमो धर्मः' (मनु० १। १०८) सुप्रसिद्ध ही है ।

चरित्रि क्या है ?

'चरित्रि क्या है ?' इसे ज्ञाननेके लिये वेदोंके अतिरिक्त रामायण, महाभारत, पचासों स्मृतियों, अद्याद्य महापुराण,



COLLECTION OF VARIOUS

- HINDUISM SCRIPTURES
- HINDU COMICS
- AYURVEDA
- MAGZINES

FIND ALL AT [HTTPS://DSC.GG/DHARMA](https://dsc.gg/dharma)

Made with



By

Avinash/Shashi

Icreator of
hinduism
server!

उपपुराण, अर्थशास्त्र एवं कल्प, व्याकरणादि वेदाङ्गोंका प्रामाण्य होता है। इनमें भी अपौरुषेय वेद सर्वोपरि प्रमाण हैं; और तदनन्तर 'वेदार्थस्य प्रधानत्वात् प्राधान्यं एष मनः स्मृतम्' के अनुसार भारतीय चारिंग्यके ध्वजवाहक मनुस्मृति उनके भाष्य आदिका भारतीय परम्परामें बड़ा आदर है। स्वयं श्रुति भी कहती है—'मनुने जो कहा है, वह संसारके लिये थोपधिकी भाँति हितकर है—'अत् किञ्च मनुरवद्दत्तद् भेषपजम्।' मनुने आर्यावर्तान्तर्गत ब्रह्मवर्त प्रदेशका वर्णन करते हुए यह आवाल-बृद्ध प्रसिद्ध घोषणा की थी कि संसारके समस्त पुरुष इस प्रदेशमें जन्म लिये हुए विप्रसे अपने-अपने चरित्रकी शिक्षा लें—

एतद्देवाप्रसूतस्य सकाशाद्यजन्मनः ।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेत्तद् पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥
(मनु-२०)

संस्कृतभाष्यप्रिय आयोनि स्व-जातिका सामान्य नाम 'मानुप, मनुष्य, मनुज और मानव' रखकर मनुको शाश्वत सम्मान देते हुए अपनी कृतज्ञ प्रकृतिकी अभिव्यक्ति दी। तात्पर्य यह कि हम मनुके वंशमें उत्पन्न हुए हैं। इस असामान्य वंश-गैरव-भावनाको आयोनि बड़ा व्यवहार दिया। साथ ही मनुके द्वारा उपदिष्ट पवित्र चरित्रधाराको अव्याहत आगे बढ़ानेका भार भी उन्होंने इन शब्दोंद्वारा अपने ऊपर लिया। मनुका स्मृतिमें आदर्श और व्यवहार-का समन्वय भी बड़ा विचित्र ढंगसे हुआ है। इसका 'कुशल' शब्द एक उदाहरण है। कुश् (४।१०९) धातु चमकने अर्थमें है। जिसकी बुद्धि प्रतिभापूर्ण हो, वह कुशल है। ली कुशल है। इसीसे 'कौशल्य' और कौशल्याकी भी सार्यकता है। 'कुश'* शब्द भी इसीसे उत्पन्न है।

इस विपर्यके अन्य गवेषकोंने इस बातका भी विवेचन किया है कि 'कुशल' शब्दका भाव 'कुश' काटनेवाला

भी है। देवर्पि, पितृकायोंमें कुशका उपयोग आवश्यक था। उसके लानेके लिये भी निपुणता चाहिये थी।

'कर्मणि कुशलः इन्यादौ दर्भग्रहणाद्ययोगाद्-विवेचकत्वादौ सम्बन्धे रुद्धितः । मुख्येनामुख्योऽर्थां लक्ष्यते । यत्स आरोपितः शब्दः व्यापारः सान्तरार्थनिष्ठो लक्षणः ।'

प्राचीन भारतीय श्रद्धालु एवं शीलसम्पन्न होते थे, इसीलिये संसारमें उनकी संस्कृति, उनका गणित, देव, ऋषि, पितरोंकी भावनासे प्रचलित है। महर्पि पाणिनिने इसके पुष्कल प्रमाण दिये हैं। उनसे पूर्व भी आयोंकी विशिष्टताएँ प्रमाणित करनेके लिये यह कुशल शब्द प्रमाण है।

व्यसनोंसे विमुखता मुख्य चरित्र है

प्राचीन भारतीय व्यसनोंसे बहुत दूर रहते थे। मादक वस्तुओंको मदकारी या बुद्धि-नाशक होनेसे ही 'मद्य' आदि नामोंसे पुकारा जाता था—'बुद्धि छुपते यद् द्रव्यं मदकारि तदुच्यते ।' जुएको वे बहुत निकृष्ट दुर्गुण समझते थे। छल-प्रवान होनेसे (अमरकोश, महाभारत आदिमें) जुएको 'दुरोदर' कहा गया है। आयोंके जीवनमें सच्चाईका भी स्थान उच्चतम था। उसे इसीलिये 'सत्यम्' कहकर पुकारा गया। पुराणोंने तो इसे सीधे 'नारायण' बना दिया। श्रुतियोंमें भी इसकी महिमा कम नहीं। उपनिषदोंके अनुसार 'सत्य' साक्षात् परमात्माका ही नाम है—'तस्य ह वा एतस्य ब्रह्मणो नाम सत्यमिति तानि ह वा एतानि त्रीण्यक्षरराणि सर्तीयमिति तद्यत्सत्तद्मृतमय यत्ति तन्मत्यमय यद्यं तेनोमे यच्छति' ॥ (छान्दो० ८।३।४-५) ।

मिथ्यासे उनको बड़ी धृणा थी। असत्य मानो उन्हे काटता था। इसका प्रमाण है, 'मिथ्या' शब्द जिसका अर्थ है—'वह वस्तु जो मार डालती है।' इसकी व्युत्पत्ति ही है—मेरथतीति मिथ्या। मिह नेह

* अर्थदृष्टश्च यह 'कुपू' (९।४६) धातुसे भी सम्बद्ध है।